

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥
विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

(प्रथमाननम्)

संस्कृतभाषाकार

मंचिलश्रीत्रिपयकविद्वार-

पण्डित-श्रीवदरीनाथज्ञा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्य

हिन्दीव्याख्याकार.

व्याकरण न्याय साहित्याचार्य

प० श्रीमदनमोहनज्ञा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापक



चौखम्बा विद्याभवन

चोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९, वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा बितरक)

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

सप्तम संस्करण १९९०

मूल्य ५०-००

अथ प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर सेना

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए, अवाहरनगर, बंगलौ रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३९३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
11



RASAGĀṄĀDHARA

OF

PĀṆDITARĀJA JAGANNĀTHA

(First Ānan)

With

'Chandrika' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Pt. Badarinath Jha

&

Pt. Madan Mohan Jha



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone 63076

Seventh Edition
1990

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No 1129
VARANASI 221001

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007
Telephone - 236391

प्रस्तावना

(प्रथम आनन)

अलङ्कार-शास्त्र

‘उपकारकत्वादलङ्कार सप्तममद्रम’ इति यायावराय, (काव्यमीमासा)

‘उपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अद्र (वंदाद्र) है ।

कविराज रामरौखर ने अपने ‘काव्य-मीमासा’ नामक ग्रन्थ के शास्त्र निदर्शाध्याय में जिस अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा की है, वह कौन या शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु है ।

विचार करने से विदित होता है कि उक्त विचार पुत्र को अलङ्कार शास्त्र बतते हैं, जो राज रौखर के कथनानुसार पञ्चदश विद्यास्थान^१ काव्य-पदार्थ का शासन करण है अर्थात् काव्यरूपकाध्य के लक्षण त्रिन शास्त्र में किये गये हैं, उनका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से मनसत के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विविध आशयनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है जिनके द्वारा काव्य की बातचीत, अच्छा और बुरापन ज्ञान हो सके ।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र मा बतते हैं यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि मन्त्र में ‘वाङ्मय’ रूप व्यापक अर्थ में भा साहित्यपद का प्रयोग होता है रामरौखर ने साहित्य शब्द का अर्थ ‘काव्य’ माना है^२, तथापि शाब्दिक के साथ प्रयुक्त साहित्यपद का तात्पर्य काव्यनिदानर विषय ही समझा जाता है ।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार विषय में विचार करने वाला सबसे प्राचीन निबन्ध ‘अग्निपुराण उपनिषद्’ होता है, उसमें शब्दाङ्कार, अर्थात् अङ्कार, विभाव और रात्रि आदि के विवेचन किये गये हैं, उन अङ्कार शास्त्र का मूल अग्निपुराण को ही मानना पड़ेगा । परन्तु इन विवेचनाओं को शास्त्र बताने का गौरव दण्ड, मामड आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अग्निपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कारविषयक निबन्ध इन्हीं महात्माओं को प्राप्त हुए और इन्होंने ही सर्वप्रथम काव्य के निदान करनेवाली आलोचनाओं को अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया ।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

यद्यपि वक्त काव्य निदानक शास्त्र में अलङ्कारों के साधन-साधन रस गुण, दोष आदि सभी काव्यादों का निरूपण किया गया है, तथापि ‘अलङ्कार शास्त्र’ ही नाम क्या पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह दते हैं कि नामनन्दक अलङ्कार पद ‘अलङ्कितये अनेन’ इस कल्पवृक्ष से अनुप्रास आदि का बोधक नहीं, अपितु ‘अलङ्कृति अलङ्कार’ इस मावन्द्युत्पत्ति से बोधक और गुणशब्दकारादि प्रथम प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण वक्त शास्त्र का व्यवहार ‘अलङ्कार-शास्त्र’ नाम से किया गया है । इस तर्क की पुष्टि ‘वामन’ के स्न्दर्भ से

१ सक्त्विद्यस्थानैकप्येवम पञ्चदशं काव्य विद्यास्थानम्

२ ‘शब्दार्थशेषोऽथ सहभावेन विद्या साहित्यपिवा’

मा होती है। उन्होंने कहा है कि 'अष्टाकार-युक्त होने से वाक्य का ग्रहण (गान) करना चाहिये। सौन्दर्य को ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पर भावसाधन होने से अलङ्कार-युक्त है। काव्यम्युत्पत्ति मानकर इस पद का प्रयोग यमक उपमा आदि में भी होता है। वह सौन्दर्य काव्य में दास का त्याग और गुण अलङ्कार आदि के ग्रहण से उत्पन्न होता है।'^१

वस्तुतः अलङ्कार शास्त्र के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्डा, भामह भोज्य, रुद्र और नामन पद्यत जिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रबंधों की रचना की वे सब के ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-बौद्ध में ही समाविष्ट किये। उन पर उन लोगों ने काव्य को ही सर्व प्रधान माना, फिर ता 'प्रधान के अनुसार व्यवहार होते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवास रहने पर भी मूलप्रधान मान में 'मूलप्रधान' पता व्यवहार होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का अलङ्कार-शास्त्र' यद् नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता आनन्दबधन ने अनेक मुक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ को प्रधानता स्थापित कर दी, तदनन्तर भाषी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में रस आदि असंख्यक्रमव्यङ्ग्यों के ही सर्वप्रधान होने की व्याख्या दी, तदनुसार स्थापित आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम उक्त युक्ति से 'ध्वनिशास्त्र अथवा 'रसशास्त्र' होना चाहिये, क्योंकि ऐसा हुआ नदी, क्योंकि हम भारतीय सदा से रुद्रि के मत्त रहे, फिर यहाँ पवनार ही उस भक्ति को कैसे मुक्त बैठे? पन्त हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य नियामक प्रबंधों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में कितना गम्भीर आत्माचाराये की जाती हैं, उतनी अधिक मर्मस्पर्शिता उममें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलभूत काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता सम्यक्त होती है।

मात्र सभी समालोचक एक स्वर से हम बात को स्वीकार करते हैं कि अखिल भाषा-साहित्य का उद्गमप्रदेश वह सस्कृत वाङ्मय ही है जिनका साहित्य दर्शन है और अन्तःसंस्कृत साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से क्रमशः मासिगत की परम सीमा पर पहुँच चुका है। मात्र प्राचीन काल से आज तक सभी अलङ्कारिकों ने अपने-अपने निबंधों में इस बात का प्रासंगिक विचार किया है कि 'वैचारिक वाक्यों का समुचित सञ्चय-रूप काव्य' जिन-जिन शास्त्रों से सद्दर्शन के हृदयवर्धन करने में अधिक सफल होगा। स्पष्ट रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) एक युग वह था, जब विच्छिन्न-विवेचनता पद-रचना को ही आलङ्कारिक लोग काव्य को मानते थे, और काव्य के शरीरगतान्तर वाक्य तथा अर्थ में परिलिखित होने वाले

१ काव्य प्राकृतमलङ्कार, सौन्दर्यमलङ्कार । अलङ्कारशास्त्र । काव्यम्युत्पत्ति पुनरालङ्कार इत्येवमकाव्यमिति कथंते । स दोषुपमालङ्कारहानोशादानाम् । (अलङ्कारशास्त्र)

२ 'प्रधानेन हि स्वदेशेन मयन्ति, मन्त्रप्रामादित् ।'

३ 'दीडिरामा काव्यम्' । (बामन.)

अलंकारों को ही काव्य में चमत्कार का कारण बतलात थे। मानह आदि कतिपय विद्वानों को दृष्टि बाध्य से आगे तक गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समझा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने बाध्य का ही शेषक माना, अतः अब उनके मतानुसार व्यङ्ग्य भा अलंकार—श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि रस भाव आदि पदार्थों को भी ढूँढ़ निकाला, तथापि उनमें भी अपने साहित्यिक पूर्वजों का सत्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने बाध्यार्थ का शेषक मान कर रस भावादि को भी 'रसवद्' 'श्रेय' आदि अलंकारों की ही श्रेणी प्रदान की।

(२) बाद में अलंकार—जगत् का दूसरा युग आया जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इन तीनों श्रुतियों से अतिरिक्त व्यञ्जनाश्रुति की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा बाध्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के बार्दाबवाद के बाद सुदृढरूप में सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान समझा गया, तथा उत्तम-सदक ध्वनिकाव्य का कारण कहलाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वारस्य के अनुसार मम्मट आदि आलङ्कारिकशिरोमणि वस्तु, अलंकार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य का आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वह युग भी उपस्थित है, अब उक्त तीनों ध्वनियों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसरूप ध्वनि को ही विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तल की गवेषणा करता हुआ आलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्रान्तिस्थान रस की शक्ति ही समझ हो सका।

ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वसाहित्य के जन्मदाता संस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर ताल्पिक आलोचना करने में सफल हुई।

अलंकारशास्त्र की यह मार्मिक आलोचनाशक्ति पण्डितराज बगवाय तक आकर विश्रान्त हो गई। इनके बाद आज तक किसी ने समग्र काव्याङ्गों पर सर्वमान्य आलोचनात्मक निबन्ध की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज भी संस्कृत का अलंकारशास्त्र सर्वथा नवीनता से हीन नहीं है, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रसगङ्गाधर को श्रेणी में आने योग्य निबन्ध की रचना न फिर हुई और न आगे ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलंकारशास्त्र का प्राणमूल है, अतः अलंकारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उत्कृष्टता और अपेक्षितता के तारतम्य-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किम ग्रन्थ की आलोचना-पद्धति ऐसी है ?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलंकार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जितना भाग उपलब्ध है और उसमें अलंकारशास्त्र का जो विषय प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के निबन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अभ्यासि, अतिव्यासि आदि दोषों से रहित प्रतिपादन शैली के द्वारा स्थिर किया गया है तथा बादयुग के अनुकूल नव्यन्याय की भाषा में वर्णित हुआ है, जिससे अब अलंकार क्षेत्र में जित किसी की बुद्धि हल्की वस्तु समझ कर प्रविष्ट नहीं हो

सदगी। इस ग्रंथ का सबसे बड़ा वैशेष्य यही है कि इसमें सभी विषयों की अष्टमूल्यमूर्ति आलोचना की गई है। प्राचीन^१ के निबंधों में उस प्रकार की आलोचना करने के लिए उतना सुविधा भा नहीं थी क्योंकि प्रायः सभी निबंध पद्यरूप में पदानुसृत में निरूपणम विरल या गिने गिनत अंगुली में उन उन पाठों व सभी अतिशयों की समीक्षा नहीं कर सकते व न्य प्रकाश की कल्पनाओं से क्या सभी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट अवगत होते हैं। य^२ ही ता कि मनुस्मृत स्वयं कृत में उही विषयों को विचार करने का चया क्या करने ?

दूसरी अमुविधा यह था कि प्राचीन साहित्य निबंधकारों के समय में बहुत विषय ऐसे थे जिनके स्वरूप हा सर्वथा निर्गुण नशा हो सर थे जैसे रामन आदि के समय में धनि व स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की धारण आलोचना उन निबंधों में कम हो सकना थी। बहुत विषय ऐसे होते हैं जो विकासवाद व सिद्धांतानुसार क्रमिक अवगत परिवर्तनों में जाता प्रकाश का परिचयिदिता का अनुभव कर लेने के बाद ही पूरा परिनिष्ठित हाउं है

काव्यों की श्रित्तों अधिक सृष्टि हाती है अष्टकांगण्य में गुणश्रीश की गवेषणाना विषय उदाहरणों के समन सं रहने से उतना ही आसक समानमसुखा हाता है जना होना समुचित और स्वाभाविक भी है कि प्रत्येक प्रकाश व लक्ष्य व न्य मयन रहने पर हा लक्षणमरभी प्रमुख विचारों का अवसर प्राप्त हाता है अत एव उरणायन में यह एक सिद्ध न हा मान निश गदा है कि 'उत्तरोत्तर मुनि प्रमाणभूत है'

सप्तमप्रकार में ये सभी सुविधाय जुगु म्। नाशय म्प्रवर्तक मरत मुनि में लेखक अना^३ कथन, अभिनयन अदि उव व विज्ञानों ने काव्य व बाव^४नुनून जिन दत्तों की गवेषण की, वे वारि प्रतिपादितों क नानाविध सार्यों के शब्द सिद्धांत हाकर पणितराव जगप्रथ से प्राप्त आचार्यों के निबंधों में पूरा परिनिष्ठित हा जुगे म् अत उन वसा के गवायन में लक्ष्यराव का आवास नहीं करना पका, कत्रक पूरवया पत्र विषयों में म भिन्न परिभार करना ही उनके किये अवशिष्ट रहा, जिसका उहोने बहुत ही मुदर और सकल रीति से सारत्र विद्या है। दूसरी सृष्टि करने के लिए में उदाहरण देना आवश्यक नहीं समपत्रा, अधिकारमात सङ्गय पाठन म व क अर्थदान करने पर स्वयने इत शत्र की सत्यता का अनुभव करेंगे।

विषयप्रतिपादनशैली

सप्तमप्रकार की प्रकृत शैली बहुत हा मात्रक है। कल्प्य कस्तु का प्रतिपादन ऐसे सर सुते मंडलया सप्तसप्त मयु अशुरी क द्वारा विचार गया है किमिने सन्देह किमि अयान्तवताना का दाका भी अवकाश नहीं रह जागा है। पद्यरूप लक्षण्य म्ने में शिष्ट तरह विचार हाकर लक्ष्य का कल्पय विषय का सकार्य करना पका है अवश्या आवश्यक है पर पर ता म्भ १२ बलाओं का अवसर टिकवारी की मत्त हो जागा है, उस प्रकार इस ग्रंथ में नहीं हाता।

'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार व होर अर्थिक म्त्रा में हीम पका है। उस ग्रंथ का प्रतिपादनशैली इतनी सश्रित और लक्ष्य है, कि अनकनेक टाकावैद्यमदिने क हाते पर मा उन कय की दुम्पदा ही ज्ञा की लो नहीं बनी रही, अत्रिु टीकाकारों की परवर विरुध्ती नानाविध ध्यस्त्यों से और अधिक भ्रंति की हा सृष्टि हुई। मरा यह कथन बड़ा मुक्त सार है,

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के मर्मज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं, अब काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर प्रस्तुत प्रस्तावना का काव्यवर्णन व्यर्थ है।

रसगद्गाथर का प्रतिपादनशैली इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के दृढ़ की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिससे नव्यन्याय से सर्वथा परिचय नहीं रहने वाले अन्य-व्यक्तियों को अपातत यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता भिन्न प्रकार की वस्तु है, इसके रहने पर भी उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होता भी नहीं है।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों नाय, जिससे बेचारे नव्यन्यायकामिष्ठ पाठक इस ग्रन्थ के रसगद्गाथर से वञ्चित रहें? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर उन बादयुग से पूटना चाहिये, जिनमें बिना उस भाषा को अपनाये या उस शैली का अनुसरण किये, किन्ना या निरन्ध्र पण्डितमण्डली को प्रज्ञा कमीटी पर खरा उतर ही नहीं सकता था सरल साहित्य का वह एक बड़ा ही विचित्र बादयुग या उन युग में एक, दूसरे का उद्गम करने के लिये मर बाये क्या रहता था यदि किसी क ग्रन्थ में भाषागत अथवा शैलीगत किना विषयवस्तु योगी भी शिथिलता आ जाती थी तो अविलम्ब ही पत्रिकादी उमको टुकड़े टुकड़े करके टूट फेक देते थे, फलतः लेखक को कीर्ति के बदले अकीर्ति का हाथ आती था। अब पण्डितराव को विवश होकर उस प्रकार की प्रीट भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिवादियों के प्रहार से बचने के लिये बड़ी एक रास्ता था।

इस प्रकार का भाषा तथा शैली को अपनाने का दृसा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण में पूर्व साहित्यशास्त्र को उनी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ पण्डित डीनट्टि से देखते थे और विद्या की वह पवित्र शाखा नवभाषा से गही था, सभी उस पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अतः नये सम्प्रदाय को साहित्यशास्त्र में अपनी चौं चढ़ाने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराव को लक्ष नहीं हुई, अब उन्मान नानवश का इस ग्रन्थ में उस प्रौढशैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इन ग्रन्थ का निर्माण हो जाने के बाद अन्धकारशासक एक जगह हुए ही गया। अब इस शास्त्र में साधारण सम्प्रदायों का प्रवेश हा ही नहीं सकता। प्रौढ पण्डितों के लिये भी अब वह शास्त्र हीन दृष्टि में देखने योग्य नहीं समझा जाता है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इससे उचित अधिकारी हैं। मेरी ता यहाँ तक धारणा है कि बिना उन शैली को अपनाये विषय का नरूपशा विन्नेण होना ही नहीं, जिसका आभास पाठकों को अधिम सन्दर्भ से होगा।

विषयो का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितराव ने रसगद्गाथर में विषयों का जैसा स्पष्ट और नरूपशा विन्नेण किया है, वैसा अन्य अन्धकार-ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में जिस विषय को पकटा है, उसका मूलका मानो पाठकों के सामने खड़ा कर दिया है। इस बात का अर्थ करने के लिये इन ग्रन्थ का रसविरूपण देखिये। अन्धकारग्रन्थ के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में सम्यक् ने और रसगद्गाथर में पण्डितराव ने भी की है, परन्तु रसगद्गाथर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाश मात्र के

अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होता है? मर्यादक का मत तो कान्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रवास' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है?' इस स्वामासिक जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक शब्दों में विशदरूप से लिखा है।

'नवो रसों के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, मम्मटभट्ट ने भी लिखा है, परन्तु क्या ये स्थायीभाव हैं? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं बल्कते? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर ना अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

शृङ्गाररस के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और क्लृप्तिय से योजन से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, फिर यदि साधारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकरण्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझें, तो इसमें उनका क्या दोष?

वस्तुतः सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य नहीं विवक्षित है, बल्कि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शय्यासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, परन्तु एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में जो सयोग वर्णित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे चित्तवृत्तियाँ विवक्षित हैं, मन्मथकृत 'सयुक्त हूँ' और 'वियुक्त हूँ' इस तरह की बुद्धि दानी है। यह है रसगङ्गाधर का विद्वेषण।

किसना गिनाया जाय, पाठकों को पद-भेद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विषय-विद्वेषण पाण्डित्य परिष्कृत होगा, अलंकार प्रवरण में पण्डितराज की यह विद्वेषणवाचुरी और अधिक प्रकट हुई है। परन्तु उस प्रवरण से प्रस्तुत भाग का सम्बन्ध नहीं है, अतः उस प्रवरण का विवेचन द्वितीय भाग की प्रस्तावना में ही देखिये।

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यदि कान्य की अगमा व्यङ्ग्य श्रुति है, परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ का भी अपार शरीरशायीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः कान्य में पद-रचना का भी एक स्वतन्त्र महत्त्व है। कान्य-संगत व्यङ्ग्य को पद-कान्य का प्रमुख समीक्षण माना गया है, उसके लिये विवेचकों को अभिमुख करने-राने कान्य-रत्नों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्वप्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन की आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उसके आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही क्यों करेगा? अतः यदि पद-रचना-शौक्षण सर्वोपरि सम्प्रेक्षित है। अन्वय-प्रश्नों में कहा हुआ है—'कान्य आदि अन्वय ही शब्द हैं, वस्तुतः वचनों की अर्थवृत्ति सुन्दर तथा निष्कली श्रुति है। इस को शौक्षण कहते हैं, अर्थश्रुति नहीं वस्तु नहीं है।' अतिशय

१. 'कान्य-विद्वेषणकारं कान्यवाचुरी परे । एतां निदां च श्रुतिं शब्दां वाच्यव्यङ्ग्यवृत्तिम् ॥

आचार्यों ने हो पद-रचना को यहाँ तक गौरव प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया ।^१ मध्यकालिक आचार्यों ने भी उत्तरात्तर उत्तरा महत्त्व अधिक ठहराया है । पदन्मूलक ही और निम्न मगसोक्तियाँ हैं—

किंवा कवितया राजन् ! किंवा वनितया तथा ।

पदविन्द्यासमात्रेण मनो नापहृत यथा ॥^२

अपि च—

‘अविदितगुणापि सत्कविमणितिः कर्णेषु घमति मधुधाराम् ।

अनवगतपरिमलापि च दृश हरति मालती-माला ॥^३

‘उस कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद विन्द्यास (चरणव्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती ।’ एवम् ‘गुणज्ञान न होने पर भी सत्कवियों की उर्क कानों में मधुधारा बरसाती है । ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माया दृष्टि का हरण करती ही है ।’

किन्तु व्याकरण के जटिल नियमों से बढ़ इस संस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुप्तन कठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है । इस उक्ति से संस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक धवगर्भ नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से मेरे कथन पर विचार करें । टवर्ग, झप्, सयोग आदि को छोड़ कर कर्ण, विप्रलम्भ आदि कोमलतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं तादृश रचना करने का प्रयास कभी किये होंगे । देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद पद पर आता है, और वहाँ के लिये अनुशिष्ट ‘रत्ना’ प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त हलन्त धातु को भी ‘दृष्ट्वा’ ‘कृत्वा’ इत्यादि कटुव्यंजन में परिणत कर देता है ।

यदि उपसर्ग जोऽ का ‘ल्यप्’ के रूप में उसकी लाते हैं, तथापि दो व्यञ्जनों का सयोग अनिवार्य ही रहेगा । इसी तरह हलन्त धातु से ‘ल’ ‘लुमुन्’ आदि प्रत्यय करने पर भी कष्टाभरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है । अमरक के समान महाकवि—जिनका एक-एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान माना जाता है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं । आचार्य मम्मट मंड भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पद्यों की उद्धृत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं । क्योंकि अमरक के एक पद्य^३ की

१ ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ ।

२ ‘अमरककवेरेक पद्य प्रबन्धशतावली’ ।

३ शून्य वासुगृह तिलोत्थ शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
निद्रान्याजनुपागतस्य सुचिरं निरंशं परमुमुक्षुम् ॥
विधम्भ परिचुम्ब्य अतपुलकामाशोक्त्य गण्ठरयन्
लज्जानम्रमुगी प्रियेण हमता बाष्प धिरं चुम्बिता ॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनै, शनैर्निद्रा, निरंशं परमुमुक्षुम्, विधम्भम्, परिचुम्ब्य, लज्जा—
नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं ।

अध्ययन से क्या उस मत् का स्वरूप स्पष्ट होगा है ? मट्टनायक का मत ठा काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' भीन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है ?' इस स्वाभाविक जिज्ञासा की दान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराम पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक दृश्यों में विसादरूप से लिखा है।

'नवो रसो के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आण्वारिक लिखते हैं, मम्मटमट्ट ने भी लिखा है, परन्तु क्यों ये स्थायीभाव हैं ? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं ? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते ? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

शृङ्गाररस के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना सभी करते हैं और साहित्य से योग भी संबंध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, कि यदि सृष्टारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकरूप्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरूप्य (भिन्न स्थान पर रहना) समर्थें, तो इन्हें उनका क्या बोध ?

परन्तु सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकरूप्य तथा वैयधिकरूप्य नहीं विवक्षित हैं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावरथा में जो एक शब्दासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान अर्थात् के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में तो सयोग वर्णित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे निवृत्तियों विवक्षित हैं, यथायुक्त 'युक्त हूँ' और 'वियुक्त हूँ' इस तरह की बुद्धि होगी है। यह है रसगङ्गाधर का विलक्षण।

किन्ना गिनया जाय, पाठकों को पद-पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराम का विषय विद्वेषण पण्डित्य परिलक्षित होगा, अलंकार प्रकरण में पण्डितराम की यह विलक्षणचानुरी और अधिक मकट्ट हुई है। परन्तु उन प्रकरण से प्रस्तुत माग का संबंध नहीं है, अतः उस प्रकरण का विवेकन द्वितीय माग की प्रस्तावना में ही देखिये।

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

दक्षिण काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य अर्थ है, परन्तु उम व्यङ्ग्य अर्थ का भी आधार शरीररमानेव पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतंत्र महत्त्व है। काला-सम्मित लक्षणा या एक काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये विनोदों की अभिमुख करने करने काव्य-रत्नों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्वप्रथम सम्झने आनेवाली पद-रचना ही श्रोत्रा के मन को आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उसमें आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही क्यों करेगा ? अतः कवि में पद-रचना-कौशल सर्वोपेक्षित समर्थित है। अकर ग्रन्थों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अङ्गार ठां बंध हैं, वस्तुतः वचनों का अङ्गुति सुप् तथा तिङ् की सुगति है। इस की सांगम्य कट्टे हैं, अर्थानुपति ऐसी वस्तु नहीं है।' अतिमाचीन

१ 'रूपक आदि अङ्गार बंधनाचलते परे। सुगति व सुगति बंधां वाच्यव्यङ्ग्यम्' ॥

आचार्यों ने जो पद-रचना को यहाँ तक गौरव प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया, १ मध्यकालिक आचार्यों ने भी उत्तरात्तर उसका महत्त्व अधिक ठहराया है। पद्यमूलक ही और निम्न प्राप्तिरहित हैं—

किंवा कवितया राजन् १ किंवा वनितया तथा ।
पदविन्यासमात्रेण मनो नापहत यथा ॥'

अपि च—

'अविदितगुणापि मत्कविमणिति. कर्णेषु वनति मधुधाराम् ।
अनवगतपरिमलापि च दृश हरति मालती-भाळा ॥'

'उक्त कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती।' पद्यम् 'गुणगान न होने पर भी सचकवियों को उक्त कालों में मधुधारा बरसाती है। ठीक ही है—मौरम का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माला दृष्टि का हरण करती ही है।'

किन्तु व्याकरण के अट्टल नियमों से बड़ इस सख्त माथा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुम्फल कठिन ही नहीं, आगुत एक प्रकार से असम्भव सा ही है। इस उक्ति से सख्त माथा में रचना करने वाले पाठक धर्याये नहीं, मृदुम दृष्टि से मेरे कथन पर विचार करें। टवर्ग, झ्व्, सयोग आदि को छोड़ कर वर्या, वप्रलम्भ आदि कोन्यतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं ताइश रचना करने का प्रयास कभी किये हाने। देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद पद पर आता है, और वहाँ के लिये अनुशिष्ट 'रत्ना' प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त हलन्त धातु को भी 'दृष्टा' 'कृत्वा' इत्यादि कट्टारूप में परिष्कृत कर देता है।

यदि उपर्युक्त जोड़ कर 'त्यर्' के रूप में उमको लागू हैं, तर्थात् दो व्यञ्जनों का मयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह हलन्त धातु से 'ज' 'हुमुन्' आदि प्रत्यय करने पर भी कट्टापरता सानने आती है, कहने का तत्पर्य यह है कि सख्त माथा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अनरक के सनान महाकवि—जिनका एक-एक पर सौ प्रबन्धों के सनान माना जाता है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। आचार्य मन्मथ भट्ट भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पदों की वर्धुत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अररिचित में ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि अनरक के एक पद्य को

१ 'संनिगमा काव्यस्य ।

२ 'अनरककवेरेक पद्य प्रबन्धसदावधे' ।

३ 'गन्ध वसतृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
निद्राव्यामनुगन्तस्य सुचिर निर्वर्णं पल्लुमुत्तम् ॥

विश्वस्य परिचुम्ब्य त्रतपुत्कामान्नेत्र्य रण्टरदन्तौ
लम्बानम्रमुशी म्रियेण हमता बाना चिर चुम्बिता ॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनै, शनैनिद्रा, निर्वर्णं पल्लुमुत्तम् विश्वस्य, परिचुम्ब्य, लम्बान—
नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं ।

उन्होंने शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। सत्य बात तो यह है कि अलङ्कार शास्त्र प्रणेता आनाया ने माधुर्य गुण के लिये 'उर्वर्गहीन, सयुक्तक्षर रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अत्रय की है, पद्य प्रयोग में उत्तर। निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र को कोई भी पुस्तक उठाइये उसमें मसुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कतिपय पद्य ही ऐसे मिलेंगे, जो सर्वथा निरिद्ध सयुक्ताक्षरादि से रहित होकर निर्दाष सिद्ध हों।

प्रत्येक प्राकृत साहित्य के सहयोग से मस्कृत के कवियों ने भी जब पद-रचना विषयक इन मार्मिकता को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेंगे कि मध्य-भट्ट के समय में सरल भाषा की गद्य रचना के विषय में जितना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण-काल में उसके विचार कुछ अधिक होने लगा। अतः एक स्वयं साहित्यदर्पणकार विषयनाम के द्वारा अथवा तत्समाहात्मिक अन्य कवियों के द्वारा रच हुए मस्कृत के पद्य अधिक ललित पदावली से अलङ्कृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल वह था जब सरल साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अर्थात् की लैकर समृद्ध होती हुई ब्रजभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी या सन्त सुन्दर, तुलसी और 'सतसत' के निर्माता विहारालाल द्वारा हिन्दी कविता अधिक प्रभुत्वित हो उठी थी। हिन्दी भाषा में तद्भव शब्दों के द्वारा अन्तर्गत को लाना तथा गुण बना लेने का बड़ी रचना भी, जिसमें विहारालाल की रचना में महान् सौत्रिय प्राप्त हुआ। विहारालाल का प्रयत्न पद्य भाषा इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे दृष्टि बलि, गात्र, कर्कश और रसार्ण आदि मस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः दीर्घ दुर्लभ, गगन, करकस और परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे मूल सरल शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की अपेक्षा उन तद्भव शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में लाख गुना माधुर्य बढ़ गया है इस बात को कौन सन्देह नहीं मानेगा। पण्डितराज विहारालाल की कविताओं से पूर्ण परिचित अतः उन पर विहारालाल की कामल-हृन्त-पदावली का प्रभाव अत्रय पदा हुआ।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से सरल की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था वैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी मसुर प्रभाव सरल पद-रचना पर पड़ा होगा। जब हिन्दी के कवि शृङ्गार-वरण आदि रसों में तदनुकूल मधुरवर्ण योजना का यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्द्वारा रसाभिषेक का प्रसार होता है, तब सरल भाषा में ही यह नियम सिद्धि हार्न केवल अलङ्कार-प्रयोग में ही पड़ा रहे—प्रयोग में नहीं का मने—यह सर्वोत्तम प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज को वैसे मना हो सकता, अतः एक सरल साहित्य के सभा विषयों का अपने विचार निष्कार पर नमाने वाले पण्डितराज ने रस-नादावर में पद-रचनाविषयक निष्कर्ष का दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में सयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों का आविर्भाव किया है। उसके स्वरूप में परिचित होने के लिये पद्यकार को रसनाहार का उक्त प्रकरण देखना चाहिये।

१ 'पाठिन एव समान दुति वनक, जनक से मात।

धूपन कर मरकम लयन पर विधाने जात।'

पण्डितराज प्रतिभाशाली विद्वानों में चूनामण हैं, अब एक उन्होंने सस्कृत साहित्य में पदरचनासम्बन्धी तादृश मार्मिक विचार को नाम दिया जिसके सामने हिन्दी के दोषकों को भा निम्न होना पड़ा है, किम वर्ण के अनंतर किम के जाने से कड़वा ब जाती है इसके विषय में इस मार्मिक विचार को पण्डितराज ने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज बागूदेवतावतार मम्मट के समान जबल निदर्शनार्थ में हा प्रवीण नहीं थे, प्रस्तुत स्वरचित उदाहरणों में उन नियमों का अनुवृत्त भा पूर्णरूप से करने थे, मधुर रचना के ऐसे ऐसे उदाहरणों ने रसगङ्गाधर में क्या कर दिने है जिनमें प्रतिषेधी किसी भी तरह शेष नहीं मिलता सकता।

अनुप्रास की छटा

वैसे तो अनुप्रास यमक आदि शब्दालङ्कारों का प्रयोग सभी जासूसकारिकां न अपने-अपने निकषों में किया है और सस्कृत कवियों ने स्थान-स्थान पर उनका प्रयोग भी किया है, परन्तु पण्डितराज के समय में ब्रजभाषा कवियों के द्वारा विशेष धनाश्रीछन्दों में पदानुप्रास का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था इस अनुप्रास का प्रयोग प्राचीन सस्कृत काव्या में नहीं हुआ हो, धमा वात महा वदुत हा यह उमका प्रयोग मफुड रूप में पाया जाता है। परन्तु पण्डितराज कवियों में विशुद्ध भाषाभाषणा वृत्तमः पदानुप्रास का एक निगल ही छटा दोस पडता है उमा प्रकार शिवराज छन्द में भा इस अनुप्रास का प्रयोग शङ्कराचार्य आदि ने भी किया है, परन्तु पण्डितराज का शिखरनिर्णय में इस अनुप्रास का लोकोत्तर प्रयोग हुआ है।

अबनामो छन्द में जिन तरह का अनुप्रास हुआ है ठीक उसी तरह अनुप्रास का प्रयोग हिन्दी भाषा के अमृतनिलि आदि अन्य छन्दा में भी है और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों की अधिक सफलता भी मिली है। किम भाषा पण्डितराज उस चमत्कार की सस्कृत में दिना लाये वैसे रहते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उन नाम के अनुप्रासों का परिपक्व प्रयोग किया है। कवियों का सारांश यह है कि समनमभिव हिन्दी कवियों की कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्राससौत्र से प्रभावित होकर ही पण्डितराज ने सस्कृत में उत्तम उपयोग प्रारम्भ किया वह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपना प्रतिभा से उनमें और अधिक परिपक्व लाये।

सूत्रम दृष्टि से देखने पर पण्डितराज व हा एक पद्य में शब्दछन्द चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में व्यङ्ग्यपूर्ण चमत्कार के साथ-साथ शब्दछन्द अतिशय भा काई न वा अवश्य लगा है और उनका रचना आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

- १ कम्मुरिकानिकमालि विधाय साधन् 'सत्वाद (पृ० २९-६२)
- २ 'तुम्हा विधाक अकुशाना तापुना कर्ह, चित्रक कपिलो निहाचर न लाई' 'वासी औपि आवन का ला ममभारत ता दग नद वीवन की सावन का रनिया ॥'
- ३ निररा तितथाय निद्रा म वन धामे चम निर्वानार ' (पृ ३०३)
- ४ 'तवासत्र गङ्ग यदि पति वधमनुभुता, तदा मात शक्यवदलाभमप्यवित्तु ॥' (शङ्कराचार्य)
- ५ 'वन्द्यापिचमुकवाण्डवधमयावावपीजाण्डव ' (दि आनन)

द्वारा पहले विनेयों का आकर्षण होता है। कवि-प्रतिमा का प्रधान आधार भी शब्द ही है। अतः एव काव्यलक्षण में भी पण्डितराज ने 'शब्दकाव्य है' इस पर पूरा जोर लगाया है।

जो कोई शब्द चमत्कार पर बल देने वाले कवि को 'शब्दकवि' कहकर एक तरह से बसकी निन्दा करता है, वह वास्तविक विचार न करने के कारण ही ऐसा करता है। अर्थचमत्कार से शून्य केवल शब्द चमत्कार भले ही निन्दास्पद हो, परन्तु अर्थचमत्कार के साथ रहने वाला शब्द-चमत्कार सोने में सुगन्ध का काम करता है।

सामयिक प्रभाव

पण्डितराज का आविर्भाव मुगल बादशाहों के विलासमय काल में हुआ था, वे स्वयं भी दिल्ली दरबार में रहकर बहुत कुछ इन विलासों का अनुभव करते थे, अतः स्थान-स्थान पर उनकी कविताओं में मुगल राजधानी के विलासमय चित्र स्पष्ट झलकते दीख पड़ते हैं। रसभास प्रकरण में बहुनायक विषयक रति का उदाहरण देकर पण्डितराज लिखते हैं कि 'एक अनुपम सुन्दरी कही मे आ रही थी मार्ग में बहुतेरे मनचले युवक उनके सौन्दर्य तथा यौवन से बशीभूत होकर उसके पीछे लग गये, परन्तु नवनमुख के भलावा कुछ भी उनको हाथ नहीं लगा, उसकी मधुरवाणी सुनने के लिए भी वे तरसते ही रहे, अन्त में उस नायिका का निरास स्थान भी आ पहुँचा, वह अपने भवन में प्रवेश करने लगी अब बेचारे वे युवक क्या करते? रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में हो रहा था कि यदि यह अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा भी दे देती, तो हम उस आज्ञा को ही परम लाभ मानकर अपनी सेवा को सार्थक समझ लेते, वह चतुर नायिका उनके मनोभावों को समझ रही थी, पर तक अनुगमन रूप उनके परिश्रम के स्मरण से उसके हृदय में कण्ठा उमड़ आई और उसने मुख से तो नहीं परन्तु इन सबों की ओर एक नजर देखकर एक तरह से जाने की आज्ञा दे दी' २।

इसी तरह उस समय मुगलजातीय विलासी लोग धर में कबूतरी की जोड़ी पालने थे, यह मुगल जाति की प्रमुख विनोद की चीज थी। आन भी उस सम्प्रदाय के लोग प्रायः उस परम्परा को निभा रहे हैं। पण्डितराज ने उन कबूतरों की जोड़ी पर भी एक मार्मिक कविता लिखी है ३।

अन्य अलङ्कार ग्रन्थों से रसगङ्गाधर में सैद्धान्तिक विशेष

मेढान्तिक दृष्टि में भी अन्य अलङ्कार ग्रन्थों की अपेक्षा रसगङ्गाधर में अनेक विशेषताएँ हैं। जैसे—काव्यप्रकाश में शब्दार्थ युगल को काव्य माना गया है, रसगङ्गाधर में शब्दभाव को। काव्यप्रकाश काव्य में गुण तथा अलङ्कारों का रहना आवश्यक बनलता है, पर रसगङ्गाधर ऐसा नहीं कहता। काव्यप्रकाश काव्य के प्रति शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को कारण कहता है, पर रसगङ्गाधर प्रतिभाभाव को काव्य का कारण मानकर अदृष्ट एव व्युरात्ति-अभ्यास को स्थान भेद से प्रतिभा का कारण दखलता है। काव्यप्रकाश के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम से काव्य के तीन प्रकार होते हैं, साहित्यदर्पण के अनुसार अधम भेद भी नहीं होता, उत्तम की

१ 'भवन कस्यावती विसन्ती गमनापारलक्षणमणालसेषु।' (पृ ३२९)

२ 'अथ कुतश्चिदागच्छन्त्या' इत्यादि (पृ ३४०)

३ 'निरुद्धय यान्तीं ठरसा कपोनीं कृजकपोतस्य पुरो ददाने।.....' (पृ २८०)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगद्गाधर के हिमाव से उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम तथा अधम भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं ।

अन्य सभी अष्टकार-ग्रन्थों में दान, दवा, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से वत्साङ्करूप स्थायी भाव के चार भेद मानकर चौर रस के ही चार प्रकार प्रतिपादित हुये हैं, किन्तु रसगद्गाधर का कथन है कि शृंगार रस के समान चौर रस के भी बहुत हो सकते हैं । और तदनुसार युक्ति यत्न उदाहरण लेकर सन्धवीर, पाण्डिप्यवीर और बलवीर ने चार भेद अधिक वसने प्रतिपादित हुये हैं ।

सभी प्राचीन आलंकारिक निबन्धगुणों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धराज रसगद्गाधर में प्रचुर खण्डन मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म स्थिर किये गये हैं ।

प्राक्तन सभी अष्टकार ग्रन्थों में भावत्वानि के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-सम्बन्धता की धनियों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु रसगद्गाधर में ये धनियों भी भावध्वनि में ही गलाय कर दी गई हैं और गतार्थता के लिये दी गई युक्तियाँ भी बची मार्मिक हैं ।

सभी अन्य निबन्ध रसमात्रादि को अक्षरकर्मव्यवहारी ही मानते हैं, परन्तु रसगद्गाधर स्वतन्त्रिणेश्वर में रसमात्रादि को भी सत्कर्मकर्मव्यवहारी बतलाता है ।

द्वितीय आनन में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो द्वितीयमान को भूमिका में दिखलाये गये हैं ।

रसगद्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

इस अनन्त जीवमय समार में नर-श्रेष्ठ दुर्लभ है और नर-श्रेष्ठ प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है इसी प्रकार विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर कल्लि (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है । शब्दा के बरदपुत्र पण्डितराज ने इन सभी दुर्लभ गुणों का समन्वय समाविष्ट था । वे अपने युग के महामानव होने के साथ-साथ विशुद्धीति विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे ।

किसी भी अन्य अष्टकार-निबन्ध-निर्माता में उक्त सभी गुण हम मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराज में थे । अमान् सम्मत्तमः विद्वान् वदुत बडे अवश्य थे, अष्टकारासत्त्व का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे, अतः उन्हें अपने प्रतिष्ठित अष्टकार-निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखादेशी होना पड़ा । प्रायः यही कारण था कि काव्यीय विविध वस्तुओं के विद्वाने भेद में बुद्धि में स्फुरित होने पर भी उदाहरणमात्र से उन्होंने नहीं लिखे । साहाय्यदर्पणकार विद्वानाय ने वदरि अपने को अष्टार-मात्रा-वारविशामिनी-भुवङ्ग की उपाधि से विभूषित किया है और यत्र-तत्र 'इदं मम' कहकर स्वनिमित्त पदको उदाहरण के रूप में वदरिष्ठ भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हें पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें उच्चकोटि की कवि-व्यक्ति होती, जो वे अपने निबन्ध 'साहाय्यदर्पण' में रक्तान् पदों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते ? अन्य अष्टकार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिये गये हैं ।

१. 'नरस्य दुर्लभं लोके विद्या तथा ह्युर्लभं ॥ कविस्य दुर्लभं तत्र कल्लिपुत्र ह्युर्लभं ॥'

किंतु एक पण्डितराज ही इस अर्थ में अपवादमूलक हैं। उनकी प्रतिष्ठा है कि 'काल्पूरी का जन्म देनेवाला मृग पुष्पो का गंध-ग्रहण नहीं करता। मे इस रसगङ्गाधर में एक भी परकीय पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा'। इस प्रतिष्ठा की पूर्ति उन्होंने मूल ही की है। एक से एक सुन्दर स्वनिर्मित पद्य उदाहरण से सम्पूर्ण रसगङ्गाधर में उपस्थित किये हैं। वे पद्य निम्न-भिन्न प्रसङ्ग पर भिन्न भिन्न रसों से ओत प्रोत हैं, रसगङ्गाधर में आये हुए ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि जन्म पर्वत में मे कल्पित्य पद्य पण्डितराज के अल्प काल्य तथा स्तोत्र ग्रन्थों में भी जा चुके हैं, तथापि ऐसे भी इलोक कम नहाने जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगङ्गाधर अलंकारशास्त्र के निबन्धराट्ट होने के साथ साथ एक सुन्दर मुक्तक कविताओं का समग्रहात्मक काल्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कल्पित्य प्रधान विषयों का विशद विवेचन —

काल्य-प्रयोजन

मन्दबुद्धि का भा प्रवृत्ति निषेधोक्त नहीं होती।^१ इस ज्ञाय के अनुसार प्रायः के प्रारम्भ में प्रयोक्तव्यता की राति प्रचलित है। अत एव काल्य लक्षणकारों में भी लक्षण करने से पहले काल्य प्रयोजन के प्रतिपादन करने की परम्परा है। पण्डितराज ने मा रसगङ्गाधर में इस परम्परा की रक्षा की है अर्थात् उन्होंने भी का म क प्रयोजन दिखलाए है परन्तु मध्ये में उनकी अपेक्षा सम्मेल और विश्वन प ने का-धमकाश तथा भाट्टलक्षण म इनके विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्हीं ताना आचार्यों के वचनों का विवेचन इस प्रकरण में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में का काल्य प्रयोजन कि सन्ताने गये हैं उनके दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काल्य निर्माण के और कुछ काल्याध्ययन के।

मस, अर्थ, व्यवहारमान, अनर्थ निवृत्ति, परम सुख और कानासम्मित उपदेश इन काल्य प्रयोजनों का उल्लेख मन्दाऽपि प्रवर्तते।^२ इनमें मस, अर्थ और अनर्थनिवृत्ति ये तीन काल्य निर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहारमान और उपदेश ये दो काल्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अर्थात् 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का हा सकना है। अन्य पाठकों के समान काल्य निर्माता भा अपने काल्य के पाठक हाते हैं, अत वाक्याध्ययनतय सुख ता उहं मिलता हा है साथ-साथ काल्य निर्माण पशुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलता है, वाच्यनिर्माण से जा सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं को ही ही सताता है, पाठकों को चाहिये कि उन सुखानुभव का भी यत्न करें।

इसके बाद नन्दर आता है दर्पणकार विद्वन्नाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और माध इस पुरुषार्थचतुष्टय की सारपूर्वक प्राप्ति को काल्य प्रयोजन कहा है तथा काल्य से इन प्रयोजनों

१ 'निर्मात्र नूतनसुखारणानुरूप काल्य प्रयोजन निहित न परस्य किञ्चित्' (१०६)

२ 'प्रयोक्तव्यमनुद्दिश्य न मन्दाऽपि प्रवर्तते।'

३ 'काल्य यश्चेत्पर्यङ्कन व्यवहारविदे सितैरक्षतये।

सत्त परनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशपुत्रे ॥'

४ 'चतुर्वर्ग-कल प्राप्ति, सुखारत्नभियामपि। काल्यादेव वत्सलैव तत्स्वरूप निरूप्यते ॥'

मात्रि वैसे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी युक्तियाँ भी बन्ना ह, उन युक्तियों क द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माण और अर्थात् दानों के लिये बराबर है ।

पण्डितान ने काव्य प्रयोजन के संबंध में कबल एक पक्ति लिखा है, जिसमें यश, परम अलङ्कार गुरु राजा तथा वंश आदि की प्रमत्तता ये काव्य प्रयोजन बनलाये गये^१ हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य निर्माण के ही हो सकते हैं, वाक्याध्ययन के नहीं । यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य निर्माण की ओर हाग और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा ।

वस्तुतः इन प्रयोजनों का उल्लेख लोगों को काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उस प्रकार का एक प्रयोजक उदाहरण है जिस तरह का विकेटार्ज का सीपी के चमकीले डुकनों के विषय में कृताओं के प्रति यह कथन होता है कि बट अच्छ मोती हैं, बल्ल खरीद लीजिये^२ । परमार्थन काव्य का प्रयोजन रसास्वाद-मूलक आनन्दनिश्चय हा है । यद्यपि लोग कीर्ति आदि के लिये भी काव्य निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि क लिये भी काव्य पद्ये हाँ ह, तथापि वे सब काव्य के अन्य साधारण प्रयोजन नडा हो सकते बल्कि कर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिए भी विविध उपाय विय जा सकते हैं । इन सब गौण प्रयोजनों का लक्ष्य बनावट भाष्य का लिखना-पडना सबथा सकल भी नहीं होता । कान्ने का अभिप्राय है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सकल हो सकता है, परमरसास्वाद के लिये रिया गया वाक्याध्ययन ही वास्तविक अध्ययन करूँ या सकता है ।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूव कवि-शब्दाय का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म' अथ कविराश्वार्थ का शान विना कराये काव्यपदार्थ का शान नहीं बगया जा सकता ।

अच्छा तो हम पहले वही विचार करें कि कवि बिसे करते हैं ? शब्द स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में 'कवृ वर्णे' धातु से कवि पद की सिद्धि मानी गई है^३ । कुछ लोगों का कथन है कि कवृ वर्णे धातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कवृ पदार्थार्थ है, अतः 'कुड् शब्दे' धातु से कविपद की सिद्धि करनी चाहिये । यदि यही अनुपपत्ति ठाक हो, तथापि अर्थ में कवे अधिक अन्तर नहीं होता क्योंकि तदनुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है । कोष में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया^४ है । अतः योग तथा रूढि दोनों की सम्बन्धवात्मक दृष्टि से

१ 'कीर्तिपरमाह्लादगुरु। नद्वेजतामसादायनेकप्रवे' बनकस्य काव्यस्य इत्यादि' (पृ० ८) ।

२ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः क्तमपि च' इति 'यञ्' ।

३ 'कविशब्दश्च कवृ वर्णे इत्यत्र धातो काव्यकार्मणो रूपम्' (काव्यमीमांसा) ।

४ 'सत्त्वान् पण्डित कवि' (अमर)

विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वत्र परमात्मा को कवि कहा गया है।^१ इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'आदि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह प्रायः पुराणयुग तक सभी (सुन्दर अथवा असुन्दर) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होता रहा, अतः पद राबन्धति विषयो के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि सभा दी गई^२ है।

किन्तु पुराणयुग के बाद वर्णयितामात्र को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कृतिपूष वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पद की अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारमय वर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओं के मानस में परमानन्द की रश्मि बीजित हो उठने लगती थीं। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भा स्मृतिकारों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि आज के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बनाते हैं—जैसे कवि कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ है। वह एक पेशा फन है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपयोग करता है, और अब सम्पन्न हो जाता है, पर उसके कल्याणस्वरूप में उसकी सम्पत्ता का कुछ प्रसाद सहृदय जनों को मिल जाता है। वह प्रलय ही काव्य है। तत्त्ववेत्ता और कवि में अन्तर है। तत्त्ववेत्ता तत्त्विक का निरासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्यमात्र के हैं। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझते ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाणी में इतनी शक्ति नहीं होगी कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में बड़ी अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद को इस तरह की सभी व्याख्याओं का आधार वही पूर्वोक्त कवि पद का स्वरक्षिक अर्थ है यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

अस्तु, यह तो हम कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कर्म क्या है? कवि क्या करता है जिसको काव्यपद व्यक्त करता है? इनका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि किसी विषय का चमत्कृतिपूर्ण श्रोताओं को सुग्ध कर देने वाला—वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अतः यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं गढ़ता, अपितु उनका कठिन सुम्फनमात्र को रचता है, तथापि कठिन सुम्फन से युक्त वह पदावली कवि कार्य कहलाती है, जैसे यन्त्रनिर्मायकता कुम्भकार का कार्य पद कहलाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिस किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनहरयकारी, वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द काव्य ही हैं।

१ 'कविर्मनीषो परिभू स्वयम्' (शुक्लयजु संहिता म ४० म ८)

२ 'उशाना मार्गन कवि' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र। अब विवेचनीय यह है कि किस किसने अपनी प्रतिमा रूप तुल्यता से रङ्ग भरकर उस रेखाचित्र का कौता रूप तैयार किया है। अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण लक्षण में परिवर्तन-परिवर्धन करके भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यलक्षण तैयार हुये हैं, यद्यपि इस प्रकार का विवेच्य विषय है।

अब तक प्रायः निम्नलिखित आचार्य प्रधान काव्यलक्षणकार हुये हैं। (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रुद्रट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) मोक्ष, (७) मम्मट, (८) वाग्मट, (९) पोद्भवर्ष (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज जगन्नाथ।

अब यहाँ क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यलक्षणों की चर्चा संक्षेप में की जायगी।

(१) 'अमाष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाली पदावली काव्य है' यह लक्षण अग्निपुराण में किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वक्तव्य विषय को सुन्दर ढङ्ग से प्रतिपादित करने वाला नया-तुला पदसमूहात्मक वाक्य का काव्य कहलाता है। संक्षेप पद का लक्षण में समावेश करने से लक्षणकार का अभिप्राय यह कि व्यर्थ पदों का आद्यम्बर काव्य में नहीं होना चाहिये। अग्निपुराण का निर्मायकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उपलब्ध काव्यलक्षणों में सब से प्रथम लक्षण यही है।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक निबन्ध में जो काव्यलक्षण किया है, उसे अग्निपुराण के लक्षण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'दृष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नयी-नयी) पदावली काव्य का शरीर है' यह जो उनका लक्षण है, उसमें अग्निपुराणलक्षणगत 'संक्षेपाद्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों को केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे। कारण यह कि व्यवच्छिन्न तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं। दण्डी का काल अनुमान के आधार पर ठीकी शताब्दी माना जाता है।

(३) इसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यलक्षण में एक महान् परिवर्तन उपस्थित किया। अब तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता रहा, वह उनकी गवेषणात्मक स्वतन्त्रपुष्टि में ठीक नहीं जबा अब उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य कहने लगे। तात्पर्य यह कि उनके विचार से सम्मिश्रित शब्दार्थ-युक्त ही काव्य सिद्ध हुआ। विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलभूत अर्थ जो कवि की श्रुति है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किस तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही श्रुति होती है अर्थात् काव्य में कथित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन् केवल कल्पना-भस्त रहते हैं इतिहासप्रसिद्ध पदार्थों को भी कवि अपने ढङ्ग से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है। मास की वापवदत्ता, कालिदास की शकुन्तला और भीमार्जुन की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकायें होकर भी वास्तविक से सर्वथा भिन्न हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्णरूपायन (वेदव्यास) के कृष्ण-अर्जुन भी

१ 'संक्षेपाद् वाक्यभिष्टार्यव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम् ।'

२ 'शरीर तावद्विष्टार्यव्यवच्छिन्ना पदावली।'

३ ननु शब्दार्थो काव्यम्।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ भिन्न ही है। प्रकरण (जो एक रूपक का भेद है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकता है प्रवृत्ति के 'मालतीमाधव' में कथित मालती तथा माधव आदि और शूद्रक (१) के 'मृच्छकटिक' में कथित बसन्तसेना एवम् चारुदत्त आदि का तो इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अगत्या उन पात्रों को तो काल्पनिक मानना पड़ेगा, फिर भी इष्टान्त से इतिहास प्रसिद्ध पात्रों के विषय में भी यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कथि के ही गढ़ हुये होंगे हैं। काव्यजनक अथवा सत्कार में कथि ही सदा होता है उसके फलस्वरूप के सुगमिष्य ही अर्थ ही बन जाता पड़ता है, यह लिखकर आलङ्कारिकशिरोमणि आनन्दवर्षनाचार्य ने भी काव्यजनित पदार्थों का मानस होने की बात की प्रष्टि की है अतः शूद्रक का शब्दार्थयुगल-काव्यतावाद निरान्त तर्कमय है इसमें कोई सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानन वामन से पूर्व का माना जाता है।

(४) इसक अनन्तर अलङ्कारप्रकार वामन ने काव्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कही। उन्होंने कहा कि अलङ्कार रहने के कारण काव्य शक्य है, और 'अलङ्कार कहते हैं सौन्दर्य बोध'। इस तरह उनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का ग्रहण करना समुचित है अब विज्ञप्ति यह उठती है कि काव्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है ? इसका उत्तर वामन यह देते हैं कि दोषों के त्याग और गुण तथा अलङ्कारों के ग्रहण करने से काव्य में यह सौन्दर्य उत्पन्न होता है, अतः एव अन्त में उन्होंने काव्य-लक्षण क सम्बन्ध में कहा है, कि 'यह काव्य शब्द गुण तथा अलङ्कारों से समस्त शब्दार्थयुगल का वाचक है'।

गुणालङ्कारहीन शब्दार्थयुगल में प्रयुक्त काव्य पद को उन्होंने लाक्षणिक माना है। उनके कथन का आशय यह होता कि वस्तुतः गुणालङ्कार युक्त शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन व्याख्याओं में जब केवल शब्दार्थसमूह ही काव्य कहा, तब से काव्य पद शब्दार्थयुगल में रूढ़ हो गया, अतः आज भी लोग केवल शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहा करते हैं। 'कर्मयोग' शास्त्र प्रकाश में 'कलित्या सादृशी है' के अन्त स्मृतिगूढा लक्षणा हा समझनी चाहिये, वामन का समय नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पूर्व का माना जाता है।

(५) धर्मनिराग मन्तक आनन्दवर्षन ने कथि स्पष्ट शब्दों में काव्यलक्षण कहा लिखा है। काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य भी नहीं था, धर्मनिराग का स्थापन करना या उनका उद्देश्य था। उसकी पूर्ति उन्होंने स्व ही की है। व्यक्तिवैक्य के अलङ्कार मन्तक को छोड़कर प्रायः सभी अन्तरमानी आधुनिक बहुत अर्थों में उनके अनुयायी ही हैं। अस्तु, प्रकृत में कहना यह है कि काव्य का लक्षण लिखकर भी आनन्दवर्षन ने 'शब्दार्थयुगल ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपना सम्मति प्रकट की है, क्योंकि प्रकृतका एक स्थान पर ध्वन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है'। इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जाता है।

१ 'आगे काव्यसारे कथिरेव प्रजापति । यथाग्ने राचते तिरव तदैव परिवर्तते ॥'

२ 'काव्य शक्यमलङ्कारात्' । ३ 'सौन्दर्यमलङ्कार' ।

४ 'स दोषगुणालङ्कारद्वन्द्वानामान्यात्' ।

५ 'काव्यसन्दोष्य गुणालङ्कारसंस्कृतयो शब्दार्थसंबन्धे' ।

६ 'मन्तवा तु शब्दार्थमाश्रयन्तो यूपसते' । ७ 'शब्दार्थशरीर वाचक काव्य' ।

(६) इसका बाद सरहल क राम अनुगामी, मस्कुराण क काव्यक अयच अनेक कमनीय निबन्धों के निर्माता धारापिठि भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यरक्षण पर सामक्य अनगो लेखनी नहीं चलाई, तथापि काव्य प्रशंसा के प्रसंग पर अनेक मण्डित निबन्ध सरस्वती कण्ठामरण में एक पद्य लिखकर काव्यरक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। इस पद्य का भाव यह है कि दोषरहित, गुणरहित, अलंकारों से अशुद्ध और सरस काव्य को बनाने वाला कवि कीर्ति के साथ मूल्य को भाग्य बना है।^१ इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ गुण को काव्य मानते हैं। शब्दों के शब्दभाव को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा सगुण नहीं हो सकता, कारण ? रामका केवल शब्द में सामान्य सम्बन्ध नहीं होता। और 'अलंकारों से' इस बुझने से शब्दाङ्कार तथा अर्थाङ्कार दोनों ही उनके विरहित शत होते हैं। यदि शब्दभाव में उन्हें काव्यत्व अभिमत होता तो अलंकार का समावेश क्यों करते ? अर्थाङ्कार शब्द को अशुद्ध नही कर सकता। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

(७) उन अलंकार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकृति के लेखक रामदेवता के द्वारा अवतर महाभाष्य मम्मट का उदय हुआ। उन्होंने काव्यरक्षण में वामन का अनुवर्तन किया परन्तु गुण तथा अलंकारों का समान ध्यान काव्य में उन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से माननीयक समझा गया और अलंकार का होना आनुपत्रिक स्पष्ट कारण यह हुआ कि अलंकार के रचने पर काव्य की श्रेष्ठता नहीं भा प्रकीर्ण है, किन्तु उनके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व उन्हें स्पष्ट है। उन ग्रन्थों दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ को काव्य कक्षा और अलंकार के विषय में क्या कि अधिकतर स्थानों में अलंकार का रहना आवश्यक है पर कहीं यदि स्पष्ट अलंकार न भा रहे तब कोई हानि नहीं।^२

एक बात और यद्यपि मम्मट ने काव्यरक्षण में रस की चर्चा नहीं की तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है, यह बात काव्यप्रकाश के अन्य अंशों से विदित होती है। यद्यपि किन्तु गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आवश्यकता बतलाया है, उनको व सप्त शब्दों में रसरुचिर्भवं मानते हैं।^३ इनका आविर्भाव काल ग्यारहवीं शताब्दी निर्दिष्ट है।

(८) मम्मट के बाद वसा शताब्दी में एक वाग्भट नाम के आचार्य हुए, जिनका वाग्भटकार नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि का स्थापना कर दी थी, चतुर्विध रस भी रस आदि असंख्यकम्प्यग्रहों की प्रधानता निश्चित हो चुकी थी, अब इहो वामन तथा मम्मट दोनों के मतों को जोड़ कर एक नवीन काव्यरक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दापी का स्पष्ट काव्य है।'^४

(९) इसके अनन्तर चन्द्राञ्जलि नामक निबन्ध के निर्माता 'दीनप्रवर्ध' उपाधि से मूषिण जयदेव का उदय आया। इनसे पूर्व भावी आचार्यों के द्वारा जिनने काव्यरक्षण निरूपित

१ निर्दोष गुणवत् काव्यमलकरैल्लहृत्तम् । रसान्वित कवि कुर्वन् कान्य प्र तेन्य विन्दति ॥

२ 'तददोषो शब्दार्थो सगुणानल्लहृत्तुनी पुन कवि ।'

३ 'ये रसस्याङ्गिणो धना सौख्यं देव इवात्मन । उक्तप्रहेतवस्तेस्तु चाम्ब्यतदा गुणा ॥

४ 'गुणाङ्काररीतिरसोपेत साधुशब्दार्थसन्दर्भ काव्यम् ।'

हुये थे, उन सभी तत्वों को इन्होंने काव्यलक्षण में समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा श्रुति इन समस्त लयादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया'।^१

परन्तु इनके लक्षणों में बहुत परासों का समावेश हो जाने के कारण अन्यायि अतिव्याप्ति भाँटि दासों की सहा अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुपम भी नहीं हो सकता जब इसको लक्षण न मानकर काव्यतत्त्वों का सम्राट्क वाक्यमात्र माने तो अधिक उपयुक्त होगा। इनका समय भी गारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है।

(१०) इसके अनन्तर काव्य-अङ्ग में कुछ नवीन संदेश लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अवतार हुए। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर षोडशवर्ष तक के आचार्यों ने जो उत्तरोत्तर नया काव्यलक्षण तैयार किया था उसको काट छाँट कर सशुद्ध कर दिया और काव्य में केवल रस मात्र खाति असंख्यकृत कहे जानेवाले चन्द्रवाच्यों का रहना आवश्यक समझा। अलङ्कार इनके विचारानुसार केवल उक्तप के कारण हैं—स्वरूपावश्यक नहीं। इसी तरह दास केवल अपूर्व के हस्त ह—स्वस्वाविशेषक नहीं। यह विचार उनका ठीक भी है। अलङ्कारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की हानि नहीं होती और काण्वादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व को नष्ट लोगे। अतः इन्होंने रसात्मक काव्य^२, को वाक्य कहा और रस^३ पद से आत्मादयोग्य रस, रसामास, भाव, भावाभास, भायोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशरत्का इन सभी असंख्यकमन्त्रवाच्यों का समूह किया। यद्यपि विरचनाय का यह लक्षण सत्रया अभिन्न नहीं है। इनमें बहुत पहले शौंडादिनामक एक आचार्य ने अपने अलङ्कारध्वज में 'रसादिमत्त्वं चक्य' का काव्य कहा था, तथापि आदि से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने रसके समवश ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केशव मिश्र ने अलङ्कारशेखर में लिखा है कि रस अपना अलङ्कार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहलाता है। परन्तु विरचनाय को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं जचा, अतः इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि पद को स्थान नहीं दिया। विरचनाय का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णय सा है।

(११) इसके बाद नन्दर आता है गोविन्द ठन्डुर का। यद्यपि ये मूलकार नहीं हैं, तथापि वाक्यकार पर लिखा हुआ इनका 'प्रदीप' वृत्त अंश में शैलिज्ञान रखा है, अतः पर मूलकारिक लक्ष्य में इनकी प्रविष्टा किसी मूलकार से कम नहीं है।

इन्होंने काव्यमन्त्रशोध काव्यलक्षण का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि सम्प्रदाय रसहीन और स्पष्ट अलङ्कार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता अनुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलङ्कार ये दोनों पदार्थ काव्य में अनिवार्यजनक हैं, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहाँ से आवेगा और कहाँ चमत्कार ही नहीं हो उसे काव्य कहेंगे ही कैसे ? कारण यह है कि काव्य में चमत्कार ही सार है। अतः यह मानना अचित होगा कि सरल स्वच्छ में भले ही अलङ्कार की कल्पना नहीं हो, पर गीरस स्वच्छ में अलङ्कार का

१ 'नित्येष गुणाशकारलक्ष्यपरितिवृत्तिमत् वाच्यं काव्यम्'।

२ 'वस्य रसात्मक काव्यम्'।

३ रसादिमत् वाक्य काव्यम्'।

रहना आवश्यक है।' पण इनके बचन में भा-नहा वात सिद्ध हुई जो केवल मित्र ने कहा थी। गोविन्द ठक्कर मेथिल ब्राह्मण थे और उनका मनय साहित्यवादी वा उदात्त निर्देशक है।

(१२) इसके अनन्तर हा रसगद्गाधर र निमाना पण्डितराज जगन्नाथ का श्रम राता है। इन्होंने काव्यभूषण का वा रूप स्थिर किया है और उमने सन्त्य में जो कुछ मान्य वाग कृता है वे सब प्रहल पुस्तक में देया जा सकती हैं, अतः उनका लक्षण यहाँ विष्णुपण समझकर नर्ण किया जाता है, निशासुओं को प्रथम में वे बर्ण देखनी चाहिये

अब इस प्रकरण के उपसर्ग-भाग में सुने यह कर्ना है कि—प्रारम्भ में सौन्दर्यपूण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णना वा काव्य कृता जाता था। बाद-काल सौन्दर्यपूण वर्णन वा काव्य कृता जाने लगा, पर अवतक काव्य का कश् खास लक्ष नहीं बना था। सर्वप्रथम अन्नपुण में काव्य का खाम लक्षण क्या गया। अतः अनुसार सन्दर्भनय ज्यो र सुन्दर प्रतीति कर्नवा शब्द काव्य समझे जाने ला। दण्णी तर यत शब्दमात्र काव्यता वाद कर्ना हु। इन कृ के काल में शब्दाशयकाल्यावद का न रहा हु, जो मम्मट भू तक चला रहा। सौन्दर्य का कारण त्र है इण निरय में इम बोध न आचार्यों में क प्रवेश कर्ना। वामन आदि रसमय आचार्य सौन्दर्य वा कारण समानरूप में गुण तथा अकार वा मानो र्ण जा चला म मने अकार वा ता कर्ना दिया और गुण तथा गुणव्यञ्जक कर्ना कर्ना माना काव्य में दोष का न होना वापन में केक मन्त्र पथम आन यों के कर्ना नानरूप में आशयक समझा जाता रहा

विवनाय क समय में आकर पुन काव्यभूषण का रूप बदला। अब रर शब्दमात्र का काल्य म ना जाने लगा, अर्थ को काव्यभूषण से वलिकृत कर दिया गया। म युग में शक गुण भूषण का न्यान भा नगथ सा हो गया अर्थात् समा समना जाने गया कि गुण अकार काव्य में रह ना अर्थात् नु है पर वे यदि न भी ग्हे, तब भी शब्दविणय वा काव्य कर्नात में बाधा नहीं हा। सर्वो रत समय में दोनों पर भा कुछ दया दिखलाइ रह ताव्य यह है कि उमक रत पर भा शब्दविणय को काव्य कर्नाने में लोगों को आपत्ति नहीं रही। प्राचीन भायनाश में इन सब निमित्तमात्र के आगमन वा प्रधान हतु यह हुआ कि विवनाय तथा उनक समकालीन अन्य विवनाय कर्ना सौन्दर्य का कारण एकनाय रस को मानने लगे। यत, इ नहा मूला चाहिये कि रस कर्ना य सकल असलक्ष्यकों का समष्ट अर्थात् है

यद्यपि वस्तु अकार और रसादिरूप विवध धर्मिता का अन्वेषण तथा प्रथम्य विवनाय से बहुत पूर्व ही आनन्दधर्म के श्रेष्ठ स्वरूप हो चुका था परन्तु काव्यभूषण में ध्वन्य का प्रवेश विवनाय से पहले किनी ने नहीं कराया है। ध्वन्यो ने भा केरस म क काव्य का

१ नन्वतनकारेणिव्याप्ति, साकारत्वविशेषानुदानादिनि न । १२, यत '११-
 इदमेतदुक्तं-सर्ववचनानुकारो शब्दाया काव्यर वरचिर सुगुणानुकारिररुड ने कव्यवर्णन,
 नशाऽन्यार्थकनाइ, अन्वय वाकारपुस्तके इति विप्रानात् । न्गमेऽप्यरु णुन अन्वयने
 मेनेति शत्रु यया । यय तु परबाम न्गोस्मे सुगुणानुकारिरिदिनि न कर्ना-रु, यो रसादि
 नुकारवच इय वनकारहेतु । तथा च यत्र रसादीनारस्यन न तत्र सुवाङ्मपेक्ष । नैस्ते तु
 दं न सुवाङ्मकार स्वत् तकिकृतवचनकार स्वत् । वनकारसारव्य काव्यर इववय सुवा
 नुकारपेक्षा ।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंकाररूप ध्वनि की विद्वनाय ने गाय देना दिया। एष्टितराव ने केवल रस को कान्यदौन्दर्भ वा वाचन न मानकर सभी जगों (वाच्य, दृश्य और अदृश्य) को दौन्दर्भ का स्वरूप घोष कारण माना है, अन्य जगों में एष्टितराव विद्वनाय का ही समर्थन करते हैं।

काव्य कारण

इन प्रकरण में मुझ फिर भिन्न आनन्दों के मनों के आधार पर यह विचार करना है कि काव्य का कारण क्या है ?

अच्छा तो पहले यह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों क दा मत हैं। रस, वाच्य और एष्टितराव आदि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और शब्दा, वाच्य और वीच्यवर्ण आदि प्रतिभा, सुन्दरि और अन्वयस्य इन तीनों को काव्य का कारण बनाते हैं। काव्यमीमांसकार राजशेखर इस विषय में इन सबों से कुछ भिन्न ही मत रखते हैं।

इस में उनके विचारों को सक्षम में यथा उपस्थित करता हूँ जिसे पाठक उन सब विचारों का समालोचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़कर जानना मत निषिद्ध कर सकें।

दण्डी का मत है कि 'स्वामाजिक प्रतिभा, प्रचुर और दोषहीन भाव-अवयव अर्थात् सुन्दरि एवम् एष्टितराव अन्वयस्य-अर्थात् पुन पुन काव्य बनाते रहना ये सब काव्यमन्सार अर्थात् काव्य की उत्पत्ति के कारण हैं'।^१

इसके आगे उन्होंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म को वासना के गुणों से सर्वद अद्भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रप्रवच-अर्थात् सुन्दरि और यत्न अर्थात् अन्वयस्य के द्वारा सेवित वाग्देवी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करती है'।^२

इन उक्तियों से दण्डी का अभिप्राय यथा जान पड़ता है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति प्रतिभा, सुन्दरि और अन्वयस्य ये तीनों कारण हैं पर सत्प्रारण काव्य प्रतिभा के अभाव में भी केवल सुन्दरि और अन्वयस्य से बन सकता है।

इन्द्र केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही कारण मानते हैं और शक्ति का विवेचन इस प्रकार करते हैं—

'नित्यकी प्राप्त हान पर समाविन्व (सर्वद एवम्) मन में अनेक प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और योग्य काल परदात्मता इष्टिगत्वा होने लगती है, उसी 'शक्ति कहते हैं'।^३

इसके आगे पुन ने लिखते हैं कि 'जब शक्ति के दो नेत्र हैं—एक सहज ज्ञान स्वभावसिद्ध, या ईश्वर प्रदत्त अथवा अदृष्ट कर्म हाठों से और दूसरी वाच्य-अवयव उल्लस की ज्ञानेशान, जो

१ नैसर्गिका च प्रतिभा क्षुत्र च बहु निर्गन्तु ।

अमन्दरन्वाभिवायाजस्य कारण काव्य-सम्बद्ध ।'

२ न विद्यते यद्यपि पूर्वजन्मन्युगानुबन्धय समानरद्भुतम् ।

क्षुत्रल दनेन च वागुतासिया भुव वरोत्पन्न क्लमन्तुमद्भु ॥'

३ 'मनसि सदा इष्टनाभिनि विस्तुर' ननेवशाडभिविषय ।

अन्विष्टानि पदानि च विमानि पस्तानसी शक्ति ॥'

वस्तु व्युत्पत्ति से उत्पन्नित होती है। इस कथन में यह आशय निकलता है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक अदृष्टवन्त्य और दूसरी व्युत्पत्ति-वन्त्य।

इसके बाद बामन ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है। उनका कथन है कि 'कवित्व का कीम प्रतिभा' है।

इससे आगे चरकर काव्यमकारिका ग्रन्थ में पुनः दण्डी के काव्यव्याख्या को अपनाया। वे काव्यप्रकाश में लिखते हैं कि 'शक्ति (प्रतिभा) और श्रोतव्यवहार, साक्षात्कृत तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) एवं कालवश सर्पादि काव्य के निर्माता तथा मनालोचिता से विद्या प्राप्त कर अननुपम अभ्यास से तीनों ही सम्मिश्रित रूप से काव्य के कारण' हैं। ग्रन्थ की इस शक्ति में दण्डी की उक्त शक्ति से तथानुसार केवल इतनी ही व्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या सुचारुतर से कर दी गई है।

बामन इस प्रसङ्ग में लिखते हैं कि— प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति मूलक है और अभ्यास काव्यरचना में प्रगति लाता है। 'इतना स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य की उत्पत्ति केवल प्रतिभा पर ही व्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होगा है। काव्य हुआ फिर कर तीनों को बामन कारण मानते हैं।

शबूषर्वर्ष भा बामन की बात को ही इष्टान्त के साथ दुहराते हैं। उनका कथन है कि— 'व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से एक प्रतिभा उनी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिस तरह मृत्तिका और ब्रह्म के सहयोग से जल लता के प्रति'। इसका भी अभिप्राय वही होता है कि जैसे लता का बीज उपादक, मृत्तिका पोषक और जल संचयक कारण है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास संचयक कारण है।

अब अष्टादश शतक के ग्रन्थ पर करते हैं कि काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और प्रतिभा के उत्पन्न से दो कारण हैं, कहीं देवता अथवा महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विचारण व्युत्पत्ति-अभ्यास।

अब यह भी एक विचारणीय वस्तु है कि प्रतिभा क्या चीज है? इसके रूप के विषय में भी उक्त आचार्यों का परस्पर मत भिन्न है। इन्हीं के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है। यही कथन उन्होंने प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा में बिन दो विशेषता का उद्दिष्ट नहीं है उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। उन्होंने एक तरह प्रतिभा का विशेषण 'नेत्रिकी' कहा है और दूसरी तरह 'पूर्वज्ञानाप्रधानवन्ति'। ये दोनों

१ सङ्गीतशास्त्र में भी प्रतिभा का अर्थ उक्तानुसार व्युत्पत्ति-वन्त्य प्रकृत है।

२ कवित्वव्यवहार प्रतिभात्मक सम्पत्ति है। काव्य में निश्चयसे, निश्चयन वा हस्तगत्यन स्यात् ॥

३ 'शक्तिनिपुणता श्लोकशास्त्रकाव्यव्यवहार'। काव्यरमिपुणताऽभ्यास इति हेतुननुद्वेते ॥

४ 'प्रतिभा कारण तस्य व्युत्पत्तिस्तु निपुणतः। व्युत्पत्तिरभ्यास इत्यादिकविसंकेपा ॥'

५ 'प्रतिभाय श्लाघ्यास्तद्विज्ञा कविता प्रति उद्गुह्येदंस्तुसम्बन्धीवोलाति'। उक्तानि ॥

६ 'तस्य (काव्यव्यवहार) च कारण कविता केवला प्रतिभा। तस्यादयं हेतु कर्तव्यदेवताप्रधानादुद्गुह्येदं इत्यननुद्वेते ॥ कवित्वव्यवहारव्युत्पत्तिरभ्यास'। शक्तौ ॥

ही विशेषण-रत्नि प्रतिभा का अर्थ अदृष्ट अथवा सम्कार विशेष किया गया—तब मग्न नहा हाव, कर्णक अदृष्ट पुरुष प्रथम में उत्पन्न किया जाना है, फिर वह नैसर्गिक-स्वाभाविक बंध ही मकड़ा है ? सगर भी अनुभवजन्य होने से पुरुष प्रथम-साध्य ही है, स्वाभाविक नही, और वह वासना रूप ही है, वासना गुणानुवन्धी नहीं, अब यह मानना पड़ेगा कि मकड़ा का अर्थ उन्हें बंधि ही अभीष्ट है ।

‘दृष्ट’ की भी प्रतिभापरपथाशक्ति बुद्धि है; हा सकता है, अदृष्ट अथवा सम्कार नही, क्योंकि द्वितीय भेद उल्लासशक्ति की उन्मुक्ति चरित्रजन्य माना और व्युत्पत्ति से अदृष्ट अथवा सम्कार का उत्पत्ति विद्वज्जन सिद्धान्त-सम्मत नही है, बुद्धि-गान-की व्युत्पत्ति से उत्पत्ति अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तानुकूल भा है ।

वामन ने प्रतिभा की व्याख्या शब्दत की है और प्रतिभा का अर्थ सम्कार माना है^१ ।

सम्भट ने भी वामन की व्याख्या को ही उही शब्दों में दुहराया है, अतः उनके मत से भी प्रतिभा का अर्थ सम्कार ही सिद्ध होता है ।

राघव और श्रीधरचरण ने न तो प्रतिभा की शब्दत कुछ व्याख्या की है और न इस व्याख्या विशेषण उसमें जोड़ा है, जिससे यह शक हो सक कि वे प्रतिभा का क्या अर्थ मानते थे ।

पण्डितराज प्रतिभा की व्याख्या में लिखते हैं कि ‘जिससे काव्य बन सक ऐसे शब्दार्थों का अर्थप्रति प्रतिभा है^२ ।’ इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का ही नाम है ।

प्रतिभा की यह व्याख्या उस आत्मनोक्ति से भी समर्थित होती है जिसमें ‘उस बुद्धि विशेष का प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा मैं नही नही सज्ज पैदा हो^३ ।’

ये तो हुये उन आचार्यों के मत अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, तो पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य बनाने में कवि को सुन्दर शब्दों तथा अर्थों की योग्यता ही तो करनी पानी है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो सकता है । एकचन्द्रनादिके समान अदृष्ट से वह मित्र रूप में प्राप्त नहीं होता और न गुणात्वरूप सम्कार से ही बन सकता है । हा यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनीलेपशाकिलिनी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और सम्कार कारण हो सकते हैं ।

काव्यकारण के विषय में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विशद विचार किया है जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहाँ पठकों के ज्ञानवैशेष के लिये संक्षेप में उनके विचारों को उपस्थित कर देना अच्छा समझता हूँ ।

१ ‘कविशक्त्येव हीन प्रतिमानम्’ की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि ‘काव्यवश्य हीन सम्कार विशेष कश्चित्’

२ ‘शक्ति कवित्ववीजरूप सम्कार विशेष, या किता शब्द न मत्तरेण, प्रसूत वा उपहसनी यम् स्यात् ।’

३ ‘सा (प्रतिभा) च काव्यघटनानुकूलशब्दादीरसिद्धि ।’

४ बुद्धिनिबन्धनोन्मेषाभिनी प्रतिभा मता ।’

कान्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं —

‘कान्यकर्म में कवि की ‘समाधि’ सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, यह इशामदेव का मत है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते हैं। समाधिरूप चित्त श्रमों को देखता है। ‘अभ्यास’ कान्य कर्म में सबसे बड़ा साहायक है, यह मद्भक्त का मत है। छगातार कान्य-निर्माण प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास मन में सर्वविधयुक्त हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य को अतिकुशल बना देता है।

याशस्वर (राजशेखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास बाध प्रयास है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और उन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही कान्य का कारण है। वह शक्ति प्रविधा और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को उत्पन्न करती है। शक्तिशाली का ही कुछ भास्ति होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारतन्त्र और उक्ति-शैली सब शक्तियों की अन्य कृत्रिमपेक्षित विषयों को जो हृदय में झलका दे, उसी को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा होने लिये सामने की वस्तु भी परीक्ष के समान ही रहती है और प्रतिभाशालियों के लिए आकाश से दूर भी वस्तु भी प्रत्यक्ष के समान ही जाती है।

वह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इन दोनों में प्रथम पुन तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्य और औपदेशिक। ये तीनों कवि के उपकारक होने में कारयित्री कहलाती है। धातु-सङ्घर्षों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। वहा कवि के अम तथा अभिप्राय का ज्ञान कराती है। कवि-व्यापार वृद्धि उसी के चलते सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जायगा।

कितने सुन्दर हैं कान्यमीमांसा के ये विचार ! पाठकों को पूर्वोद्धृत मतों की अपेक्षा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतेरे नवीन विचार उक्त ग्रन्थ में किये गये हैं, जिनको मे यहाँ विस्तार-भव से उद्धृत नहीं कर सका हूँ। विद्वानों की उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रम

रस पर कुछ कहने से पूर्व इत्यकान्य की उत्पत्ति के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक

१ ‘कान्यकर्मणि कवे समाधि पर ‘वाग्मियते’ इति इशामदेव । मनस एकाग्रता समाधि । समाहित चित्तमर्मान्तर परवति । ‘अभ्यास’ इति मद्भक्त । अविच्छेदन शीघ्रमभ्यास । स हि सर्वं गामो सर्वं निरतिशय कौशलमायत । समाधिगन्तर प्रकतो बाह्यस्वभ्यास । तावुमाचधि शक्ति-सुद्धसत्पत् । ता कान्य कान्ये हेतु’ इति याशस्वरीय । विप्रमृतिश्च (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभा व्युत्पत्तिश्चाहम् । शक्तिकर्मके हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणी । शक्तस्य प्रतिभापि दासस्य व्युत्पत्तयः । सा शब्दप्राममर्थसार्थमन्तुद्वा (नन्वमुचितमार्गमन्वदपि तथाविधमपिहृदय प्रतिवात्तवति स प्रथिया । अर्थविशेष पदार्थसार्थपरीक्षे इव, प्रतिभापत्त पुनरप्यन्तोऽपि प्रत्यथ इव । सा हि वा कारयित्री भावयित्री च । कवेर्यकुर्वता कारयित्री । साऽपि विविधा सहजाऽऽहाय्यपेक्षिकी च । भावकत्वात् कुर्वता भावयित्री । सा हि कवे अममभिप्रायश्च भावयति । तथा मनु कल्पि कवेव्यासरतह अन्यथा सोऽप्येवैवै इत्यच्’ (कान्यमीमांसा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिए करना है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्ट से किया अथवा कराया जा सकता है।

हादिक आनन्दविरिक्त के सूचक बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अनिष्ट का निरासक्ति तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाट सी भा जाती है, उस आनन्द का बड़ी बाट को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ता है—और वे उछल-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों में सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द-प्रदर्शन (उछल-कूद) बड़े अभिभावकों को भी अधिक ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इन तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होने देखा, तब कुछ जागरूक और कल्पनाशील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल कूदों के साथ तदनुकृत वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अपना वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो मस्तुत मूल अनुकरण से अधिक रोचक निम्न हुआ। आज भा उसी तरह के अनुकरणगत पद्यबद्ध खेल ग्रामों में यत्र तत्र दृश्यांचर होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गईं, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) हैं।

भारम्भ में ऊहापोह वाले शिक्षित जन उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये मन्त करण के द्वारा विवश किये गये कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है।

उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके^१।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नद अथवा नदी को अभिनय करते देख कर जिस प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो जाता है और उन स्मृतिपदाकृत प्रेमी-प्रेमिकाओं के शर-शर अनुसन्धान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आत्मन साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है'^२।

कुछ दिनों के बाद लोगों की विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त असंगत प्रतीत

१ 'रस्यते = आस्वाद्यते इति रस' । २ 'भाव्यमानो विभाव एव रस' ।

होने लगा, क्योंकि उन परिवर्तित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आलोकन विभाज्य ही उस रूप हो तब उस आलोकन विभाज्य स्थानीय मन में रति आदि के अनुकूल चेतनाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये परन्तु वह होता नहीं, अतः विभाज्य रस नहीं है भयान्त उसकी वे शेषों अर्थात् अनुभाव ही रस है जो पुनः पुनः भाव्यमान हाकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपानत विवर हुआ कि 'पुनः पुनः अनुभाव्यमान अनुभाव ही रस है'।

इस विचार से कुछ समय के लिए लोगों ने मन में तृप्ति मिली परन्तु अगले चक्कर लोगों को इस विचार में दृष्टि मानी होने लगी और लोगों की गवेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए उदयना उठी।

उक्त सिद्धान्त में अपनोष का कारण यह हुआ कि लोगों को दृष्टि आलोकन विभाज्य की चित्त वृत्तियों पर ध्यान, उन पर दृष्टि पडन ही उन्हें भाव होने लगा कि ये चित्तवृत्तियाँ ही आनन्ददायिनी हैं—विभाज्य अपना उनको चेतने नही क्योंकि 'त' अथवा 'नी' ज्ञान प्रकाश की प्रमाणवीय चेतनाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों का आनन्दानुभूति नहीं करा पाये जब तक कि ये प्रमा की दृष्टि, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सकल प्रदर्शन नहीं करते अतः उन विचारकों ने यह विवर दिया कि पुनः पुनः अनुभाव का द्वारा 'व्यभिचारी भाव' (दार्शनिक चित्तवृत्तियाँ) ही 'रस रूप में परिणत हो पाते हैं'।

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का तब क्रमिक विकास हो चुका तब उन मतां पर आलोचनाएँ होने लगी और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाज्य अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन दोनों में से निर्यात किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि वस विभा में समवीय रूप-माधुरी-वेदुर-मद को देख कर ही आनन्द का अनुभव होगा है, तो किसी नाटक में मद के अतिरिक्त अमिलनों को देख कर दर्शन मुग्ध हो उठते हैं परन्तु किसी नाटक में मद के द्वारा क्या गया मनोभावों का स्वरि चित्रण ही लोगों को चमकृत करता है। अतः यह मानना उचित है कि 'इन तीनों भावों में जो जहाँ चमकारी है वहाँ वही रस है और चमकतार-हीन होने पर कोई भी रस नहीं'।

इसने पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस-विषयक धरण्या का प्रश्न जारी ही रहा जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाज्य और अनुभाव की अर्थात् निरवृत्त्यात्मक व्यभिचारीभाव प्रधान है और उनसे ही रस प्राप्त होता है। रस-विषय, अनुभूति और निर्वद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक-एक भी ऐसा है, जो निरभ्र मित्र नाटकों में आदि से अन्त तक मरीन होगा रहता है। जैसे-अज्ञान रस प्रधान नाटक में रति और क्लेश प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐसे ज्ञात हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कभी नहीं।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने धारों का नाम खाली रखा जो नाटक में प्रवीणमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये जो कभी कभी अनुभूत होते थे।

इस प्रकार विद्वानों की खालीभावों का ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों

१ 'अनुभावत्वया'। २ 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणामित'।

३ 'विभु व पत्र चमकारी स पर रस, अन्यथा त्रयोद्वि न'।

ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य भयानक, रौद्र बीभत्स अद्भुत और शान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत होकर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग का हो जाने पर कितने विद्वानों के मन्त्र 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उपस्थित हुआ, क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मत तथ्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की वह प्रतापि बिल्कुल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्याघ्र, वीर रौद्र और भयानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है जैसे अश्रुपात, शृङ्गार, करुण और भयानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भा निवमित नहीं हैं, निन्ना आदि व्यभिचारीभाव शृङ्गार, वीर, करुण तथा भयानक इन सभी रसों के पोषक होते हैं।

अब सोचिये कि इस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से कितने एक को (चाहे वह चरित्रकारी हो अथवा अचरित्रकारी) रस कैसे माना जा सकता है, क्योंकि अब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किमी निश्चित रस को अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अब लोगों ने स्थिर किया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव "न तानों का समूह रस है"।' इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावादि त्रिक में से एक एक भले ही अनेक रस साधारण ही, पर "न तानों का समूह मित्र मित्र रस का मित्रमित्र निश्चित हो रहेगा, अब अब निवत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इस बाद ही नाट्यशास्त्रपणेता भरतमुनि का आतिर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के हिचोले में इधर-उधर झूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस की एक ऐसी सुव्यवस्थित परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से स्थायीभावे रसस्वरूप में परिणत हो गया है'।^१

तात्पर्य यह है कि 'जैसे मोहन विशेषण नमक, तेल और मसाले आदि नानाविध वस्तुओं से बने हुए व्यञ्जनों के साथ मिलाकर मात खाते हैं और व्यञ्जनों के मिश्रण से मात में एक विद्वेषण आस्वाद का अनुभव करते हैं वैसे ही विद्वज्जन भावों (विभावादिकों) और अभिनेयों से सम्बन्ध स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं'।^२

यह सिद्धान्त के मूल में यह समालोचना काम करती है जिसके द्वारा यह विदित होता है कि रति आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—भो नाटक मर में प्रतीयमान होने के कारण स्थायीभाव कहलाती हैं—को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव बरत-बरत उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव इनके उपकरणभाव हैं, प्रधान से चित्तवृत्त्यात्मक आठों भाव ही हैं, वे ही अभिनेय

१ 'विभावाद्यवयव समुदिता रसा, २ 'विभावानुभावरव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ।'

३ 'यथा बहुद्रव्ययुगैर्बन्धैर्बहुभियुक्तम् । आस्वादयन्ति सुखानां भक्त भक्तविदो जना ॥

भावामिनेयसम्बन्धान् स्थायिभावस्तथा बुधा । आस्वादयन्ति मनसा तरनान्नाट्यरसा मृता ॥

एतद्विषयके रान के द्वारा नर को राम आदि सम्यक् करने पर अनिन्दित्पुत्र नर व कौशल में स्वाधीनता के कारण कार्य और सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृति होने पर भी स्वाधीनता प्रतीत होने लगते हैं और तब सद्दय समाजिक रामादि वृत्त सीमा विषयक रति की अनुमिति नर में वर एतद्विषयकी अनुमिति का नाम रस है। रस नर व अनुभव वस्तुतः रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उसका आभास अनुमिति द्वारा सामाजिकों का हाथ है अतः सामाजिकों में रस है। ऐसा व्यवहार मा विश्व नाम है। रान इस मन में अनुमितात्मक सिद्ध हुआ। इनका मूल व्यापकता से समाहित माना जाता है।

(३) भरतमुनि के तृतीय व्याख्याकार भद्रनाथक को यह मत भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—वाक्य के तीन व्यापार होते हैं अर्थात् भावना और मोगकृत्र इन्में से प्रथम व्यापार के द्वारा वाक्य का वाक्यार्थ ज्ञान होता है। द्वितीय व्यापार से रान, भावा आदि मोगकृत्र पत्र संपन्न कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तिगतोपभोग—रामादि सीमात आदि से रहित होकर केवल नायक-नायिका आदि के रूप में वर्तित कर ज्ञान प्राप्त है और तृतीय व्यापार के अर्थ रस का अनुभव होता है। परमात्म आनन्द में विभ्रम ही मोग है अतः वही रस है। इस मत के अनुसार रस सामाजिकों में रहता है और रसका नाम आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मत सत्यदासमुनि द्वारा कहा जाता है।

(४) भरतमुनि व चतुर्थ व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त का मत रस के विषय में सर्वोत्कृष्ट मान्य है, अतः अब मन्थन भी आज तक समाज का सबसे अधिक है। रानि नर नरक के नाम में भी दास दिखाना कर कहा कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभावों में अन्तर्गत अर्थात् व्यभिचारीभाव द्वारा ज्ञान रति आदि स्वाधीनता रस है, इस मत के अनुसार सामाजिकों का ज्ञान में वास्तविकता से स्थित करना रति आदि क्लिष्टता ही रस रूप का जाती है, इन रस मत के अनुसार शब्द है, पर शब्द द्वारा भी संप्रसारण रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यद्वारा शब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है।

बृहत्समीप विद्वानों का मत है कि वाक्य-श्रवण अथवा शब्दक रान से विभावद्वारे के ज्ञान हो जाने पर सद्दय पुरुष स्वयन्तःकृति के द्वारा रामादिनिष्ठ सीमादिनिष्ठक रति का ज्ञान करते हैं तदनन्तर सद्दयजडासदका पुनः पुनः अनुभवमान रूप नायकान्त वाप से सामाजिकों जडा श्रोताओं का अनुभवमान अज्ञानावृत्त हो जाती है, फिर उस अज्ञानावृत्त ज्ञान में सार में चंदी व समान अनिर्वचनीय रति आदि स्वाधीनता उपभोग ही जाते हैं और इनका सद्दयों को ज्ञानचैतन्य के साथ अनुभव होता है वही रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्यादि ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता पड़ती है न अविनिर्देश्य रति आदि की कल्पना का ही आवश्यकता है। अन्तर्गत व्यक्तियों की वाप आदि से सीता आदि की रत्यादि राम आदि में अनुमिति होती है और तदनन्तर उस नायकान्त दोष से अपने जो रान आदि समझने वाले सद्दयों में एक धन उत्पन्न होता है कि 'सामाजिक रतिवाला रान हूँ' इसी अर्थ का रस समझना चाहिये।

इस तरह रस के विषयमें ११ मतों का उल्लेख संपन्नराज ने अपने रसशास्त्र में किया है और प्रथम तीन मतों को छोड़ कर दोष नौ मतों में सद्दय का समझन मा किया है। परन्तु

होल्ड, गुरु, मन्नाटक और अभिनवगुप्त के मते से भिन्न मतां की वचा अद्यत्त नहीं दोस पन्नी, अत्त मुने ऐसा मान्य पडता है कि अण्णरान न एवम् उन मतां का आविष्कार अपनी मख प्रथिमा के द्वारा किना है ।

रसों की सरया के सम्बन्ध में भी नाना मन-भेद हे अथक लोग पूर्वोक्त नौ रस मानते हैं । किन्तु कुछ लोग ऐसे भा हैं जो शान्त रस नहीं मानते विशाकर नाम में उतको असम्भव बतलाते हैं ।^१

भवभूत केवल कृष्ण रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को रसा के विचार करते हैं । धाराधरावीण भाव केवल शृङ्गार का ही रस कहते हैं और अन्य रसों में मयमदि का पेटेष्ट मूलक बतलाते हैं । नानारस परिचय अरुणक का ही रस मानते हैं अन्य रसों का प्रामादयन करते हैं ।^२

अभिनवपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न हो गका उक्त्य होना है । उनमें कहा गया है कि बिदान्तरागिन के राग आ अथक नान्य परब्रह्म प्रतिपत्तन हुआ है उसमें महान् आनन्द रिगनाल है । वः आनन्द किम किमी समय पर प्रकट गन है उनी आनन्दाभिव्यक्ति की चैतन्य चमत्कार और रस कहते हैं । उम आनन्दाभिव्यक्ति का प्रथम आवका ग अण्णरान है उस अण्णरान स अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है जिम भावना म समयत त्रिलोकी आवद्ध है उसी मनता मे राग (रस) उत्पन्न होता है । वही रस आभिव्यक्तिभाव का समानता से पुण होकर शृङ्गार रस कहलाती है रसा के हास्य अदि अनेक भेद है । वहा रस सखादि गुणों के मसर से राग, तदुष्णता, गव भी मकोन इन चार रसों में परिणत होता है उनमें राग से शृङ्गार की तदुष्णता से रौद्र रस, गव से वीर का आ सक्केच मे वीमस की उत्पत्ति होनी है अत्त स्वभाव ये चार ही म हैं किन्तु अनन्तर शृङ्गार से हास, रौद्र से वरुण्य, वीर से अरुण्य और वीमस से भयानक की सृष्टि हुआ गया राग के अभावरूप निवद से शान्त की सृष्टि हुई ।^३

१ 'शान्तस्य शमसाध्यवन्तश्च तदसमवायुः अष्टाश्वेव रसा नामक्य त शान्तस्त्रय युज्यते ॥

२ 'एको रस कल्प एव निमित्तभेदाद् भिन्नान् प्रयक्त्वा पूर्वगशाशयते विषयान् ।
आवनतुदुद-तद्वभयान् विकारानभो यथा सल्लिमेव च तत्समन्म ॥'

३ 'शृङ्गारवारकापाद्भुवरोद्ग्राह्याय-वीमस-समवायवृत्तान्तान् ।
आन्नासुधुर्दशरमान् सुधायो वय तु शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम ॥'
'वीर्यमुनादियु च येह रसप्रसिद्धि निष्ठा कुलादपि वदथशुवदाविमार्ति ।
एक गवानुगातवन्ववशादुपतामव जन्तदितुनत्र परिश्रमा न ।'

४ 'रस सारस्यकार सर्वकाभ्यनुभूयते । तत्तन्वकारमारत्ने सर्वत्रायदनुव्री रस ॥
तस्माद्दुदुदमेवाह कृती नारायणा रसम् ॥'

५ अत्र ब्रह्म परम सनातनमत्र विदुन् । वदान्तेषु वदन्तेक चैतन्य ज्योतिरीदवरम् ॥
अनन्द सहानन्दस्य व्यच्यते स वदायन । व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्कारसाहाय ॥
आदत्तस्य विकारो य सप्तकार इति रसूत । ततोऽभिनानस्तपद समास मुत्रभववम् ॥
अभिनवान् रति स च परिषाधुपुषी व्यभिचदाशसामान्यच्छृङ्गार इति गोदते ॥

इसके अतिरिक्त दण्डा, वाग्भट और वीरुपार्थ ने भी गुण पर लेखनी नकलें हैं परन्तु इनके मूलों में कोई खास नवीनता नहीं है। दण्डी और वाग्भट तो भरत मन के एक तरह से अनुयायी हैं। वीरुपार्थ ने भरत के गुणों में से कान्ति का शृङ्गार-रस में और अर्थव्यक्ति को, जिसे गुण में गतार्थ मानकर दनकी सख्य दश से बटाकर आठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों का सत्या ही मतभेद नहीं है, जित्पुत्र का मत परस्पर बहुत अधिक मत-भेद है। फलतः यही कान्ति का मत है कि इन आचार्यों के मत में पूर्ण विचार नहीं किया गया एक ने दूसरे के कथन को निष्पक्ष समालोचना नहीं जिसके मत में जब जा बात आठ, उनी का उमने जान ग्रथ में लिखा दिया, जिसका कुछ हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता का मात्मानि बना रहा।

गुण के विषय में नयान मत के आभिमानक पथय आचार्य भामह हुए। इन्होंने प्राचीनों की अत्यधिक समालोचना करके सिद्ध किया कि गुण तीन हैं— जोर, मसदा और माधुर्य।

भामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन ता किया, परन्तु इस मत का पूर्ण प्रचार हुआ मम्मट में। मम्मट ने प्राचीनों के कल्पित गुणों को शोभाभाव रूप कुछ का बर्णन और शुभामूल्य परचन तथा कुछ को वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष का इन्हीं तीनों गुणों में गण दिया। तब से आज तक इन्हीं त्रिगुणवाद का प्रचलन है। पाण्डित्य न भी गुणों का सत्या के और में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में रामन तथा भाव का कथन है कि 'काव्य सुरती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवता का रूप शील पान्क्ति आदि अच्छे गुणों में अच्छे-अच्छे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी माधुर्यदिगुणों में अनुपास तथा उपमादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक रुचिकर होता है, परन्तु गुणहीन यौवनविहीन नायिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में नन-प्रिय अलंकार भी अशीतिकर जाते हैं।' इसमें यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'सालकार होने पर भी गुणहीन काव्य सुनने योग्य नही होता। क्योंकि गुण और अलंकार के योग में गुण का योग प्रधान है।'।

आस्त्यमान्यदौर्गत्य प्रेयानथ एशब्दना । तद्वत् समाधि सौन्दर्य च गाम्भीर्यमय । वस्तुतः ।
 मध्ये सम्भन्तः च भाविकन्व गतिरनया । रानरक्तिमया दीर्घि ह्यादि' ।
 (सरस्वतीकण्ठाभरण)

- १ सुवर्णैश्च रूपमद्भुतैश्च मृदते शुद्धगुण उदयनाथ ।
- विहितमणय निरन्तराभि मद्भुतैश्चरविक्लपनाभि ॥
- यदि भवति वचश्च्युत गुणैश्चो वपुरिव यौवनबन्धमद्भुताया ।
- अपि अनदितानि दुर्भंगत्व निवृत्तमलकरणानि सधदन्ते ॥
- २ अलङ्कनमपि अथ न काव्य गुणवर्तिनम् । गुणयोगस्तथेनुस्वो गुणाकारयोग्यो ॥

काव्यशास्त्रकार आदि ने भी काव्य में अल्कारों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्वीकार की है क्योंकि वे कहते हैं कि गुण साक्षात् रस को उत्पन्न करता है और अल्कार सन्तुष्टि के लक्षण से यह निश्चय निरूपण कि काव्य में गुणों का स्थान अल्कारों से ऊपर और रसादि प्राचीन काल के व्यक्तियों से नीचा है

प्राचीन प्राचीन मरु

के लक्षण व सन्तुष्टि में भी विद्वानों का ऐक्यत्व नहीं है। भरत दोषों का निरूपण है कि इन दोषों के विषय में जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं १।

प्रामाण्य

प्रमाण्य कहते हैं कि काव्य में विपुल शोभा को चमक देने वाली वस्तु शब्द गुण है २।

अर्थ

चमक जिनकी वस्तु का उत्पन्न करनेवाली चीज अर्थगुण है ३। और शब्द तथा अर्थ अर्थगुण

अर्थगुण

का अर्थ है कि जो वस्तु विशेष रचना का माप हो, वह गुण है ४। वामन कहते हैं शोभा का एक धर्म गुण है ५।

मसाद,

कि अन्तर एक शब्द उत्पन्न हुए कि जब शब्द और अर्थ को उत्पन्न करने वाले पदार्थ विशेष अर्थगुण और अल्कार ही हैं तब इन दोनों में भेद क्या है ?

अर्थगुण

के अन्त में वामन ने कहा कि काव्यशोभा में जो मदायक धर्म गुण है और उस शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म अल्कार है ६।

अर्थगुण

रस आनन्दबोधन के द्वारा आविष्कृत ध्वन्याद के अनुसार रसादि अल्पकम्यव्यक्तियों की स्थिति स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि शब्दों के शरीर आदि के समान काव्य में अक्षीभूत रस (अल्पकम्यव्यक्त) के उत्कर्ष धर्म गुण है

अर्थगुण

ये गुण काव्य में अव्यक्तधर्म-अर्थात् अन्तर्ग रहने वाले हैं ८। इस कथन से गुणात्कार में भेद भा सिद्ध हो जाता—अर्थात् रस के धर्म और काव्य में निवसित रहनेवाले गुण और शब्दार्थ के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अल्कार हैं। एतन्मूलक ही ध्वनिकारानुयायियों का यह कथन है कि शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूरा आदि के समान हैं, दोष बाल आदि के तुल्य हैं और अल्कार कर्कशुपलादिकों के सदृश हैं ९।

अर्थगुण

यह तो हुए गुण के सामान्य लक्षण का बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये। प्राचीनों के गुणों के लक्षण हो जाने के बाद निम्न सिद्धिवाद की स्थापना सर्वोत्तमों ने की उसके अनुसार माधुर्य, जीव और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणा के रखे गये, उसके मूल में कीमल-कठोर

- १ 'गुणा विपर्यय दयात्' । २ 'य काव्य मरुतां लाषामनुगृह्णाति जतो गुण' ।
- ३ 'उच्चमानस्य प्रवृत्तेन यस्य कम्पापि वस्तुन । उत्कर्षमावहृत्सुषीं गुण इत्यभिधीयते ॥'
- ४ 'शब्दार्थात्प्रवृत्तयो नाम्नोभयगुण स्मृत ।'
- ५ 'एते वैदभमागंस्य प्राणा दसा गुणा स्मृता ।' (काव्यादर्श)
- ६ 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।' (अल्कारसूत्र)
- ७ 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा' तदतिशयदेवतवरात्कलकारा ।
- ८ 'ये रसस्थात्रिनो धर्मा शरीरानि रसात्मन उत्कर्षहेतवस्ते स्वरचरन्निवस्यो गुणा ॥'
- ९ 'काव्यस्य शब्दार्थो शरीरं रसादिशक्त्या, गुणा शरीरानि च, अल्कारा कर्कशुपलादिव ॥'

और सद्यार्थक यह रचना की विविधता हा है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों को रचना-वृत्ति हो मानने लगे ।

परन्तु आगे चलकर जब यह विभाग दिया गया कि गूढार, करुण और शान्तरसों के लिये कोमल, वीर, रौद्र और भीमस रसों के लिए कठोर तथा सभी रसों के लिये सजायक रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों व आस्वादन से मन पर पडने वाले प्रभाव का भा अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त द्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त उदीप्त होता है और सद्यार्थक-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त विक्रान्त होता है ।

कुछ और अधिक गम्भीर आग्नेयन करने पर यह भी ज्ञान हुआ कि चित्त पर उक्त प्रकार क प्रभावों को टालने वाली ग्चनार्यो नडा है वरन् रस ई, क्योंकि विरुद्ध रस में विरुद्ध रचना उम तरह का प्रभाव नहीं डाल पाती । फलत यह निर्णय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली अह्लाद वजा हा माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उदीपकता ही ओत्र है और शुष्कैधन में अग्नि के समान धीम चित्त को व्याप्त करने वाली विकासकता हा प्रसाद है ।

इत तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुत रस-धन हैं परन्तु आरोप के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होवे हैं ।

पण्डितराज के विचार से द्रुत दीप्ति और विक्रान्त ये चित्तवृत्तिया ही क्रमग माधुर्य, आत्र और प्रसाद गुण हैं, रस उनके प्रयोजक ह, उन प्रयोजकता सम्बन्ध से रस में भा ये गुण रहने वाले हुए अत एव 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते ह । एक बात उन्होंने और कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोजक होते हैं, उमा तरह शब्द, अर्थ और रचना भा, उन उनमें ना प्रयोजकता सम्बन्ध से वे गुण रहते ही हैं, फिर वरचार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार को सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे^१ । इनके पिता का नाम पेरुमट्टर अथवा परमभट्ट उ था । इनकी जन्मी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी^२ । इनके पिता पेरम अर्द्धतीय विद्वान् थे । उन्होंने इन्द्रेन्द्रभिषु नामक किसी सन्यासी से वेदान्तशास्त्र का, महन्त्र नामक विद्वान् में न्यय तथा वैशेषिक दर्शन का, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसा का और शेफरीशेखर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था^३ । इतना ही नहीं, इन शास्त्रों में भिन्न वेदादि शास्त्रों में भी वे धर्म प्रवीण थे^४ ।

पण्डितराज ने अपने सर्वविधाविशारद पिता में हा सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु करने पिता के गुरु शेफरीशेखर से भी प्राय कुछ पडा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि 'मनाभा

१ '...तैलङ्गुनामवसेन पण्डितजगन्नाथेन' (आसक्तविन्नास का आरम्भ)

२ 'त नन्दे पेरुमट्टाख्यम्' (१० ३) ३ प्राणाभरण में

४ लक्ष्मीकान्त महाशुक्ल ' (५० ३) ५ 'श्रीमद्दानेन्द्रभिक्षो' इत्यादि (५० ३)

६ रसगंगाधर के 'सर्वविधाधर' पर से सूचित होता है ।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में शम्भुदेव ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है ।

शम्भुदेव स्वयं भी इन दार्शनियों में प्रगाढ पण्डित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था । इस बात की पुष्टि रसमहाधर में स्थान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होती है, अतः इसकी पुष्टि के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता मतीन नहीं होती ।

शम्भुदेव अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक माध्याह्नी सम्प्रदाय के समर्थक थे, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी किमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के हुमा-पात्र बन गये और उन्होंने 'शम्भुदेव' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक बिताये । शाहजहाँसमय दाराशिकोह का पतन शम्भुदेव ने अपने 'नगदाभाष' नामक निबन्ध में किया है, अतः दाराशिकोह की हत्याकाण्ड में भी इनके जीवन का कुछ अंश अतीत हुआ या भेसा भी लोगों का अनुमान है ।

स्थितिकाल

यह निश्चित है कि शम्भुदेव शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के विषय में इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरंगजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया तथा १६६६ ई० में मर गया अतः यह निश्चित होता है कि शम्भुदेव का भी स्थितिकाल बड़ी ही है । हाँ, यह सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी शम्भुदेव अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हों ।

किंवदंतियाँ

शम्भुदेव के विषय में अनेक तरह की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदंतियाँ कुछ अंशों में मिश्रित होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अतः उन किंवदंतियों में तथ्य अवश्य होगा ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है ।

कुछ लोगों का कथन है कि शम्भुदेव अध्यायन के बाद आरम्भ में जबपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वहाँ दिल्ली से आये हुए किसी कान्ही की, मुसलमानों के मन्त्रहवीं प्रयोगों को शीघ्र पकड़ कर विवाद में परास्त कर दिया । जब वह कान्ही जबपुर से छूटकर दिल्ली गया तब बादशाह के आगे उसने शम्भुदेव की तारीफें प्रस्तुत की । बादशाह काजी के मुख से शम्भुदेव की प्रशंसा सुनकर मसूना हुआ और शम्भुदेव को दिल्ली बुला लिया ।

विलासमय दिल्ली दरबार में बादशाह के हुमायूँ बन हुए शम्भुदेव किसी कथन-कथा पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस कथन की प्रशंसा के साथ पण्डित-ग्रहण करने में भाग लेने हुए । इस तरह शम्भुदेव अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक बिताई । परन्तु इन्होंने पर उस कथन प्रशंसा को साथ लेकर वे काशी चले आये । किन्तु काशी में अनेक दक्षिण दिशि विद्वानों ने 'शम्भुदेव-सम्प्रदाय-दूषित' कह कर इनका बहुत अपमान किया और नतिष्पुत भी कर दिया ।

१ अरमदुर्गशम्भुदेवरागाध (मन्तोरगाधुचमदन)

२ 'दिल्ली-विलास' विद्वानकले नील नवान वगैरे (मामिनीविलास)

काशी में पण्डितराज अपने को पवित्र सिद्ध करने के लिये गङ्गा-तट पर सब से ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर शकटाक्ष रचित स्वकीय पद्यों से (जिनका संग्रह गङ्गाहारी नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे । आपकी स्तुति से गंगा भी प्रसन्न होकर मणि पथ पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई वाहनवै १५ पर आपके निकट पहुँच गई और बदन-कन्या सहित आप गंगा जा के पावन अक्ष में समाविरय हो गये ।

ईशानु काशावशी पण्डित-मण्डल पण्डितराज के इस चमत्कार को देखकर चकित हो उठे और उसी दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे ।

कुछ लोग कहते हैं कि—बादशाह की क्रुपा से अतुल सम्पत्ति प्राप्त पण्डितराज धनो-मत्त हो उठे, सौजन्य में उस सम्पत्ति ने घृणाहृति का काम किया, इनकी विवेक-ज्योति क्षुण्ण हो गई और वे अन्ध होकर कितनी बर्न-अर्थी पर आसक्त हो गये । परन्तु कुछ ही समय के बाद वह बर्न की मृत्यु हो गई । उसके मरण से पण्डितराज के हृदय पर बनी चोट लगी, दिल्ली भी उन्हें अभिय प्रतीत होने लगी, अत वे दिल्ली छोड़ कर काशी चले आये किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, अयसों का विरह तो इन्हे घटा ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी उन्हें सत्ताला आरम्भ कर दिया । बर्न की लक्ष्मी की वात मूल कर काशी के पण्डित शान-नाश में इनका अनादर करने लगे । अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से उन्न गये और वर्षों की उमरवती हुई गङ्गा की धारा में स्व निमित्त गङ्गाहारी का पाठ करते हुये दूध पड़े-दूब मरे ।'

एक किंवदन्ती यह भी है कि—'इदानीत्या में एक दिन काशी के गङ्गा-तट पर पण्डितराज अपना पत्र मेघसी को बगल में दबाये छी रहे थे और इनकी शुकल शिखा छुटिया से नीचे झटक रही थी, मुझ ब्रह्म से टका था । शरी समय सयोग से अल्पवदीशिव उसी पाठ पर स्नान करने के लिये अत्ये और एक कूद का देसा निष्ठ आचरण देख कर कूद उठे —

'किं निश्चयं शीघे शीघे वयास स्वमागते मृत्या ।'

'इस शेष पत्र में अत्र मृत्यु शिर पर झटक रही है—एत तरह निरलङ्क होकर क्या तो रह हो ।'—अब भी तो विषय-भोग से मूल मोदी, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो ।

इस पत्रास को छुनकर पण्डितराज ने अब मुल निकाल कर उनकी ओर देखा, तब उन्हें पश्चान कर शीघ्र ही क्षणत कद उठे —

'अथवा सुत शपोया निष्टे जाह्ववी भवत ॥'

'अथवा आप सुत से सोये, क्योंकि आपके निकट में गङ्गा की वर्तमान हैं ।'

कुछ लोग इससे भी कुछ भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं । उसका सारांश यह है कि 'शाठ्यपत्न्या में ही ब्रह्मपुरनरेश मिराज राजा ब्रह्मिह जी काशी से इन्हे ज्यपुर ले जाये । कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुन्दा लोग एक बचपुत्र नरेश पर ब्रह्मोत्त करते हुये कहते थे कि 'अत लोग नास्तिक शक्ति नहीं हैं, क्योंकि परजुताम की ने अब इक्षीत वार एत पृथिवी को निःशक्ति बना टाका, तब आपके पूर्वज इन्हे कैरी ! दूसरे यह कि अरबी नाश शकल से प्राचीन है' ।

यह आक्षेप जयपुर नरेश की बराबर सम्भवता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर सज नहीं पड़ता था, अतः वे जिस एके प्रातःप्रातः विद्वान् ने अन्वेषण में थे, सो उन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वा 'कुम्भसुरा' प्रतिमा डीप पड़ी, उनसे उन्होंने उक्त आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज न उन युवा ही किन्तु इन का प्रतिपादना, इतने बाद पण्डितराज जयपुर लखे गये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर दो मैं अभी दे सकता हूँ, परन्तु द्वितीय आक्षेप का उत्तर देने के लिये मुझे अपना का अध्ययन करना आवश्यक होगा इस पर जयपुरनरेश ने अपने में रम्य कर पण्डितराज को अरवा करने का अवसर दिया। जब पण्डितराज ने अरवा का अध्ययन कर लिया तब जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के शाही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'पुरुषोत्तम ने पृथ्वी की २३ बार निक्षेपित किया' इस ताल्लोकि का यह अर्थ नहीं है सत्यता कि एक भी क्षणिक नहीं बना, क्योंकि यदि वैसा अथ माना जाय तब २३ बार पृथ्वी बात निष्पत्ति हो जायगी—अर्थात् प्रथमवार में ही जब सब क्षणिक मात्र जा चुके तब फिर शक्ति आये ही कहाँ से जो फिर फिर उन्होंने पृथ्वी को निक्षेपित किया अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षणिक बरत ही २३ बार मात्र १६ बार ही १६ और २३ इन क्षणिक मात्राओं के पुत्र है।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुसलमानों का हृदास' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सत्यता विपरीत आचरण करना चाहिए वहाँ उनका धर्म है'

इस वाक्य से सिद्ध होना है कि इस प्रश्न का जन्मालय से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था और धर्म भाषा के बिना नहीं हो सकती, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं का कोई धार्मिक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत से अनिर्दिष्ट ही नहीं सकती, अतः यह निष्पत्ति हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा मन्वीन है।

इन बातों को सुनकर गुणप्राहा नरेशाह शाहजहाँ परम महान हुमा और पण्डितराज को अपने यहाँ आकर पूर्वक रख लिया।

इन किताबों से जो नव्य जन्मले हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का नरेशाह के दरबार में प्रवेश जयपुर महाराज के द्वारा हुआ। वहाँ पण्डितराज ने किसी वनदी पर आसक्त होकर वसको अपनी मेकनी बनाया। अन्तिम अवस्था में वे वह काशी में अण्डवदीहित आदि विद्वानों से अवमानित हुये। पण्डितराज किसी वन सुन्दरी पर आसक्त थे इस बात की पुष्टि उन्हीं के बनाने कालिय पदों से भी होती है।

- १ 'धवली नवनीतकीमलाही, जयनाथे यदि नीकते कदापि ।
अरनीतमेव साधु मन्ये न वनी मारवना विनोदहेतु ॥
न याते गमालि नवा वादि रागन्, न विसेपु चित्त मदीय कदापि ।
इय सुशनी मस्तकन्धानहस्ता, एतद्वा कुरज्जीवकीकरोतु ॥
इत्युत्तिमुनि' वे । ताये पुण्यवन्तम् ।

अप्यदोक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अप्यदाक्षित के समकालीन नहीं थे, क्योंकि दोक्षित जा के आधुनिक नीलकण्ठ दोक्षित अपने 'नालकण्ठ-विजयवधू' में लिखते हैं कि 'यह नीलकण्ठ विजयकाव्य कलियुग के ४७३६ वर्ष बादने पर लिखा गया है।'

यह समय ईसवी सन् १६३६ के लगभग होता है, जा शोहान्हा का राज्य-काल था। अब यह सिद्ध होता है कि नालकण्ठ दाक्षित का पण्डितराज के समकालीन थे न कि उनसे शताब्द-शताब्दों अप्यदाक्षित।

पण्डितराज अप्यदाक्षित के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह दा जाती है कि— 'शेषशालुष्य के पुत्र शेषशालुष्य पण्डितराज के पिता के गुरु थे और शेषशालुष्य के छात्र थे मट्टोजि दोक्षित, जो अप्यदाक्षित के समकालीन थे, पर पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के काल में होने वाले दोक्षित के समकालीन कैसे हा सकते हैं? और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, व इन दोनों में परस्पर विरोध का वाक भी निराधार हा है इत्यादि।'

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व असम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उन दोनों के समकालीन होने में किरदार-वर्षों के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी प्राप्त होता है, जैसे— 'सिद्धान्तशेखरप्रश्न' के बुम्भजोणाले मन्त्रण में भूमिका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'शत्रुनिद्रावत् (अप्यदाक्षित आदि) के दुराग्रहत्व भूनावेश से गुरुद्वेषी मट्टोजिदाक्षित ने भरी सभा में बिना सोच-समझ पण्डितराज का श्लोक कह दिया था, जिसका धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनका (मट्टोजिदाक्षित का) मनोभ्रम का बुधमनैय्य के सब कर दिखाया, अर्थात् उसके मनोरमा नामक प्रथम का खण्डन कर दिया आर अप्यदाक्षित आदि (मट्टोजिदाक्षित के समर्थक) देखने ही रह गये।'

दृष्यद्दाक्षिण्यदुग्रहप्रह्वगाम्बिष्ट गुरदाहिणा,

यन्म्लेच्छेत्त वचाऽविचिन्त्य सदासि प्रौढेऽपि महोजिना।

तस्मात्पापितमेव धैर्यनिधिना यस्त व्यसृद्नात् कुचम्,

निवैध्याऽस्य मनोरमावशावश्वप्यप्ययाणान् सिद्धतान् ॥

इस पद्य से सिद्ध होता है कि मट्टोजिदाक्षित, अप्यदाक्षित और पण्डितराज एक काल में हा इस धरा को सुशोभित कर रहे थे।

‘स तानि निरपुणैस्तत्र किं ते महत्तन्म् ।

यदि हि यत्नवन्था पापिनी मा पुनीहि,

तदिह तत्र महत्त तन्महत्त महत्तन्म् ॥

यवनी रमणी विपदा शम्भवी, वमनीयतया नवनोतयथा ।

उहि-अहि-वचोऽमृतपूर्णमुखी स मुखी जगतीह यदङ्गुला ॥’

१ ‘अष्टविंशदुपमकृतस रानाधिकवतु सहस्रेषु ।

कलिवर्षेषु गणेषु प्रथित किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥’

एक दूसरा भी श्लोक इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—
‘अप्यदीक्षित अपने जीवन के ७२वें वर्ष के पूर्वार्ध में विद्वज्जिह्वा प्राण करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करते हुए मट्टोजिदीक्षित आदि सकल विद्वानों को विजय किया और उस प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ (जो पहले जातिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया । फिर वही वर्ष के उत्तरार्ध में विद्वज्जिह्वा प्राण करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सज्जनों के सामने ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर गये ।’

यदृष्टं विश्वजिता यथा परिचरं सर्वे बुधा निजिता

मट्टोजिप्रमुखा, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्सारितः ।

पूर्वैर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्याध्वस्य सद्दिविषजि-

घाञ्जी यश्च चिदम्बरे स्वममजन् ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इस श्लोक के अनुसार भी पण्डितराज, अप्यदीक्षित और मट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होता है ।

बात रही उक्त दोनों विरोधी शक्तियों की, पर उनका समाधान भी कठिन नहीं है, क्योंकि प्रथम युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्यदीक्षित के भ्रातृ-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीनत्व सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान ली जाय, तबपि पण्डितराज और अप्यदीक्षित के समकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होती अर्थात् यह सम्भव है कि ‘नीलकण्ठ-विजय’ के निर्माणकाल तक अप्यदीक्षित जन्मिष्ठ रहे हों । युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध ब्राह्मण भी सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, उस युग में तो लोग अधिक दीर्घायु होते थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्यदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं बरन् भ्रातृ-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि ३० वर्ष के भ्रातृ-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के पितामहज्योता वर्तमान रहा हो ।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी वही तरह किया जा सकता है—अर्थात् मट्टोजिदीक्षित और अप्यदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्णय है और मट्टोजिदीक्षित दोषश्रीकृष्ण के छात्र थे, एवं दोषश्रीकृष्ण-जो पण्डितराज के गुरु थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्यदीक्षित की समकालीनता में सन्देह करने का कोई अवसर ही नहीं है । हाँ, रतनी बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जो वृद्ध हो गये होंगे, अत एव द्रविक, मधाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सहाय-जो जातिवर्गों में उनकी सरपञ्ची तथा उनके द्वारा पण्डितराज की जातिव्युत्पत्ति की बात भी संगत होती है ।

स्वभाव

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र था, वे कष्ट उल्ल को भी अनायास व्यक्त करने में सक्षम नहीं होते थे । एक समय किसी ने पण्डितराज को अपनी कविता सुनाना चाहा । पण्डितराज उन्होंने कविता सुनने के पहले ही यह कह दिया—‘मित्र ! यदि आप पूर्ण हर्षिक होने के कारण चूटे हुए दाख के रस की मधुरता के गर्व को खर्च कर देने में समर्थ बचनों

के मर्मत है, तब तो मेरे सामने कुछ से अपनी कविता पढ़िये। अन्यथा यदि आप उस तरह की वाणी के मर्मत न हों तो रविवृत्त पारापरण के समान अपनी कविता को हृदय से बाहर मत कौत्रिये।^१

दिखाता ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को बूझ-बूझ कर मर दिया था। इनका गवौंठियाँ सत्कृत समाज में प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं—दुनियाँ में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु श्रुतीकापाक अर्थात् अत्यन्त मधुर वाणी का आचार्य मैं ही हूँ, रस पद के अधिकारी होने का सीमात्म्य दूसरे कौ कहें? कितनी बड़ी गवौंठि है विनी भायिका के वर्णन में आप करते हैं—वह नायिका मेरी कविता के समान^२ मनोहर है? सर्व को अभिन्वक करने की कैसी निराली छा है? आपकी कविता से जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होता उन्हें आप जगदिव शून्य कहते हैं।^४

उम स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित विद्वानों की उच्छिनों में दोष दिखाने में नहीं चूकते। अणुपदीपिन से तो पण्डितराज का स्वाभाविक विरोध हो था, अतः यदि उनके प्रत्येक को समझन व होने दुरामहपूर्वक किया है तो उतना अनुचित नहीं, क्योंकि विरोधियों को समझन सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दबन्धन, मम्मट आदि विद्वानों का स्थान-स्थान पर आपने^५ आदर से स्मरण किया है, उनके बचनों में भी वन-वन दोष-दर्शने में आप राज नहीं आते हैं।

धर्म और अन्तिम काल

पण्डितराज ने यद्यपि स्थान-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण महत्करूप में किया है, तथापि अणु मथानतया वैष्णव धर्म के अनुभवों से ऐसा मतीन होता है। आपके जीवन का अन्तिम महत्प्रिय समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ^६।

- १ निषण्णि यदि मामिकोऽसि नितरामत्यन्तपावदवन्
श्रुतीकामुमाशुभीमदपरीहातेदुःखार्णा गिराम् ।
काव्य तर्हि सखे छुडेन कथय त्वं समुखे माहवां,
नो चेद्दुःखमाहमना कुामिव स्वावाद्बहिर्मा कृया ॥
- २ 'आमृताद्वनसाभोर्मथ्यथलक्षितादा च कृणात्यथोभे',
वाचन्त सन्ति काव्यपण्यनपटदस्ते विशङ्क वदन्तु ।
श्रुतीकाभ्यनिर्यन्मसुषारसजरीमाशुभीनामवभावा,
वाचाभाचार्यताया पदमनुभवितु बौडसि धन्यो मदन्य ॥'
- ३ 'सा मामकीनकविउव मनोऽमिरामा
रामा बद्धापि हृदया मम नापवाति ।'
- ४ 'भूव ते जीवन्डाऽप्यहह श्रुतका मन्दमतवो,
न येषामानन्द जनयति अणुत्राय-मजिति ।'
५. 'सम्प्रसधकमानस्य नगरे तत्र पर चिन्त्यते'
यह पाठ मामिनीविलास के कुछ पुस्तकों में है और कुछ पुस्तकों में तो—
'सम्प्रयुज्जिववरासन मधुपुरीमध्ये हरि सेव्ये' देखा पाठ है।

पण्डितराज के ग्रन्थ

- १—अमृतलहरी—इसमें यमुनाजी की स्तुति की गई है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।
- २—आसफबिलास—इसमें नवाब आसफखान का वर्णन किया गया है। काव्यमाला में इसकी कुछ पंक्तियाँ ही प्रकाशित हुई हैं।
- ३—करणकहरो—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित है।
- ४—चित्रमोमांसाखण्डन—इसमें अल्पपदोपेत्य चित्रमोमांसा का खण्डन है। यह भी काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।
- ५—जगदाभरण—इसमें शाहजहाँनयन शाराधिकोह का वर्णन है। यह भी काव्यमाला में मुद्रित है।
- ६—सोमूपलहरी—यह भी काव्यमाला में तथा अन्यत्र भी मुद्रित है, इसका प्रसिद्ध नाम गणपहरी है।
- ७—प्राणभरण—यह नेपालभरेण प्राणभरण का वर्णनपरक खण्डकाव्य है। काव्यमाला में इसका प्रकाशन हो चुका है।
- ८—मामिनीविलास—इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं, इसमें पण्डितराज की पुस्तक कविताओं का संग्रह है।
- ९—अनोरमाकुचमर्दन—यह भद्रोन्निदीक्षित छत मनोरमा ग्रन्थ का खण्डन है, यह 'हरिदास समृद्ध ग्रन्थमाला' काशी में प्रकाशित है।
- १०—यमुनावर्णन—यह ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं हुआ, फेरुख रसगङ्गाधर ने उद्धृत कवित्तय अंशों से इस गद्यग्रन्थ का पता चला है।
- ११—लक्ष्मीछहरी—छन्दों की स्तुति परक यह पुस्तक काव्यमाला आदि में छप चुकी है।
- १२—रसगङ्गाधर—यह ग्रन्थ पाठक के हाथों में है, पण्डितराज की कीर्ति इसी पर निर्भर है। परन्तु खेद है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थरत्न अपूर्ण ही उपलब्ध होता है।

अन्य जगन्नाथ

संस्कृत साहित्य में ग्रन्थनिर्माण करने वाले अन्य ११ जगन्नाथ नामधारी पण्डितों का भी पता चलता है। परन्तु उनमें एक भी पण्डितराज जगन्नाथारी नहीं हुये। उनके बनाने वाले ग्रन्थ वैशाखपित्त, सिद्धान्तशार, सिद्धान्तकौरुष, विनादभगार्णव, अत्रिचन्द्रिक नाटक, अनन्तविभवमाध, सभाशरद्व, अद्वैतसूत्र, समुदायप्रकरण, शरभगवतविलास और अन्नविलास आदि हैं।

रसगङ्गाधर के संस्करण

मात्र रसगङ्गाधर का प्रथम संस्करण जयपुर से काव्यमाला द्वारा हुआ। परन्तु उस संस्करण में कुछ पुस्तक की माति न होने से तथा ग्रन्थ की अति दुर्लभा से स्थान-स्थान पर अशुद्धियाँ रह गयीं।

तदनन्तर द्वितीय संस्करण वाशी से महामहोपाध्याय गंगाधरशास्त्री जी के उत्तराधान में प्रकाशित हुआ। उक्त संस्करण में कतिपय स्थलों पर महामहोपाध्याय जी की टिप्पणी विशेष महत्त्व रखती है।

इसके बाद ज्युरनिवासी कश्मिरमणि पण्डितवर मथुरानाथ जी महत्त सक्षित सरला टीका सहित, उन्हीं के उत्तराधान में सुसम्पादित संस्करण भी विद्वज्जनों के सामने आ चुका है।

मस्तु संस्करण के गुण-दोषों का विवेचन पाठक ही करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि प्रकाशक की उदारता और संप्रयत्न से यह संस्करण पाठकों का अवश्य मनुष्ट करेगा।

रसगङ्गाधर की टीकायें

अन्य अङ्क-ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गईं परन्तु अङ्क शास्त्र के परम चूषान्तमू रस ग्रन्थराट् पर आज तक बहुत कम विद्वानों ने टिप्पणी चलाई। प्रायः इसका निदान ग्रन्थ की अत्यधिक जटिलता ही है।

रसगङ्गाधर पर वैवाचन शिरोमणि नागेश मठ की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध होती है। प्राचीनत्व होने के कारण इस टीका का महत्ता अवश्य है, परन्तु वस्तुतः यह टीका नहीं टिप्पणी मात्र है, क्योंकि यह सक्षित है। अधिकतर स्थानों में मूत्र का स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ जहाँ मूत्र का स्थान किया भी गया है, वहाँ भी प्रायः मूत्र का उल्लेख ही किया गया है जो सर्वत्र समुचित भी नहीं है। इससे ऐसा भान होता है कि इस टीका के द्वारा पण्डितराव का दोषोद्घाटन करना ही नागेश मठ का उद्देश्य था। फिर भी इस एतु टीका के द्वारा पाठकों को कुछ लाभ अवश्य हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। मथुरानाथ जी मठ ने अपनी भूमिका में नागेश मठ टीका के बहुत से दोषों का समूह किया है।

मठ जी की यह एतु टीका पाठकों के लिये बहुत ही उपकारक सिद्ध हुई है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अति सक्षित होने के कारण यह भी ग्रन्थ फिरवाला से अदेक्षित टीका की बनी की पूर्ति नहीं कर सकी।

रसगङ्गाधर का हिन्दी अनुवाद पं. श्री पुरोचन शर्मा चतुर्वेदी जी ने बहुत अच्छा किया है। चतुर्वेदी जी का यह प्रयास बहुत ही श्लाघ्य है। यद्यपि मठ जी ने अपनी भूमिका में यत्र-तत्र इसकी आलोचना की है; मने भी एक आध जगह अपनी टीका में इस विषय का निर्देश किया है। परन्तु सर्वांग में विचार करने पर अनुवाद उपादेय है, इसमें किसी को विमर्शित नहीं हो सकती। इस अनुवाद का उद्देश्य है हिन्दी भाषा के विद्वानों को रसगङ्गाधर का रसास्वादन कराना, इस उद्देश्य की निम्न सोच आना हम अनुवाद से हुई है, किन्तु संस्कृत के विद्वानों को इस अनुवाद मात्र से संतोष नहीं होगा, क्योंकि इसके साथ मूत्र नहीं है और कहीं कहीं 'अवच्छेदकतामय भाषा' का 'वाक्य का खल निकालना कट्टर' अनुवाद करना भी छोड़ दिया गया है।

‘रुचिरा’ संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत प्रथम भाग में कविशेखर प० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है, यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें भरल शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। यह टीका न अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीका के आधार पर भणो प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परोपार्थी छात्रों के लिए तो यह टीका अत्यधिक उपार्थक है।

‘कविशेखर जी’ की संस्कृत टीका के साथ-साथ मेरी हिन्दी टीका एवं तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, जिसका कारण-वैसा करने का मेरा दुराग्रह नहीं परन्तु बटिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयास मात्र है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों को ग्रन्थ के रहस्यों की समझने में जो सुविधा होगी, यह संक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्रभाषा की पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो वृत्ति रह गई हो, उसकी सुचना पाठक मुझे दें ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन किया जा सके।

एक बात और यह कि वहाँ-वहाँ मुझे ममालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध मा लिखना पड़ा है। परन्तु वह विरुद्ध आलोचना बर्षों तक टोक हुई है इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना भी मेरा काम नहीं, वह विद्व पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर को हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविशेखर प० भी बदरीनाथ जी झा जी संस्कृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने एवं मेरी स्वीकृति पाते ही प्रकाशक महोदय ने झा जी की संस्कृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक प्रयोग ही कहना चाहिये। यदि उनको टीका मेरे पास न होती, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं—आप से मेरा मत-भेद भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आप से मिलकर प्रवक्तव्यता कर लेता, परन्तु समयभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत सत्य हो, तो उसका भ्रम भी आप गुरुजनों को ही प्राप्त है और यदि मेरे मत सत्य नहीं हो, तो उसका दोषो मैं हूँ, परन्तु उस स्थिति में मैं इस भूषण के लिये आदर्शणीय ‘गुरुवर’ से क्षमा मायाँ हूँ।

उपकारकों में दूसरा स्थान है प० भी प्रबोधचन्द्र शर्मा जी चतुर्वेदी के अनुवाद का। उनके अनुवाद से भी मुझे स्थान-स्थान पर अत्यधिक सहायता मिली है। इस पुस्तक की मूलिका के विपक्षविषयक भाग की तो आधार-भित्ति उनकी मूलिका ही है।

उपकारकों में सम्माननीय मयुरानाथ जी मट्ट का नाम भी स्मृति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी ‘संस्कृत’ टीका तो भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषतः मूलिका लिखने में तो उनकी मूलिका अधिक पर्यदर्शक हुई है।

कृतज्ञता-घोषण

बिन-बिन महानुभावों की कृतियों से मैं इस टीका के प्रणयन में कामाग्निष्ठ हुआ हूँ उनके प्रति मैं बिन शब्दों में कृतज्ञता घोषण करूँ, वे शब्द बड़े नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एक प्रयत्न है। वास्तविक कृतज्ञता-घोषण तो हृदय से होना है, अतः आन महानुभाव मेरी मूर्ख पर अपनी हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी बिनम्र प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता घोषण के प्रसङ्ग पर मैं ओष्ठिवर बाबू जयकृष्णदास की शुभ, अव्यक्त 'चौखम्बा सस्कृत सीरीज' तथा 'चौखम्बा विद्यामवन' बनारस को भी नहीं भूल सकता, जिनके सहजतौजन्य से मुझे इस टीका के निर्माण का सुभवसर प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने ठाकुरजिन रहेही बन्धु प० श्री रामचन्द्र जोषा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा सवन्ध बलक कायाँ एवं से हुआ।

गुरुर्गिमा }
स० २०१२ }

विनीत—
मदनमोहन झा

विषय-सूची

विषया	पृष्ठाङ्का	विषया	पृष्ठाङ्का
मङ्गलाचरणानि	१	शृङ्गारद्वैविध्यम्	१५०
काव्यलक्षणम्	९	कल्प	१५६
काव्यप्रकाशोक्तलक्षणे आक्षेप	१५	शान्त	१५६
साहित्यदर्पणलक्षणे आक्षेप	२६	रौद्र	१६०
प्रतिमाया एव कार्णिकान्ता	२७	वीर	१ १
काव्यस्य चतुर्विध्यम्	२७	अभ्युत्	१८०
उत्तमोत्तम लक्षणम्	११	उत्तम प्रकाशोदाहरणे आक्षेप	१७९
उत्तम लक्षणम्	६६	हास्य	१८३
मध्यम लक्षणम्	७६	नयानक	१८६
अधम लक्षणम्	७८	वीरमय	११
प्रकाशवृद्धिदणु कटाक्ष	८१	रमाना सख्यानियम	१९२
रसस्वरूपम्	८७	रमाना विरोधाविरोधचिन्ता	१९३
रसस्यैकादश भेदा	१००	रमदीया	२०६
मत्तसुत्रस्याष्टौ व्याख्यानम्	१२८	गुणनिरूपणम्	२२०
रसाना नवधा जम्	१३२	गुणनिरूपणे स्वमतम्	२२८
शान्तस्य रसावग्यवस्थापनम्	१३२	गुणनिरूपणे वामनादीना मतम्	२२९
रसलक्षणम्	१४१		
शोकलक्षणम्	१४१	शब्दगुणाना लक्षणम्	
करुणविप्रलम्भस्याद्यत. करुणेश्चलश्च		इक्षु	२२९
शृङ्गारे अन्तर्भाव	१४२	प्रसाद	२३०
निर्वेद	१४२	ममता	२३१
शोध	१४४	माधुर्यम्	२३२
उत्साह	१४४	सुकुमारता	२३३
विभ्रम	१४५	अर्थव्यक्ति	२३४
हस्य	१४५	उदारता	११
मयम्	११	शोभ	२३४
सुगुप्ता	१४६	कान्तिः	२३६
दिग्गदादिस्वरूपम्	११	समाधि-	२३७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अर्थगुणानां लक्षणम्		मति	३०३
श्लेषः	२३८	व्याधि	३२४
प्रमादः	२४०	श्राम	३०६
समता	"	सुप्तम्	३०७
माधुर्यम्	२४१	विवोध	३१०
सुकुमारता	२४२	अमप	३३३
अर्थव्यक्तिः	"	अवहित्यम्	३३५
वदारता	२४३	उग्रता	३३६
भोज	२४४	उन्माद	३३८
कान्ति	२४८	मरगम्	३३९
समाधि	"	वितर्क	३४२
अर्थ तैषां त्रिवेदान्तमात्रं	२५१	विषादः	३४४
गुणानां व्यञ्जिका रचना	२५५	औमुख्यम्	३४७
रचनाया वर्जनीयम्	२६१	आवेग	३४८
तत्र विशेषतो वर्जनीयम्	२७३	जडता	३४९
मात्रध्वनिनिरूपणम्	२८९	आलस्यम्	३५१
मात्रलक्षणम्	२९३	अमूया	३५४
हर्षः	२९८	अपस्मारः	३५७
स्मृति	२९९	घण्टता	३५८
शोका	३०४	निर्वेद	३६१
मोहः	३०६	व्यभिचारिणा मर्या	३६४
दृति	३०८	रमानामः	३६५
शङ्का	३०९	भावशान्ति	३७०
ग्लानिः	३१०	मात्रोदयः	३७८
दैन्यम्	३११	भावमन्धि	३८०
चिन्ता	३१४	भावशान्ता	३८१
मद	३१६	अलक्ष्यक्रम-ध्वनेरति-वचचिल्लक्ष्यक्रमः	३९४
अमः	३१८	वर्ग-रवा-दीना-रतामिन्य-प्रकत्व-	
गर्व	३२०		
निद्रा	३२२	निराकाङ्क्षम्	४०३

उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का
अकल्पण ! मृषामाषा	३२५	क्षमापणैरूपदयो	३८०
अकल्पणहृदय	३३८	सन्दिगतानैत्रकञ्जालि	३८१
अभरद्युतिरस्तपस्त्ववा	३१५	गणिकाऽञ्जामिळमु	३८२
अपहाय सकळ	१५६	गाढमालिङ्गप सकळा	३१३
अपि अहंल दहनजाल	१७७	गुरुमध्यगवा मया	३१४
अपि अन्धि पिशा	१७९	गुरुमध्ये कमळाक्षी	३१५
अयाचिन सुख	२४६	चराचर जगज्जाल	३८६
अयि पवनरथाणा	३४६	चिन्वामोदितमानसी	३५९
अयि मन्दस्मित	२८३	तन्मन्तु मन्दहसित	३००
अढका फणिशाव	२७०	तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्	२४१
अवधी दिवसावसान	२९९	तल्पगतापि च सुतनु	४५
अवाप्य मद् त्वत्	३३७	ता तमालतरुकास्ति	२५१
अहिमत्र ! पापा	३५९	तुळामनाळोक्य निजा	३७९
आ मूलाद्भ्रनसानो	३२१	तृष्णालोळ विडोचने	३५५
आयानैव निरा निरा	२८९	दक्षिणस्य गुणालतु	३४०
आर्लायु केळारमतेन	३२६	दरानमळधर	३०३
आविर्मता यद्बधि	१५४	धनुर्विदलनध्वनि	१६२
आ माय सलिलभरे	२८०	न रूपोत्कपोत्क	१७१
इपमुळमिता मुलस्य	२८०	नलैविदारितान्त्राणा	१८६
इक्षिप्ता कवरांभर	२०२	न धन न च राज्य	३६३
उल्लास कुल्लपत्रे	८४	नपनाञ्चलावमर्द्य	१५४
उपसि प्रतिपक्ष	३८६	नवीञ्छ्वकितघौवन	१६०
एभिर्विशेषविषये	२८६	वारिकेळजळक्षार	३८५
एववादिनि द्ववर्षी	३९४	निखिल जगदेव	३१४
औग्निद्द दावत्त	५५	नितिल्या रजनी	३५२
कटितकुटिशपाता	२७७	नितरा हितपाद्य	३३०
कस्तुरिकातिलक	२८५	नितरा पुरुषा सरोध	२३३
काळागुरदव सा	१९२	नितान्त घौवनोन्मत्ता	२०५
किं इमस्तव योरता	२३१	निवठद्वाप्यसरोध	३४७
किवदिदमपिक	१६४	निरुद्धप यान्ती	३०६
कुचकळशयुगान्त	३०५	निमाणे यदि मामिको	२५१
कुण्डलोकुण्डलाद्द	१९५	निवासियन्ती प्रति	३८९
कुत्र शैव धनुरिद	३५४	परिहरतु धरा फणि	१०८

श्लोकाः	पृष्ठाङ्क	श्लोका	पृष्ठाङ्का
पाप हन्त मया	३८२	विशय सा मद्दना	३१९
प्रयुद्गता सविनय	३९९	विधिवञ्जितया	३०९
प्रमोदभरतुन्दिळ	१३४	विरहेण विकलहृदया	३०७
प्रसङ्गे गोपाना	३३५	वीक्ष्य वक्ष्मि विपक्ष	३७९
पहरवित्तौ मध्ये	७३	व्यत्यस्त लपति क्षण	३७३
प्रसङ्गप्रयनस्य	२१८	यानत्राश्चकित्तादचैव	३७१
मम धम्मिअ वीसत्यो	५२	शतेनोपायाना कथ	३६७
मवन करणावर्षी	३६९	शयिता शैवळशयने	३१०
मास्करसुनावस्तं	३४४	शयिता सविषेऽप्यनी	३८
भुवगाहित प्रकृतयो	२७२	शुण्डादण्ड कुण्डली	३०७
मुत्रपञ्जरं गृहीता	३७०	द्रव्यं बालगृह	२८७
मधुरतर स्मयमान	३१७	इयंतमम्बरसलादु	१८६
मधुरसान्मधुर हि	३१८	श्रोतावपादैर्विहिते	१८४
मलयानिकुञ्जाल	१५६	सदाजयानुपशाना	२६६
मा कुरु कशा कराव्जे	३२७	सन्तापयामि हृदय	३०८
मित्रात्रिपुत्रनेत्राय	७९	सपदि विलयमेतु	१७५
मुञ्चसि नाथापि स्य	३७८	सरसिजवनवन्धु	२७५
यथा यथा तामरया	२६६	सर्वेऽपि विस्मृतिपथ	३७५
यदवधि दयितो विलो	३५०	सानुरागा सानुकम्पा	२७६
यदि कश्मण सा	३६१	सामिधर्मीपकुञ्जाचला	१६७
यदि मा मियिळैन्द्र	३४२	सा मदागमनबुहित	३२३
यस्योद्दामद्विवालि	१६६	साहकारपुरापुरा	२३६
यौवनोद्गमनितान्त	३८०	सुगद्योतम्बिन्धा	१५८
रणे दानान्देवान्दरा	१७३	सुराङ्गनामिरादिल्लष्टा	१५६
राघवविरहव्याला	६०	स्वर्गनिर्गतनिरगळ	२३८
छीलथा विहितमिन्धु	३४८	स्वेदान्धुसान्द्रकण	२३३
छोटाळकावलिबल	२७४	हतकन मया यनान्तरे	३१२
वक्षोऽय्य रागिना	३३४	हरि मित्ता हरिर्माता	२४१
यत्ने तव यत्र	२०८	हरिणाप्रेक्षणं यत्र	२६८
याथा निर्मळया सुधा	२९१	हरिमागतमाकण्यं	३५८
याचो माद्वान्की	१५३	होरस्फुरद्दन्तशुभि	२७५
विपत्ता नि राङ्क	२४१	हृदय कृतसंबलानु	३२५

रत्तगंगाधरे प्रभाषका

(प्रथमानने)

अप्यदेशित	४८	भरतमुनि	१९२
अग्निवदुताचार्यपादा	१००, ३९५	भागवतम्	१९०
अलङ्काररत्नाकर.	२४८	मम्मन्मट	९६
आनन्दवर्धनाचार्यं	३५५	महाकवि (माघ आदि)	८०
कल्याणहारा	१५९	महानारतम्	१८२
कान्यकशास	५१, ५५	समुदायगणम्	७६
कान्यकशासटीकाकारा	२३३	यागवा महान	४०४
गीतगोविन्दम्	२३६	रत्नावली	"
गीता	१८०	रत्नावली	"
चित्रमीमासा	४८	व्यक्तिविवेककृद्	५८
जपदेव	२१६	शास्त्रदेव	१८५
ध्वनिकारादय	१७	श्रीवन्द्याञ्जन	१६९
पञ्चलहृषं	४०६	सटीतरत्नाकर	४०
मट्टनायक	१०१	साहित्यदर्पण	२६



॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



प्रथममन्त्रम्

स्मृतापि तरुणातप करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनूत्विषा वलयिता शर्तैर्विद्युताम् ।
कलिन्दमिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमनिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुष्करिणी गौरी-गङ्गाधरताम्रवापिनी तपसा ।
मायाविद्यानाथी प्रणम्य करुणानिधौ पितरौ ॥
प्रसूहपद्मकटक-शोभ प्रतिभाप्रभासहसाशु ।
तन्वी स्मृतिरपि मस्या निधाय ता भारतीमन्त ॥
नित्य ब्रजे विलसती सितशितिमहमी नमस्यता शश्वत् ।
रसगङ्गाधरविवृति बंबरीनाथेन चन्द्रिका त्रियते ॥

अथ साहित्यपदार्थानामात्मीक्षिणीप्रथितपद्येन यथायथ सूक्ष्ममर्माक्षया परीक्षक-
प्रेक्षावता प्रसादाय, प्रतिपक्षसम्बन्धनमसावसादाय च तैलङ्गपण्डितराजो जगन्नाथ-
महो कमपि नूतन प्रबन्धमारम्भमाणस्तत्समाप्तिप्रचारादिप्रतिबन्धनान्तरायमन्तनि-
शान्तये श्रुतिबोधनेनिकर्तव्यताक मङ्गलमाचरन् शिष्यान् विशिष्य शिक्षयित्
निवर्णानि—स्मृतापीति ।

सादर करना है अपित, सत प्रगति पुष्प प्रमु पद पर ।

मह नव आरम्भ सकल हरे, है मही यावता लघुतर ॥

प्रथममन्त्रि में प्रथिव्य उच्यते करने वाली मन्त्रादि विन्नाधारों के प्रथमन की
प्रथमना से प्रथमकर विद्वान्तर परंपरा प्रथम महत्त्वपूर्ण पद की रचना करने है—‘स्मृतापि’—
इत्यादि ।

ये स्मृतिनाम विषय होकर भी (न कि दृष्टि किंवा दृष्टिद्वारा स्पर्श वा विषय होकर ही) मनुष्यों

स्मृता स्मरणाविपयीकृताऽपि (किमुत स्मर्यमाणा, दृष्टा स्पृष्टा वा न तु दृष्टं व दृष्टिद्वारा स्पृष्टं वा) नृणा मनुष्याणाम्, (मर्त्या, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तस्मिन् प्रौढ तीव्रमिति यावत् आतप दिनकरद्योत तत्त्वेनाध्यवसितनाधिभौतिकादिसन्नापम्, करणया निजनैसगिकजीवानुकम्पया, हरन्ती नाधमन्ती (न पुनर्हंतवती हरिष्यन्ती वा) तथा—अभङ्गुरा अनेश्रयस्तनुना वपुषा खिप कान्तयो यासा, तास्तयोक्ता, तासा विद्युता वपुताना तत्त्वेनाध्यवसितानामाभीरयामभ्रुया, शतैरनेकशतसङ्घाभि (वस्तुनस्तत्सङ्घाभाग्मिस्ताभि) बलयिता परिचुता, तथा—कलिन्दगिरिनन्दिन्या ममुनाया, तटे तीरे (वृन्दावने विद्यमानान्) सुरद्रुमान् मन्वारासिदेववृक्षान् हरिपियापरपर्यायतया कदम्बपादपान् वा, यद्वा—तट एव सकलान्निनापपूरकत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अवलम्बते स्वविलासाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छीला काऽप्यनिर्वचनीयत्वेन प्रसिद्धकादाम्बिन्या विलक्षणा, वादम्बिनी भेषमाला तत्त्वेनाध्यवसिता शृङ्गाराधिष्ठातृदेवतश्रीकृष्णमूर्ति, मदीमगतेर्भागिकीतबुद्धे, चूमिनी विपयीभृता भवत्वित्यर्थः ।

तथा च प्रकाशो द्योत आतप 'नीपप्रियक—वदन्वास्तु हरिप्रिय' 'वादम्बिनी-भेषमाला' इत्यमरः । इह 'यद्यपि विशत्वाद्या सदैकत्वे सर्वा सङ्घर्षे मत्सङ्घर्षयो ॥' इत्यमरानुगामनन सङ्घर्षावाचकस्य शतशब्दस्यैकवचनान्तत्वमेव प्राप्तम् किन्त्वेनैकशतसङ्घर्षाविवक्षाया 'सङ्घर्षाऽप्ये द्विवहृत्वे स्त' इति तस्यैवानुशिष्टे 'सार्धं मनोरथ-शतैरव धूर्तं' 'कान्ता', 'कृतास्पदा भूमिभृता सहस्रं' इत्यादिवद् बहुवचनान्तत्व प्रयुक्तम् । अत एव 'दासीना सुवुमारीणा द्वे शते समलङ्कृते ॥' 'हर्षस्थान-सहस्राणि शोकस्थानशतानि च ॥' इत्यादयो भागवत-भारतप्रयोगा सङ्गच्छन्ते । न चैव तदनुशासने सदापदोपादानवैपर्य्यप्रसङ्ग तस्य द्वित्ववहृत्यानवच्छिप्रशतत्वसङ्घर्षा-तदवच्छिन्नयोविवक्षणे सार्यकस्य व्यवस्थापनात् । सङ्घर्षाया आश्रयद्वारा बलयन-श्रियाया कर्तृत्वमिति कर्तरि कृतीया । अत्रेदे कृतीयेति कश्चित् । वस्तुतस्त्वेतादृश-म्यलेपु शतशब्दस्तन्त्रेण सङ्घर्षाया सङ्घर्षयाना च वाचक इति सङ्घर्षेयनिष्ठैवात्रापि कर्तृता, विद्युत्प्रिद्युतत्वसङ्घर्षाविशिष्ट-तत्कर्तृवलयनस्यैव प्रतीतिश्च । बलयितेत्यत्र बलय करोतीत्यर्थे णिच्, तदन्तात्त्व क्तः ।

के (न कि विन्ती एव न्यकि के) तीव्र आतप (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक त्रिविधताप) को दया में हर लाती है, जो बधा भंग नहीं होने वाली शरीरप्रभा से युक्त (न कि धुगभर चमकने वाली) विद्युन्माला से बेधिन है और जो कलिन्दकन्या—समुना के तीर (वृन्दावन) के सुरलक (करम्ब) को (विलास के लिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त धनपय (धनस्यम श्रीकृष्णदत्तजी की मनोहर मूर्ति) मेरी मति को चूमने वाली बने—सदा तप मनुज मूर्ति का दान मुझे होता रहे ।

मन्थार्थ यह है कि जो भेषमाला प्रसिद्ध है, वह देवता पर ही व्यक्तिविशेष के क्षर को दान करती है, वमन्त्रे परिशुष करने वाली बिच्छी क्षामपुर है, समुनाए के कदम्बक टमका आलम्बन भी नहीं है, अथेन होने से टमके बग्या को सम्भवता भी नहीं, इन सब कारणों से कपि की 'गामिन भेषमाला' वह नहीं अर्पित कृष्णमूर्ति हो सकती है । इसी व्यक्ति के लिये कृष्ण के लिये

अथ स्वोक्तेरपादेयतमत्व द्योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन विद्याजन्मदशयो परिशुद्धि पञ्चदशयेन प्रतिपादयति --

श्रीमज्जानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्माविद्याप्रपञ्च,
काष्ठादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासन जैमिनीय,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणिनिरभूत् सर्वविद्याधरो य ॥ २ ॥
पापाणादपि पीयूष स्यन्दते यस्य लीलया ।
त चन्द्रे परुभट्टाञ्च लक्ष्मीकान्त महागुरुम् ॥ ३ ॥

आतपत्वेन त्रिविधमन्नापस्य विद्युत्त्वेन बलववरवर्णिनीनाम्, कादम्बिनीत्वेन श्रीकृष्णमूर्त्तेश्रांपमेयानां निगरणद् भेदेऽभेदाध्यवसानान्याकाऽतिशयोक्तिः । प्रसिद्धा किल कादम्बिनी क्षणमङ्गुलीकान्तिभिर्विद्युन्ततान्तिर्वेष्टिता जडतया सुतरां कारुण्यविरहिणी, दर्शनादेव दृष्टिद्वारा स्पर्शनादेव वा केषांचित् स्वावच्छिन्नाकाश-तले विद्यमानानामेव प्रीप्थमिहरातप हरति । इयस्त्वातपसन्नापहारित्वादिसाधर्म्य-भागपि पूर्वव्रतिपादितप्रकारैस्त्वद्विलक्षणेति व्यतिरेकः । स्मृताऽपीत्यपिना दर्शनाद्यर्था-पादनादयोपति । तट एव सुरद्रुम इति पक्षे रूपकञ्च । नत्र मिथोनिरपेक्षान्यामयाप-तिरूपकान्या सङ्कीर्णो व्यतिरेकोऽतिशयोक्तिः पुष्पानीति तयोरङ्गाङ्गि-भावेन सङ्करोऽ-तङ्कार । रूपकालिशयोक्तेरतिरिक्तामङ्कारत्वेनाङ्गीकारस्त्वर्वाचामरोचक जनयतीत्य-वसरे प्रतिपादयिष्याम । नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिवच्चोपमेयबलक्षण्य-समर्पकविशेषणैरेवोपमान-नाम्ययोरावापाद् व्यतिरेकसत्ता न दुर्घटा । कालिन्दीकून-स्यलवैधुर्पात् कालिकाया, वर्णवैपरीत्याद् राधायाश्च कादम्बिनीत्वेनाध्यवसानं तु दुरवमानमेव ।

अपि कैमुतिकन्यायेन दर्शनादेरधिकतापापनोदकत्वम्, तापस्य सात्त्विकसहृणीय-त्वद्वारेण स्वरयाऽपनयनोचितीम् करणयेतिनापोपशमनस्य बुद्धिपूर्वकत्व-सार्वत्रिकत्वे, शत्रुप्रत्ययोदाहरणस्य वर्तमानकालिकत्वेन स्पृहणीयतमत्वम्, नृणामिति बहुवचन साकत्यमुखेनान्यतो व्यतिरेकम् तनुत्विडमङ्गुरता विज्ञातीयताम्, विद्युत्त्वेन गोपनि-तम्बिनीनां निगरणमद्विलीयतीन्दयंसाभ्राज्यम्, शनैरित्येकवृथादिव्यवच्छेदद्वारा प्रसिद्ध-वैजात्यम्, बलघ्निनेति सयोगस्याक्षणिकत्वेन मुपमाऽतिरेकम्, कालिन्दीकूलनितिष्प-पादयावलम्बिता स्वेतरव्यतिरेकम्, श्रीकृष्णमूर्त्तं कादम्बिनीत्वाध्यवसानं सद्य-फन-वानाहंताशोभोत्कर्षो, मतेरमूर्त्ततया चुम्बनकर्मत्वात्सम्भवात् तच्चुम्बन नियतविषय-विषयिभावसम्बन्धम्, भवत्विति लोड्राकार प्रार्थनाम् समस्त सन्दर्भं कविसमवेन श्रीकृष्णविषयकरतिभावः च व्यनक्ति । पृथ्वी छन्दः ॥ १ ॥

कवि ने 'कादम्बिनी' का विधान 'काऽपि' बना है । अत एव इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार है और सन्नाप, गोपिकायें, तथा कृष्णमूर्ति, जो यहाँ उल्लेख हैं, इनका कर्मण अत्र, विपुत्, कादम्बिनी रूप जगन्मते से निगरण होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है । इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर सापेक्ष रहने से सङ्कर नामक त्वाय अलङ्कार होना है । (नक्षत्रों से होने वाले व्यञ्जनों का शान संभूत टीका में बरना आदि ।)

य (पेरमट्ट) श्री सरस्वती, तद्वाञ्छासौ ज्ञानेन्द्रस्तप्रामा मिक्षु मन्यामी, तस्मादुपाध्यायात्, अधिपतो ज्ञात पठित इति यावत्, सकल वृत्सो बहुविद्याया वेदान्तस्य प्रपञ्चो बिम्बरो येन तादृश । तथा य, महेंद्रात् तदात्मविदुष, काणादो कणादेन प्रोक्ता वैशेषिकरूपा अपि च—आक्षपादो अक्षपादेन गौतमेन प्राक्तः न्यायलक्षणा गहनगिरो गम्भीरार्थकवाणो, अवेदीत्-अज्ञापीन् पपाठेति यावत् । तथा य स्मरहरस्य शिवस्य नगरे काश्याम् देवात् खण्डदेवनामनपण्डितादेव (नतु यत् कुतश्चित्) जैमिनीय जैमिनिना प्राक्त शासन पूर्वमीमासादभंगताम्बम् अध्वयी-ष्ठापाठोत् । तथा य शेष इत्यङ्को नामैकदेशतया चित्तं धर्म्य स शेषाङ्कं तस्माच्छे-परीश्वरकोविदान् प्राप्ता लब्धा ज्ञाता इत्यनर्थात्तरम् जेयस्य पत्रज्ञाने जमला निर्दूपाणा मणितयो व्याकरणमहाभाष्यरूपगिरा येन तथाभूत् यत्, सर्वविद्याधर सर्वज्ञा चतुर्दशानामष्टादशाना वा विद्याना धारकोऽभूत् ।

किञ्च यस्य लीलया शिक्षणवेष्टया पक्षे समीहया, पापाणादपि जहत्वेन प्रस्तर-तुन्यादपि (मत्त किमुत् वृत्तश्चन विद्ग्यान्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूष माधुर्वेणामृ-ततुल्य काव्यम् पक्षेऽमृतम् म्यन्तरे प्रादुर्भवति, पक्षे स्रवति । त लक्ष्म्या नत्राम्या मातु पक्षे रमाया पान्त वल्लभम् परमदृष्टाज्य पेरमट्टनामानम् महान् जवन-सर्वविद्याशिक्षणान्त्र पक्षे रक्षणेन श्रेष्ठम् गुर पितर पक्षे महनीय विष्णुम्, उन्देर्जि-वाद्यामीत्यर्थम् ।

इह श्रीगण्डव्य सरस्वतीवाचकत्वे श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ इति श्रुति, 'श्रीलक्ष्मीरमण नीमि' इत्यादय प्रयोगान् प्रमाणम् । तस्य बहुवचनपदानवचना वेनचित् कल्पितैव प्रमाणातुपनम्भात् । एवमेव गण्डव्य प्रतिज्ञापकत्वमप्यप्रतिबन् । सत्यमामा मपेतिवत् खण्डदेवो देवपदेन बोध्यते । शेषोपाद्ये श्रोत्रपादो सत्वेऽप्यौ-चित्याद् वीरेश्वरस्य ग्रहणम् । अधिगतविद्यानामुपादान तु जमजिडम् तत्रैत प्राग्वेदान्तस्य मतान्ते व्याकरणस्य कोशाशानात् ।

गुरो सर्वविद्याऽधिगन्तृना स्वग्निम् सर्वानामपि तामा मद्कान्ति, तथा

श्रवणार गुरमन्त—योग ते भवते विद्या तथा जमजिडो वा परिगृह्णि को दिग्गवे ई—
'श्रीमन्वान' इत्यादि ।

श्रीमान् 'ज्ञानेन्द्र' नामक मन्यामी से जिन्होंने समय ब्रह्मविद्या का विस्तार वेदान्तशास्त्र (लघु या उक्त शास्त्र का ज्ञान यहाँ विस्तृत है) पाल किया, काल तथा गौतम को (अर्धवृद्ध होने से) सम्भार इच्छितो (वैशेषिक तथा व्याकरण) 'महेंद्रशास्त्री' से सम्भार, 'गण्डदेवी-शब्द' से वेदान्त-शास्त्र (पूर्वमीमासा) का ज्ञान रहकर पदा शेष देवो इति शेषोपाद्ये श्रोत्रपादो सत्वेऽप्यौ-चित्यात् इति निर्माण इच्छितो (महाभाष्य) अधिगत को, इस प्रकार जे सब विद्यामी के पाल करने वाले हुए ।

जिन्होंने श्रोत्र-देवों के शेर इच्छित से सम्भार—सम्भार, अर्ध वृद्धत्व जेम्स मुने भी समुद्र अथवा अतृप्तुद मरण शब्द इत रहा है—प्रादुर्भूत हो रहा है, उन जेम्स 14 दिग्ग वेदों के प्रणाल्य लक्षणजन (लक्ष्मी नाम्नी मेरी ज्ञाना के पति अथवा दिग्गुण) 'पेरमट्ट' नामक महान्—द्वय सुश्रेष्ठ—जिन्होंने को से प्रमाण बरान है ।

स्वयम्भुवस्य भुविनामं विहितत्वेन श्रेयस्त्वः। सूचयति—

निमग्नेन कले शैर्मतनजलधेरस्तस्वदर, मयोन्नीतो लोके ललितरमगङ्गाधरमणि ।
हरश्चलध्वान्तहृदयमधिरुदो गुणवतामलङ्कारान् सवतिपि गलितगर्वात् रचयन् ॥

स्वपाण्डित्यप्रकर्षमुक्तेन स्वोक्तेरपादयतमत्वम् स्वस्वकीयरचनोद्भवपो पापाण-पीडुप-
खवनादात्म्यप्रदर्शनेन स्वस्य दिग्य स्वरचनायाश्चमरवारकत्व च, अपिनाऽप्यापत्ति-
परावचनेन परत्र तत्सौकर्यातिशय लीलामादस्यैव तावत्सम्पादकत्वेन गुरारद्विभुन-
मधिपद्यानिता, तथा वन्दनीयिणी कं मुच्यन् ।

पूर्वमिमम् पद्ये यमकानुप्राससमृष्ट काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्प्रर्षापत्ति-काव्यलिङ्गो-
पस्तुता नमसोकिरतिशयोक्तिर्वाङ्मञ्जुवार, जमेण मरुगगजुष्टुप् च छन्दः ॥ २-० ॥

मदनमनुष्यान्मेव गर्भारतमा जलधि समुद्रस्तास्य, अनान्दरम् उदर-
पद्मंजनमन इति वाक्यं क्लेशैर्बहुमिदुं खं (नत्वनापासम्) नितरामत्यस्त मानेन
(नवोपदेव प्रविष्टेन) मया जगन्नाथेन लोके मत्स्यमुचने, उद्वृषं नीत उद्वृष्ट
प्रपानीत इत्यनर्थात्तरम्, ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा मुदरो
रमयङ्गाधरमनामाऽप्य प्रबन्ध एव स्पृष्टपदार्थप्रतिभासकत्वेन मणि, गुणवता बंध-
व्यभूता (नवनहृदयानाम्) हृदय चित्त यज्ञश्च, अधिरुद प्रविष्ट आरुदश्च अन्त-
र्यान् मानसिक साहित्यपदार्थविषयकाज्ञानम् ज्ञानराजिक तमश्च, हरश्चमनयन्,
सवान्पेपान् (ननु कतिपयानेव) अलङ्कारान् जलङ्कारप्रतिपादकान् प्रथान्
भूषणानि च, गलित स्वयमेव च्युता गर्वोऽग्राधारण्यमदो येषां तादृशान्, रचयन्
करोन्वित्यर्थम्)

यतो मन्मथो मे श्रुतिदाम्नाम्नाम् का वान कं का न्यन्तया गच्छन्ती मे श्रुतिदाम्नाम्नाम्
अपिपत्ता को मुक्ति काने ट, 'मन्मथो' इमं त्रियास्य मे वैदिकिक तथा न्यायशरीर को कर्त्तुनि
मग्नता म कि न्वेव २८ टिप्पणं इमं चिह्नं को अतिव्यक्त करने हे और गुण को सर्वविधमिपन
बनटा कर उनरे मेमकी शिष्य अपने म भी उन विगाओं के संकल्प को व्यक्त करने हे । इनी तरह
अने मे वापान के वल अपने कविता में दोष के नाशम्ब का प्रदर्शन पर अपने म निव्व एव
करता कविता में यमत्वागानिपत्त को मुक्ति काने टे । प्रथम एव म 'यमक तथा अनुप्रास' इन
दोनों मन्मथद्वारा से समृष्ट काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्वितीय एव म वाक्यलिङ्ग से ललित अति-
सम्पत्ति अलङ्कार है ।

अने प्रबन्ध को इशुमा काने ई—'निमग्नेन' इत्यादि ।

मने (साहित्यिक पत्राओं के) अनुविन्दनरूप समुद्र के अन्तर्गत में बटे दु धों से ग कि
अनात्म, निरक्षय मन्म होकर—न कि योय ता प्रविष्ट होकर, ममल में इम 'रसमहाभर' एव सुन्दर
मणि को निकाला है । इम तरह निकाली गई वर (रमगङ्गाधर एव) मणि, मुक्तिनों के हृदयों
में प्रविष्ट होकर आन्दमरिक् अन्धकार (साहित्यशास्त्रविषयक अज्ञान) को हरता करती हुई, सभी
व्यक्तियों (अलङ्कारमन्मथो निवन्मथो तथा आमुषणो) को गर्वविहित कर दे । तात्पर्य यह है कि—
मने रस सोपान्यनज्ञ कर इम प्रबन्ध को लिखा है, यह अलङ्कार मन्मों में मणिकप हे, इससे साहित्य-
शास्त्रविषयक मन्मन् अज्ञान धारणार्थ दूर हो जायेगी, अल सतदय जब इस प्रबन्ध को अपने हृदयों में
स्थान अवसर देंगे, इम प्रबन्धरत्न के प्रभाव से औत्सर्हीर अलङ्कार प्रबन्ध भाव्य हो जायेगे । मन्मूर्ति

स्वप्रबन्धस्य प्रचारमासासति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु ।

किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु ॥ ८ ॥

मननमेव पारनायकत्वेन तरिनीं तथा तीर्थं प्राप्तपारं विद्या एव गाम्नीयेण
दुस्तरतया वाष्णवं समुद्रो देन स जगताश्श्रामो पण्डितानां नरेन्द्र पण्डिततराणा-
मिन्द्र पण्डितेषु नरेन्द्र इव पण्डितश्चासौ नरेन्द्रो नरश्रेष्ठ पण्डितराजपरानिधानो वा,
इमा रसगङ्गाधरनाम्ना काव्यस्य (तदङ्गानामलङ्कारादीनां च) मीमांसा विचार
उद्देशगतक्षणपरीक्षा यत्र तादृशी रचना कुतुकेन कुदूहलेन (न तु क्लेशेन)
करोतीत्यर्थं ।

इह रूपकमनुप्रासश्चालङ्कार । पूर्वार्धेन प्रगतमपण्डितविहितत्वेन प्रबन्धस्वोपादेय-
त्वम् काव्यमीमांसामित्यनेन विषयः प्रयोजनं च कुतुकेनेत्यनेन स्वस्वैतादृगप्रत्यरचनेऽ-
पि स्तेसाभावाद्द्वारेण पाण्डित्यातिरेकञ्च व्यज्यते । आर्या छन्दः ॥ ७ ॥

रसा एवास्वाद्यत्वेन गङ्गा तस्यां घरं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेन धारकः,
यद्वा रसानां प्रतिपादनेन गङ्गाधरं शङ्कर इव रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृशं
अथ बुद्धिगोचरीकृतं सन्दर्भं पञ्चाङ्गववाक्यरूपो ग्रन्थः, चिरमनल्पकालं, जयतु सर्वस्य
साहित्यग्रन्थस्य उत्कृष्टतया वर्तताम् । किञ्च तथा निसर्गात् स्वभावात् (न तु
व्याजात्) सम्यञ्चि सत्काव्यविरचन-विवेचनव्यसनितया समीचीनानि, कवीनां
काव्यस्य निर्मातृणां विवेचकसहृदयविदुषां च कुलानि वृन्दानि रञ्जयतु साहित्य-
मिद्वान्तनिष्कपेक्षोपनेतानन्दयत्वित्यर्थं ।

अथ यमकमलङ्कारः । वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—'विषयो विषयवर्चैव पूर्वंपक्ष-
स्तपोत्तरम् ॥ विषयशब्देन पञ्चाङ्ग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥' इत्यनेन महत्वरणैर्द-
यितानि । 'सहृद्भावात् पण्डितं कवि' इत्यमरानुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्भावक-
त्वमपि । कुनपदस्यात्र अक्षरत्वे तु चिन्त्यमेव, तद्वगपारम्परया वैदुष्यं प्रमाणा-
भावाद् रञ्जनानर्हत्वात् । आर्या छन्दः ॥ ८ ॥

ग्रन्थे अल्पे मे अनुबन्धचतुष्टयं (प्रतिपाद्य विषयः, उक्त विषयः ये माधः अथवा सम्बन्धः,
प्रयोजनं और अधिकारी) आस्य कठनां चर्हिण अन्वयात् तत्र ग्रन्थं के अन्वयन में लोगों का महत्ति
नहीं हो सकती, ऐसा निश्चय है । अथ प्रकृतं ग्रन्थं का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इसको सूचना देने
के माध्यमात् अन्वयकार अपना तथा अन्वय का नाम निर्देश करते हैं—'मननवर्ति'
इत्यादि । निमित्ते मननरूप (विद्या समुद्र से परे ल जाने ली शक्ति रखने के कारण) नैका से
दुरात्म्य होने के कारण विद्या-रूप-समुद्र को पार कर दिया है, वह पण्डितराज 'जगन्नाथ' दौमुक से
(न कि अयम से) काव्य-विवेचनय 'रसगङ्गाधर' नामक-निबन्ध को रचना करवा है । यहाँ
'मननवर्ति' इत्यादि विशेषण से अन्वयकार-गत-श्रीद-पाण्डित्य सूचित होता है, जिसमें तक्षित प्रबन्ध
में उदात्तता व्यक्त होती है, 'काव्यमीमांसम्' इस पद से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है ।
अलङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुप्रास है ।

अन्वयकार स्वकृत ग्रन्थ के प्रति अपनी सम्मानना प्रकट करने हैं—रसगङ्गाधर इत्यदि ।
'रसगङ्गाधर' (रसगुण गङ्गा को पारण करने वाला, अथवा रस के विषय में गङ्गाधर-दिव के साथ)

तत्र तावत् काव्यलक्षणसूत्रप्रवक्तारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकरस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोराद्यशक्तया गुणालङ्कारादिभिन्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताञ्चछेदक तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

तत्र विकीर्णिते शब्दे । कीर्तियंश परमाह्लादो देशान्तररूपकसंश्लेषत्वेनाद्वितीय भानस्य गुरुरा राजा देवताना च प्रसादं स्तुतिविरचनाकलनाभ्यां प्रसन्नता चादिदेषां नानि तादृशान्यनेकानि प्रपञ्चानि फलानि यन् नत् तयोक्तम्, तथाभूतस्य काव्यस्य वक्ष्यमाणलक्षणक-रविकर्मादिशेषस्य, व्युत्पत्तेर्नैपुण्यलक्षणा-तद्विषयक विशेषज्ञानस्य इवे काव्यवर्तुं मञ्जुदयस्य तद्व्यवसायवितुष्व, परमावश्यकतया निरारम्भप्रक्षिप्तञ्चेत् गुणां माधुर्यादयं, अलङ्कारा अनुशासोपमाञ्जयञ्चादयो येषां तादृशै रमभावप्रभृतिभिर्हेतुभिः, निरूपणीयं उद्देशलक्षणपरिक्षाभिविधेयनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताञ्चछेदक काव्यनिष्ठाया 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' इति भाव्यदोषार्थविकल्पनाया, अचछेदकमसूत्रानतिप्रसक्तौ धर्मं, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ 'काव्य काव्येतेभ्यो भिन्न रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्' इति भेदानुमितौ, साधनं हेतुभूत, तस्य काव्यस्य लक्षणं तावदादौ निरूप्यते प्रतिपाद्यं चित्रेच्यत इत्यर्थः । इह तत्रेति तावन्निरूप्यत इत्यनेन छन्दसम् । प्रथमकारिदेव व्याहृतिज्ञान-कान्तासम्मिन्नोपदेशमारो-वादावन् कीर्ति-परनिर्बुद्धौ चण्डत, धनप्राप्ते राजप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यवाययुनेश्च गुरुरेताप्रसादमाध्यन्तेन प्रतिपादयताम् । तथा कोस्त काव्यप्रकाशे—

'काव्यं यशसेऽर्जुने व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्य परनिर्बुद्धये कान्तासम्मिन्नतपोपदेशयुजे ॥' इति ॥

अथैव चतुर्विंशतिप्रश्नोत्तरप्रश्नार्थात् ।

मानक यह निरन्तर चिरकाल तक चिन्ती बने, मनीषिष्ठ होकर रहे और अत्यन्त मनोरंजन स्वभाव में हो इतम कवियों (काव्यकारों तथा काव्यलोचन-व्योचिनों) के समानों का अनुत्पन्न बना रहे । परोल्लसतिषु कुर्यादपौ दुर्जनो का मनोरंजन भन्ने ही इस शब्द से न ही पर हो सत् गुणाही होते, उनका हृदय इन शब्द के अत्यन्त से अदृश ही सुखी होगा, यह बात वही 'निरुक्तसुन्दर' इस कविष्ठल विशेषण से अधिकतक होती है । अलङ्कार यहाँ समक है ।

जब प्रथमकार काव्यलक्षण को अज्ञानता करते हैं—'तत्र कीर्ति' इत्यादि । यद्य, लोकोत्तर कल्प, गुरु, राजा और देवताओं को प्रसन्नता, प्रशंसा अनेक विध काव्य के प्रयोजन हैं, उन काव्य को व्युत्पत्ति (निजुना-रूप-निरूपक-विरिष्ठ-ज्ञान) करि, (काव्यनिर्माता) और सहृदय (काव्या-नन्द का अनुत्पन्न करने वाला) के छिदे अत्यन्त आवश्यक है । इसलिये पहले काव्यलक्षणा का निरूपण करने हैं । करि वहाँ व्याप यह शङ्का करें कि कविमहदश्री को काव्यज्ञान कराने के छिदे पहले काव्यलक्षणा निरूपण को क्या आवश्यकता थी । क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के ज्ञान से ही ही काव्य का ज्ञान होगा, फिर वहाँ पद्यों का निरूपण पहले करना चाहिये इसका उत्तर यह है कि गुण, अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद भी 'काव्य गुणविभूत, ऐसा ज्ञान होगा—यह कराना अथवा, यह एक तक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्य का ज्ञान न हो जाय । यदि अब पहले ऐसा कते । तो मैं कहूँगा कि एक ज्ञान में काव्य विशेष है, और गुणविद विद्वेण अन्

काव्य लक्षणति—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

पदीपकृद्दशितदिशा कविसहृदययो काव्यपयोजनभेदो यथायथमवधार्य । कवे-
कवित्व न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव । आवश्यकताशब्दस्य साधनमस्म-
द्भ्रसमञ्जसुरभिदिग्भनेऽवलोकनोपम् । द्वितीयेनादिपदेन रसभावाद्यष्टकस्य ग्रहणम् ।
निरूपण हि शब्दबोधानुकूलो व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षारूप । तस्मिन्निति
सप्तम्यर्थो निष्ठत्वम् । केषाचिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वस्वीकारात्
काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्व-
मक्षुण्णमवधारणीयम् । काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन तद्विषयकेच्छीम-
विषयताऽवच्छेदकत्व च तस्यैवावधिषम् ।

रमणीयस्य स्वज्ञानद्वारक-विलक्षणचमत्कारकारणतया सुन्दरस्यार्थस्य वाच्यलक्ष्य-
व्यङ्गधान्यतमस्य, प्रतिपादको बोधक शब्द काव्य काव्यपदेन व्यपदेश्य इति
शब्दार्थ । रमणीयार्थप्रतिपादकत्वे नति शब्दात्मनि तावत्तक्षणम् । तत्र रमणी-
यस्यानुरागाद्यर्थस्य व्यञ्जके कटाक्षनिक्षेपाद्यर्थोतिव्याप्ति वारयितु विशेष्यदलम् ।
अत्राचमत्कारकार्यबोधके 'घटमानय' इत्यादिनाक्येऽतिप्रसङ्गजिरासाद्यर्थप्रसंगस्य रमणी-
यत्वविशेषणम् । रमणीयार्थनिरूपितस्य वाचकत्वस्य निवेशे तादृनार्थव्यङ्ग्ये, व्यङ्ग्य-

'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पदके से रहता आवश्यक है, कारण ? यदि विशेष्य स्वयन् अमिद्ध-जान रहेगा
तब हमें विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' हम विशिष्ट ज्ञान में नाव्यत्वविशेषण-
ज्ञान (जो नाव्य है) का अधिज्ञान है, अतः 'काव्य गुणादिमन्' इस ज्ञान में विशेषणावच्छेदक (जो
प्रवर्तमान विषय होने में इतना-उत्तरक भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दरूप'
काव्यत्व का निरूपण करना पड़ता है । पहले लक्ष्य निरूपण करने का दूसरा कारण यह भी है कि
विभीषण वन्तु से विना दूसरा वन्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी
है, हम भेद-ज्ञान के बिना कोई व्यवहार चल ही नहीं सकता, मान लीजिये कोई जल्दी 'जो घट
तथा पट - व ई भेद नहीं समझता' अगर व्यवहार में प्रवृत्त हो तो क्या होगा ? घट का कार्य पट
से अलग पट का कार्य घट से अलग होगा । अब यह बात स्पष्ट हो गई कि 'किसी एक वन्तु में परस्पर-
रिक्त समान वन्तुओं में भेद है, यह समझना आवश्यक है । यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू
होगा अतः काव्य अतिरिक्त मरुत पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, अथवा लोग
काव्यान्वय को घटों में ढूँढने लग जायें और काव्य में इतरभेद-ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भन नहीं,
कारण ? काव्य अमूर्त वन्तु है, फिर अगत्या हम ज्ञान के लिए अनुमान प्रमाण की शरण लेनी होगी,
जैसे—'काव्य काव्योत्तरमान् भिन्नम्'—काव्य काव्यातिरिक्त वन्तु से भिन्न है, क्यों ? 'रमणीयार्थ-
प्रतिपादक-शब्दरूपम्'—रमणीय अर्थ, का प्रतिपादक, करने वाला, जो शब्द पदार्थ होने से पदार्थ, हेतु
दिया जायगा अतः अब जाह इतर भेदानुमिति में लक्ष्य ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम
पदव्यलक्षण निरूपण को आवश्यकता समझनी पचादिये ।

नाच लक्ष्य के स्वरूप बहने है—'रमणीय' इत्यादि ।

अर्थ का इतिहास करने वाला—अर्थात् जिन शब्द से रमणीय अर्थ का बोध हो, वह
शब्द काव्य है । इस लक्ष्य में यदि 'शब्द' शब्द नहीं बरें, अर्थात् 'रमणीय' अर्थ का इतिहास करने
वाला हो वह काव्य है' इत्यादि ही लक्ष्य करें, तो रमणीय अनुराग रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला
शब्द इत्यादि-निश्चय ही काव्य हो जायगा, अब 'शब्द' का विशेष लक्ष्य में किया गया है । अर्थ

लोकवैचित्र्येष्वर्थाभिप्राया रमणीयताया अव्यवस्थानाद् व्यवस्थितिमाचष्ट—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ।

नन्वाह्लादनिष्ठ लोकोत्तरत्व सात्विद्य निरतिशय वा ? अथे तन्निवेशेऽपि बहु-
विधानामानन्दाना पूर्ववन् सङ्ग्रहेणातनुगम , द्वितीये तु ब्रह्मानन्दस्यैव तेन प्रह्लादादनु-
पत्तिरित्यतो लोकोत्तरत्व निर्बन्धि—

लोकोत्तरत्व चाह्लादगतश्चमत्कारत्व।परपर्यायोऽनुभवमाक्षिणो जातिविशेषः ।

इत्यस्य निवेशे च तथाविधार्थवाचके शब्देऽव्याप्ति तिरमित्तु तदुभयसाधारणस्य
प्रतिपादकत्वस्य प्रवेशः । रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणेऽतिव्याप्ति परिहर्तुं चार्थस्य
प्रवेशाऽवश्यम् ।

चकारस्त्वर्थकः । लोकोत्तरस्यातीविवस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादक
पञ्चज्ञान, तद्गोचरता तत्रिरूपितविषयतारूपाऽभिप्राया रमणीयतेत्यर्थः ।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठ, चमत्कारत्व विस्मयलक्षण-चित्तविस्तारारामकमुत्तिष्ठम-
विशेषोपर पयायो नामान्तर यस्य तादृश, तथा अनुभव महदवयवसमवेत प्रत्यक्ष
चर्चणालक्षण साक्षी प्रमाण यस्मिंस्तथाभुनश्च, जातिविशेषो बिलक्षणतामानन्दम् । अनु-
भवमाक्षित्ववयवेन 'सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम्' इति दर्शनदशितस्तत्र
प्रत्ययेनरप्रमाणविरहो बोध्यते । तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशलोकोत्तरत्ववैधुर्माद्
सङ्ग्रहेणुमशक्यत्वात् दोषः ।

ये रमण्य विज्ञाना लुगाने का चष्ट, अरमणीय-अर्थ-बोधक 'परमानन्द' इत्यादि माधुर्या नाकर्तो मे
कथ्यते का निगम समपना चाहिये । वाचक, लक्षक, व्याप्य ये लो नोन प्रचार वे शब्द साहित्य-
शास्त्र मे स्वीकृत हुए है, वे तीनों ही काम्य कहला सकन हैं, यदि उनके अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य
किता व्यहय) रमण्य हों, इनी अर्थ ही सूचित करने वे शिष्ये लक्ष्य मे 'वाचक अथवा व्यापक'
न बदलर मानान 'प्रतिपादक' पद कहा गया है । रमणीय शब्द के प्रतिपादक लो व्याकरा के
मे शब्द है, उनमे कथ्यत्वावृत्ति न हो पाय इत्यस्मि 'अर्थ' वा निवृत्त समझना चाहिये ।

अर्थ मे रमणीयता क्या हो सकती है ? यदि अर्थ कहे अन्ध लुगना ही अर्थ मे रमणीयता है,
तो मे कहूंगा कि बाल बच्ची ठेक है, परन्तु यह रमणीयता अव्यवस्थित होगी, कारण ? रविभेद से
यह ही अर्थ किनी कहे अन्ध और किनी कहे सुरा लुग सजना है, अथ प्रत्यक्षर व्यवस्थित रमणीय
का निर्वचन करने है—'रमणीयता' न इत्यादि ।

जिनके ज्ञान मे एकोत्तर (अतीतिक) आनन्द उदय्य हो, वह अर्थ रमणीय है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि एकोत्तर आनन्द किमको कहेंगे ? अर्थात् आनन्दता एकोत्तरत्व
यदि चा विद्य (जिनसे बड़ा दूसरा भा आनन्द हो सजना हो, देना) विरहित अर्थात्, जब
एकोत्तर कदने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि अविभेद-अविभेद से विभ्रनित आनन्द एकोत्तर
सिद्ध हो जय, जिनसे अव्यवस्था बनी हो रहेंगी । यदि आनन्दन उ एकोत्तरत्व निरतिशय
(जिनसे बड़ा दूसरा आनन्द न हो) विरहित कहेंगे, तो आनन्द के अतीत आनन्द (कथ्य-
नन्द, जिनको निन्दनसक होने के कारण अथानन्द महोदर होने पर भी उनसे भिन्न माना गया है)
संग्रहीत नहीं हो सकेगा, जिनका समझ करना ही इन अर्थों का मुख्य उद्देश्य है, अन्वय इन
दोनों से विद्वाना एकोत्तरत्व का निर्वचन करने है—'लोकोत्तरत्व' इत्यादि । कदने का तात्पर्य
यह है कि यही का एकोत्तरत्व सात्विद्य, निरतिशय, दुष्ट नहीं, ध्यत्व, ध्यत्व रमण आनन्द मे

नन्वीदृश लोकोत्तरत्वमत्कार को जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह—
कारण च तदवच्छिन्ने भावनाविशेष पुनः पुनरनुसन्धानात्मा ।

आह्लादे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फल दर्शयति—

'पुत्रस्ते जात' 'धन ते दाम्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्ति ।

धस्त्वर्थे । तदवच्छिन्ने चमत्कारत्वरूप-लोकोत्तरत्वजात्यवच्छिन्नेऽलौकिकाह्लादे, पुन पुनरनुसन्धान काव्यार्थस्य भूयो भूय समानविषयक स्मृतिविशेष आत्मा स्वरूप यस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थ । इह न्यायनयोक्तभावनाऽऽख्यसत्कारस्य व्यपच्छेदाय पुनरित्याद्युपात्तम् । काव्यार्थस्य निरन्तरस्मरणेनैव लोकोत्तराह्लादो जन्यते नत्वन्यादृशार्थज्ञानमात्रेणेत्याशय । केचित् तार्किकाङ्गीकृतभावनाया सम्कारात्मकत्वेन ज्ञानजन्यत्वात् पुनः पुनरनुसन्धानादात्मा यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिरिहेत्यपि वदन्ति ।

प्रसक्तिरापत्ति । यद्यप्येतद्राक्यद्वयार्थज्ञानेनापि कश्चनानन्दो जन्यत एव, किन्तु तदानन्दस्य प्रागुक्तभावनाविशेषजन्यत्वाभावात्लोकोत्तरत्वस्य विरहेण रमणीयार्थरति-पादकत्वविधुरतया नैतद्वाक्यद्वये काव्यलक्षणातिव्याप्तिरित्यभिनिन्दि ।

रहने वाला एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व किमवा दूसरा नाम है, सद्दर्थों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिन जिन आनन्द में सद्दर्थों को 'लोकोत्तर, लोकोत्तर' ऐसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी इस समझ में कहा है—
'सचेतसामनुभय प्रमाण तन्न केवलम्' अब अन्वयवशा की शङ्का नहीं हो सकती है ।

पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने का कारण वा निर्देश करने है—'कारणं च' इत्यादि । चमत्कारत्वापरिपाय लोकोत्तरत्व जाति से अवच्छिन्न परिचित अज्ञान विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द में पुन पुनः अनुसन्धानरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शाब्दबोधधरानुभव ही कारण है । सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाक्य को सुनते हैं, तब शक्ति स्मरणदि जो शब्दबोध को सामग्री मानती गयी है, तदनुसार पहले वाक्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वह व्याहृत्य अर्थ रहा, तो त्यागना वृत्ति द्वारा उमरा बोध होता है, जो सद्दर्थों की अच्छा लक्षण है, अब सद्दर्थगन बार-बार उन बोध को करता থাকते हैं, जिसके लिए पुन पुन उन शब्दों को पढ़ते हैं इस तरह समझ भी गयी वह बोधधारा सद्दर्थों की आत्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है । जहाँ व्यहृत्य अर्थ नहीं रहता, वहाँ विच्छिन्न वाक्यार्थ की तादृश बाधधारा (भावना) ही आनन्द की सृष्टि करती है ।

आनन्द में लोकोत्तरविशेषण लगाने का फल कहते हैं—'पुत्रस्ते' इत्यादि । यद्यपि 'तुम्हारे घर में लड़का पैदा हुआ' 'तुम्हारे मैं धन दूंगा' इन वाक्यों से होने वाली भावना भी आनन्ददायिनी है, तथापि ये वाक्य वाक्य नहीं हो सकत, क्योंकि इन वाक्यार्थों की भावना से होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं है, सद्दर्थों को हम आनन्द में लोकोत्तरत्व की प्राप्ति नहीं होती । मूल उदाहरण में यद्यपि 'शब्द' वह ध्वन्यर्थानाम प्रयोग किया गया है, तथापि वह ध्वन्यर्थ मंत्रया विवक्षित नहीं है, अतः मध्येन काव्य का यह स्वरूप हुआ कि 'जिन शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ की भावना करने में किसी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको 'काव्य' कहते हैं' ।

अथ काव्यलक्षणनिष्कर्षं क्रमेण प्रपञ्चयति—

इत्थं चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादि-
तार्थत्रिपयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनक-
ताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकताससर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति
फलितम् ।

इत्यनमुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्या, चमत्कारस्य लोकोत्तराह्लादस्य जनिका
या भावनाकाव्यार्थविषयकपुनः—पुनरनुनयानन् तस्या विषयो योऽर्थः, तस्य प्रति-
पादकत्वे सति शब्दत्व काव्यत्वमिति फलितमिति नवैवात्त्वय । अस्मिन् प्रथमलक्षणे
प्रागुक्तं ज्ञानपद विहाय भावनापदप्रवेगस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, श्रूयताम्—यत्र
कल्पयित् पुं सामग्रीवलेन काव्यार्थविषयकं तदितरचमत्कारार्थविषयकं चैकमेव
समूहान्म्वनात्मकं ज्ञानं जायेत, तत्र तदितरवाक्यार्थस्यापि चमत्कारजनक-तत्पुरुष-
समवेत-काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयताऽऽश्रयत्वेन तत्प्रतिपादकशब्दे काव्यवदकाव्ये-
ऽपि काव्यत्वं तदितरवाक्ये प्रमज्येत । भावना निवरी तु तस्या स्मृतिविशेषरूपत्वेन
समूहान्म्वनात्मकत्वविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञाने प्रवेगापम्भवात् दोषः । पुनः—
पुनरनुनयानस्य हि युगादनैकविषयकताया फलवतेन सामग्रीसमवेततासम्भव-
वच्चिन् दलनीया । सत्कारस्यापि कश्चिन् समूहान्म्वनत्वमन्वय-
व्यवस्थापितमिति तदुदादानात्त दोषनिस्तारः ।

अत्र नव्य न्याय द्वौ शैली मे काव्यलक्षणं वा परिवारं कर्तुं—‘चमत्कारजनक’ इत्यादि ।
चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को उच्यन्त कर्मो वाटा जो भावना (ज्ञानधारा) उभवा विषय
(जिनकी भावना हो वह) को अर्थ, ह-विशाल शब्द वा नाम हुआ काव्य और तादृश शब्दत्व
वा काव्यत्व । इस प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञानपद न कह कर ज्ञानधारा-वाचक-भावना-पद क्यों
कहा गया, इन शब्दों का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये । कमान्वनी प्राणव्य-विषयक
ज्ञान-नामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात् विद्वान्गोत्रोद्भूतक सामग्री के जुट जाने में उदासीन
बन्तु को भी विषयक बना देता है—अर्थात् भावना तथा उदासीन-दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता
है, ऐसी ज्ञान को समूहान्म्वन ज्ञान कहने हैं, अब आप कृपया सोचिये कि—जब ‘शून्य वाम-
गृहम्’ इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उद्बोधकान्तर-समयस्थान से कथक अर्थ भी
भासित हो गया, वही काव्यार्थ-विषयक होने के लिये चमत्कार-जनक-ज्ञान वा विषय घटकर अर्थ
भी हुआ, अब उस घटकर अर्थ वा प्रतिपादन करने वाला ‘घट’ इत्याकाक शब्द में भा काव्यत्व
प्राप्त हो जायगा, उन्हीं काव्यत्वप्राप्ति-की हृदये के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कहा गया
है । भावना पद कहने पर आसक्ति हमलिये नह। हुई कि एक बार मने ही उद्बोधकान्तर के जुट जाने
में शून्यार्थ विषयक ज्ञान घटकर अर्थ भासित हो गया पन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उभवा
भासित होना असम्भव, यथा ? अस्मान् जुने वाला उद्बोधक बराबर जुटना रहेगा, ऐसी
सम्भावना नह। की जा सकता । यदि कोई वारी ऐसा दुःसाह करे कि—हा, महाशय, जब-जब
काव्यार्थविषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उद्बोधक जुटना हा रहा, उदासीन घटदिरूप अर्थ इन ज्ञान में
भासित होना हा गया, तब ही भावना पद-निवेश में भा गिनार नह।, अब ‘क-विशाल-विशाल’
इत्यादि द्वितीय परिष्कृत लक्षण कर्तने की आवश्यकता हुई, जिनमें वारी वा एक दुःसाह भी दूर हो
—, कहने का आशय यह है कि—‘शून्य वामगृहम्’ इत्यादि काव्य वाक्य तथा ‘घट’ इन दोनों

अत्रापि लक्षणोऽतिव्याप्ते यंत्रप्रतिपादितेत्यादिना द्वितीय लक्षण विहितम् । तथा-
हि—यत्र कर्मचित् काव्यवाक्यार्थविषयिणा निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी
स्मृतिविशेषरूपा भावना जायत तत्र चमत्कारजाकभावनाविषयीभूताना मूर्धोपानेव
समानाकाराणा तया वाक्यार्थाना प्रनिपादकत्वात्स्वरूप तादृशवाक्यकदम्बके काव्य-
लक्षणातिव्याप्ति स्फुटैव । तत्र हि सर्वेषां तादृशवाक्याना चमत्कारानाधायकत्वात्
काव्यत्व न कस्यापि सम्मतम् अपित्वेकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेपितुमपि न
शक्या । येन मादृशानुपूर्वीमता शब्देन, प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा वृत्तमती, या
विषयता तत्रिरूपिणा या भावनानिष्ठा (तद्) विषयितासम्बन्धेनावच्छेदकम्, तादृ-
शानुपूर्वीमत्त्व काव्यत्वमिति लक्षणार्थम् । तथा च प्रवृत्तवाच्यतमूहूरूपसदस्य चमत्कार-
जनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमत्त्वाभावात्प्रतिव्याप्ति । आनुपूर्वी तु तद्वर्णनर-
तद्वर्णनत्वस्य धावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदको धर्मः ।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपाद्यार्थाना प्रकारतया शब्दबोधे विषयीभावाद्
वृत्तिज्ञानाधीनतसदुपस्थितोता कारणत्वनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोग्यव्यभिचारा-
र्थकतयाऽनुगमयत्र दूषण दुर्द्धरमिति स्वविशिष्टेत्यादिना तृतीय लक्षणमभिहितम् ।
अत्र हि मसर्गविधया भासमानाना तदर्थानामुपस्थिते शब्दबोधेऽपेक्षणात्प्रनाशकम्,
यत्तत्तद्विरहादननुगमामावश्च व्यक्तमवसीयत । स्वशब्दस्तूपात्तोऽपि वैशिष्ट्यघट-
कार्योपस्थापकत्वेनानुगतार्थक एव । स्वशब्देनान चमत्कारत्वस्य ग्रहणम् । तथा च
स्वविशिष्टा चमत्कारत्वावच्छिन्नजन्यनानिरपिता या भावनानिष्ठा जनकता, (भाव-
नायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन विनोपणात्) तदवच्छेदको योग्यः, तदप्रतिपादकत्व
सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्वविशिष्टत्वे सति शब्दत्व काव्यत्वमिति
पर्यवसितम् ।

शब्दोऽपि प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना के एक होने पर भी काव्य शब्द प्रतिपादितार्थ-विषयक
भावनात्व, पर 'घट' इत्यादि उदासीन शब्द-प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व एक नहीं, भिन्न है।
इस स्थिति में चमत्कार-जनकता वा अवच्छेदक (परिचायक) काव्य शब्द-प्रतिपादितार्थविषयक
भावनात्व ही ही भवता है, इमग नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्य (अर्थ) में न रहने
बाला) और अननिरप्यक (अधिक देश में न रहने बाला) होता है, वही धर्म जसका अवच्छेदक
हो सकता है, उदासीन 'घट' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्व शुद्ध 'घट' इत्यादि
शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक भावना पर भी है, जहां चमत्कार-जनकता नहीं है, जहां वह अधिक
देशगुणित (अनिश्चल) धर्म होने से चमत्कार-जनकता वा अवच्छेदक स्मृतात्पन्न स्थल में नहीं
होगा, फिर द्वितीय लक्षण के हिसाब से एक स्थल में आपत्ति नहीं हुई। विन्तु इस द्वितीय लक्षण में
भी एक नहीं आपत्ति यह दर्शित हो जाती है कि—यह लक्षण हमें दूरी और तन् पर से पटित है,
जिसका अर्थ अननुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, जहां तादृश यत्तू पर-पटित लक्षण
भी अननुगत होगा, फिर लक्षण करने का उद्देश्य (अनुगम करना) भिन्न नहीं हो मरेगा, दूसरी
बात यह है कि काव्य-शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक हो जाने से गौरव भी होगा, अतः लक्षण को लक्षण
होना चाहिये, जो नहीं होगा, इसलिए 'स्वविशिष्ट-जनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का भवना
सम्बन्ध का-दिये। सुशोभ पर-पटित का अनुगम काव्य का लक्षण 'चमत्कारजनकता' काव्य हुआ, जो
न बाला है, न दूरी, तन् पर-पटित ही, जहां गौरव किंवा अननुगम की दूरी जागी रही। यही

इत्थं स्वकीय काव्यलक्षण प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथम विशेष्यदलेर्षस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु प्राञ्च — 'अदोषौ सगुणौ नालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः । तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दलाच्यम् मानाभावात् काव्यमुच्चैः पठन्ते 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' 'काव्यं श्रुतम्, अर्थो न जात' इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।

तादृशचमत्कारत्वत्वममानाधिकरण तदेव काव्यं 'काव्यं मित्याश्रुतगतमिति विपननाऽवच्छेदकप्रमाऽऽम्बादविशेषजनकनाऽवच्छेदकतया वा सिद्धं जातिविशेषरूपमुपाधिरूप वा लक्षणाऽवच्छेदकमिति व्याख्यातारः ।

सक्षणमिदं जगत्प्राथम्यं न सर्वथा स्वोपक्रमं 'सक्षेपाद्वाक्यमित्यर्थं व्यवच्छिन्ना पदावली । काव्यम्' इत्याग्नेयेन, काव्यमुपक्रम्य 'शरीरं' तावद्विष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिभट्टेन च प्रतिपादनात् । खण्डनन्तु केवलमशब्दवृत्तिकाव्यत्वाङ्गीकारनिरसनप्रसङ्गेन पुरस्ताद् व्यतीभविष्यति ।

तुना वक्ष्यमाणाऽऽदि मूच्यन्ते । प्राञ्च काव्यप्रकाशकारः । जाह्नुरित्यग्निमेगान्वयः । विचार्यते युक्तयुक्तत्वमिति शेषः । विश्वेभ्यः सर्वभ्यो जनेभ्यो हिनां विश्वजनीनो व्यवहारः । प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये । एवकारं शब्दार्थमात्रस्य व्यवच्छेदेव ।

प्राचीनैः शब्दार्थोभयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न नोमतम्, यत् शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य ज्ञापकं किञ्चिदपि प्रमाणं नोपलभ्यते । किञ्चार्थस्य कष्टनात्वाद्यभिप्राय-जन्योच्चारणतक्षणपाठायोप्यत्वेन 'काव्यमुच्चैः पठने' इत्यादिरूपं, अर्थस्यापि काव्य-

टोकोत्तरत्व का पर्यायवाची चमत्कारत्वं जातिविशेष माना गया है, जो, वदपि साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) से चमत्कार—टोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि सम्बन्ध 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ-प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा । यद्यपि वह सम्बन्ध लम्बा अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लघु घटक नहीं कहलाना, इसलिये अब एक दोनों का समझ नहीं व्यभिक्त हो सकता, ऐसा समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारत्व का प्रमाण काना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से लक्षित ही होगा चमत्कार, उनकी (तत्रित्तरित) जनकता रहेगी भावना (ज्ञानधारा) में, उस जनकता में निरूपित विषया-सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषया सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अब वह (काव्यार्थ) भी भावनाविष्ट जनकता का अवच्छेदक होगा—उम, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अब तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध में स्व (चमत्कारत्व) रूप में रहेगा । इसी तरह से लक्षण का समन्वय काना चाहिये ।

अब पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षण-निरूपण कर लने के बाद प्राचीन आचार्य का किसे सर्व काव्य-लक्षणों के सम्बन्ध-समय में सर्व-उप काव्य-वादाचार सम्मत रूप लक्षणों का निर्धारण है—'यत्तु प्राञ्च' इत्यादि । काव्य-वादाचार ने 'द्वैतविन' युग तथा अलग-थलग अलग-थलग युगों को काव्य माना है, हा, अलङ्कार युग में इनकी छूट लहोने चमत्कार का ही—कहीं-कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहने पर भी और अलग के रहने पर शब्दार्थयुग का काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज स्वसम्मत के विचार से यह लक्षण ठीक नहीं है, क्या ?

व्यवहारी—

इतर चामति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिपाहके प्रमाणे प्रागुक्ताद् व्यवहारत शब्दविशेषे तद्वचन्ती शक्ति को नाम निवारयितुमीष्टे ?

एतरपक्षे विनिगमनाविरहादुभयत्र शब्दार्थयो काव्यशब्दशक्ति स्वीकृता मन निराकरोति—

एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् ।

पर्यवसितमाचष्टे—

तदेव शब्दविशेषस्यैव काव्यपदाथत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षण वक्तु युक्तम्, न तु स्वकारिपदाथस्य काव्यपदाथस्य ।

इत्य प्रतिपक्षिकाव्यस्याभेदपक्षेनाप्रामाव्येन । प्रागुक्तात् काव्यमुच्यं पत्रने' इत्यारिक्त्यात् । शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दज्ञाने । को नाम नैव वक्षिष्व । इष्टं वाच्योति ।

इदमुच्यते—'शक्तिग्रह व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारकम् ।

वाक्यस्य शेषाद् विप्लवेदन्ति मानिष्यत निश्चयस्य वृद्धा ॥'

इति शक्तिरभिधानादिह व्याकरणादिशक्तिग्राहकप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्व कथितो व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दभावशक्तिग्रहे प्रमाणम् तस्मापि शक्तिग्राहक-सौदाबुल्लक्षात् ।

एतेन पूर्वोक्तव्यवहाररूपनिविगमनत्वात् । एतरपक्षपानिनी युक्तिविनिग-मना । प्रत्युक्तं खण्डितम् ।

शाक् प्रवर्तितव्यवहारैर्यथा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिरिच्छांगिता, तदा तादृशशब्दमात्रद्वयेव काव्यस्य लक्षण वचयितुमुचितम्, न पुन शब्दार्थोभयवृत्तीति मारम् ।

यदि अत्र नष्टे कि प्रमाण नरं तथा शक्तिविर होत ? क्या अथ एत-नाम को नहीं मानते ? अर्थात् आकारों समान या अथवा हा शब्दार्थ-युगल को शब्दस्य शब्द होने में प्रमाण है । हाँ, शब्द को ही प्रमाण मानना है, परन्तु अथ के शब्द को—वादी के, शब्द को ही प्रमाण तो वादी है, 'वा' के साथ सेवा विशद है फिर उनके शब्द को ही प्रमाण कैसे मानें ?

इस तरह अब कि 'शब्द और अर्थ' दोनों में काव्यस्य का अभिधान की सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, वह पूर्वोक्त व्यवहारस्य प्रमाण ही शब्दभाव में सिद्ध होने वाला काव्य-व्यव-हारों को ही ही एक प्रमाण है ।

इससे 'शब्दभाव को काव्य मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है, इसलिए शब्द और अर्थ दोनों को साथ मानना चाहिये' इस तर्क का भा उतर ही जगज है, क्योंकि शब्दभाव को काव्य मानने में पूर्वोक्त लौकिक-व्यवहारस्य निदिगमन (व्याकरणशक्तिरिनी युक्ति) वर्तमान है ।

इस तरह शिष्ट अक्षरक शब्द के ही काव्य सिद्ध ही जाने पर तदनुसार शब्दभावस्य-काव्य-व्यवहार बनना लजित है, न कि अतनी और ही काव्यस्य में कथित-शब्दार्थ युगल-भाव टक्षा मानना

स्वमत इदमित्नु प्रसङ्गादाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः । अ यथा तत्रापीय दुरवस्था स्यात् ।
प्राचीनमत पुनरापाद्यावच्छति—

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-
मित्याह, सत्र, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मत-
त्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्ते । किं बहुना, नाट्याङ्गाना गर्वेषामपि प्रायशस्तया-
त्वेन तत्त्वापत्तिदुर्वारैव ।

एषैव च शब्दविशेषमात्रवृत्तित्वस्वीकृतिरेव । गतिरुपाय । आदिपदेनेतिहासप्र-
भृतिपरिग्रह । अन्यथा वेदत्वादेरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्वीकारे । दुरवस्थातत्तद्व्य-
वहारविरोधापत्ति ।

'वेद उन्वै पश्यते' वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेद श्रुत, अर्थो न ज्ञात' इत्यादितत्-
द्रव्यहारेभ्यो वेदपुराणादिशब्दानामपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमात्र-
वृत्त्येव वेदादिलक्षण लिङ्ग्यम् । शब्दार्थोभयवृत्तितत्त्वलक्षणनिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहार-
विरोध स्फुट एवेत्याशय ।

एतच्च स्वर्गविशेषजनकताऽवच्छेदकजाभिरेदकफलोद्देश्य भ्रमाजन्मप्रपत्तविषय-
वाक्यपरम्परा शन्य तद्वृत्तिप्रपत्तव जाति । अन्यत्वव्याप्त्वा एव वेदत्वादित्जातय ।
इत्यादिसन्दर्भेण काव्यप्रकाराविवरणे विस्तरये प्रपञ्चितम् ।

आहुरित्यनेन यत्स्वित्यन्वेति । अवशिष्ट तुल्य साधारणमिति यावत् । रागस्य
सङ्कीर्तानुशासरोक्त—भोतस्वरविशेषस्य भैरवादिसञ्ज्ञकस्य । गीतशब्दाना रसव्यञ्जकता
ध्वनिकृता तृतीयोद्बोधने दक्षिता । लक्षणोयत्वापत्ते रागस्यापि रसव्यञ्जकतयाऽऽस्वा-
दोद्बोधकत्वलक्षणलक्ष्यताऽवच्छेदकाश्रान्तत्वेन तत्र काव्यलक्षणातिव्याप्त्यापत्ते । सर्वेषां
नाट्याङ्गाना मरत्तोक्तानामातोयकरणाङ्गहारदीनाम्, प्रायशो वाहृत्येन, तेन वक्ष्य-
न्ति तदभावोऽपि । तथात्वेनास्वादोद्बोधकत्वेन । तथात्वापत्ति काव्यत्वाति-
व्याप्ति ।

स्वमत को पुत्र करने के लिये प्रसङ्ग-मात्र विनयानर को खर्च करते हैं—'एषैव च' इत्यादि ।
वेद, पुराण, इतिहास, प्रभृति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही उपाय करना होगा, अर्थात् इन सर्वों
का लक्षण भी शब्द विशेष-मात्रवृत्ति ही बनाना चाहिये । अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ी
होगी, कहेने वा तात्पर्य यह है कि—यदि शब्दार्थ-समूह ही वेद आदि मानेंगे तो 'वेद गौर से पना
जाता है, वेद से अर्थ समझा जाता है, वेद सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विस्क
हो जायेंगे ।

वहाँ मन्मट-मन-समर्पक कुछ लोग एक और नतीज तर्क व्यक्त करते हैं । उनका कथन यह
है—काव्य उनको कहना चाहिये जिससे रस का उद्देश होता हो, जिससे महदर्थों के श्लोविक
आहार प्राप्त होता हो और उस आहार को देने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में समानरूप से है,
अन 'शब्द और अर्थ' दोनों की साम्य कहना न्यायपात है । पण्डितान का कथन है—आजका यह
तर्क ठीक नहीं । यदि रस ही उद्बुद्ध करने वाली ची भी चीज उनको काव्य माना जाय तो राग को
भी काव्य मानना पड़ेगा, क्योंकि 'शक्तिहर 'आनन्दरूपेण' आदि सभी साहित्यिक मनीषियों ने राग को

आशिक मतान्तर निरस्यति—

एतेन रसोद्बोधममर्थस्त्रैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्ताम् ।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन दूषयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त शब्दार्थयोर्धर्मिन्मन् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहार-
स्थापत्तेः । न द्वितीय, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।

'अलौकिकास्वादसर्वैव काव्यस्य प्रधानप्रयोजनत्वेनामिषुक्तोक्तोत्पन्नत्वमेव वाच्यत्व वन्तु युक्तम् । आस्वादव्यञ्जनेना च क्वचिच्छब्दे क्वचिदर्थे क्वचिन्वोभयप्रे-
त्यनायत्वा शब्दार्थयोरेव काव्यत्वममुपगम्यम्, न पुन शब्दमात्रे' इति केपाबिन्म-
तमसङ्गतम्, आस्वादव्यञ्जकत्वभावस्य रसव्यञ्जनेषु राशेषु कतिपयेषु नाप्याश्लेषु
चातिप्रसक्तत्वात् । न चेष्टाऽऽपत्ति, तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादि-
त्याकृतम् ।

एतेन रागादिध्वितिसङ्गने । रसोद्बोधप्रसामर्थ्यं व्यञ्जना, तच्च शब्दवदपेक्षसत-
मित्युभयोरेव काव्यत्वम् । लक्ष्यत्वं काव्यत्वस्येति शेष । अपिना पूर्वमतसंग्रहः ।

प्रवृत्तिनिमित्त शरयताञ्जच्छेदकम्, 'वाच्यत्वे सति, वाच्यवृत्तित्वे सति, वाच्यो-
पस्थितिप्रकारत्वम्' इति सत्त्वलक्षणस्यान्यत्रामिधानात् । व्यासकृत व्यासजन्मवृत्ति एक-
मेवोभय व्याप्य तिष्ठन् । प्रत्येकमेवधर्मिन्नेकस्मिन् शब्दे चार्थे च पर्याप्त पर्याप्ति-
सम्बन्धेन विद्यमानम्, न तुमयवृत्ति । वाशब्दो विकल्पर्यायक । नाद्य पक्ष सङ्गत इति
शेष, स च काव्यत्वस्य शब्दार्थोपपन्नानुत्पन्नत्वप्रतिपादक । द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्त-
त्वप्रतिपादनः ।

रसव्यञ्जक माना है । यदि आप कहें कि—राग को जो शब्द मान लेने में आपति ही क्या है, तो
सुनिश्चये—रसव्यञ्जक होने में यदि किसी को वाच्य माना जाए, तो फिर राग मान को ही वाच्य मान
लेने से हलुकारा थोड़े ही मिल जायगा, शब्द के कितने अर्थ (नृत्य, वाद्य, नेत्रस्य सामग्री, आदि)
हैं समी को शब्द मानना पड़ेगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं ही सकता ।

इसी कारण से 'जो रसोद्बोधन में मग्न हो—जिसने सहृदयी का आभास कर आग्रह ही बड़े—
वही काव्यलक्षणा का लक्षण है, वह कथन भी स्पष्टित समझना चाहिए ।

'शब्द और अर्थ दोनों वाच्य नहीं हैं' इस सिद्धान्त के समर्थन में पठितराम कुछ और नवीन
तुक्ति बतलाने हैं—'अपि च' इत्यादि । इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी सन्दर्भ में ही
रहने वाला धर्म व्यासजन्मवृत्ति बतलाना है—जैसे दिव्य, बटुल आदि, और एक में रहने वाला धर्म
बतलाना है, प्रत्येक पर्याप्त होने मनुष्यत्व आदि । अब विचार यह करना है कि काव्य-पद-प्रवृत्ति-
निमित्त (काव्यत्व) किस कौटि का धर्म है ? शब्दार्थ मनु में रहने वाला, व्यासजन्मवृत्ति ? किंवा
शब्द और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य
बतलाने हैं, अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् ? यदि आप प्रथम पक्ष को बतलाने हैं, तब तो जैसे 'एक, दो
नहीं है, घट, घट-पट्टेस्य नहीं है' ये सब व्यवहार होते हैं—अर्थात् एक में दो का भेद मानने हैं, दोके
अपवाद प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, वही तरह 'श्लोक काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा,
अर्थात् श्लोक काव्य को आप बतलाने नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वाच्य, काव्य ना एक अवयव मात्र है । यदि
द्वितीय पक्ष को अतनाते हैं, तब भी एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने लगेगा,

प्रत्येकवृत्तिघर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिघर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकस्य तु भेदस्येष्टत्वात् 'एको न द्वौ इति व्यवहार 'घटो न घटपटौ' इत्यादि-व्यवहारवद् यथा भवति तथैव प्रकृते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितया स्वीकारे श्लोकवाक्यात्मकशब्दमात्रपर्याप्तिविरहाच्छ्लोकवाक्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक—तादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य भुवचत्वेन श्लाकवाक्य न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत् । शब्दमात्रपर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकानुयोगिताऽवच्छेदकयोरेवयाद् घटो न घट ' इत्यादिवन्न तथा व्यवहारस्यापत्तिः । शब्दे चार्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्व पर्याप्त्या वर्तते इत्यस्याने पुन शब्दार्थो पृथक् काव्यत्वम् अर्थांशे च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मिन्नपि काव्ये काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः । न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम्, तादृशस्थले 'नैक काव्यम्' इत्याकारकोत्तरकालिकबाधग्रहविरहात् एक काव्यम् इति प्रमाऽऽत्मनप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति भावः ।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणास्तु— यद्यप्यर्थो न कविक्रम तथाऽपि प्रथम प्रकाशमेवान् कर्माभिधीयते । अन्यथा शब्दनित्यनावादे मौनिना लिखित्वा ज्ञापिते च शब्देऽपि कविक्रमत्वं न स्यात् । तथा च विनियमनाविरहादपविशपावरोद्ध शब्द इव शब्दविशेषावरुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यभिरयुभयो प्राध्यायेन निर्देशः । काव्य शृणोति इति व्यवहारस्त्वर्थांशेऽपि शब्दबोधार्थकभ्रूणोति-नोपपादयितुं शक्यते 'आत्मा श्रोतव्य इतिवत् । तत्तु शरीर तावदिष्टार्थं-व्यवच्छिन्ना पदावली इति वचनम् तत्र व्यवच्छेद समुच्चय एव न त्ववच्छिन्नत्वम्, विनियमनाविरहात् । 'रसवच्छब्दार्थोभयत्व काव्यलक्षणम् । तत्र गीतादावतिव्याप्ले-वारणायार्थं, अभिनेयावधारणाय शब्दोऽभ्युपात्तः ।' इत्याहुः ।

नानेशमदृष्टास्तु— यदि त्वास्वादव्यञ्जकत्वस्याभ्युभयत्राप्यविशेषाच्चमत्कारिवाद्य जनकज्ञानविषयताऽवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युत्त-लक्षयताऽवच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च 'काव्य पठितम् श्रुत काव्यम् बुद्ध काव्यम्' इत्युभयविधव्यवहारदशनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त व्यासज्यवृत्तिः । अत एव वदत्या-देशमयवृत्तित्वप्रतिपादक 'तदधीत इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पनकलि' मडच्छतः ।

अधोत् शब्दभाग को लकन एक काव्य और अर्धभाग को लकर दूसरा काव्य कहलाया, इत्यपत्ति ता का नहा स्तन, कारण ? इत्यपत्ति करने से एक पद्य में होने वाली 'यह एक काव्य है' इने प्रमातृक प्रतापि का उच्छेद हो जायगा । 'वह प्रतीति प्रमातृक नहीं है' यह भी अप नहा वह स्तन, क्यों के जब उत्तरकाल में काप गान नहा होता, तब हम प्रतीति को भ्रम कैम माना जा सकता है ।

१. तथा च 'तदधीत गद्वेदः । किमर्थमुमावप्यर्थो निर्दिश्यते । न दोऽधीन व ल्यमौ । दस्यु वद-धा ऽप्यमौ । नैनवोरपदवक ममावदः । भाति हि कश्चित् सन्धाठं पठति न वति, तथा कश्चिद् वति, न च सन्धाठं पठति ।' इति भाष्यम् । 'यो हि र्थं प्रत्यनधीने, म न स्वरूपताऽनर्थं वति । यं च स्वरूपो वति, सोऽव्ययमर्थान इति भावः । नैनवोरिति—अर्थावबोधो वेदनमभिप्रेतः, न तु स्वरूपमात्र-वदनम् । नच परस्परव्यभिचारदर्शनादुभयोपादानमित्यर्थं सन्धाठमिति—अर्थनिरणयं स्थाप्याय एतन्नर्थः ।' इति च तदन्वयः ।

पर्यवसित निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणभ्येव काव्यलक्षणम्यापि शब्दनिष्ठत्वोचिता ।

लक्षणयाऽन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न द्वौ इतिवन्न तथापत्ति । तेषानुपहसनीय-
काव्यलक्षण प्रकाशोक्त निश्चिद्यम् । एवमाश्वादादौ वैलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि
निर्वाप्रमिति नान्यमतमपि दुष्टमित्युच्यते तर्हस्तु तथा । इत्याचक्षते ।

म० म० गङ्गाधरतारिखणस्तु— 'अनेदगवधेयम् तददोषो शब्दार्थौ' अदोष
शुभम् काव्यम्' इत्यादिषु प्रदर्शिताना दोषाभावगुणालङ्काराणा काव्यसामान्य-
तज्ञगोदृश्यताज्वल्लेखनीतिप्रवेगो नास्त्येव । उद्देश्यता पुन शब्दार्थयोरेव, न तु
शब्दमात्रे, शब्दमात्रे कविसरभ्यगोचरत्वायोगेन लोकोन्मत्तवर्णनानिपुणकविकर्मनामा
अनन्याव्यभिचारेण, कव्युच्चारणकर्मताया शब्दे कविसमवेतरसबोधोपयिकसामग्री-
नङ्घटनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थे मत्वात् । अर्थपदैव वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनि-
विद्यम्यापि विवक्षाया मन्त्रेणालङ्कारिकैस्त्रितयनिरूपणेनावश्यमभ्युपगन्तव्यतया
सर्वविधम्यापि व्यङ्ग्यस्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यत्वस्य दुर्बारात्वात् ।

इत्य च कविकर्तृकरसविषयकज्ञानोपयिकसामग्रीनङ्घटनविषयकज्ञानविषयक
शब्दार्थयोरनुगत काव्यत्वम्, अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य महकारिता' 'अर्थोऽपि
व्यञ्जकत्वेन सहकारितया मत ।' इत्युक्तदिशोभयस्यापि निरुक्तसामग्रीघटकताया
सूपपादत्वान् इत्य न तास्याङ्गाना काव्यत्वापत्ति, तस्य कविकर्तृकरसविषयकज्ञानविषय-
ताना भावान्, विषयान्तरव्याप्तत्वाभावाजिकर्मनसा तद्विषयान्निमुख्यपरिहारपूर्वक
काव्यार्थभावना—प्रवणतासम्पादकत्वेन रसोद्बोध प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि
प्रदर्शितसामग्रीघटकताया अभावाच्च ।

अत एवार्थदोषाणामर्थगुणानामर्थालङ्काराणामर्थसन्निभूलक्षणीना च निरूपण-
गुणपद्ये । नन्दनाश्रम्य काव्यत्वे तद्गतानामेव दोषगुणालङ्कारध्वनीना निरूपण-
स्वीत्रित्येन भूयसामर्थगताना तेषा निरूपणस्याप्रसक्त्या तद्विरूपणत्वोन्मत्तप्रतापत्वा-
पत्ते । न च तेषामुत्तमाद्यन्यमकाव्यपदार्थप्रवेशमात्रेऽपि रसोपयोगितामात्रेण
दिव्यननुपपद्य इति वाच्यम्, काव्याङ्गनिरूपण प्रतिज्ञाय तेषा निरूपणस्यालङ्कारत्वा-
पत्तेर्दुस्समाधानत्वान् । प्रत्युत त्वदापादितप्रकारेण तास्याङ्गाना निरूपणोपताऽऽपत्ते-
त्यन्मन एव दोषत्वान् । एव च 'काव्यं ध्रुतम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि ऋक्त्वादेरर्थ-
शब्दोभयवृत्तितया महामाध्यकारादिनिरुक्तत्वेन 'ऋचं पठति' इत्यादिप्रतीतीनामिद
वाक्यमेव ।

एतेन 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगिता
प्रतिज्ञानात्, स्वयमेवाप्रे—'इत्यप्रत्यभिभेदेन पुन काव्य द्विधा मतम्' इत्यनिवृत्त

इमल्लिखे वेद, ज्ञान, (श्रुति, स्मृति, दर्शन प्रभृति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण
की शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये । अर्थात् शब्दभाव की काव्य मानना चाहिये, शब्द-अर्थ दोनों को
नहीं । यही महामहोपाध 'श्रीगुरुनारायण वाक्यम्', महापद्मकृत 'नापेशभट्ट' और महानरेशोपाध
'हाथरस' ने निम्नलिखित युक्तियों से शब्द-काव्यत्ववाद का खण्डन कर शब्दार्थ-गुणत्व के काव्यत्व

इत्य मम्मटभट्टोक्तकाव्यलक्षणघटक विशेष्यदल निरस्य विशेषणदलमपि निरसितु-
मुपक्रमते—

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवधोऽपि न युक्त, 'उदित मण्डल विधो' इति
काव्ये द्रुत्यभिमारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावा-
दिपरे 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ चाभ्याप्त्यापत्ते ।

पूर्वापरविरोधमप्यनाकलयन् दर्पणग्रन्थोऽपि तज्जातीयो ग्रन्थभ्रित्य एवेति
सहृदया विभावयन्तु ।' इति व्याहरन्ति ।

तदेतद्विखिलनपि समासेन प्रदर्शितमस्माभि साहित्यमीमासाया काव्यलक्षण-
निरूपणप्रसङ्गेन ।

शास्त्र स्मृतिदर्शनादि । एवकारोऽर्थनिष्ठत्व व्यवच्छिनत्ति । इह वक्तव्य प्रागुक्तमेव ।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे । प्रथमेनादिपदेन दोषाभाव मध्यमेन सहचरीप्र-
भृति, चरमेण च बलमासत्तितप्रमुख परामृश्यते । उदित मण्डल विधो इति चन्द्र-
बिम्बकर्तृकोदयक्रियाऽर्थकम् । द्रुत्याद्युदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यं
सहृ यथासहृ यमन्वय । तथा चाभिसरणस्य विधिर्व्यङ्ग्यो द्रुत्या, निषेधोऽभिसारि-
काया, जीवनाभावश्च विरहिण्या 'गतोऽस्तमर्क' इति च सूर्यकर्तृकास्त्राङ्गमनायं-
कम् । अभ्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात् ।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे सगुणत्व सालङ्कारत्व शब्दाद्यर्थोनिवेश्येत, तर्हि उदित
मण्डल विधो' इति वाक्यस्य द्रुत्या नायिका प्रत्यभिहितस्याभिसार कुविनि व्यञ्जक-
तया, अभिसारिकया दूती प्रति कथितस्य तमसा ध्वसादिदानीं कथमभिसरिष्यामि'
इति व्यञ्जकतया, विरहिण्योदीरितस्य 'वियोगवेदनाया बाहुल्येन मम जीवनमधुनाऽऽ-
म्भवि' इति व्यञ्जकतया च काव्यत्वेन सर्वसम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्घातत्व न
स्यादित्यव्याप्ति स्पष्टैव । एव 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्षण्येन तत्त-
दर्थव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याव्यपत्तिरापद्येत । तस्मात्प्र सामा-
न्यलक्षणे गुणालङ्कारनिवेन समुचित । न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि
'म्यक्कारो ह्यमेव मे पदरय' इत्यादिपद्ये तत्तदर्थव्यञ्जकतया ध्वनिकारादिभिरु-
त्तमकाव्यत्वेनाभ्युपगतेऽपि द्विधा विशेषाविमर्शदोषसह्यर्थात् काव्यत्वस्यापि स्याद-
व्याप्तिरिति तात्पर्यम् ।

को स्थिर क्रिया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारमय से यहाँ उन सब दुक्तियों का उल्लेख नहीं करना हूँ ।
विद्यासूत्रों को संस्कृतटीका से उनका ज्ञान करना चाहिये ।

इस तरह मम्मटके लक्षणों में विशेष्य दल का उल्लेख हो चुका, अब विशेषण दल का उल्लेख
करने के लिये लिखते हैं—'उदिते गुणालङ्कार' इत्यादि । मम्मट ने जो काव्यलक्षणा में 'शब्दार्थों'
के साथ सगुण, उल्लङ्कार और अदोष से तीन विशेषण लगाये हैं, वे भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि
गुण और उल्लङ्कार के रखने पर ही काव्य कहलावे, तो 'उदिते मण्डल विधो' (चन्द्रमण्डल उदित
द्रुत्या) और 'गतोऽस्तमर्क' (सूर्य अस्त हुआ) ये सब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के
कारण काव्य नहीं कहे जा सकेंगे । यदि आप पूछें कि—इन वाक्यों को काव्य मानने ही क्यों है ?
इनको काव्य माना ही क्यों, यह जरूरी तो है नहीं, फिर अगर वे वाक्य कहलावें, तो क्या हानि है ?

प्रदीपकरास्तु—'नोरसे स्फुटालङ्कारविरहिण न काव्यम्, यतो रसादिरलङ्कार-
रथ इव चमत्काररेतु । तथा च यत्र रसादीनामवस्थानम्, न तत्र स्फुटालङ्कारा-
पेक्षा । अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कार-
विरहेऽपि छायाऽतिशय पुष्पाति ।' इति, तस्मात् सातङ्कारत्वमात्र न विशेषणम्,
किन्तु स्फुटालङ्काररसान्वतरवत्वम् ।' इत्यथोचन् ।

परे तु गुणालङ्कारयो काव्ये सर्वत्र स्थितिरावश्यकी, तदभावे विच्छित्तिविशेषा-
नाघानात् काव्यत्वमेव दुर्बलम्, तत्कस्य तत्प्रयोज्यत्वात् । अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्ण-
नपराणामितिहासप्रमाणानामपि तेष्वपत्तिः । अत एव 'नहि कवेरिति वृत्तमात्रवर्णनेना-
त्मनाम, इतिहासादेरेव तस्मिन्ने' । इति ध्वनिकारेणाप्युक्तम् । लोकदृष्टान्तस्व-
लौकिके काव्यवस्तुनि सर्वथा नोपयुज्यते । अन्यथा लोकविषया दुःखकारणेष्वपि
काव्ये सुसोत्पत्तिर्नोपपद्येत । 'चिन्मात्रादिनिमित्तकारणनाशेऽपि रसरूपकार्यनाशा-
भावश्च लोकप्रतिकूलो नोपपद्येत । गुणसत्तया रसतत्ताऽप्यवसात् इवैव, व्याप-
कत्वात् । 'नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शीर्षादिमन्तो देशा' इति केनाप्यु-
च्यते' इत्यादि कस्यचिदुक्तित्वाप्रहृतिवन्धनैव, उपपादकदर्शयुतात् । अन्यथा मीमा-
सकाङ्गीकृताऽपत्तिर्विह्वलीभवति । शब्दार्थयोगुणवत्ता तु व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन
'गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दार्थयोर्मता' इत्यभियुक्तोक्ते । निगुणशब्दाद्यथा
काव्यलक्षणाव्याप्तिस्त्विदं, 'अचलस्थितयो गुणा' इत्यभिधानात् । अलङ्कार-
स्वस्फुटोऽपि चमत्कारक, स्फुटान् स्फुटराम्, 'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिता-
ऽननम्' इति प्रतिपादनात् । किञ्च नब्रह्मायं कत्वेन तस्यास्फुटत्वे तस्य च द्विवि-
तप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवमानाददोषत्वमपि काव्यसामान्यलक्षणचटकशब्दार्थ-
विशेषणमुचितमेव । तथाच 'स्यन्कार' इत्यादौ तत्तद्व्यङ्ग्यार्थयोर्नित्यनित्यचमत्कृति-
सम्पादा क्लेशान् विधेयाविमर्शा विवक्षिता रसादिप्रतिष्ठां प्रतिपद्यन्ति तिरोहितशक्तिक-
त्वेन नेष्ट इति तत्र काव्यत्वाव्याप्तेरसम्भव । 'तद्गुणव्यञ्जेव दुष्ट काव्यम्' इत्यादि
व्यवहारविषय 'त्वामनुनासने रुचदुग पनावृतम्' इत्यादौ तु तादृशव्यङ्ग्यव्यञ्ज-
कमत्कारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोधानविरहादकाव्यत्वमिष्टमेव' इत्याहुः ।

इनका उत्तर यह है कि—चमत्कार(1) व्यङ्ग्य अर्थ (जो काव्य का जीवन माना गया है) जन यहाँ है
तब उन चमत्कारों को काव्य कैसे नहीं मानें ? अर्थात्—उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य को जब कोई
दूरी बोलती है, तब 'चौदनी बरत रही है, मार्ग सड़ दिखाई देता है, अब यदि तुम्हो वा मन नहीं,
अब शरीर से तुम अलग करने के लिये सबकेत स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य अर्थ प्राप्त
होता है । उनी वाक्य को अब अभिसारिका रूप बोलती है, तब 'अन्तर्मा के इन प्रत्यक्ष प्रकाश में
संकेत स्थान तक कैसे जानें ? दूर से भी देख कर हाँग मुझे पहचान लेंगे, फिर तो मेरो सब प्रतिष्ठ
निष्ठो में मिथ जायगी यह व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि वह काव्य विरहिणी के मुख से
निकलता है, तब तदीयक इस चन्द्रिका को देखकर विरह-वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा
मरण निश्चिन्त है' यह व्यङ्ग्य विदिन होता है । द्वितीय वाक्य से भी समझ भेदप्रत्युक्त व्यसत्य व्यङ्ग्य
अवगत होते हैं, जैसे धरनाथों को 'अब पाशों को तोको', दूर आने वाले परिशों को 'अब आने नहीं
जाना पादिये' दिल भर धुप में चलते गलों को 'अब तप नहीं है' भासिकों को 'अब सम्झा को

पुत्रराशद्वय समावधानि—

न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वात्तद्धारत्वादे-
रनुगमाच्च । 'दुष्ट काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना साक्षणिकत्वा-
योगाच्च ।

इदम् 'उदितं मण्डलं विधो' इति वाक्यम् । अकाव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात् ।
चमत्कारित्वं चमत्कार ।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारसून्यत्वादव्याप्तिरिष्टंवेति चेत्, भवम्, यतश्च-
मत्कारित्वेव काव्यतायां प्रधानं साधनम् । तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविध-
व्यङ्ग्यमनुवादयदि । तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि पक्षास्त्येवेति कुत काव्यत्वादव्याप्तिः ।
अन्यथा परं प्रकाशकारादिगुणालङ्कारयुक्तत्वाद् यतः किञ्चित् काव्यमित्यङ्गी-
क्रियते, तदस्माभिरपि व्यवस्थापकविरहादकाव्यमित्युच्येत । तस्माच्चमत्कार-
एव प्राधान्येन तत्त्वप्रयोजकपञ्जीकार्यं । इत्थं चमत्कारेतिहास्यनुव्यवसोमगानतयाऽ-
काव्यत्वमस्य वक्तुं न युक्तम् । किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीननवीनमतभेदे-
नानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं न सम्भवतीति वक्ष्ये तस्यो काव्यत्वलक्षणे प्रवेशः स्यात् ।

यदि च रसवृत्तित्वे सति 'रसोपयोगित्वम्' गुणत्वम्, 'शब्दार्थान्यतरवृत्तित्वे सति
परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं चानुगतमित्युच्यते, तर्हि शब्दार्थयोरीहा-
दोषाविति विशेषणाद् दोषामात्र एव काव्यत्वाद 'दुष्ट काव्यम्' इति सर्वजनी-
नव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या । न च 'दुष्ट काव्यम्' इत्यत्र काव्य-
वदस्य गुणालङ्कारमात्रवत्त्वेन काव्यसदृशं शब्दार्थोन्मये लक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्,
काव्यलक्षणे दोषामात्रनिवेशे बलवत्प्रमाणावरहेण मुख्यार्थान्वयबाधनलक्षण-लक्षणा-
कारणवैपुल्येण लक्षणाया अस्मभवात् । अधिविहितं वक्तव्यं तु प्रागुक्तमेव ।

व्यामना करनी साहित्ये' इत्यादि व्यय-व हान होता है । अतः इन वाक्यों को राज्य मानना
आवश्यक है ।

मन्मथ वीरशार महीदय ने यहाँ भी प्राचीनों की विविध युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ
सम्मत-अन्य का सम्मत की है, जिसकी शिंशामुक्त संस्कृत टीका देकर समझें ।

'दुष्ट काव्य' नहीं है' ऐसा आप किन्ती तरह नहीं कह सकते, कारण ! काव्य के जीवानुगत
चमत्कार के रहने पर भा यदि प्रायः उन वाक्यों को काव्य कहा मानेंगे तो आप जिस काव्य मानेंगे,
उसमें भी दुर्गर काव्य मानने के लिये तैयार नहा होंगे । काव्य एतद्वा में गुण और अलङ्कार के
निवेश को अमहत सिद्ध करने का यह भी दूसरा पूर्व प्र कारण है कि—एतत्त्व और अलङ्कार का
अनुगमन नहीं है—अर्थात् आज तक वह निश्चित नहीं हो गया कि गुण और अलङ्कार क्या हैं,
किन्तु 'मिश्र-मिश्र अलङ्कारिक' उनकी मिश्र-मिश्र संख्या मानना है । इस स्थिति में अनुगमक
एतद्वा में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो सत्य अनुगमन (अनिश्चित) है, व दुर्गर को
अनुगत (निश्चित) नहीं बना सकते । यदि आप 'रम में रह कर जो माशान् रम को एतद्वा करे
वह गुण है और जो शब्द अर्थात् अर्थ में रह कर परम्परया रम का लकार करे, वह अलङ्कार है' इस
तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगमन कर दिगार्येण, सब भी 'दोषरहित' करना ही अनुचित है, है,

पर्यन्ते विश्वनाथकृत काव्यलक्षणमाक्षिपति—

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलङ्कार-
प्रधानानां काव्यानां काव्यत्वापत्तेः । न चेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-
कुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णि-
तानि, कपिबालादिवलसितानि च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रस-
स्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'भूमौ धावति' इत्या-
दावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभादानुभावव्यभिचार्यन्यतम-
त्वादिति दिक् ।

वस्तुनस्त्वलङ्काराणामुपसृकारकत्वेऽपि शब्दार्थाव्यतिरेकस्य ध्वनिकाराद्यङ्गी-
वारात् शरीरघटकत्वानुपपत्तिः । समाधानान्तरमपि प्रागुक्तरीत्या विधेयम् ।

रमवद् रमादिव्यञ्जक काव्यमिति शेषः । यस्त्वलङ्कारप्रधानानां प्राधान्येन
वस्तुव्यञ्जकानाम् पण्डित 'ण एत्व' इत्यादीनाम् प्राधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम्
'महिलासहस्रभरिण' इत्यादीनां च अकाव्यत्वापत्तेः रसादिव्यञ्जकत्वाभावात् ।
सम्प्रदाय पारम्परिक समुदाचारः । आकुलीभाव उच्छेदः । तथा चेत्यादिना सम्प्र-
दायस्य प्रदर्शनम् । जलस्य प्रवाहो निपतन नीचगमनम् उत्पतनमुर्ध्वगमनं च ।
कपीना बालानां बालाकानां च वलसितानि क्रीडाश्चेष्टा वा । आदिपदेन पक्षिप्र-
भृतीनां परिग्रहः । तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनेष्वपि । पयाकथञ्चित् परम्परया
स्वन्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकत्वेन । एषा सम्बन्धः । अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन ।
अप्रयोजकत्वात्प्रिफलत्वात् । अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम् ।

रमादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तु-
मात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जनेषु वाक्येष्वव्याप्तिः । तदापत्तेरभ्युपगमे तु प्राचीन-

येनो न्नात्मिक प्रतीति मत्र लोको को होती है, जन' सवोग को अव्याप्यवृत्ति मान्य है, तरन्तू यदि
'यह पय पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं' प्रतीति होना रहनी, तो काव्यत्व को भी
अव्याप्यवृत्ति मान सकते थे, सो दोनों नहीं । अर्थात् अव्याप्यवृत्ति पदार्थ ही एक आधार पर अशभेद
से कहा रहना, कहीं नहीं भी रहना, जैसे, एक संयोग । जो पदार्थ व्याप्यवृत्ति है, (जैसे काव्यत्व) वह
तिल में नेत्र जैसे जब रहेगा, तब संपूर्ण आधार में ही, नहीं ले नहीं नहीं, अर एक दृष्टान्त के
मुगारिक 'दोष-रहित दुष्ट' यह व्यवहार नहीं हो सकता है । एक बात और है—जिमके कारण गुण
तथा अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते । वह यह है कि जिम तरह शरता पर वीरगा
प्रभृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं,
शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर है) में नहीं रह सकते हैं और जिम तरह अलङ्कार (शर आदि)
शरीर को शोभित करने वाली चीजे हैं शरीर के अन्वय नहीं, उगी तरह काव्यालङ्कार, अनुभास,
उत्पत्ति प्रभृति काव्य-शरीर-शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले हैं, उन उसके (शरीरस्थानीय शब्द
अर्थ के) अन्वय नहीं हो सकते हैं ।

अब षण्डिनाराय, दर्पणर विश्वनाथकृत काव्य-लक्षण की षण्डिनारमक समीक्षा करते हैं—'यत्तु'
इत्यादि । 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके अनुसार काव्य में रस का
रहना निरान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहा सकता । परन्तु इनका एक

इत्य काव्यस्य लक्षण निरूप्य कारण निरूपयति—

तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यपटनानुकूलशब्दा-
योपस्थितिः। तद्गत च प्रतिभान्वय काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जाति-
विशेष उपाधिरूप वा खण्डम्।

सम्प्रदायस्योच्छेद । तद्वशात् तेषु विभावाविहारकरतादिगन्धकल्पनाया तु
'गौश्रवति' इत्याद्यन्तकारकवाक्येष्वतिव्याप्ति स्यादिति सारम् ।

इह शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्वय्याकलनीयानि ।

शास्त्रिचरणास्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणस्यमानरत्यादिविषयकसंस्कारोद्बोध-
कताया असावैत्रिकत्वादिय प्रौढि, विशिष्टवाक्यार्थाना रमतात्पर्यकत्वाभावे तत्ता-
मग्रीपटकोद्बोधकताया अभावात् । यत्र त्वस्ति तत्तात्पर्यकत्वम्, तत्राक्षेपादिष्यत एव
विशिष्टबोधजननमुखेन धमत्कारित्वम् । यथाऽऽह—

'मद्भावरवेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ।

अदित्यन्यममासोपे तदा दोषो न विद्यते ॥' इति ।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽप्युक्तरीत्या महावाक्यार्थद्वारा वा रसोद्बोधकत्वस्य
सत्वात् काव्यत्वस्य न क्षति ।' इति व्याजह ।

तस्य काव्यस्य । चस्त्वयं क । कविगता कविसमयेता । केवला तन्मात्रम्, न
तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । प्रतिभा नव-नयोन्मेषरालिनी बुद्धि, 'प्रज्ञा नवाबोन्मेष-

कथन युक्तिमग्न नहीं है। कारण ? यदि उनका कथन मान लिया जाय, तब जिन वाक्यों में
वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक' मात्र सम्मरगति, महिलासहस्र-
भरिने' इत्यादि स्थलों में जहाँ कथन वस्तुव्यवस्था तथा अलङ्कारव्यवस्था का बोध ही चमत्कारक
है—ने सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे । वे सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इत्यादि तो
नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा छद्मपति करने पर महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्याव-
हारिक परम्परा उच्छिन्न हो जायगी । उन लोगों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, धन,
वच्छलन और प्रलय एवं बन्दरी और बालकों की कीर्णों का वर्णन अपने में किया है । क्या अगर
उनको अज्ञान्य कहेंगे ? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अज्ञान्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं
और इनछिन्न काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि वे सब वर्णित पदार्थ किसी न किसी रस
के वर्णन विभाव ही तो रहने, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया । इसका उत्तर पण्डितराज
कहने हैं—वाहो, ऐसा रस-स्पर्श भी क्यों काव्य कहलाने का कारण हो सकता है ? यदि हाँ, तो
फिर 'गौश्चरति, सृगो धावति' (बैल चलता है, सृग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य
कहलाने ? जब कि किसी तरह रसमय यहाँ भी हो सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत
की मानी वस्तुएँ विभाव-अनुभाव अथवा व्यञ्जितारिभाव ही मकनी हैं, फिर तो दुनिया के सभी
वाक्य काव्य कहलाने लग जायँ । अतः रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिमग्न नहीं ।
म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने यहाँ भी पण्डितराज के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारद्वैती
संस्कृत टीका में देखनी चाहिये ।

पूर्वोक्त रीति से काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद पण्डितराज काव्यछात्रण का निर्देश करते
हैं—'तस्य च कारणम्' इत्यादि । मध्यम भादि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति' नियुक्ता और

शान्तिनी प्रतिभो' ते ।' इति प्राच्योक्ते सा प्रतिभा । काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य जनक र शब्दाद्यर्थोपस्य उपस्थिति स्मृतिर्इति स्फूर्तिरिति यावत् । अनुकूलत्वान्तमुप' । यतिविशेषण वा । तद्गत प्रतिभानिष्ठम् । स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यप्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्मकानुकूलतर्कमूलकात् 'स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यत्वावच्छिन्नवार्थानिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतिभानिष्ठा कारणता विशिद्धमविच्छिन्ना, कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरूपितदण्डनिष्ठकारणतावत् इत्यनुमानात् पिड प्रमाणित, 'नित्यत्वे सत्पनेकमधेतत्त्वम्' इति जानिलक्षणसमव्याज्य जाति २ । उपाधित्वस्य त्यागे जातित्वस्य चाङ्गीकारे तत्र बीजानुगलम्भाधोलघटत्ववत् सखण्डोपाधिरूप वा प्रतिभात्वम् । तस्य च नवनवोन्मेषशालित्ववैशिष्ट्यादखण्डत्वासम्भवाद् 'खण्डम्' इति पाठस्त्वसङ्गत एव ।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्व तु न विचारसहम्, अनुपहसनीयकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया दण्डचक्रादित्यायेन प्रत्येक प्रतिभाप्रभृतिषु द्विविधे स्वीकारस्यापरिहार्यत्वात् । तथा चाहु शास्त्रिण—अत्र प्रतिभा कारण तत्र व्युत्पत्तस्तु विभूषणम् । भृगोत्पत्तिकृदभ्यास ॥' इति क्रमेण विशिष्टकाव्य प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटवतावाव एवोपपन्न । शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च । आद्यया पदसङ्घातस्य योजनेऽपि द्वितीयस्या अभावे विनेयसमवेतविलक्षणवाक्यसार्थधियाऽगम्यत्वेन लोकोत्तरवर्णनानुपुण्यस्य कविगतभ्यामावाद् विशिष्टकविकर्मतायास्तत्त्वत्व एव सम्भवात् । तत्र द्वितीयैव निपुणता नाम । अभ्यासो लोकोत्तरत्व प्रत्येवोपमुग्यते । तथा च लोकोत्तरवर्णनानुपुणताविशिष्टकविपरिष्कृत काव्य प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वमुचितमेव ।' इति ।

अन्वय' इन शीनों को काव्य के प्रति कारण माना है । परन्तु अस्मिन् राजेसा नहीं मानने, के करने है—बेकल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा कहने है—वाक्यनिर्माण के लिए जो शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनमें वाक्य निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति से, अर्थात् काव्यनिर्माण के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल उमका हमरण हो जाना प्रतिभा है । श्लोककार ने भी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कही है । प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व एव जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातें समझनी चाहिये—जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किन्ती किन्ती जाति की सिद्धि अनुगताकार (एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब पदों में होने वाली 'घट घट' इन तरह का प्रकार आकार प्रतीति से होती है और किन्ती-किन्ती जाति की सिद्धि अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति का । अब हमें यह पार करना है कि प्रसङ्गगत प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी ? उत्तर यह है कि अनुमान से अर्थात् रस (वाक्य) विषयकज्ञान-समवायित्व-सम्बन्ध से काव्य के प्रति समवाय सम्बन्ध से प्रतिभा कारण है, इन सर्वकारण भाव के सिद्ध हो जाने पर तत्काल अनुमान (जिसका आकार संस्कृत शीरा में लिखित है) प्रतिभात्व जाति की सिद्धि होगी । आशय यह है कि सभी कारणतार्थ्य किन्ती न किन्ती धर्म से अविच्छिन्न हुआ करता है, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किन्ती धर्म से अविच्छिन्न अवश्य होगी और वह

काव्यकारणीभूताया प्रतिभाया कारणमाह—

तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणन्युत्पत्तिः काव्यकरणाभ्यासौ ।

इदं पुनरिहावगन्तव्यम्—केचन मनसि सदा सुममाद्यनि विस्फुरणमनेकधाऽ-
मिधेयस्य । अक्लिष्टानि पदानि च विमान्ति यस्यामसौ शक्तिः । इत्यभिपुत्कोक्तं
शक्तिशब्दव्यपदेश्य कवित्वबीजभूत भावनामय वासनास्वरूप वा देवताप्रसादादिजन्य
संस्कारविशेष काव्यकारणीभूतप्रतिभात्वेनोत्पद्यन्ते । तथा च प्रणिधानसहकृत
चेनसि यो झटित्पदबुद्ध्यते क्लिष्टपदपदार्थगोचर संस्कार सा प्रतिभा विद्वदादि-
पदप्रवृत्तिनिमित्तम् । इति तदीयमाख्यानम् ।

परे तु—असौ कविरमु विषय घटयत्विति सारस्वतेच्छास्वरूप देवताप्रसादमेव
शक्तिमभिधाय तत्त्वेनाभिदधते । अपरे तु देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्यु-
पगत्य कवित्वस्य निमित्ततयाऽचक्षते ।

तत्र नाद्य पञ्च क्षोदक्षम संस्कारस्य तादृश्यस्मृत्यात्मकस्फूर्तिभावजनकत्वेन
काव्य प्रत्यजनकत्वान् प्रज्ञा नवनवान्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते इति कोशानुयासन-
विरोधाच्च । न वा द्वितीय, तादृशदेवतेच्छाया कालादिवत्साधारणकारणत्वना-
साधारणकारणतया परिगणनानुपपत्तेः । नापि तृतीय, कार्यमात्र प्रत्यदृष्टस्यापि
साधारणकारणताया एव सवसम्मत्तत्वात्, अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाण-
त्वेन काव्य प्रत्यययासिद्धेर्द्वारत्वाच्च ।

तन्मादुल्लिखितवासनाहाव्यन वाव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकझटितिस्फूर्तिवपुषु
बुद्धिविशेषमेव प्रतिभापदार्थ काव्यजनकतया निश्चिन्वन्त्यवाच्य ।

तरया प्रतिभाया क्वचित्तु सत्त्वं । महापुरुषा विपुलतपोमाहात्मनाज निद-
पुरुषप्रसादोऽनुग्रह इत्यनर्थान्तरम् । आदिपदेनाप्रतपस्याप्रभृते परिग्रह । अदृष्ट
पुष्यम् । विलक्षणा नानाविधनोक्तवृत्त-सास्त्र-काव्यतिहासप्रभृतिपर्यायाचनप्रसूता,
व्युत्पत्तिनिपुणता विनिष्टज्ञानमिति यावत् । विलक्षण काव्यज्ञसिद्धाप्रयोज्य ।
काव्यस्य करणे निर्माणेऽभ्यास पौनपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति शय ।

कस्यचिद् देवताऽऽदिप्रसादजयादृष्टत्वं, कस्यचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवो-
त्पादिना प्रतिभा काव्य जनयतीति सारम् ।

धर्म प्रतिभात्व मे अनिर्दिष्ट हो नहीं सक्ता । यद्यपि यहाँ भा यह शब्द दक्षिण की जा सकता है
कि—उक्त अनुमान मे जिन प्रतिभात्व की सिद्ध हुई, वह जतिरूप है, धर्ममात्र नहीं इनमें क्या
प्रमाण ? इनका उत्तर यह है कि उन प्रतिभात्व की धर्ममात्र मानने से उम्मा अनन्त धर्म, अनन्त
भाग्यम और अनन्त सुख मानने पड़ेगे, क्योंकि धर्मरूप में वह प्रतिभात्व अनित्य ही होगा । इसी
गौरव के सब से प्रतिभात्व को नित्य ज्ञान मान लने है, ऐसा मान लने से कोई क्षणि हुई ही नहीं
और लक्षण हुआ, भी लाभ अलग । अथवा प्रतिभात्व को जानि न मान कर नैतदर्थक के ऐसे
मन्त्र उपाधि ही मान लें ।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का क्या कारण है, इसका अब विचार करना है—‘तस्याश्च हेतुः’
इत्यदि । प्रतिभा के कारण दो हैं—एक तो, किनी देवता अथवा किनी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता

अदृष्टादीनां स्वातन्त्र्येण प्रतिभा प्रति कारणत्व व्यवस्थापयति—

न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः ।
दक्षितस्य व्यभिचारस्य कारणमागद्बुध निरस्यति—

न च तत्र तयोजन्मान्तरीययो कल्पन वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात्
कायस्यान्यथाऽप्युपपत्तेश्च ।

त्रयमदृष्ट व्युत्पत्तिरम्यासञ्च कारणमिति शेषः । तौ व्युत्पत्त्यभ्यासां । प्रसादपद
तज्जन्यादृष्टपरम् । प्रतिभोत्पत्तेर्दशनादिति शेषः ।

अप भाव —प्रतिभात्वावच्छिन्न प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमणि-
न्यायेनैव कारणता अन्यथा कर्णपूरप्रभृतीनां बाल्य एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रति-
भोत्पत्तेर्दशनाद् व्यभिचार स्यात् । पृथक्कारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककोटावव्यवहितो-
त्तरत्वविधेसेन व्यभिचारो वाग्योयः ।

नागेशमट्टास्तु— विलक्षणचितयज्जन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्य वाच्य
चातिविलक्षणमवेति न दोगः इति वदन्ति ।

तत्र महापुरुषादिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तिस्थले । तपोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः । तस्मि-
न्नेव बालेऽन्यस्मिन्नङ्गमनि विद्यमानयोः । कल्पनमनुमानम् । न चेति वाच्यमित्यनेनानु-
पक्तम् । गौरव तादृशानुमानविधानेन । मानाभावस्तत्पितृत्वस्य समुदितस्य कारण-
तायाम् । कार्यस्य प्रतिभायाः । अन्यथाऽपि केवलादृष्टेनापि ।

से उत्पन्न माय्यशेष और दूसरा—विलक्षण (विविध लोकाचार, शास्त्र, वाच्य इतिहास, इभृति के
पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निष्पन्न विशिष्ट ध्यान) और पुनः पुनः वाच्य बनाने का
अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से मननबोनेपरालिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा
उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, जैसा ही प्रतिभाओं
का कार्य यह होता है कि वाच्यपारा प्रसाहित हो उठती है—एक प्रतिभामन्त्र व्यक्ति का वाच्य-निर्माण
करने में सफल सिद्ध होता है ।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण है, सम्मिलित नहीं, इसी
बाब को शक्ति से स्पष्ट करने हैं—'न तु त्रयमेव' इत्यादि । कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति,
अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करने हैं, देसी बात नहीं है, अपितु पूर्वोक्त रीति से
वहाँ अदृष्ट स्वतन्त्र तथा प्रतिभा का उत्पन्नक होता है, और वहाँ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर
प्रतिभा को सृष्टि करते हैं । यदि तानों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक
में महापुरुषों के कृपामात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है, (कवि कर्णपूर के विषय में हम
इस तरह की विवरणें हैं) वहाँ एक कार्यकारणभाव व्यभिचारित ही जायगा, अर्थात् जिस कच्चे ने
कभी व्युत्पत्ति नहीं बनाई, अभ्यास नहीं किया फिर भी हममें बेटल महापुरुष कृपा से प्रतिभा उत्पन्न
हो गई, हममें सम्मिलित कारणतादी के विचार से धारण के बिना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार
कहते हैं ।

अदृष्ट आदि समुचित कारणतादी द्वारा एक व्यभिचार-धारण के लिये उपस्थित किये गये
समाधान का स्थान बन है—'न च तत्र तपो' इत्यादि । जहाँ वहाँ ऊपरके व्युत्पत्ति-अभ्यास

१. पद्यार्थसम्बन्ध मुख्य कार्यस्य मुक्ते प्रथम श्रीकृत्यैव नान्येनाङ्गवत्प्रवेस्य मयो विलक्षण
व्यभिचारित्यभिचारित्येति जनश्रुतिः ।

उत्तरपक्षस्वाशय विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पञ्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारण धर्माधर्मादि कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते ।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीय तन्मङ्गलमनुमीयते तथैव कविकर्णपुरादिवालेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यन्यासयोर्विरहेऽपि प्रतिमोत्पत्तिदर्शनाज्जन्मान्तरीया व्युत्पत्त्यन्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात् त्रयाणा समुदिताना कारणताया सिद्धिरिति पूर्वपक्षाय ।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यन्यासयोर्विहानुमितौ गौरवम् । तथा मङ्गलसमाप्त्यो कार्यकारणभाव प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र क्वचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानमार सौदृश्यो भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणाभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव । किञ्च यदि व्युत्पत्त्यन्यासो विनाऽऽप्युत्पात्त क्वचिदपि प्रतिभा नोन्यद्येत, तदैवानाप्या तत्कल्पनमौचित्यो च्यन्देत् । न तु तथा, प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । एतावदेव कार्यानुपपत्तिरेवात्र मानमित्यपि न वक्तुं शक्यम् । तस्मान् कुतो व्युत्पत्त्यन्यासयोर्विह कल्पना, कथं वा समुदिताना त्रयाणा कारणतेत्युत्तरपक्षस्य तात्पर्यम् ।

लोके मन्त्रेण प्रकृतेरस्यतेषु । आगम श्रुति तदावयव स्मृतीनिहासप्रभृतय । प्रमाणस्य बलवत्त्व श्रुत्यादिरूपत्वात् । अन्यथा बलघत्तरश्रुत्यादिप्रमाणहेतुक कारणतानिर्णयाभावे तु । पूर्ववृत्ते प्राग्जाते कारणताया निर्णये निश्चयात्मनज्ञान । भ्रमत्वस्य प्रतिपत्ति प्रतीति । एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यानाद्यकार्य सूचयति ।

के दिना अष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होनी बीजनी है, वहाँ भी अष्टमात्र से प्रतिभा नहीं हुई है, अरिपु अष्ट, व्युत्पत्ति, अन्ध्याम इन तीनों से ही क्यपि हमने इन जन्म में व्युत्पत्ति तथा अन्ध्याम नहीं किये, तथापि जन्मान्तर [पूर्वजन्म] में अवश्य किये हीये, ऐसी कथना करेंगे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मत व्युत्पत्ति तथा अन्ध्याम को सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति-सामग्री को जुड़ने में गौरव होगा । दूसरी बात यह कि—इन तीनों को मन्त्रलिख रूप में प्रतिभा के प्रति कारण मानने में प्रमाण नहीं है । यदि आप कहें कि प्रमाण है क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण दिना माने कार्य होता नहीं, अतः तीनों को कारण मानिये ! परन्तु यह दडोले भी सहत नहीं, कारण ? जब अष्टमात्र से कार्य होने देखने है, तब कार्यानुपपत्तिप्रमाण का यहाँ भ्रमसर हो नहीं है ।

बहुत बर्तों का हा पष्टकारण करने है—'लोके हि' इत्यादि । नास्तिक ग्रन्थों में मन्त्र के दिना समाप्ति हो जाने से अस्तित्व व्यभिचार-वारण के लिये जैसे आपापी ने जन्मान्तरीय मन्त्र की कथना करने में होने का गौरव को स्पष्ट माना है, वही तरह वहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति एवम् अन्ध्याम को कथना करने में जो गौरव होगा, वन्की सहना चाहिये । हाँ, दुःख तो अपने खोज निश्चला परन्तु वहाँ वह टागू नहीं हो सकना क्योंकि वेदादि प्रकृत प्रमाणों से जब किसी कार्य के

तत्र मतान्तर निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तश्चिन् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवत् कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायां प्रादुर्भावस्य दर्शनान् ।

यदि श्रुत्यादिप्रमाणं वायनारणमावेष्टव्यधारिते क्वचिद् व्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवारणाय जन्मान्तरीयवारणानुमान-विधानगौरवमगत्या मृष्यत । तादृशप्रमाणविरहे तु तादृशकार्यकारणभावज्ञानस्यैव भ्रमात्मकत्वमङ्गीक्रियत इति सम्प्रदायः । प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमितिरिति भावः ।

नापीति वदितुं शक्यमित्यनेनावेति । केवलपद स्पष्टार्थम्, एववारोपादानात् । कारणं प्रतिभा प्रतीति शेषः । अदृष्टं पुण्यम् पापस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपि प्रागुक्त-पक्षस्य समुच्चायकः । काव्यकरणेऽतिव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेण प्रतिभानुदयात् । कथमपि केनापि तादृशविद्वदविरतसहवासादिना प्रकारेण । व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतीरिति शेषः ।

अदृष्टाभावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरपलम्भेन व्यभिचारात् सर्वा प्रतिभा प्रत्यदृष्टमेव कारणम् किन्तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । किञ्च यदादृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः प्रागपि वदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्यं जनयदित्यभिप्रायः ।

प्रति कोई वारा निश्चिन ह। चुरा रहता ह भाँ केन। स्वल वेशिष पर उम वायनारण भाव में व्यभिचार (राता ३) बिना भी कार्य हो जाता वा वारा के रहने पर भा कार्य वा न होना), उपस्थित होता है तब अस्या (कथों के वदादि मिया नहा ह मत्।) जन्मान्तरीय वारा की कथना की जाती है, परन्तु जहाँ वदादि प्रमाण का कारणभाव निश्चिन नहा हुआ है किञ्च मय इस अर्थ पर प्रकार के व्यवहार भाव को मान देँ ह, वहाँ यदि पाठे बिना जगह व्यभिचार आपनेव होता है, तब वहा मगता जाता है कि इस लोको वा कार्यकारणभावज्ञान सही नहीं था, भ्रम वा अज्ञान 'महल समाप्ति के प्रति कारण' केना कार्यकारणभाव वदनादि, अतः नाभेदरूप्य में व्यभिचार ही ही देरकर नाभिरु-वृत्त-जन्मान्तरस्य महल का वचना का जाती है, यहा तो प्रतिभा प्रति अदृष्टदि-श्रितय की कारणता वेदादिबोधित नहीं अपितु मर्यादित है, अतः इस जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति, अभ्यास की कथना नहा की जा सकती है वरन् समुचित कारणताज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में अमर्याद है, यही माना जायगा ।

अब अदृष्टभाव कारणतावाद का निराकरण करना है—'नापि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास ही पृथक् कारण मानने की आवश्यकता हो क्या है ? अदृष्टभाव की तब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो मो भा ठीक नहीं, कारण ? कतिपय मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो बहुत बाल तक काव्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है, वे काव्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् वहा अदृष्ट के अन्त में भी वरन् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अब उन दोनों का भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है ।

नराप्यागङ्गा खण्डयति—

तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्या तभ्याः प्रसक्ते ।

भूगोत्राभिनिवेगिनो मतमुपन्यस्य निरस्यति—

न च तत्र प्रतिभाया प्रतिबन्धकमदृष्टान्तर कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशाने-
कस्य तगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्वचिद्व्युत्पत्त्यभ्यामयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने
लाभवात् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी ।

तत्रापि किञ्चिन्कालानन्तरोपप्रव्युत्पत्त्यभ्यासोत्तरजायमानप्रतिभोत्पत्तावाप ।
अदृष्टस्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेष । ताभ्या व्युत्पत्त्यभ्यामाभ्याम् । तस्या
प्रतिभाया । प्रसक्तेरुपस्थापते ।

ननु तादृशस्यै तत्र पुरेणदृष्ट निष्कल्येवेति तेनैव प्रतिभा जल्पते न तु व्युत्पत्त्य-
भ्यामाभ्यामिति चेत्, तदादृष्टस्य तत्र जन्मन प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यामा-
त्यत्ते पूर्वमपि प्रतिभोत्पत्तिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्व दुर्बलमेवेति तात्पर्यम् ।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुपक्तम् । तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राक्कालिकादृष्टहेतुकप्रतिभो-
त्पत्ती । अदृष्टान्तरमन्यदृष्ट पापरूपम् । कल्प्य प्रतिभाजुत्पत्तोरनुमेयम्, प्रत्यक्षविषय-
त्वान् । एकमदृष्ट प्रतिभोत्पत्ती माद्यकम्, अपर च द्वाद्यकमित्यदृष्टद्वयम् । व्युत्पत्त्य-
भ्यामयो क्लृप्तत्वे च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन । एवमदृष्टद्वयकल्पनाव्यावृत्ति-
पर । माद्यकत्वव पक्षे प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनामावात् । प्रागुक्ता सरणि क्वचि-
ददृष्ट क्वचित्त्व व्युत्पत्त्यभ्यासो प्रतिभाया कारणमित्येव स्वीकारात् ज्यायसी श्रेया
दोषवैधुर्वात् ।

तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासत प्राक् प्रतिभाया उत्पादनादृष्टस्य मत्त्वमिति प्रतिबन्धका-
दृष्टस्य मत्त्वान्न तद्व्युत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि तर्हीनादृष्ट-तत्रप्रतिबन्धकत्वना कल्पनागौर-
वमेव द्यगम् । मत्त्वान्तरे तु व्युत्पत्त्यभ्यासो पुन कृत्वावेव, तद्वेनुता केवल कल्पना-
येति लाभवम् । तन्मादृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारगिननिव्यादेन पृथगेव प्रतिभा
प्रति कारणत्वमिति प्रागुक्तमेव युक्तमिति मारम् ।

उदि अत कह कि अष्ट से अष्ट ही है वह दुर्भोग्य का योग नहीं, फिर वहा (वहा आर
व्युत्पत्ति, अन्वयमात्र प्रतीति का मान है) अष्ट नहीं है इनमें क्या प्रमाण ? मैं कहूंगा कि वहा
मा अष्ट है, हमने प्रमाण देखा होता है, तो यह दर्शाए भी पुनः पुनः नहीं, क्योंकि यदि वहाँ
अष्ट वा और उपायों प्रतिभा वद्वय हुई, तो व्युत्पत्ति तथा अन्वय में परस्पर नहीं वह अष्ट
प्रतिभा को क्यों पैदा कर देता ? अष्ट तथा अन्वय में पूर्व व क्यों कल्प बनाये में अन्वय
रहे ? अर्थात् 'तद्विना न हि यो पदनन्तर' के हितव में व्युत्पत्त्यभ्यास प्रयुक्त ही वह प्रतिभोत्पत्ति
माननी रहेगी ।

वदि आप कहें कि जिन मनुष्य में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देखने में आता है, उनमें पहले
कोई दुःख अष्ट था, जिसने प्रतिभा का वद्वय को कुछ दिनों के लिये रोक रखा था, किन्तु तब
उन दुःख के होने पर शुभ अष्ट ने अपना काम किया, प्रतिभा वद्वय हुई, इन तरह अष्ट माद्य
को प्रतिभा के इति कारण मानने में कोई आरति नहीं और परन्तु, सर्व व्युत्पत्ति तथा अन्वय को
कारण को शेष में पुनः पुनः से क्या लाभ ? इतना अगर यह है कि—व्युत्पत्ति तथा अन्वय होने पर
३ २० ग०

नयेवमन्यदृष्टमात्रोत्पन्नप्रतिभास्यले व्युत्पत्त्यभ्यासरूपनरदारणामाद्येऽपि प्रतिभा-
लक्षणकार्योत्पत्तिदगंनाद व्यतिरेकव्यभिचार म्यादेवेत्यत ब्राह्—

सादृशादृष्टस्य सादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागत वैलक्षण्य कायताऽव-
च्छेदकम्, अतो न व्यभिचार ।

नन्वयापि मिश्रयोर्द्वयो प्रतिभयोर्द्वौ काव्ये प्रति पृथक्कारणत्वे मिथो व्यभिचार
आपत्तेदेवेत्याचष्टे—

प्रतिभात्व च कविताया कारणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा
विलक्षणकाव्य प्रतीति नात्रापि स* ।

प्रतिभावृत्तिवैलक्षण्यमदृष्टाव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्व व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्त-
रोत्पद्यमानत्व च ।

अदृष्टाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्न प्रत्यदृष्ट कारणम् व्युत्पत्त्य-
भ्यासाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्न प्रति तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति
कार्यताऽवच्छेदककोटाव्यवहितोत्तरत्वनिवेशाददृष्टोत्पन्नप्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न
कारणमिति व्युत्पत्त्यभ्यासयोरनाद्येऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार
इत्यभिप्रेद्यते ।

अत्रापि द्वितीयपरिमत प्रतिभाकाव्यकार्यकारणभावेऽपि । स व्यभिचार* ।

प्रतिभात्व हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतयैव सिद्धमत
काव्य प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्याकारणैव कार्यकारणभाव । तथा सति
यदि व्यभिचार आपद्यते तर्हि पूर्वोक्त वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकाव्य प्रति विलक्ष-
णप्रतिभा कारणमित्येव निरोधाकारेण कार्यकारणभावगतमन्य व्यभिचारो वारणीय
इत्याकृतम् ।

ही काव्य बनाने का प्राय अधिक हीत है, इसलिये अनेक जगहों पर दो-दो (अर्धे अर भुरे)
अदृष्ट मानने की अपेक्षा प्रतिभत्वत्ति को रोक देने वाले दुरदृष्ट के नाश करने के लिये आप जिन
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करते हैं—जिनके आशय से प्रतिबन्धक दुरदृष्ट नष्ट हो जाता
है, उन्हीं (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अदृष्ट को
हटाने के लिये जब आपनों भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब एक
प्रतिभेत्याव अदृष्ट और एक प्रतिभेत्यत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट इन दो-दो अदृष्टों को मान कर स्वयं
गौरव भार को होने से क्या लाभ ? अन पूर्वोक्त मार्ग (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास
को पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है ।

अब यहाँ यह सझा उठनी है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अदृष्ट को अदृष्ट और व्युत्पत्ति-अभ्यास
को अदृष्ट कारण कहने हैं—अर्थात् दो कार्यकारण भाव मानने हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में
व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अदृष्ट के बिना
व्युत्पत्ति-अभ्यास से और वनने बिना अदृष्ट से प्रतिभा होगी । दूसरा उक्त यह है कि—अदृष्ट के
बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अदृष्ट और व्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति
व्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही मेरा अनोठ—अर्थात् जैसे कारण दो है, वैसे कार्य भी दो हा
ये, एक नहीं, अन व्यभिचार की सझा समाप्त हो गई ।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यभिचारमापाद्यापनुदति—

न च मतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति तन्वान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशदलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वान् ।

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठ वैलक्षण्यमदृष्टासहकृतमेव वक्तव्यम् तच्चात्र तयोरस्त्येवेति कुतो व्यभिचार इत्यस्त्वे पक्षान्तरमुपादत्ते ।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः ।

इह विकल्पार्थक—वाशब्दोपादानेन कल्पद्वयमुपस्थाप्यते । तत्र प्रथमं कल्प प्रसङ्गादेवोपात्त प्रकृतानुपयोगित्वात् । यद्वा सामान्यरूपेण कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव ययोविशेषेण कार्यकारणभाव तयो सामान्येनापि इति न्यायात् ।

कारणतात्त्वेऽपि कार्याभावो ह्यन्वयव्यभिचारः स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणतात्त्वेऽपि प्रतिभारूपकार्यानुत्पत्तेः प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठ वैलक्षण्यकार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि तच्च वैलक्षण्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासयोपदि स्यात् तदा प्रतिभा ज्ञायतैव न जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभावावतोऽव्युत्पत्त्यभ्यासयोरत्रोदासीनतया न तन्त्वचे प्रतिभाऽनुदयस्य व्यभिचाररूपत्वाभावादिति भावः ।

अथ कहने है कि—अच्छा भाई, यहाँ तो आपने व्यभिचार-रूप में निष्ठ हुआ, परन्तु अब तो वरत की (अदृश्यत्व और द्रुत्यत्व-अभ्यासत्व) प्रतिभा में काव्यरूप एक कार्य होगा, तब फिर वह व्यभिचार उपस्थित हो जायगा। यहाँ समाधान दो प्रकार से हो सकता है—? एक तो यह कि जैसे काव्यरूप कार्य एक मानत है, वैसे प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृश्यत्व तथा द्रुत्यत्व-अभ्यासत्व विशेष नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेग किन्तु एक आशय यह हुआ कि काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी? किमसे बना? इस प्रश्न का आपसगत नहीं, भव प्रतिभाओं में कार्य (काव्य) एक ही होगा। २ दूसरा समाधान पूर्वोक्त रीति में कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृश्य प्रतिभा के बाद होने वाले विच्छेद काव्य के प्रति अदृश्य प्रतिभा और द्रुत्यत्व-अभ्यासत्व प्रतिभा के बाद होने वाले विच्छेद काव्य के प्रति द्रुत्यत्व-अभ्यासत्व प्रतिभा को कारण मान लेंगे में व्यभिचार की सम्भावना जाती रहनी।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचारणीय यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर द्रुत्यत्व और अभ्यास करने रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने की सामर्थ्य उनको अपूर्ण हो रह गई। अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ? और जब किसी भी हेतु में कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब केवल व्यभिचार क्यों नहीं हुआ? उत्तर दोनों का एक है कि—विच्छेद द्रुत्यत्व अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर अब जहाँ सामान्यत्व हमके रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखने, वहाँ सम्माना चाहिये कि हम द्रुत्यत्व-अभ्यास में वह विच्छेदता नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यभिचार कैसा?

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टामावस्य कारणताकल्पनादेव गौरवमित्यत आह—
प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादिनयहेतुतावादिन शक्ति-
मात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा ।

हेतुप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रव्ययति—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभि कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहिता-
नेकप्रबन्धस्यापि कवे काव्यानुदयस्य दशानात् ।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासत प्रतिभोत्वत्तौ । पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य । दोषो
व्यभिचारः ।

सत्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावादेव
न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति तान्वयव्यभिचार इति भावः ।

अत्रिशिष्टा तुल्या ।

प्रतिबन्धकादृष्टामावस्य कारणत्वकल्पनं न तथोक्तं यन्मे गौरवाय कल्पेत, अपि
तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासाना समुदिताना कारणत्व वदद्भिर्भवद्भिरपि कल्पतीयमेव प्रति-
बन्धकसमर्गभावस्य कायमात्र प्रति कारणताया सर्वमिद्वान्तसिद्धत्वादित्याशयः ।

कवेर्विहितेत्यादिविशेषण प्रतिभाऽऽदिकारणनमवधानप्रत्यायकम् ।

यत्रानेकवाच्यानि रचितवतीरपि कवे श्रद्ध प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेण
कियतो दिवसान् यावद् वाच स्तम्भन करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि वाच्यं तदा
नात्यद्यते, कवित्वप्रतिभाप्रभृतिकारणाना मद्भावेरपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य
सत्त्वादिनीहापि यदि प्रतिबन्धकमन्निधानात् कार्यं न जायते तर्हि न किञ्चिद्दुस्त-
मित्यभिप्रायः ।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-त-नेलक्ष्य वा निर्वचन अममभू है, अत पशानर कहने है—'पाप-
विशेषस्य इत्यादि । कःने वा आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न
नहीं हो तो, बहा कोई विदिष्ट प्रकार का पाप (दुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक भा, अत कारण विशेष
(व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई ।

यदि आप कहें कि—एत तरह प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा,
ता इतना उपर पण्डितराज यह देने है कि यह गौरव भुझ हा नहीं नवको महता पदता है क्योंकि
प्रतिबन्धकाभावकी बह्यमात्र वे प्रति सामान्य कारण माना गया है, अत यह गौरव, शक्ति तानो
इवदृष्टे कारण मानने वाले मन्मत वे मत में भी दुनितार हा है ।

इत्यादि समुदित हतुतावादी के मत में भी प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक
होगा ? इतना स्पष्टकरण वान है—'प्रतिवादिना' इत्यादि । ऐसा देखने में आता है कि ज पूरे
प्रतिभाशान्त है, अनेक उद्यम वाच्य बनाकर कवि वे प्रतिष्ठित पर पर अभिषिक्त हा चुना है, वह
भो तब कुछ काल के लिये वाच्य बनाने में अमममर्थ हो जाता है, जर कोई तांशिक प्रतिवादी उगता
वाणे को मन्ववत् से स्तम्भित कर देता है, अब मोभिये कि ऐसा क्यों होता है ? प्रतिभा उत्पन्न है
ही, फिर उत्पन्ने प्रथम क्यों नहीं बनता ? अगत्या प्रतिवादिदृष्ट-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना
पडेगा, अत प्रतिबन्धक सामान्याभाव की कारणता बरे मत (प्रतिभामात्र वाच्य के प्रति कारण है,
इम पशु) में और आपके मत (सत्त्वादि समुदित बरररतावाद) में भी अदत्तमिद है ।

इत्य काव्यस्य कारण निरूप्य प्रकारान् व्याहरति—

तद्योत्तमोत्तमोत्तममध्यमाद्यमभेदाच्चतुर्धा ।

तत्र प्रथम प्रकार सूत्रेण लक्षणवि—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

लक्षणघटकपदद्वयमभिदधाति—

कमपीति—चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोनिरामम् । अपराङ्ग-
वाच्यमिच्छयङ्गव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्धारणान्न—गुणीभावितात्माना-
विति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्याभिप्रायकम् ।

तत् काव्यम् उत्तनात्तमम् उत्तमम्, मध्यमम् अद्यम चति चतुर्विधमित्यं ।

यत्र काव्ये, शब्दा वाचक, ज्या वाच्यञ्च गुणीभावितात्मानौ व्यङ्ग्यप्रापिषदाऽ-
प्रधानोक्तस्वल्पी कमपि चमत्कारातिपदाधानेनानिर्द्वन्द्वनीय प्रधानमदम् अभिव्यङ्क्तौ
व्यञ्जनया बोधयत, तत् काव्यमाद्यमुत्तमोत्तम भवतीत्यय । एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैर-
मिहितम् ।

तथा च ध्वनिग्रन्थ —

‘यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थमुपमर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्क्त, काव्यविशेष स ध्वनिरिति मूरिभिः कथित ॥’ इति ।

भूमिराश्रमस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदमनुन्दरव्यङ्ग्यस्याप्युपलक्षणम् । निरासी
व्यावृत्ति । अपरादिपदञ्च मन्दिग्धप्राधान्य—सुन्दरप्राधान्य—वाचवाश्लिष्टव्यङ्ग्यप्राधान्य-
प्युपसप्राहकम् । इति विशेष्यतापस्थापक, तद्विशेषणमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् ।
स्वगद्योव्यञ्जकप्राप्ती । गुणीभावितेत्यादिविशेषणेनाप्यतिगूढव्यङ्ग्यप्राधान्यादीना निरास
सम्भवतीति सूचयितुं द्वयो सहैवास्ति ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराष्टकेऽप्य लक्षणस्य नानिव्याप्ति, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुट-
व्यङ्ग्यप्रा—मुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाशयकत्वात्, तेषु ततोऽवशिष्टेषु
च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दापिषदा प्राधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु
कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारजनकत्वान्न प्रथमाद्येनैव निर्वाह इत्याशयम् ।

इत नरह से काव्यरत्न के निरूपण कर देने के बाद काव्य के भेदों को करते हैं—‘लक्ष’
इत्यादि । जिन काव्य के लक्षण में इनको विवेचन को गई है, उन काव्य के नर भेद है ।
१. उत्तमोत्तम २. उत्तम, ३ मध्यम और ४ अद्यम ।

द्विमें इच्छ और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) दोनों काने को लक्षण (व्यङ्ग्य) बनकर
किनी (चमत्कारजनक अथवा प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करे—व्यङ्ग्यता वृत्ति द्वारा मन्दिग्ध,
रसे ‘उत्तमोत्तम’ काव्य कहें ह

लक्षणा वाक्य में निवेदित दोष का फल दिखाने हैं—‘कमपीति चमत्कृतिभूमि’ इत्यादि इन
लक्षणा में ‘कमपि’ पर स चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः द्विमें व्यङ्ग्य
अर्थान्त गूढ (छिपा हुआ) ज्यता अर्थान्त स्पष्ट (वाच्यता) हो वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो
सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहते हैं । अनुन्दर व्यङ्ग्य का भी वही इमो विवेचन

१. वाच्यरत्नमिदं लक्षणव्यङ्ग्यपदोरेपि सम्राहकम् । अथवा तदुत्तमोत्तमभेदेन व्यङ्ग्यकणमभिव्यक्ति ॥

प्रतिज्ञाश्रुत्य स्वोय पद्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वञ्चिन्नववधूवृत्तान्त वणपति—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुज दरमीलनयता निरीक्षते ॥'

अत्र व्यङ्ग्य निदिशति—

अनालम्बनस्य नायकस्य, सविधस्यनाक्षिप्तस्य रहस्यानादेरुद्दीपनस्य च

बहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सन्निधौ शयिताऽपि प्रणयिसखीजननिवन्त्राद्
मोगावासस्य विविक्तत्वादनुरागाद्दुरोत्पत्तञ्च हृतमयनाऽपि मनारथान् स्वहृदि
विद्यमानान् नानाऽऽवारकत्रीहासिपयकामिनापान्, सफलीकर्तुं चरिणाघयितुं तदनु-
रूपमाचरितुमिति यावत् जनीश्वरा प्रपासाध्वसानिरक्षेणामयया दयिता जाता
वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै तवाढापिषया इत्युक्तं प्रियमी नायिका दरमीलनीलनी
नयोलुक्पमाङ्गुयैष सङ्कुचता नयन लावन्यस्यास्तादृशी मनी दयितस्य परिचयवचन
विश्विप्रणयोदञ्चनान् त्रियस्य आननाम्बुज मुखकमल निरीक्षत वचन विलासत न
तु बुम्बितुमालिङ्गितुमाघातुं कोपञ्जमत, तापि नयन तितरा निमीलयति न वा
तापुङ्गनिरीक्षणान् विरमनीत्यय ।

इह सविधसायनरूपकारणस्य सत्त्वेऽपि मनारथमफलीकरणलक्षणकायानुद्गमाद्
विरोपोक्तिमहोदाह्य प्रकाशयति । विद्यागिनी उच्यते ।

सो सप्रयना चाहिर । अराह (अर्थात् किनी दूररे अर्थ वा अह) और वाच्य मेद्वयह (अर्थात् किनी
किना वाच्य अर्थ की सिद्धि अनभव हो) व्यङ्ग्य भा समत्वपर्यन्तक हात है, अत इत्य मे न वनका
मी प्रथम न हो जय, इमलिये लक्ष्मा में 'अने का गीत बनवा' का गया है किन्तु अर्थ यह है
कि शब्द और अर्थ (वाच्यदि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होना चाहेव, स अराहप्रत्यये व्यङ्ग्यो में
वही हाता अर्थात् स मव व्यङ्ग्य स्वव गीत रहत है, अत व (तादृश व्यङ्ग्य वा) वाच्य भा
वचनेत्तम नहीं हो सकत है ।

अत्र 'मिनाय नूतनसुराहरणानुक्रमम्' इम प्रतिज्ञा के अनुसरण दर्शितान व्यङ्ग्यिण पद्य मन्त्रोच्चन
वाच्य के उदाहरणस्य में प्रस्तुत वचन है—'शयिता' इत्यादि । गवतः अने प्रियतम य मनन मेई
है, परन्तु वाच्य है कि वर अने मनोऽप मनारथों का सफल बनाने में अनभवे है—वह चाहती
तो बहुत कुछ है, किन्तु उम्मा और मय ने वह इम प्रकार दबा गया है, किन्तु वर कुछ का नहीं
पानी, इम स्थिति में प्रियतम की अभिलाषादे नी पूर्ण नहा हा पना, पर स्वतः सिद्ध है, कि ना
वा अभिलषा को दयिता है, प्रियता है, हा क्यों नहीं, केडि किन्तु का नरा हा पना मद्भ्य प्रियता
के लिये, अपेक्षित नही, अनेतु नाविकर्षक हा हाता है । इमन वाक्य यह नहीं समने कि वर बहुत
पत्नी के हाथ में मुर्दा सा पना है, वह बरबर प्रियतम के सु-चमल का दया दा है, चूने का,
कटितन करने का माहल भू ही उठ न हो पर दाने न वह मिन नही हाती, है, उमर दाने
में भी कुछ विच्छासा आगत है, इत्य रहने पर भा उमका उन्मुक्त भौं सर्वदा विचारात नहा,
वरन्तु कुछकुछ मुदी हुई सा रहत है । वहाँ 'अह' पर मनारथसम्बन्ध कारण व रहने पर ना मनारथ
साधकस्य कार्य के अनवरूप विद्यवक्ति स्वरूप का प्रकाशित करता है ।

विभावस्य, तादृशनिरीक्षणोदेरनुभावस्य, त्रयोसुक्यादेश्च, व्यभिचारिणः सयोगाद् रतिरभिव्यज्यते ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किस्वरूपाभीत्याकाङ्क्षायासाह—

आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते ।

अत्र नायिकेच्छाविशेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाह बुध परिहरति—

नच 'वद्यपि शयितः स्यात्, तदाऽस्थानतः चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमेवेति वाच्यम्, मनोरथ्याम् सफलकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथाः सर्वेभ्यो हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः स्वशब्देन मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण तादृशेच्छाया अपि निवेदनात् ।

रह एकान्तम्, तथा च यदि यन् स्थानमेकात् न स्यात्, तदा साऽत्रपापार-
वशमात् तत्र नायकस्य समीपे कथमपि न शयीतेति नायकसमीपशयनान्यथाऽनुपपत्त्या
तस्यानर्थाकांक्षत्वं कल्प्यते । निरीक्षणे तादृशत्वधीनभुकुलीकृतनेत्रकत्वम् । नयनेप-
नीननेन सञ्जा, निरीक्षणेन चोत्सुक्यं सूच्यते । मयोय आलम्बनादिभिः सह स्यापि-
भावस्य स्ते नम्बन्ध । रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽश्रया, तस्याऽवेह परिरोपेण
निरीक्षास्य च प्रवृत्तत्वेन सम्भोगशृङ्गाररसरूपता ।

इह नायिकानिष्ठाने स्थायिभावस्य नायकरूपासम्बन्धविभावेन, एकान्तस्थान-
स्पोहीपतविभावेन, मुकुलीकृतनयननिरीक्षणसंज्ञानुभावेन, नञ्जीव्युत्तरूपाम्ना
व्यभिचारिभावाम्ना च सम्बन्धात् प्राधान्येन सम्भोगशृङ्गाररसास्वाद, वाच्यवाचक-
योस्तु गुणीभाव एवेति भुतरामुत्तमोत्तमत्वस्य काव्यस्य सिद्धचतीत्याशयः ।

वक्ष्यते पुरस्तादस्मिन्नेवानने 'एवमेवा स्थायिभावानाम्' इत्यादि सन्दर्भेण ।

अयं नायकः । शयित इति जाग्रतो सञ्जा-प्रत्यानिङ्गमादिभौत्यो सन्धवः । इति
शब्दो नायिकेच्छाऽकारपरामर्शकः । एवकारः प्रागुक्तव्यङ्ग्यव्यायतनपरः । स्वशब्देने-
त्यस्य विकरणं मनोरथपदेनेति ।

एक यन् प्रथमद्वय इव ध्व मे होने वाले उस व्यङ्ग्य की दरशाते हैं, शिमके बल पर यह श्लोक
उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण होता है—'अत्र' इत्यादि । यहाँ नायिकानिष्ठ-रति का, आलम्बन-
विभक्तनायक वाच्य है, अत्रन्तस्वयनरूप-उदीचन-विभाव, फलितान्तो के समीपशयन से व्यक्तित्व होता
है, नायिका-कर्तृक-जायक-मुदा-निरीक्षणरूप अनुभाव भी वाच्य ही है, लज्जा तथा औत्सुक्यरूप-
न्यभिचारी भाव क्रमशः नयन-गत-दर मीठन और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं । इस सब भावों के
सयोग से नायक-विशयक-नायिका-निष्ठ-रति (स्वधो भाव) व्यङ्ग्य होता है, जो परिपुष्ट होने से
सम्भोग शृङ्गार, रस, रूप है—सङ्घट्ट पाठकों का आन्ताय है । यहाँ वह यह व्यङ्ग्य कथन नमत्करी
है तथा सङ्घट्ट अर्थ गीग है, अतः उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण शयित हुआ ।

आलम्बन, उदीचन, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप जगि (इन्हीं
जनन में) कहेंगे ।

इस श्लोक में नायिका का इच्छाविरोध ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है ? इस शब्द का उत्तर
देते हैं—'न च यद्यपि शयितः' इत्यादि । शब्द करने वालों का अभिप्राय है कि इन वचन में
'उत्तमिना नायिका सत्त्वं भाव से नायक के श्रुत को बारबार देख रही है' वह बात बर्णित है,

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्व किं बाधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात् ।

अङ्गस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्कर्षजननेन गुणोभावान्न प्राधान्यमिति भावः । तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहिताऽर्थं सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकै स्वीकारात् ।

नायिकाया सश्रीड तस्पृह च नायकमुखनिरीक्षणेन मूलोन्लिखिताकारिवेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अयुक्तमेव, यत सर्वेषां मनोरथानां नायिकाया हृदि सद्रावो मनोरथान् मफलीकर्तुमनीश्वरेत्यनेन विशेषेण सूच्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बनविषयकेच्छयो सामान्यविशेषभावादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिगोचरः । त एवेति वाक्यपदवीमास्त्वध्रमत्कार-विशेषानाधानान्न प्रधानमिति सारम् ।

विषयविशेषचुम्बनम् । चमत्कारपद तदतिशयपरम्, यत्किञ्चिच्चमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवात् । अन्यथा वाच्यप्रधानभेदस्य काव्यत्वानापत्तिः, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीयहेतुप्रदर्शनानवकाशश्च ।

सामान्यधर्मैरेच्छात्वेनात्रेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मैरेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्व कुतो न स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधावोध्यत्वेनोत्तमकाव्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारानिश्चयस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थः ।

हि यत । विशेषाकारेण विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन । अभिहितोऽभिधावृत्त्या बोधितो वाच्यः । चमत्कृतिस्तदुत्कर्षः । ईष्टे क्षमते । कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तथाज्जालिङ्गितस्यावोधितस्य । एवशब्दो वाच्यव्यवच्छेदकः ।

जिससे 'यदि यह (नायक) मो गया हो, तो मैं इसका मुझ 'चुम्ब लूँ' इस तरह की नायिका की इच्छा व्यक्त होती है, फिर इस व्यक्त की प्रधान मानकर वहाँ काव्यलक्षण का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त रसिद्ध व्यक्त की प्रधान मानकर नहीं । समाधान वा अशय यह है कि नायिका की तक इच्छा यहाँ व्यक्त हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को स्पष्ट करने में अयमर्थ है' यह बात हम पर में वर्णित है, जिसने यह स्थिति होगा है कि नायिका ने इत्य में सब मनोरथ वर्तमान है और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—शो सामान्य रूप से मनोरथ पर न वाच्य कर्ष ही होगा है, फिर व्यक्त कीने होगा ?

यदि आप कहें कि मनोरथ पर से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बनविषयक इच्छा (की विशेष) वाच्य हुई नहीं, फिर हमको व्यक्त होने में क्या बाधा है ? हमका समाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—श्लोकित आनन्द की अनुमृति नहीं होगी—रस, यही बाधक है ।

इस पर यदि आप पूछें कि आपने कहेने ही से चमत्कार नहीं होगा ? या हमने न होने में कुछ कुछ भी है ? इस पक्ष के उत्तर में हमका कहते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं कहता, अपितु

ननु कथमपि वाच्यवृत्त्यनातिङ्गतस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वाम्बपग्मे यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तयोच्यते ।' इति भग्मटमट्टोक्ते पर्यायोक्तालङ्कारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्यत्र च पूर्वोक्तपङ्क्तस्य हेत्वन्तर व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव मुन्दरत्वेन तदव्यञ्जने चुम्बेयम्' इति शब्दबलाच्चुम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च ।

मातङ्कारिका हि—

'कामधोपयोधर इवातितरा प्रकाशो नो गुर्जरीरोस्तन इवातितरा तिगूढ ।

अर्थो गिरामपिहल पिहितश्च कश्चिन् मीमायमेति मरहट्टद्वक्त्रुचान ॥'

इत्यभियुक्तोक्तैर्व्यञ्जनावृत्तिमात्रबोधयस्यार्थस्य चमत्कारोत्कर्षाधायकत्व मन्वन्ते । प्रकृते तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदवृत्त्यनिधया बोधितत्वान्न चमत्कारि-प्रकर्षोत्पादकत्वमित्याहुनम् । एतच्च सूटव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारनिरूपणे, पञ्चमोन्लासे, रमदोषनिरूपणे सप्तमोन्लासे च वाच्यप्रकारो स्पृष्टम् ।

रतिपद तत्सायिकशृङ्गारपरम् । एवकारस्तदितप्रकारव्यावृत्तिमूचरु । मुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन । तच्छब्देन रतिरेतुकशृङ्गारस्य परामर्गः । 'चुम्ब-यामि' इति पाठस्तु भ्रान्तिमूलक, पित्रयतिङ्गते । मन्वेत्यादे दान्दन्त्यप्रतीतिविषयी-भूतेच्छापदित्यर्थः ।

यदा रतिस्सायिक शृङ्गार प्रधानतया व्यज्यते, तदैव तदनुभावेन व्यज्य-मानायाश्चुम्बनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षजनकत्वम्, इतरथा तु शब्दबोधप्रसोचरी-भूततादृशेच्छानो बलधध्याभावान्न तत्त्वम् अतः शृङ्गारस्यैव नयात्वमिति ध्वनि-भागप्रवर्तकै सिद्धान्तितत्वात् । इति मन्दमण सप्तम्येहालङ्कारनिरूपणे स्पृष्टोक्तिरित्यति-पण्यकृत् ।

व्यङ्ग्यार शब्द के सभी मन्त्रों में एक स्वर में लगी व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वाकार किश है, जो किसी तरह भी अभिव्यक्ति का मन्त्र न करे, आ जो पदां सामान्यरूप में भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी महदर्थों के मन्त्र चमत्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता— अभिव्यक्ति मानो वह छुन का रोग है, जिसमें छु जाने पर स्मय व्यङ्ग्य भी अन्वय हो जाय और हमको चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है ।

नाटिका को इच्छा को प्रधान व्यङ्ग्य न मानकर रति को प्रधान, व्यङ्ग्य मानने में इन्हीं युक्ति भी देने हैं—'चुम्बनेच्छाया' इत्यादि चुम्बनेच्छा रति (प्रेम) का फल है, यदि रति न हो, तो चुम्बनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण में ही हो उसमें मौल्य नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में जब हमको प्रतीति होती है तभी वह अच्छी लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, चुम्बनेच्छा व्यङ्ग्य हीवर में उनी तरह चमत्कारी होगी, जिस तरह 'चुम्बना' इस मन्त्र से अभिव्यक्ति होने पर वह अचमत्कारी होगी । अब रति को प्रधानत्या व्यङ्ग्य होना आवश्यक है, उसके अभिव्यक्त हो जाने के बाद यदि उनी के अनुभावरूप से एक इच्छा भी अभिव्यक्त हो, तो कोई आपत्ति नहीं

इत्थमिच्छामा प्रधानव्यङ्गपदा निरन्व लज्जाया अपि वरेणाद्यङ्गपदाना ता निराकरोति—

एव त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाद्यताञ्चच्छेदकत्वा प्रतीताया तस्या मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् ।

पुनरपरयाञ्जाङ्गा समादधति—

न च दरमीलनप्रयत्नात्त्वविशिष्टनिरीक्षण विधेयमिति नानुवाद्यताञ्चच्छेदकत्व तस्या इति वाच्यम्, एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलनप्रयत्नात्त्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् ।

एव चमत्कारविशेषानुत्पादकत्वेन । अपि पूर्वोक्तेच्छान्नाहक । अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्यैष्टत्वात् । प्राधान्येनेति । अनुवाद्यताञ्चच्छेदकत्वम् । तस्या प्रयासान् । मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयतासम्बन्धानात्वात् ।

एवमिह वरेणादिपदेन यद्यपि लज्जा व्यञ्जने तदाऽपि तस्या न प्राधान्यम्, यतोऽत्र दरमीलनप्रयत्नात्त्वमुद्दिश्य निरीक्षण विधीयत इति निरीक्षणनिष्ठविषयतातिरुक्तिर्नोद्देश्यताया उन्विक्षेपनिष्ठया अवच्छेदकत्व लज्जाया उद्देश्यविशेषणीभूताया इत्युद्देश्यताञ्चच्छेदकत्वा प्रतीयमाना लज्जाऽत्र न विषेयीभवितुमर्हति । न चानिधेयीभूताऽत्रस्वार्थत्वात्तदनुत्पादकविशेषतामाश्रितुं शक्नोति । न वा तदनाश्रयत्वात् तस्यैव प्राधान्यमिच्छामिच्छि ।

उत्पन्न वैशिष्ट्य नामानाधिकरणेन । तस्यान्वयाया । एवमपि विधिष्टस्य विधानत्वे । तत्कार्यत्वेऽपि तदाऽत्रत्वत्वेऽपि । भावगन्धेन तदाऽत्रभूताना व्यावृत्ति ।

इदमुच्यते—दरमीलनप्रयत्नात्त्वविशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि लज्जाया विषेयकारिण्येन नयनपन्निमीलनेन व्यङ्ग्यतया नोद्देश्यताञ्चच्छेदकत्वम्, तदाऽपि तस्या प्राधान्यं दुरुहमेव, यतो तपनेपन्निमीलनेन लज्जाऽत्रत्वमिति तेनैव चमत्कारणीभूता लज्जा व्यञ्जने समस्तन नयनेपन्निमीलनविशिष्टेच्छेपनेन विषेयन तु स्वरेणुभूता रतिरेव सूचयन्तु शक्यत इति सर्वतोमुख पार्यन्तिष्ठ प्राधान्यं लज्जाया न सम्भवति ।

'लज्जा' ही इस पद्य में प्रधान व्यङ्ग्य है' इन ज्ञ का गठन करते हैं—'एवं प्रयासा' इत्यदि । किन्तु किन्तों का मत है कि यहाँ 'जिम्में' को 'लज्जा' मुद्रित काटा हुई' इन लज्जाकेरेण से को लज्जा व्यङ्ग्य होती है, लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मन कर इन लज्जा में तत्त्वज्ञ का व्यङ्ग्य स्वर करनी चाहिये । परन्तु वह मत ठीक नहीं, क्यों के यहाँ लज्जा को उद्देश्य बना कर निरीक्षण का विषय किया गया है और उन उद्देश्यभूत लज्जा का विवेक है 'लज्जा'—'लज्जा' से को मुद्रित काती हुई' जिम्में लज्जा अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार से लज्जा का लज्जा उद्देश्यग-व्यङ्ग्य (उद्देश्य विवेक) रूप में होनी दीगयी है, फिर वह लज्जा, प्रधान चमत्कार के तो शक्य है । अर्थात् जो लज्जा विवेक रहता है, उसी में चमत्कार का स्वरण होता है और लज्जाकेरेण व्यङ्ग्य ही मुख्य चमत्कार कहलगा है, जो लज्जा किन्तों पर मुख्य चमत्कार नहीं लज्जा का शक्य है ।

दरि उक्त होते कि लज्जा को प्रधान चमत्कार न लज्जा में लज्जा के लुप्त हो है, वह लज्जा के लुप्त हो है, दरि इन लज्जा का लज्जा उद्देश्यग-व्यङ्ग्य रूप में लज्जा हो है, लज्जा के लुप्त हो है, इन दो दरमीलनप्रयत्न विधि निरीक्षण को विषेय मन कर विवेकग-व्यङ्ग्य (विवेक

ननु नीलनयनात्वनामनन विधेयमास्ताम्, तथा च समग्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया
त्रयाया प्राधान्यमक्षतमेवेत्याशङ्का निराकरोति—

त्रयाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्ते ।

ननु विधेयस्रोतौ विधेयविशेषणभाव विपर्यस्य निरीक्षणविशिष्टपन्थीननयनात्व-
नेन विप्रयीकरणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्याव्यङ्ग्यत्वेन त्रयाया प्राधान्य स्यादे-
वेत्याशङ्का निरस्यति—

वाच्यवृत्त्या स्तेरनुभावे निरीक्षणे त्रयाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव,
व्यङ्ग्यतया तस्या तस्या अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात् ।

यद्यत्र त्रयामात्रस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व कवेरभिमत स्यात्, तर्हि स निरीक्षण-
परं नोपाददीत, ईषन्नपननिर्मूलनेनैव तदमीष्टस्य त्रयाव्यङ्ग्यस्य सिद्धे अविशो-
पादानस्य निष्फलत्वापत्तेश्च । स्तेरकार्यत्वेन तद्व्यङ्ग्यक निरीक्षणमप्युपाददानेन
वचिना प्राधान्येन स्तेरेव व्यङ्ग्यतया बोधिता । तस्मान्नात्र त्रयाया प्राधान्येन
व्यङ्ग्यत्वस्य बोधनापेयमीलननयनात्वस्य विधेयतेत्यभिप्राय ।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिव्यापारोऽभिप्राय तथा वाच्यवृत्त्या । अनुभावत्व लोके
तत्कार्यत्वेन । तस्या रत्नी । तस्यास्त्वपाया । गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रत्यय प्रतीति ।

अभिधावृत्त्या यथा स्तेरनुभावो निरीक्षण प्राधान्येन, त्रयाया अनुभावो नयने-

विशेषण) रूप में ही उक्त मान श्लोकार करने हैं—अर्थात् वह निर्गुण देना है, जिनमें नेत्र
कुछ-कुछ मुकुटित हो रहे हैं, यही वक्ता का अभिप्राय है, उस तो लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में
कोई आपत्ति नहीं उठ सकती । इसका उत्तर यह है कि हम तरह लज्जा को आप विधेयकोटि में ल
आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह मुख्य नहीं हो सकती क्योंकि नेत्रों का कुछ-कुछ मुकुटित रान्य,
यह ही लज्जा का कार्य ही, किन्तु निर्गुण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (प्रेम) का
कार्य है फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण में अभिव्यक्त होने वाला रति को प्रधान न मान कर,
विधेय विशेषण-नयन-गर्भ-दर-मौलन से व्यक्त होने वाली लज्जा को प्रधान मानना युक्तिमत्त
नहीं होगा ।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमाणित करें कि हम निरीक्षा को भी विधेय नहीं मानेंगे, अर्थात्
निरीक्षण करने वाली नायिका को लक्ष्य बनाकर दरमीलनव्यङ्ग्य का ही विधान करेंगे, फिर तो
प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के लिये लज्जा प्रधान होगी । इस प्रमाण का उत्तर यह है कि—हाँ
सही । आप बाद में बड़े निरुण है, इस तरह लज्जा को प्रधान बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं
चाहिये कारण । यदि इस तरह से लज्जा को ही प्रधानतया व्यक्त करना कवि को अभिमत होता,
तो कवि निरीक्षा को बात ही नहीं बजाने, केवल इतना ही कहने कि 'जोनों को मुकुटित कर रही
है', लज्जा को अभिव्यक्ति ही तावन्नात्र से ही ही जगती, अर्थात् लज्जा को प्रधान मानने में 'देखती
है' यह कथन निर्गोचर ही नहीं होता वरन बाधक भी होता है, अब रति को ही प्रधान व्यङ्ग्य
मानना चाहिये, लज्जा को नहीं ।

लज्जा को गौण व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होता है इनो बात को स्पष्ट करते
हैं—'वाच्यवृत्त्या' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'देखना' और लज्जा का कार्य
'आपको को कुछ-कुछ मुकुटित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य 'देखना' प्रधान है और
लज्जा का कार्य 'आपको को कुछ-कुछ मुकुटित करना' गौण है, अब आप सोचिये कि इन दोनों कार्य

दुत्पत्तिनिमित्त किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तर दर्शयति—

यथा वा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना । नामको वयस्य व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरवेण मन्दम् ।

दरकुण्डलताण्डव नतभ्रूलतिक मामवलोक्य घूर्णिताऽऽमीत् ॥'

निमीलनन्तु तदङ्गत्वेन प्रत्याप्यते तथैव व्यञ्जनयाऽपि रत प्राधान्येन, त्रपायाम्नादङ्ग-
त्वेन प्रत्यायननेवान्वितम् इतरथा भावप्रधानमाख्यात सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति
यास्कमिद्वान्तविरोधो दुरवगाधो भवेदिति तात्पर्यम् ।

गुरुणा श्वश्रुप्रभृ- ग मध्यगता नतिकटस्थानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतीचित्यात्
नतनावयवा सा मया नीरजकोरवेण वमलमुकुलेन मन्द शनैर्निभृतमिति यावत्,
निहता नितरा ताडिता दरमोपत कुण्डलस्य ताण्डव नटन, यत्र, तद् यथा स्यात्,
नया किञ्च नताङ्ग्यान्तखलीकरणजन्यमन्नुना तन्नीभृता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्,
नया चकित श्वश्रादिमात्रिष्यान्माय साख्यस्य च माम् अवलोक्य (घृष्ट ! किमेव
गुरुजनमध्य खलीकरोपि इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता भ्रान्ताऽऽमीदित्यर्थः ।

निघानस्य मान्येन कुण्डलताण्डवम्येपत्त्व गुरुमध्य निघानेन भ्रूनमन चोपपाद्य
एति एतुनुमङ्गावन ताव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च ।

इह दुविदग्ध ! किमिदं रक्षसि विधेय गुरुजननिवटेऽपि विहितवानसि' इति
वन्दुव्यञ्जनपुग्न्मर नायकविषयकोऽर्थो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकापधयाऽधिवच-
नत्वादिना प्राधान्येन व्यञ्जन इत्यस्यात्तमवाव्यत्वम् ।

मे बन्ध होने का कारण—रति तथा लज्जा में विपरीत प्रधान होना उचित है ? उक्त मध्य है कि
वाच्यकृति में निम्नका कार्य प्रधान है, व्यङ्ग्यकृति में उक्त कार्य से व्यक्त होने वाला वह कार्य प्रधान
और वाच्यकृति में निम्नका काम गौण है । व्यङ्ग्यकृति में उक्त कार्य से अभिव्यक्त होने वाला वह कारण
गौण हो रहा मनुष्य है, क्या अब रति का प्रधान और लज्जा का गौण होने में कुछ मन्द किया
जा सकता है ? नहीं, अर्थात् वाच्यकृति में जब निगोष्ठा प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकृति में उक्त निगोष्ठा
से अभिव्यक्त रति प्रधान होगी और वाच्यकृति में गौण-नदन-गन-दल-मौलन से व्यक्त होने वाली
वस्तु व्यङ्ग्यकृति में भी गौण हो रहेगी ।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (मन्त्रेण शृङ्गार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि व्यभिचारी-
भाव) का उदाहरण देते हैं—'गुरुमध्यगता' इत्यादि । नायक अपने मित्र से कह रहा है मया
पुर्व मन में मोच रहा है—मम, मन्द इच्छति गुरुजनों के बीच बैठे हुई तथा शालीनता के प्रकट
होने के लिये नन्दुनी, मित्रा की मीने धारि से—अर्थात् टोंगी की लोखें बचाकर एक वमल बटिका
से मार दिया । (मार करने के बाद) अपने शिर्षक दृष्टि से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घुम
कर मुझे देख लिया । यद्यपि गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई नवीना कुलकमिनी का प्रति का अंश
देखना शालीनता का विशेष धा पर वह बेचारी करे तो क्या ? यदि महोदय के अमानदिक अचरण
से वह धुम्क हो उठा था—उमड़े हृदय में अनर्थभाव जाग उठा था, अतः प्रति पर एक निर्द्वन्द्व दृष्टि
हालने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शालीनता-व्यवस्था का ध्यान था, अतएव वह

तदेवाद्यष्टे—

अथ 'धूम्रिताऽऽसीन्' इत्यनेन 'अममीदयकारिन् । किमिदमनुवित वृत्त-
मानमि' इत्यर्थसंवल्लितोऽमपंश्रवणाविश्रान्तिधामत्वात् प्राधान्येन व्यज्यते ।
तत्र शब्दोऽयंश्च गुणः ।

पुन किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तर इत्ययम्—

यथा वा—

अचिरप्रत्यक्षपतिकतवोदवनुवृत्त कश्चिद् वक्ति—

'तत्पगताऽपि च सुतनु श्वासासङ्ग न या सेहे ।

सम्प्रति मा हृदयगत प्रियपाणि मन्दमाक्षिपति ॥'

सर्वालितो विशिष्ट वैगिष्य चाङ्गाङ्गिभावः, तथाहि—वस्तुरूपव्यङ्ग्यस्थानप
प्रति पौषकत्वेनाङ्गत्वम् । विश्रान्तिधामत्व पायंलिकास्कादविषयत्वम् । तत्रामर्षे ।
अर्षो वाच्यो वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यश्च । गुणोऽङ्गमप्रधानमिति शक्यः । पूर्वोदाहरणे
व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थविशयैव प्राधान्यं दर्शितम्, इह तु वस्तुरूपव्यङ्ग्यप्रधानमपिसमाप्तौनि
वैतसम्बन्धीक्षणीयम् ।

या नवोदवनु सुतनु सुन्दरी नितरा कोमलाङ्गी, अथ एव नन्ये केतिनिलयम्य-
नव्याया, एताऽपि कथञ्चन सहचरीसहस्राबुतोपेन शयितापि च (वा चर्चा बहि-
म्यिनाया) श्वासस्य पत्युतिश्वासस्य आसङ्गमोपन्यम्पर्कम् (वा कपोपगृहनादी-
नाम्) न सेहे नैव ममर्षं (किन्त्वङ्गानि समकोचयद् बहिरपससार वा) सा (संव,
न स्वन्या) सम्प्रति प्रियविदेगायात्रापूर्वराधाविदानी, हृदयगत मदाङ्केन प्रियेण हृदये

मार्क मन्मक उठकर न देस मर्षी, न वा कपने अमर्ष को हा स्तर म्प म प्रकट तर म्क, उन्का
देसना देसा हुआ, जिससे कान के कुण्डल थोड़ा नाच उठ तथा झूमने नाचा हो गई—अर्थात्
उमके इस दर्शन-व्यंग्यार को पति के अश्रितिक कोई जन भी न मन्का । यहाँ प्रहार-गत-मान्य-कथन
से कुण्डल-नर्तन का अयना तथा पुल्लता के मन्च में उम प्रहार के होने से झूठना का नशीमर्ष
उन्का किये गान है, अत हेतुहेतुमद्भावमन्मक का व्यङ्ग्य अलंकार वाच्य है ।

इस श्लोक में 'पाणिगतोद्-वग मर्षी' इस शक्ति से 'ये अविचारित्-अनामदिक काम करनेवाले ।
तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया' इस अर्थ में तुल्य अमर्ष (व्यभिचारीभाव) प्रधान रूप से कथि-
व्यक्त होता है । यहाँ वस्तु व्यङ्ग्य के न रहने पर भी उक्त भावव्यङ्ग्य ही क्यों प्रधान होगा, इस
बुद्धा को निवृत्ति के लिये उन्का प्रधानता में कारण का निर्वेस काल है—'वर्षाव्यभिचानिधामत्वात्' ।
आशय यह है कि मर्षियों में उक्त वस्तुव्यङ्ग्य को आधार बना कर उठी हुई अत्यन्तप्रकार दर्शन
में उक्त भावव्यङ्ग्य के अन्वय में ही विश्रान्त होती है, जो वह भावव्यङ्ग्य ही प्रधान है । प्रथम
उदाहरण में वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता दिखलाई गयी थी और इस द्वितीय उदाहरण में
वाच्यार्थ में वस्तुव्यङ्ग्यवार्थ दोनों को अत्यन्त भावव्यङ्ग्य का प्रधानता कही गई है ।

अन्वयकार पुन उक्तमौलम काव्य का हो एक और विशिष्टा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विश्र-
ण्य क्या है ? इस विद्याया की शान्ति अथिभ ममर्ष से होगी । जिसका प्रति कहीं दूर देश में जाने
के लिये तैयार बैठ है, उम प्रत्यक्षपतिक कपोस वधु का हृदयन प्रथमगतऽपि' इस उम में वाच्य
है । उम का अर्थ निष्कलित है—जे अश्रितोदयो सुन्दरी, चत-अयिनी (सहचरी) के अनुरोध

उदाहरणमिदं दिवरीतुमवतरणिका षण्ति—

इदञ्च पद्य मशिमितं प्रबन्धगतत्वेन पूर्णसाक्षाद्भूमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधू पल्पङ्कुशयिता श्वासस्थासङ्गमात्रेणापि मङ्कुचदङ्गलतिवाऽभून्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वरज्ज्या प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पित हृदि पाणि नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम् ।

वर्षासि निहित प्रियस्य पाणि करम्, मन्द भाविविरहातद्ध्वेन शनं (न तु प्रागिव तरसैव) आक्षिपति नवोढा—जातिस्वभावात् स्वस्थान प्रापयत्यपसारयतीत्यर्थ । काव्यलिङ्गातङ्कार उपगीतिश्छन्दश्च ।

इह श्वासेन सहावश्यक प्रियस्थानव्य पदार्थैकदेशतया दुषंट । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-भावाद्यभावेन गतसञ्चलस्य पीनरसस्य च सहृदयानां हृदयं दुनोति ।

अयं तल्पगतेत्यादिश्लोको यद्यपि जगन्नाथपण्डितराजरचिते मामिनीविलासामि-पप्रबन्धे नवोढाप्रकरणे पठित इति सत्प्रकरणपटकरश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्या-तुमसक्योऽपि किञ्चिद् व्याख्यायत इति सारम् ।

पल्पङ्कु छट्वाविशेष । श्वासम्याराहनादेवाङ्गलगासङ्कोच । आगङ्गाक्षेपपदयो-राडीपदयव । प्रवत्स्येन विदेश गमिष्यन् पतिर्यस्या सा प्रवत्स्यत्पतिका । स्वभाव एव स्वानाव्यम् ब्राह्मणादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभाव-घञस्य पाठं नरपयित्वा गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः षर्मणि च' इति पाणिनीयमूलेण स्वार्थे ष्यञो विधानाद् रूपं साधनीयम् । नववधूनां जातेर्नववधूत्वस्य स्वामाव्याप्ति-सर्गात् । प्रियस्य पाण्यपणे दाङ्गा प्रान्वत सरनसनिवारणपलायनपदे । आक्षेपस्य मान्ये प्रवत्स्यत्पतिकात्वोचिता सत्वरभावप्रयोगाद् भीतिरूपपादिका ।

से) पत्र पर मोई हुई भी, पति के श्वास के ईप्सस्यर्कको भी (अस्तिगुणादि की बात ही क्या ?) नहीं मद्भवनी थी—अर्थात् पति के श्वास के लगने से भी अश्रुओं को निकोड़ने लगती थी, वही मन्प्रति (पति के विदेश जाने की पूर्ण रजनी में) हृदय पर रकते हुए इङ्किल पति के हाथ की भाविविरहातद् से पीरे पीरे (न कि पूर्णतः शैप्रता से) हटा रही है । यहाँ 'मन्प्रति' पद के अर्थ से आश्रय-गत मान्य की उपपत्ति की जाती है, अतः 'वाव्यटिङ्' क्लृप्ता है ।

यह पद्य पण्डितराज—रचित—'मामिनीविलास' नामक प्रबन्ध का है, अतः इसका सम्बन्ध दूसरे पदों से भी है, इमलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्णतः से नहीं की जा सकती, तथापि दिगा-प्रदर्शन के अभिप्राय से कुछ-कुछ व्याख्या कर दी जाती है ।

जो बात पद्य के अर्थमें में लिखी गई है उसीको प्रत्यक्ष अरुनी भाषा में कहते हैं—'या नववधू' इत्यादि कहने का अभिप्राय यह है कि—नवोढाओं के हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहता है, कथवा अल्प प्रेम रहता है, ऐसी बात नहीं है प्रेम तो अधिक ही रहता है, परन्तु कम प्रेम के साथ श्लोक और शय का मन् भी मिले रहते हैं, जो स्वाभाविक भी है अतः वे (नवोढाएँ) पति के श्वास जाने में हिचकिचाती रहती हैं, लेकिन मन्प्रायें मीचकानी कर उन्हें पति की शय्या पर झुटा-कर ही टोपती हैं । इस तरह वे पति की शय्या पर पशु व्यवस्था रहती हैं पर कुछ गिचकी-गली ली

उपादानसङ्गतये व्यङ्ग्य प्रकटयति—

अत्र शनं स्वस्थानप्रापणात्माना मन्दाक्षेपेण रत्यास्य स्थायी सलक्ष्य-
क्रमतया व्यङ्ग्यते ।

ननु रत्यादीनां स्थायिनामन्वय सर्वरसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापना
रिह रते सलक्ष्यक्रमतया व्यङ्ग्यत्वमनङ्गतमित्यतोऽभिपद्यते—

उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

अत्र तल्पेत्यादिपद्ये । शनं तु वेद्येन । स्वस्थान प्रापणमात्मा स्वरूप यस्येति
बहुव्रीह । एतेन रससन्निवारणभाव सूचित । आक्षेपे मान्द्य रतेरनुभव प्रणय-
मद्भाव एव तस्य सम्भवति । रते स्थायिनीपादानाद् रसरूपत्व प्रतीयते । सलक्ष्य-
क्रमत्वेन रतिव्यङ्ग्यस्येह पूर्वोदाहरणद्वयाद् विशेष ।

उपपादयिष्यते रसस्वरूपप्रकरणेऽन्वयानने मयेति ज्ञेय । तथाहि—यत्र प्रकर-
णस्य स्पष्टार्थकतया ह्युत्तर प्रतीपमानैविभावादिभि सहृदयानामतिशीघ्र रसपक्षी-
माहादयना रत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो कार्यकारणभावेन
कल्पितस्यापि पूर्वापरीभावरूपस्य क्रमस्याशुतरभावितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेना-
सलक्ष्यक्रमत्वम् । अत्र तु प्रकरणस्यास्पष्टार्थकतया विभावादीनां प्रतीतादेव विलम्बेन

अर्थो पति जो कुछ बाह्य रहन हैं उनमें वे सम्मिलित नहीं होती, स्थिति यह हो जाती है कि पति
के शर्मों का लज्जा भा उन्हें अन्ध सा प्रतीत होना रहना है, फिर अगर पति उनके दर्शो पर हाथ
रखना चाहें तो उनकी वे नरोदाय कौन बदास्त कर सकनी हैं, पक्ष यह होना है, कि पति पति
महाशय उनके अक्षों पर हाथ रना, तभी वे उन हाथों को हथकर दूर पक देना है, इना गरम न-
दमतिमें भी राते आशा तथा सम्मलनाओं के बीच में झलती रहता है परन्तु जब वर रात आनी है,
जिमके प्रभात में पति महाशय चले जादेंगे, तब स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है, रस अन्तम रात
में पति सदाइ होकर भा कुछ माहम से काम लने के लिए कुतमङ्ग से हो जात है, परन्तु ज्ञेय प्राय
साहम से काम लने का अनन्तर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उधर नववसुओं की दशा मनोवृत्ति भा पड़ने
वैनी नहीं रह जाती, वे मोचना है क्या आज भा ये निपोडा लज्जा और भव मेरा पाछा नहीं
छोडेगे ? यदि ऐसी बात हुई, तब तो बडा असर्थ होगा, न जाने कब फिर उनके (पति स) भेट हो,
नहीं, आज किसी तरह मय या लज्जा को अपने पास पकाने नहीं दूंगा, हम तरह व नरोदाय प्रस्थान
के पूर्वे रना में सदाइ हाकर हा पति का शय्या पर जाती हैं, फिर भा जब पति के हाथ उनके हृदय
पर पड़ते हैं तब वे एक बार कुछ चीक उठनी है, और पति के हाथों को भा अपने हृदय पर से अलग
करकर करती है । हाँ ! इतना अन्तर असत्य रहता है कि आज पति के हाथों को दूर हथने में कुछ
वेग नहीं रहता जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नववसु-जाति-स्वभाव से बढ़ होने के जाने के
हाथों को हथती कर है, परन्तु धीरे-धीरे ।

यहाँ 'मन्दाक्षिपति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे जाने स्थान पर रख देना, जिमम रतिनामक
स्थायीभाव (जो लम्बेकालपरत के रूप में परिणत हो जाता है) सलक्ष्यक्रम होकर अभिव्यक्त होना है,
क्योंकि रति के निज हाथ का धीरे धीरे हथना सम्भव नहीं है ।

यदि यहाँ कोई यह उदाहरण करे कि आज्ञाक सभी अलक्ष्यरिक आकाशों ने तो रति आदि स्थायी
भावों को अलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य क्यों और
कैसे कहते हैं ? इसी प्रश्न में उत्तर यह है—'उपपादयिष्यते च' इत्यादि । अर्थात् स्थायी-
भाव भी क्यों और कैसे सलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जात है, यह बात आगे कही जायेगी, तात्पर्य यह है

अन्य काव्यप्रकारस्य स्वकपोलकल्पितत्वं परिहृतुं प्राचीनमतसंवादं दर्शयति—
अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति ।

यद्य निश्शेषच्युतचन्दनम् इत्यादिपद्यं ध्वनित्वस्यापनार्थमप्यप्यदीक्षिताबलम्बिता
व्याख्यानपद्धतिं दूषयितुमुपपादयति—

यन्तु चित्रमीमामायामप्यप्यदीक्षितैः 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इति पद्य
ध्वन्युदाहरणप्रसङ्गं व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथा-
सिद्धिपरिहाराय निश्शेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युते. स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन
सम्भोगचिह्नोद्घाटनार्थं तदग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्,
तव तु स्तनयोस्तत् उपरिभाग एव दृश्यते इयमाश्लेषकृतैव ।

रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवीप्रापकस्नामग्रीसवलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् लक्ष्यता, तत्र
रत्यादीनामपि सलक्ष्यक्रमत्वम् । यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसन्-
भन्तन्वन्देन तस्या नववधूमावे प्रवमन्यादृश सञ्चोच आसीत्, सम्प्रति तु क्रमेण न्यून-
तयाऽन्यादृश एवाभूत् इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादि प्रतीतेर्विलम्बितया
सलक्ष्यक्रमत्वम् ।

परे तु— वाच्यायतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतादेव विलम्बेन
रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेन सलक्ष्यक्रमत्वम् । व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थ-
कत्वे तु गूढव्यङ्ग्यवचनमत्कारोदयविलम्बात् सहृदयवैमुख्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कुतो
रत्यादिव्यङ्ग्यस्य सलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति ।

अमुमुत्तमीतमरूपम् । अभ्यासायकस्यापि मन्तेरूपसर्गयोगात् स्वीकारार्थवत्त्वम् ।
ध्वनिकारप्रभृतय इति शेषः । व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकापेक्षयाऽपि क्वचित्कारावायकत्वे
ध्वनिकारप्रभृतय प्राचीनाचार्या य ध्वनिमाचक्षते, स एवायम्, न तु नूतन कश्चिन्
प्रकार इति भावः ।

किं प्राचीनमभी आचार्यं श्यामाभावो को अमलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य मानने है, उनका आशय है कि
यद्यपि श्यामीभावो-रमो का प्रनाति के पूर्व विभाव जादि की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि
उन दोनों प्रनातियों में कार्य-कारणभाव है, विभावादि-प्रतीति कारण है, और रमादि-प्रतीति, कार्य,
अतः उन दोनों में पूर्वापरीय (अग वाछे वा) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अनियुक्त होने
के कारण उनका वह क्रम (पूर्वपर भाव) हों लक्षित नहीं होता, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों
को एक के ऊपर एक के विचार में रखते तबमें मूर्ध को चुभाने हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे
पत्ते में छेद होता होगा, पर सुझ ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्तों में छेद हो गया ।
इसके विरुद्ध परिश्रम वा कथन है कि हों, श्यामाभाव अमलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर तब जाद
नहीं, जहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावादि-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता और मूर्धको को
रमा ही भान होता है कि एक साथ ही विभावादि तथा रमाभाव की प्रतीति हो गई, और जहाँ
प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावादि का प्रतीति में ही अतिविलम्ब हो जाता है, फिर वहाँ
क्रम लक्षित क्यों नहीं होगा ? अर्थात् श्यामीभाव भी दोनों प्रकार के होने है, वही मलक्ष्य-क्रम-
व्यङ्ग्य और वही अमलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः वहाँ का रतिस्प
श्यामीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है । ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी वही सिद्धान्त है ।

शब्द के इमी (उत्तमीतम) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि शब्द कहते हैं ।

तथा 'निर्मृष्टरागोऽधर.' इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टराग इति रागस्य निरशेषमृष्ट-
तोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगविहोद्घाटनाय 'अधर'
इति विशिष्य ग्रहणम् । 'उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रम्य निर्मृष्टरागता घुम्बनकृ-
तं ।' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम् ।' इत्यन्तेन सन्दर्भेण 'तटादिघटिता
वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा सम्भोगाङ्गानामाश्लेषघुम्बनादीना प्रतिपादनेन
प्रधानव्यङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति ।' इति ।

'निरशेषच्युतचन्दन स्ननतट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेय तनु ।

मिष्यावादिनि । इति । बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे ।

वापी स्नातुमितो गताऽसि, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

इत्ययं पूर्णं श्लोकोऽमरशतकघटक । नायकमानेतु प्रहिता तमुपभुज्य समायाता
दूतीमुद्दिश्य स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोग प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया
उक्तिरियम् । जयि ! मिष्यावादिनि, 'नर्तनसाधनेनापि नायको नायात्' इति
मृषामापिणि । बान्धवजनस्य 'बान्धवो बन्धुमित्रयोः' इति हैमकोनाद् मद्रूपस्य मित्र-
जनस्य अज्ञात स्वार्थान्धतयाऽविमर्शितं पीडाऽऽगम क्लेशप्राप्तियंया, तथाभूते !
इति । सन्देशहारिणि ! (न तुःसधि ! नापि यथाऽऽवादिनि) मृष्टरागकर्तृत्वात्
इतो मदन्तिकात्, स्नातु सलिलाङ्गोहनं कर्तुम्, वापी दौघिकाम्, गताऽसि, अधमस्य
नितरामनुचिताचरणाप्रीचस्य, तस्य नायकस्य, अन्तिक समीप तु पुनः, न गताऽसि ।
(यत्) तव स्ननयोर्वंशोजयो, तट प्रान्तसमदेश उपरिभागो वा निरशेषे यथा
स्नान् तथा च्युत गलित चन्दन श्रीघण्ट घुमृण वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो
निम्नोष्ठ, निरशेष यथा स्यात्तथा (न त्वीपत्) मृष्ट प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलरम-
रक्तिमा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूर प्रान्तभागेऽप्यन्त वा अनञ्जने
कज्जलरहिते स्त । तथा—इय पुरोलक्ष्यमाणा तनुर्देहयष्टि तन्वी (सद्य
स्नानार्) कोमला, पुलकिता जातरोमाश्चा चास्तीत्यर्थः ।

प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'अप्यवदीक्षिन' ने 'चित्रमोर्माता' नामक अपने निबन्ध में 'निरशेषच्युत-
चन्दनम्' इस पद्य को चित्रकाव्य का उदाहरण माना है और उसमें घनिकाव्यना को सिद्धि करने
के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने दृष्ट से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पण्डितराज' को अभिमत
नहीं, अन् 'पण्डितराज' 'दीक्षिन' के मत का खण्डन करने के लिये पहले उनके मत का उदाहरण
करने हैं—'यसु' इत्यादि । किसी निरक्षिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने मिथुन को
बुला छाने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उसमें सम्भोग करके लौट आई और नायिका के
गाम आकर झूमूठ बाने बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं
आया' इत्यादि । चतुर नायिका को अमल बाग समझ में आ गई, परन्तु वह उस बात को स्पष्ट कैसे
कहे, अन् उस नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उस बात को व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग
पर 'निरशेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरशतक' में कहा गया है (सन्पूर्व पद्य संस्कृत टीका में देसना
चारिण) अर्थात् इसका यह है कि—दे मूठ बोलनेवाली दूती ! तू अपने बान्धव को (नेरी) पीका

उत्तरीयवसनसङ्घर्षादपि स्नानयोश्चन्दनच्युति सम्भवतीति तत्परिहाराय—
निशेषेत्युक्तम् । तथा च निशेष चन्दनच्युति उत्तरीयवसनसङ्घर्षात् सम्भवति,
किन्तु सम्मर्दनबहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निशेषचन्दनच्युते प्रक्षालनप्रधानान्
स्नानादपि सम्भव इति तदीय स्नानसाधारण्य निवारयितुं—तटपदमुपात्तम् । तेन तु
स्तनीपरिदेस एव चन्दनच्युति सम्भोगादेव न तु स्नानादिनि सम्भोगस्य व्यञ्जितम् ।
एव ताम्बूलभक्षणं विलम्बादपि पूर्वरागस्य म्लानि सम्भवतीति—निरित्युपसर्गं
उपात्त । तथा च ताम्बूलभक्षणविलम्बाद् रागस्यात्यन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु
सम्भोगादेवाधरपातप्रधानान्, 'कामिनामधरास्वाद सुरतादतिरिच्यते' इति काम-
शास्त्रानुशासनात् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लाने स्नानादपि सम्भव इत्यसाधारण्य
सम्पादयितुमधरपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरीयस्य चुम्बन कामशास्त्रप्रतिबन्तमित्य-
धरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानि सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदिपदप्रतिपाद्यन्तु नेत्रयो-
रञ्जनात्यन्तराहित्य तनोस्तागव पुलकितत्व च । तथा चाञ्जनग्रहणविलम्बात् स्नानाच्च
नेत्रयो विश्विदेवाञ्जनराहित्य सम्भवति, न त्वत्यन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताञ्जनराहित्येन
सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्यञ्जनम् । एव तनोस्नानव पुलकितत्व च काश्चान् स्नानादपि
किञ्चिदेव सम्भवति, न तु प्रभूततरमीदुशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्यतोऽपि तद्व्य-
ञ्जनम् । दूरसम्बन्धस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, प्रान्तभाग इति तु मानसिकोऽर्थः ।
'तटादिघटिता' इत्यादि 'आचरन्ति' इत्यन्त वाक्य निर्गमितायं बोधव्यम् । वाक्यार्था
निशेषेत्यादीना विशेषणवाक्यानामर्था । आदिपदेन सुरतसम्मर्दनसङ्ग्रह । प्रधान-
व्यङ्ग्य सम्भोग साहायक सहायस्य कर्म—उपकरणम् ।

को नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो वेदना है—उसको नहीं जान सकी, अतएव तू उन अधन
'नायक' के पास न जाकर बावड़ी नहाने पड़ी गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो
रही है, देखो, तेरे स्नों के छपर का भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की छाठी
(ताम्बूलकृत) विलकुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त भजन रहित हो गए हैं और दुर्बल यह तेरा
शरीर रोमाञ्चयुक्त हो उठा है यह तो दुर्लभ इस पर की सामान्य व्याख्या, अब 'दीक्षित' की त्रिदिश
व्याख्या सुनिये—उनका अर्थ है कि स्नों का चन्दन वर्य के सपर्ष से भी मिट सकता है, तो
नहीं ममता जाय इमदिये नायिका के मिटने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होता
है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना बर्य के सपर्ष मात्र से सम्भव नहीं । इन्हीं तरह
स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, उस सम्भावना को हर करने के लिये चन्दन का
विशेषण 'उपर भाग का' कहा, जिससे यह मान स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है
क्योंकि स्नान से जब चन्दन मिटता, तब समस्त स्थान का, पर तैरा चन्दन तो स्नान के ऊपरी भाग
में ही मिया है ऐसा आश्चर्य से ही हो सकता है । इन्हीं प्रकार ताम्बूल गाये बहुत देर हो जाने से
भी होठ की छाठी नष्ट हो जा सकती है, परन्तु वहाँ तो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूल
नाश का विशेषण 'विलकुल' कहा, अर्थात् ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की छाठी
विलकुल नष्ट नहीं हो सकती 'अथर्वसे कुछ पीकी हो जाय, इन्हीं तरह स्नान से भी यह छाठी न
नहीं हुई है इन बात को सूचित करने के लिये 'अपर' पर कह दिया, जिससे यह सिद्ध होता है कि
यह छाठी का विनाश चुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि छाठी नष्ट होती
तो छपर तथा नीचे दोनों ही होठों की, न केवल निचने होठों की ही, चुम्बन से तो ऐसा सम्भव है,

बुद्धयति—

तदेतदलङ्कारशासतस्त्वानवबोधनिबन्धनम् प्राचीनसकलग्रन्थाविरुद्ध-
त्वादुपपत्तिविरोधाच्च ।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य तद्वन्निबन्धनं द्वायितुमुपपन्नस्यति—

तथाहि पञ्चमोऽङ्गासशेषे—'निशेषेपेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यव-
नादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति यत्पञ्चाश्वं स्नानकार्यत्वे-
नोपात्तानोति नोपयोगं गव प्रनिवद्वानोत्पन्नैकान्तिकानि ।' इति काव्य-
प्रकाशकृतोक्तम् ।

इह स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनोऽपि स्तनचन्दनच्युतिप्रभृतिपदार्था निरादि-
शयार्थसम्बन्धमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रत्याख्यमाना प्रतिपादयिष्यमाणेनाघम-
पराशतोपलिख्यमाणा प्राधान्येन सम्भोगमेवावगमयन् काव्यस्य ध्वनित्वं सम्पादय-
न्तीत्याहूतम् ।

उपपत्तिपूर्तिरौचित्यनर्थान्तरम् ।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन । कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि । उपभोग
एव प्रतिवद्वानि—भवद्रमिमते दूनीकृतं सम्भोगरूपसाध्यव्याप्यानि । अनैकान्तिकानि—
स्नानमाधाररूपेण व्यभिचरितानि । भ्रमिन्नेव पद्य स्नानजन्यत्वेनोपादीयमानव्याप्य-
न्दव्युत्तिर्हि सम्भागात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न सम्भोगव्याप्या तस्मात् कुतस्तया
व्यभिचारिण्या सम्भोगोऽनुभातुं शक्य इति सम्भोगावगमनाय व्यञ्जनासक्तिरनुपेयैवेति
तदुपपत्त्याशयः ।

चन्दनच्यवनादीनां सम्भोगव्यभिचारित्वं प्रतिपादयताऽमुना ग्रन्थेन सह सम्भोग-
व्याप्यस्य प्रतिपादयतो दक्षितचित्रमोमासाग्रन्थस्य विरोधं स्फुटोऽवधारणीयः ।

क्योंकि कवरी होठ का चुम्बन कर्मरत्न में निहित है ।' वहाँ से लेकर 'यह भी च्चिनि का उदाहरण
है' वहाँ तक के सन्दर्भ से 'दीक्षित' ने यह मित्र किया है कि 'कर्म भाग' आदि पदों से एक एक
वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अङ्ग—आलिङ्गन, चुम्बन आदि के व्यञ्जन या प्रतिपादन के
द्वारा मुख्य व्यञ्ज्य (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में साहाय्य प्रदान करते हैं । सातों यह है कि
इस तरह की शक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वी के अङ्गों में परिदक्षित होने वाले वे विकार
गमक के साथ किये गये सम्भोग में ही उत्पन्न हुए हैं, दूसरे किमी तरीके से नहीं ।

अब परिदक्षित 'दीक्षित' इन पूर्वोक्त विवेचन का वर्णन करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि ।
'दीक्षित' का एक विवेचन अनभिज्ञता का सूचक है, अर्थात् वे अलङ्कार शास्त्रों के अर्थों को नहीं
समझते, अन्तर्गत नहीं करते हैं, क्योंकि उनका एक विवेचन प्राचीन सब अर्थों से तथ्य सुक्तियों से
विरुद्ध है ।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दित्तलाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देने है—'तथाहि पञ्चमो
ऽङ्गासशेषे' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'अङ्ग (निशेषेपेत्यादि) श्लोक में जो सम्भोगरूप
अर्थ व्यञ्ज्य माना जाता है, उसके ज्ञान के लिये व्यञ्जनाशक्ति की आवश्यकता नहीं है, अनुमान से
ही उस अर्थ का ज्ञान हो सकता है' इस भाँड़े चन्दन प्रसङ्ग में सम्भोग कहते हैं कि सम्भोग का
ज्ञान अनुमान से एक होता, यदि श्लोक में एक चन्दनच्युति प्रभृति सम्भोग व्याप्य होते—अर्थात्

काव्यप्रकाशस्यैव पुन स्वलान्तर विरोधप्रकाशनाथमुपादत्ते—
तथा तत्रैव तेन—

‘भ्रम धम्मिअ । वीसत्थो सो सुणओ अब्ब मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छनिकुडगवासिणा दरिअसीहेण ॥’

तत्रैव—काव्यप्रकाशपञ्चमोत्थास एव । तेन—मम्मटमट्टेन—

भ्रम धामिक । विश्वस्त स शुनकोऽथ मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छनिकुडवासिना दृप्तसिहेन ॥ इति सस्कृतच्छाया ।

पुष्पावचयाय स्वसङ्केतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्ज प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कस्यचित् स्वरहस्यप्रकाशसङ्कपा वारणाय कस्याश्चन पुश्चत्वा भणितिरियम् । धामिक । हे धर्मात्मन् ! विश्वस्त सविश्वास स्वैरमिति दावत् न तु प्राग्बत् सत्रासन्, भ्रम कुसुमान्यवचेत् (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सञ्चर । यत स स्वत्प्रात्य-हिक्रान्तस्य हेतुतया प्रसिद्ध शुनक आ कुनकुर, अथ—अस्मिन्नहनि तेन दुर्बन्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन प्रायस्त्वया केवलमज्ञातेन, गोदानद्या गोदावरीसरित, कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे, वासिना मार्वाण्डिकनिवसनशीलेन न त्वकस्मादागत्येन, दृष्टेन प्रसङ्ग जीवजीवनापहरणदर्शितेन, सिहेन केसरिणा, मारिनी हत इत्यर्थ । जघन-विपुला छन्द ।

अत्र प्राप्तकारणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धामिकस्य गृहपरिसरे भ्रमण-विधान वाच्यम् । शुनोऽपि श्रीरोस्तस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसङ्घावप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु वस्तुरूप पुश्चत्वा वक्ष्या वंशिष्ट्येन अङ्गुष्ठ । विशेषविचारस्त्व-स्मदीयघ्वन्यालोकदीधितावाशोचनीय ।

सम्भोग से ही वे सब (चन्दनच्युति आदि) होने वाले रहने, सो तो है नहीं, क्योंकि सम्भोग से अतिरिक्त कारणों से भी वे हो सकते हैं, जैसे दूरी पथ में उनकी स्नानरूप कारण का वार्य कहा गया है, इसलिये चन्दनच्युति बगैरह सम्भोग के व्यभिचारी (उनके बिना भी होने वाले) हैं, जब उन हेतुओं से सम्भोग की अनुमिति नहीं हो सकती । यहाँ इस सन्दर्भ को उद्घृत करने का तात्पर्य है कि मम्मट चन्दनच्युति प्रभृति को सम्भोग, स्नान आदि अनेक कारणों से होने वाला साधारण पदार्थ मानते हैं और आप (जीहित) बताते हैं, उसको सम्भोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ । अतः मम्मट के ग्रन्थ से आदिवा विवेचन विरुद्ध हुआ ।

प्राचीन ग्रन्थ से ‘दीक्षित’ मत में पढ़ने लाने विरोध को दृढ़ करने के लिये पुन काव्यप्रकाश के हो दूरे स्थल को उद्घृत करने है—‘तथा तत्रैव तेन’ इत्यादि । ‘भ्रम धम्मिअ ॥’ इत्यादि श्लोक संलक्षणमञ्जनि (वस्तुव्यवहय) का उदाहरण है । किसी व्यभिचारिणी नायिका ने गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी कुञ्ज को अपना सरेन-स्थान बना रखा था, परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ गित्य पुथ चुनने के लिये गया करता था, अतः उस व्यभिचारिणी ने अपने शरीर विहार में बाधा पानी देण कर हम धामिक से कहा—हे धर्मपुरुष ! अब आप विरतामपूर्वक (न कि वह लेने दते हुए) गमिये (पूछ चुनने के लिए मरे घर के आल-जगल न कि गोदावरी तट पर किरने रहिये) क्योंकि यिन पुते का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के शठप्राय प्रदेश की शापी में बसने वच (न कि अकस्मात् आवे हुये) मत् सिंह ने मार डाला । सारांश यह है कि घर के पास हुये

इत्यादौ लिङ्गजलिङ्गज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्ति गतार्थयतो व्यक्ति-
विवेककृतो मत प्रत्याचक्षणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिह्यमाना-
दपि लिङ्गाद्व्यञ्जनमभ्युपगतम् ।

लिङ्ग पक्षसत्त्व-मपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतु, तज्जन्म
यल्लिङ्गिन साध्यस्य ज्ञान, तदेवानुमानम् । व्यक्तिव्यञ्जना । व्यक्तिविवेकवृत्तस्ताकि-
कमतानुयायिनो महिममदृश्य । प्रत्याचक्षणेन छण्डयता । अभ्युपगतमङ्गीकृतम् ।
तेनेत्यभ्युपगतमित्यनेन मन्वद्वम् ।

अयमाशय — 'गोदावरीतीरनिकुञ्ज श्रमीटभ्रमणायोग्यम्, सिंहवत्त्वात्' इत्य-
नुमिनिरेवात्र भ्रमणनिषेधलक्षण व्यङ्ग्य गोचरयितुमलम्, कृत व्यञ्जनाया स्वीकारे-
णेति महिममदृश्य मत काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्यव्यभिचारित्वमसिद्धत्व च प्रदर्शना-
खण्डयन् । तथाहि—व्यभिचामित्वेन स्पष्टोपाच्छ्रुतौ मोरोरपि मोरत्वमायस्य
गुर-प्रभुनिदेश-प्रियाऽनुराग-निधिलामसम्भावनाऽऽदिपारवश्येन सिंहादिघटनेऽपि
स्थाने गमनस्य दर्शनाद्वेत्तौ व्यभिचार, तत्र सिंहसद्भावस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धत्वेन
पुश्चल्युच्चारितत्वादप्रमाणीभूतात्सावाक्यमात्रवेद्यतया चासिद्धत्वमिति द्विधा दुष्टेन
हेतुनाऽनुमिते सर्वथाऽमन्भव । व्यञ्जनापक्षे तु व्यभिचारिण सन्देहगोचरादपि हेतो-
निर्वाप्तौ व्यङ्ग्यार्थावगम, तत्र व्याप्त्याऽनुसन्धानानपेक्षणात् । तथा च प्रकृते हेतोर-
व्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासात् काव्यप्रकाशेन मह विरोध स्फुट एव बोध्यः ।

से भी इतनेबाले पण्डितजी 'अब आप धोखे से भी गोदा के कुञ्ज में मत जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह
रहना है, यदि जन्ने का दुम्माहम कौंजिएगा, तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा । इस तरह से यहाँ
भ्रमण का विधान (धूमो) बाध्य है और भ्रमण-निषेध (मत धूमो) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का
मत है, परन्तु लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान-ही अनुमान है-उत्तरे व्यञ्जना को गतार्थ
(व्यर्थ) करने वाले व्यक्तिविवेककार महिममदृश्य का कथन है कि यहाँ 'भ्रमण-निषेध का ज्ञान करने
के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदावरी तटवर्ती कुञ्ज कुत्तों से उरने वालों के भ्रमण
करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उम्माह (भ्रमण-निषेध का) ज्ञान
हो ही जायगा । व्यक्तिविवेककार के इस मत के खण्डन के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि
वक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अभ्युपगमित्य
तथा असिद्धत्व का सन्देह है अर्थात् स्पष्ट-दोष से बचने वाला धार्मिक यदि वीर हो तो कुत्तों से डरकर
भी सिंह में नहीं डरेगा अथवा उरने रहने पर भी गुरु अथवा प्रभु की आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग
तथा निधि-लभ को आश से तिष्ठ्युक्त स्थान में भी जा सकता है, इसलिये वक्त हेतु में व्यभिचारित्व
(भ्रमणाभावस्य नाच्छाहित पक्ष में रहने का) सन्देह है और 'गोदावरी तट पर सिंह है' इनका
निर्व्वय कैसे होगा ? इस ती उक्त धार्मिक ने देना नहीं, पुंक्षुली नायिका का कथन तो प्रमाण नहीं
हो सकता वह झूठ कइती हो देना भी सम्भव है, अब वक्त हेतु में अभिहित का सशय है, यदि आप
पूर्व्वे कि व्यञ्जनावादियों की भी तो 'सिंह है' इन वक्ति से ही भ्रमण-निषेध का ज्ञान होता है, भी
कैसे ? इनका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादियों को 'सिंह है' यह वक्ति सत्य है किन्ना निव्या इस बात
की खोज नहीं करना पड़ती, क्योंकि व्यङ्ग्य करने में व्यञ्जक का सत्य होना अभाधारण (अव्यभि-
चारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का बला होना आवश्यक माना
गया है । अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिग्ध तथा साधारण व्यञ्जक से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि मतसंवाद दर्शयति—
इत्यमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोद्घोते ।
तदेवाचष्टे—

एव च व्यञ्जकानां साधारण्य प्रतिपादयता प्रामाणिकानां ग्रन्थं सहासा-
धारण्य प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोध स्फुट ।

ननु व्यञ्जकानां साधारण्येऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थकारैरसाधारण्ये
तेषां तत् सुतरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जन प्रतिपादयतो मद्ग्रन्थस्य
तद्ग्रन्थं सह नास्ति विरोध इत्यतोऽस्त्वेतत्प्रतिविरोधलक्षणं रूपान्तरं त्रमेणोप-
पादयति—

किञ्च यदिदं निश्शेषेत्याद्यन्तरेवाक्याभ्यां वापीस्तानव्यावृत्तिद्वारेण

अभ्युपगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेष ।

वाच्य—व्यङ्ग्यार्थयोः स्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिकारोऽप्यत्र व्यभिचारामिद्वि-
द्वेषितादपि सिद्धसद्भावरूपाद्धेतोर्व्यङ्ग्यस्य भ्रमणनिषेधस्यावगम स्वीचकारेति तदपि
हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्यव्यदोक्षितस्य प्रकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिनिष्ठ ।

एवमुक्तप्रकारेण । व्यञ्जकानां चन्दनव्यवनादीनाम् । साधारण्य व्यङ्ग्यवाच्याप्य-
त्वव्यभिचारित्वमिति यावत् । ग्रन्थं काव्यप्रकाशादिभिः । तव ग्रन्थस्य चित्रमौमा-
साया ।

प्रामाणिक—प्राचीनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीत प्रतिपादिता,
त्वया पुनः प्रकृते व्यञ्जकहेतुनामव्यभिचारित्वसम्पत्तये महीयान् प्रयासं प्रियत इत्येतन्
एवंवा प्राचीनपद्यप्रतिकूलत्वादप्रामाणिकत्वयोपेक्षणीयमेव स्यादिति सारम् ।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्था
निश्शेषचन्दनव्यवनादयः । व्यावृत्तिव्यवच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । सम्पाद्यते कियते त्वयेति
शेषः । व्यङ्ग्यस्य सम्भोगस्य । उपामत्व प्रयोजकता ।

इस प्रकार ग्रन्थ से अमन्दिग्ध तथा अनापारण व्यञ्जक से ही अभिव्यक्ति का समर्थन करने वाला
दोक्षित-ग्रन्थ विरुद्ध है ।

इसी प्रकार ध्वन्यालोककार राजानक 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में
कहा है, अर्थात् उन्होंने भी 'भ्रम भग्निज' इस वचन में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यंग्य का होना
(नीकार पिया है, अतः ध्वन्यालोक-ग्रन्थ से भी दोक्षित का एक विचयन विरुद्ध होना है ।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनगुनि आदि की साधारणता (व्यङ्ग्य तथा
स्पष्टिरीक वस्तुओं से सम्बन्ध रखना) के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशकार आदि के ग्रन्थों में व्यञ्जक
की अनाधारणता (व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखना) का प्रतिपादक अल्प दोक्षित वा ग्रन्थ विरुद्ध
व्यञ्जक है ।

यदि आप करें कि जब साधारण व्यञ्जक में भी व्यंग्य का होना प्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्यों
को अभिमत है, तब अनापारण व्यञ्जक से उम्हा होना तो सुतराम् धन लोगों का अभिमत निकल
होता है, फिर ही अनापारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना (जो दोक्षित वा अभिमत है) विरुद्ध नहीं
होता । अतः अब मन्दिग्धताय सुक्तिरिषेध दिरुद्धानि है—'किञ्च यद्विदम्' इत्यादि । यहिद्वारा

व्यङ्ग्यासाधारण्यं सम्पाद्यत, तत् किमर्थमिति पृच्छाम । व्यङ्ग्यस्य व्यञ्ज-
नार्थमिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात् ।

तदेव व्यभिचारस्यलमुदाहरति—

‘ओष्णिद्द्व दौब्वल्ल चित्ता अलसत्तण सणीससिअम् ।

मह मदभाइणीए केर सहि ! तुह वि परिभवइ ॥’

प्रहृतोपादानमुपपादयति—

इत्यादौ साधारणानामेवौष्णिद्रथादीना वक्त्रादिर्वांशिष्टचवशादर्थविशेष-
व्यञ्जकताया अभ्युपगतेः ।

व्यञ्जकाना वाक्यार्थानामव्यभिचारित्वसम्पादनार्थमियानय प्रयासस्तथाऽपि
विफल, व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतरसोऽनुभववादिति भाव ।

‘ओष्णिद्द्व चिन्ताऽलसत्त्व’ सनिश्चसितम् ।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि ! त्वामपि परिभवति ॥’ इति सस्कृतच्छाया ।

कामुकान्तिके प्रहिता स्वयमेव तमुपमुञ्च्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्ती सखी प्रति
यिदितसकलरहस्याया कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम् । अयि, सखि ! मन्द
शोभनफनानिकृष्टश्रासौ भागो भागधेयमस्त्यस्यमिति मन्दभागिनी हीनभागा,
तस्या मम कृते मदयेम्, ओष्णिद्द्व निद्राराहित्य प्रजागर इति यावत्, दौर्बल्य दुर्ब-
लता, चिन्ता विषयानुष्णानम् सनिश्चसित निश्चाससहित्वम, अलसत्वमालस्य च
त्वामपि परिभवति पौडयतीत्यर्थं ।

तथा च ‘अर्धे कृतेऽव्यय तावन् तादर्थ्यं वर्तने द्वयम्’ इति कोशसार, ‘भागो
रूपाद्यंके शोक्तो भागधेयैकदेशयो इति विश्वश्र । अर्थो छन्द । काव्यप्रनाशसम्भवे
पाठे तु चतुर्पंचरणेऽहृतेत्यधिकशब्दसमावेशेन मात्रात्रयाधिक्याद् गीतिप्रछन्द ।

आदिमेनादिपदेन दौर्बल्यप्रभृतीनां द्वितीयेन च प्रतिपाद्याया सख्या सग्रह ।
अर्थविशेष कामुकोपभोग ।

दीक्षितजी से पूछने ह कि आप जो ‘कार भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है’ इत्यादि वाच के वाक्यों
के अर्थों को वागम्यान में सङ्गत नहीं होने वाले बनाकर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही सङ्गत होने
वाले (असाधारण) बनाने हैं, सो क्यों ? व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो सके इसलिये ? यह उत्तर ठीक
नहीं, क्योंकि व्यञ्जक का असाधारण होना अर्थात् व्यञ्जक वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखते और किसी
से नहीं, इस बात का होना आवश्यक नहीं है ।

‘व्यञ्जक का असाधारण होना आवश्यक नहीं है’ इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह का उदाहरण
दिखाते हैं, जहाँ साधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य हुआ है—‘ओष्णिद्द्व’ इत्यादि । भावक से स्वयं
सम्भोग करके आई हुई दूती की चेष्टाओं को देख कर उसने नादिका कही है—दे सखि ! मुझ
जभागी के लिये तुम भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और दम पूटना, ये सब पीण दे रहे हैं
अर्थात् मेरा दुर्भाग्य देसा प्रबल है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, माध-माध मेरे लिये तुने
भी कष्ट भोगना पड़ता है ।

यहाँ जागरण आदि व्यञ्जक पदार्थ सर्वथा साधारण है, अर्थात् सम्भोग, वियोग, रोग प्रभृति
कृत्रिय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यञ्जकों से दूती का सम्भोग व्यङ्ग्य

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जानानुपयोगित्वेऽपि क्वचित्तुनस्तस्य सति सम्भवे कथनं कथम-
मङ्गतमित्यरचेदोपान्तरमाह—

प्रत्युतासाधारण्यस्य व्याप्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रति-
कूलत्वाच्च ।

व्यञ्जनासाधारण्यं पुनरपस्या निराकरोति—

अथ तदादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, मलि-
लाद्रवमनकरणप्रोञ्छनादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्तानव्या-

अथोत्रिद्रघादीना रोगात् प्रियतमवियोगान्वापि सम्भव इति रोग-वियोगोभय-
साधारण्यत्वेऽपि क्वन्वा ज्ञानरहस्याया निभृततर्जनपरामा नायिकाया, प्रतिपाद्याया
पूर्वमनेकघादुष्टदुष्टषेष्टाया सहमात्रं वैशिष्ट्यात् तत्कामुकोपभोगो व्यज्यत इत्या-
चार्यैरङ्गीकृतम् । तच्चोत्रिद्रघादीना व्यञ्जकानामसाधारण्यविरहादमङ्गतं स्यादित्य-
साधारण्यस्य व्यञ्जानानुपयोगित्वं निश्चीयत इत्याशयः ।

प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्यायंक्रमव्ययम् । व्याप्यत्वेनामित्यस्य व्यापकामावाधिकरणा-
वृत्तित्वं व्याप्तिः । यदि व्यञ्जकानामपि हेतूनामनुमितिहेतुदद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्यं
भवेत्, तर्हि अतो व्यञ्ज्यस्य सुतरामनुमितिरैव स्यात्, तथा व्यञ्जनाया आनयंक्व-
मिति व्यञ्जनासाधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनोच्छेदतक्षणं विपरीतमेव फलमापद्येत,
तस्मात्प्रसाधारण्यं व्यञ्जकानामुचितमित्यमिसन्धिः ।

होता है, एसा सभी आचार्यों ने माना है । यद्यपि आप वहाँ दह प्रश्न उठा सकते हैं कि भाई ! अब
अनाधरण आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो सम्भोग, वियोग, रोग सकते हो सकते हैं, तब उनसे सम्भोग ही
क्यों ब्यक्त हुआ ? इतना समझना यह है कि बोलने वाली नायिका और प्रतिपाद्य दूनी में कुछ
देमो विच्छेदना है, जिन पर गौर करने से सहृदयों के मन में सम्भोगरूप अर्थ अभिव्यक्त हो उठता
है । अर्थात् करने वाली नायिका का मुख तमनमया सा है, वाणी रुझ है, जो समवेदनायुक्त नहीं
हो सकना इसी तरह दूनी के मुख पर भय की छाया है उसकी दुःख चेष्टाएँ अनेक बार पहले पढ़ी
जा चुकी हैं, इन सब विच्छेदनाओं पर ध्यान देने से स्पष्ट मान्य हो जाता है कि दूनी अनाधिनी
है और नायिका उसे प्रच्छेदक में तर्जना दे रही है । इतना समझ लेने पर दूनी के (नायिका के
पति के साथ) सम्भोगरूप अनाधरण को समझने में किन्ती सहृदय हो विच्छेद कैसे हो सकना है ? इस
तरह से यह सिद्ध हुआ कि ब्यञ्जक का अनाधरण होना ब्यक्त होने का उपाय यह नहीं है, किन्तु
बल्य और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही उसका निदानक है ।

यदि आप बचें कि सर्वत्र अनाधरण्य व्यञ्जन का उपयोग भले ही न हो परन्तु मल्लविद्येय में
अगर ब्यञ्जक अनाधरण हो तो उमदा प्रतिपादन अर्थात् क्यों होगा ? इसी अर्थ को ध्यान में
रखकर प्रबन्धकार दोगानर का उल्लेख करते हैं—'प्रत्युत' इत्यदि । कहने का तात्पर्य यह है कि
कहीं भी अनाधरण्य व्यञ्जन का उपयोग नहीं हो सकता, किन्तु प्रतिकूल ही होगा, क्योंकि
अनाधरण्य अर्थात् ब्यञ्जक अर्थ का ब्यञ्ज्य अर्थ मात्र से समन्वय रचना व्याप्तिय ही सिद्ध होगा,
फिर तो हम व्याप्ति से विरिद्ध, ब्यञ्जक रूप हेतु से ब्यञ्ज्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन
नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनावृत्ति
दीक्षित को भी अभिमत नहीं हो सकता है ।

वन्नेन क पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुगतिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वान्ध ।

नन्विहैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तु गताऽमीनि प्राधान्येनाद्यमपदेन व्यन्यते' इत्येवकारधटितवाक्यमुन्तिषद्भिर्मम्मटमट्टयंदेव व्यञ्जकानामसाधारण्य सूचितम्, तदेव मयाऽपि वापोस्तानव्यावर्तनमुद्धेतोक्तम्, न तु दूतन किञ्चिदिति मनसि कृत्यानिघत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तु गताऽमीति व्यञ्ज्यशरीरे तदन्तिकगमन रमणरूपफलाशश्चेतिद्वय घटकम् । तत्र तावत् तदन्तिक गताऽमीत्यणस्य

प्रथम आदिशब्दोऽत्ररामग्लान्यनिशयादीन्, द्वितीयस्तु जलविन्दुपातादीन् सङ्गुल्लति । सवित्तेनार्द्रं क्लिन्नं यद् धमन, तत्करण यस्य यत्र वा, 'तत्तादृशं प्रोञ्छन वक्ष—प्रभृत्यङ्गानाम् । 'वापीस्तानव्यावर्तनेने'त्यन प्राक् 'तटाद्युपादानान्' इति शेष । पुरुषार्थं पुरुषोद्यमफलम् । व्यभिचारस्य तथाऽपि जागृक्त्व फलभावे हेतु । 'ज्ञाताया' इत्यत्र 'जाताया' इति पाठस्तु कन्यचिच्चित्त एव व्यभिचारस्य जागृक्येव (न तु स्वरूपता) व्याप्तिग्रहविषयकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धकत्वात् ।

तटाद्युपादानेन वापीस्तान व्यावर्त्य निशेषेत्पादिवाक्याद्यानां कामुकोपभोगासाधारण्य सन्निपादयिष्यतस्तवामीष्टगिद्धिर्दुर्घटं, तेषा स्तनतटात्यन्तचन्दनच्यवनादीनामार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छतादिमिरपि जननमन्भवान् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैधुयेण व्यभिचारस्य जागरूकनवासाधारण्यस्य प्रतिष्ठानामन्भवाद् । इत्य च मयाऽनेकेषु, तथा कुत्रचिदेकत्रापि स्थाने दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमिते प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्यभिचारितया स्वमने व्यङ्ग्यबोधविरह एवापद्येन । मन्मते तु वैयङ्ग्यनिकषोपे हेतुसाधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वात्प्र क्षतिरिति तात्पर्यम् ।

अपि चेति खण्डनप्रकारान्तरत्वसूचकम् । शरीरमाकार स्वरूपमिति यावत् । घटक तदन्तर्वति । त्वन्मत इत्यनेन स्वमते तद्व्यञ्ज्यताया सूच्यते ।

यदि आप कहें कि 'नि शेषेषुचन्दनम्' इन पत्र में उपरिभागताचक्र तट आदि शब्दों में रचित वाक्यों का अर्थ यमपि ऐसा है जो स्नान प्रकृति में नहीं लग सकते, तथापि वे अमाधारण नहीं हैं अर्थात् सम्भोगमात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीते काठे से पीछे देने पर भी सर्वथा उपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे अमाधारण नहीं होंगे, तब अनुमान को वात उठ नहीं सकती, इसके उत्तर में हम प्रश्नकर्ता से यह पूछना चाहेंगे कि अब आप 'स्वरभाष को चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक वाक्यार्थ को अमाधारण नहीं बनना चाहते अर्थात् गीते काठे से पीछे देने पर भी होने वाले हो मानने हैं, तब वापा-स्तान से वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या लाभ उठाये ? क्योंकि जैसे एक स्थान पर व्यभिचारित होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना, अनुमान के प्रतिवृत्त और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचारित होना भी । अब चन्दन मिटने का सम्बन्ध मदसे रहने दृष्टिये, किन्तो से उसके सम्बन्ध को विधिप्र करने का प्रयत्न व्यर्थ है ।

दीक्षित-न-खण्डन-प्रसङ्ग में अब एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—'अपि चात्र' इत्यादि, 'नि शेषेषुचन्दनम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होगा है कि 'दू (दूरी) उनके पास रमा करते गई

त्वन्मते व्यङ्ग्यत्व दुरूपपादम्, त्वदुक्तीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निशेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थं वापीस्नाने बाधितत्वात् वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थोभूतविधि-निषेधप्रतिपादकाम्या 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः ।

ननु तदन्तिकगमनाशस्यात्र बाधितत्वेन नक्षणागम्यत्वेऽपि व्यञ्जनाविद्यत कुतो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता ।

त्वदुक्तीत्या विशेषणवाक्यानां तदादिषट्चित्त्वेन सम्भोगासाधारण्यमित्येव रूपया । वापीस्नाने तेषां बाधितत्व सम्भोगासाधारण्यादेव । वाच्यकक्षायामन्वियेवकोटी गतो प्राप्सो प्रधानवाक्यार्थोभूतो वापी स्नातुमितो गताऽसि तस्याधमस्यान्तिक पुनर्न गताऽमि इति वाक्यायथो क्रमेण प्रधानीभूतौ यो विधि-निषेधौ 'तयो प्रतिपादकाम्या बाधकाम्या गता न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया 'उपकृत बहु' तत्र किमुच्यत इत्यादिवद् वैपरीत्यलक्षणमस्वल्हमूलकलक्षणलक्षणया, क्रमेण (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतयेनेन) विधेश्च प्रतीतेरिति सम्बन्धः ।

यदि त्वदभिमत निशेषेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगमात्रजन्यत्व स्यात्, तदा वापीस्नानजन्यत्वाभावात् । तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतनक्षणया गतेत्यनेन गति-निषेधस्य न गतेत्यनेन गतिविधेश्च प्रतीति तन्मूनकव्यञ्जनया पुन प्रयोजनस्य रमण-रूपस्य केवलस्य प्रतीति स्यादिति तदन्तिकमेव रन्तु गताऽमोति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्यायस्य व्यङ्ग्यत्वमममममेव । मन्मते तु विशेषणवाक्यानां सम्भोगासाधारण्याभावाद् वापीस्नानेऽपि बाधितत्वविरहेणात्र लक्षणाया प्रनरणाभावात् समस्तवाक्यायस्य व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेति तेषामसाधारण्य विशेषणवाक्यार्थानां दुरूपपादमेवेत्या-कृतम् ।

उन्मीलिते नक्षणया बोधिते । व्यक्तिवेद्यता व्यञ्जनाविद्यता ।

मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यता व्यञ्जनाविद्यता । यस्माद् व्यञ्जनाविद्यता व्यक्तिवेद्यता न भवति तस्मात् तदन्तिकगमनाशस्य व्यङ्ग्यत्वमममवीति तात्पर्यम् ।

धी ! 'इम व्यङ्ग्य मे दो अश द । उनके से एक अश द । 'उमक पाम गई धी' यह और दूसरा अंश है 'रमो' ज पदस्य है । अब दाहिने को व्याख्या के अनुसार 'उमके पाम गई धी' यह अंश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसी व्याख्या के अनुसार 'निशेषयुक्तचन्दन' इत्यादि वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है 'वपु में स्नान करने गई धी, उम अथम के पाम नहीं' वह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता । अब अगल्या 'मुख्यार्थबाधे तदुक्त' इत्यादि शीति से यहाँ विपरीत लक्षण बरनी पड़ेगी, जिससे वाच्यकोटि में जहाँ 'नहीं गई धी' है वहाँ 'गई धी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई धी' है, वहाँ 'नहीं गई धी' अर्थ होगा, अर्थात् वाच्य अर्थ सङ्गत ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणवृत्ति से ही 'उमके पाम गई धी' यह अंश छान हो जायगा, तब उम अंश को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

यदि उक्त बड़े कि लक्षण (लक्षणवृत्ति से समझ में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है ? इम उक्त का समाधान करते हैं—'नहि मुख्यार्थ' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि साहित्य-वङ्ग्य में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है । 'अनौचित्यादौ नान्यदसम्भक्त्य कारण' वरा

उदाहरणप्रदर्शनीकमर्थं द्रव्यति—

यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्त. स्नान्ति मानवा ।' इत्यत्र कर्तृ-
विशेषणानुपपत्त्यधीनोद्भासे पूर्णत्वाभावे ।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयाशस्य व्यञ्जनावोच्यत्व त्वक्षतमेवेत्याक्षेपं
समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य कलाशस्य लक्ष्यशक्ति-
मूलध्वननवेद्यत्वमव्याहृतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जाल्या

शुष्कवत्प तडाग निन्दत कस्यचिद् भ्रणितिरियम् । यत्र यस्मिन् सरसि लुठन्त
इतस्तत्र परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमङ्क्तु शक्नुवन्, मानवा,
स्नान्ति, तादृगभिदम्, अहो अदनुत, पूर्णं सलितैररिक्त सर सरोवरमस्तीत्यर्थं ।
कर्तृणा स्नानकर्तृणा विशेषणस्य कोठनस्यानुपपत्त्यधीन सरम पूर्णत्वेऽन्वयानुपपत्त्या
जनित उल्लासा लाक्षणिको बोधो यस्य, तादृशे पूर्णत्वाभावे रिक्तत्वे न व्यञ्ज-
नेति श्रेय ।

'लुठन्त' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्वयस्य बाधारलक्षणया प्रत्या-
यमान पूर्णत्वाभावो यथा व्यञ्जना अन्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रवृत्त भवदु-
त्तव्यङ्ग्यप्रथमाशोऽपि न भवेदिति भाव ।

अमुमेवायं चित्रमीमासाखण्डने—'एव च तटादिघटिताना वाक्यार्थाना मुद्धार्य-
वापीस्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधिलक्षणया 'वापी स्नातु न गताऽसि, किन्तु तदन्ति-
कम्' इति प्रतिपत्तौ विमलितव्यापारेण यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्त स्नान्ति
मानवा इत्यत्र 'लुठन्त' इति विशेषणस्य मुख्यार्थेऽनुपपत्त्या विद्वद्बोध्यो मासमा-
नोऽपि न व्यङ्ग्य । इति सन्दर्भेण पण्डितराज स्वयं स्फुटीकरार ।

लक्षणावेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणान्यवोद्यविषयत्वेऽपि । रमण कामुकोपभोग ।
लक्ष्यस्य बोधिका शक्तिवृत्तिलक्षणा मूल यस्य तादृश ध्वनन लक्षणामूला व्यञ्जना ।

गया है । और किमो भी शक्ति से समझ में आ जाने वाल अर्थ को पुन व्यञ्जना से समझें यह
अनुचित नथ अर्थ है । अतः लक्षणा से समझ गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से
समझने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है ।

लक्षणा—बोझ—अर्थ व्यङ्ग्य नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण दिखलाकर दृढ़ करते हैं—
'यथा—'लुठन्त' इति । अहा ! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिनमें मनुष्य छोटने हुए स्नान करते हैं,
जो जलाशय जल से पूर्ण रहेगा हममें लोग छोटने हुए स्नान नहीं करते, अपितु डुबकियाँ लगाते हैं,
और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'छोटने हुये कहा गया है, जिनसे सरोवर का विशेषण जो कहा
गया है 'भरा हुआ' उमका अर्थ बाधित हो जाता है अर्थात् 'उसका' अन्वय 'छोटने हुए' के साथ नहीं
बैठता, अतः पूर्ण पद को पूर्णत्वाभाव (नहीं भरा हुआ) में विरोध लक्षणा करनी पड़ती है, इस
रिक्ति में जैसे 'सरोवर पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाता है, व्यङ्ग्य नहीं,
वैधे ही दीर्घ की टोनी से 'उसके समीप गई थी, 'नहाने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षणा के विषय
हो जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

अब यदि कहा जाए यों कि 'उसके पास गई थी' यह अर्थ लक्षणा से जान हो जाने के कारण
व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, न ही 'रमण' जो पलक्ष्य होने से मुख्य है—अर्थात् लक्षणा मूला व्यञ्जना से

कमणा वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना सन्दर्भेण भवतेवार्थापत्तिवैद्यताया स्फुट वचनात् ।

ननु द्रुतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवैद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आचष्टे—

अनन्यत्वभ्यस्य च शब्दाद्यताया अस्वीकृते ।

चित्रमीमासाप्रत्यसवादात् वृत्तीत्यस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहित । उक्त-जातिवन्नायिकाया अपकृष्टजातिवन्नायकेऽनुरागानौचित्यात् तन्नायिकायास्तत्त्वयना-नौचित्यम् । आदिशब्देन नापि स्वापराधपर्यवसायिद्रुतीसम्भोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कमणा । तादृश द्रुतीप्रेषणात् प्राचीन सर्वं सोढमेवेति नोद्घाटनाहम् । अन्यथा स्वय द्रुतीसम्भेपणानुपपत्तेः । इत्यादि पुरस्तान्मूलेऽप्युपदेश्यमाण चित्रमीमासाप्रकरण परामृष्यत ।

अप्यध्यदीक्षितमने रमणरूपफलादास्यापि व्यङ्ग्यत्व न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्ति गम्यत्वमेव यतस्तदुक्तरीत्या रमण विना नायकाद्यमत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तेनार्थापत्त्यैव स्वोपपादक तद् बोध्यत न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्यागम्ये । तथाहि—जात्या नायकस्याद्यमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्बलमेव, द्रुतीसम्भेपणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधाना सोढत्वाच्च तैरप्यद्यमत्व दुरपपादमेवेत्यनापत्त्या द्रुतीसम्भेपणोत्तरकालिक द्रुतीसम्भोगलक्षणमेव कामानुसामनगाहित नायकस्य कर्म तदुपपादक मागूयत इति स्फुटतरे नदीयसन्दर्भाद्येऽर्थापत्तिवैद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्राय ।

'अन्यत्वभ्यो हि शब्दाद्य इति सिद्धान्तेन प्रकृते द्रुतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवैद्यत्वे न्यत्वत्वत्वाद् व्यञ्जनावेद्यत्व न स्यादित्यर्थः ।

व्यङ्ग्य होगा ही और वसी मुन्न व्यङ्ग्य को लेकर इस श्लोक में धनितान्य वा लक्ष्णा मत्पदित करेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमासा' में उन अर्थ को भी 'अथापत्ति' प्रमाण से समझने योग्य बना है । यदि कोई पूछे कि कैसे ? तो सुनिये—'चित्रमीमासा' में उसने कहा 'अथम वा मनलभ है अयम् और अयम् कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जति से अथवा कर्म से । अतः सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नायक के लिये अथम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस कारण से ? जति से अथवा ममज्ञकर अथवा कर्म से ? उत्तर स्पष्ट है कि कर्म से ही अयम् ममज्ञकर एक प्रयोगनायिका ने किया होगा, क्योंकि उत्तम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को जति से हीन होने के मान अयम् नहीं समझ सकती और न उसके चलन अथम ही वह सकती' इत्यादि । अब जरा गहरापणा गौर करें कि 'रमण' 'अथापत्ति' से शात होगा वा नहीं ? मैं बहुत अस्वस्थ होगा, क्योंकि नायिका अथम कर्म के चलन नायक को अथम समझने लगी वह कर्म द्रुतीप्रेषण से पूर्वकाल का नहीं हो सकता अन्यथा दुर्ती को वह भेजती ही नहीं, पठन द्रुती के भेजने के बाद का जो अयम्काल है, उसी में नायक के द्वारा विद्ये गये किसी कुकर्म को देख कर नायिका नायक को अथम कह रही है यह निश्चित है फिर तो अथम कहने से मध्यकालिक नायक का वह द्रुतीसम्भोग-हृत्-कुतर्भ अर्थात् लम्ब हो ही जायगा ।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थात्पत्तिवैद्य होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलियेगा ? इसका उत्तर मन्थार देने हैं—'अनन्यत्व' इत्यादि । अन्य किसी भी शक्ति से जो समझ में नहीं आ सकता

नवार्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिर्धैवैव चारिताध्यान् प्रमाणान्तरत्वस्य तात्त्विकादि-
मिरनभ्युपगमाद् वृत्तित्वामावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्व्यतिरेकस्य व्यञ्जनाद्येद्यत्वं निर्वाध-
मेवेत्यासाङ्गानभ्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुर्व वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न त्वेष्ट-
मिद्धि, वाच्याना निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्त-
रीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

उपसहरति—

एव चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

यथाकथञ्चिदर्थोपत्तेरतिरिक्तत्वामावादिस्वोकारेण । तत्र विशेषणवाक्यार्थासाधार-
व्यवादिन । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यञ्जकतया प्रकृतकाव्ये ध्वनित्वस्य न
सिद्धिः । त्वदुक्तरीत्याऽसाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा
जात्या वा । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य वाच्यमिदध्वङ्ग्यत्वप्रत्यक्षरूपस्य प्रसङ्गादापत्तेः ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि त विना वाच्याधमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन
व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्धयङ्ग्यतया गुणीभूतत्वादस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्व
भवदभिमतमिति तात्पर्यम् ।

एवमुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च ।
उपपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकाराद्यनुरोधत्यागश्चापिना
सूच्यते दूषणम् ।

हो, उनी को किमी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है । अतः अन्य अर्थोपत्ति प्रमाण से
उभय समझ में आने योग्य उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है ।

यदि आप कहें कि 'अथापत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, नैययिकों ने उसको अनुमान में
ही गतार्थ किया है, फिर उसको पृथक् प्रमाण मानकर उसमें किसी अर्थ को समझने का बाल करना
उन्मत्त प्रलाप सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो पण्डितराज इन
तर्कों को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का खण्डन करत हैं— अपि 'च' इत्यादि कहने का
तात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किमा तरह व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बाल मान भा ली जाय तथापि
आप की इष्टमिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् यह पद्य घनिष्ठाव्य का उदाहरण नहीं हो मरेगा, क्योंकि
'स्वर्गों के ऊपर भाग का चन्दन मिट्टना, मित्रों शोध का ही रज उज्जता तथा नन्दन का अधम होना'
ये सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिमाव से केवल दूता सम्भोग से ही हो सकत हैं, वापेम्मान
आदि से नहीं और वह दूती-सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह मिद्धि हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य
ही वाच्य अर्थ को मङ्गल बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ को अनेक गौण हो जायगा,
जिससे यह पद्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य का उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम
काव्य का नहीं ।

इस तरह से दीक्षित के मत में दुक्तिविरोध भी है, अतः उनका मत अग्रहण है ।

इत्यमत्राप्यव्यदीक्षितदर्शितदिता सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य काव्यप्रकाशाद्यु-
रोधपरवश स्वमतेन पुनरपरथा स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद् वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपिताना विशेष-
णवाक्यार्थानाम् ।

न हि विदग्धा नायिका स्फुटतर वक्तु शक्नुयाद्रहस्यमिति वाच्यव्यङ्ग्यधोम-
हाधारण्यमेवोचित विशेषणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्पद्य विवृणोति—

तथाहि—अयि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे । स्वार्थंपरायणे । स्नानका-
लातिक्रमभयवशेन नदी—मदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वेव, वापी स्नानुम्, इतो मद-
न्तिकात् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्ति-

तस्मादसाधारण्याङ्गीकारे प्रागुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्नाने साधारण्य-
मेव, न तु व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च द्वयर्थे परं
पिशुनमेव च रहस्यवस्तु इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्नानयो साधारण्या एव
तदुक्तैरौचित्यम् न तु पामरनारीकत स्पष्टतरार्थाया । निरूपिताना बोधिगगा
कथिताना वा ।

स्वार्थंपरायण इत्यनेन बान्धवव्यादिमम्याधनफनिताथंकर्यम् । नद्या नायिका
प्रियस्य च दूरस्थगया तदान्तिकागमे वापीगमे व स्नानकालातिक्रमो हेतु । इय
इत्यस्य विवरण मदन्तिकादिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय परत्याद्यधमत्व-
सम्पादकापादानम् । वाप्या गता स्नानार्थं स्थिता, बहुत्र भूयासो ये युवजना,
तेभ्यस्तत्सम्बन्धिनी वा या त्रया तथ युवत्या लज्जा, तस्या पारवश्यात् । असद्वये
स्वच्छयुगले लभन सम्बद्ध आ करूपोऽभ्रभागो यस्य, तादृश स्वस्तिकीवृतमधर्म-
मुकुलोवृत च यद् मुञ्जलतायुगल तेनेति सम्बन्ध । मुहुरामर्शो स्तन्तदौघ्रत्य हेतु ।
एव—त्रयापारवश्यात् । त्रयापारवश्य त्वराया मूलम्, त्वरामूलवञ्च सम्पक् कालना-
भाव । तथा—निर्मृष्टराग । मात्रसब्देनाङ्गुलिससर्गव्यवच्छेद । क्षीतेति भावप्रधान-
निर्देश । तानव कामलता कार्श्यं च । व्याख्यानपर्यवसानसूचक इति शब्द । एवमुक्तं
प्रकारं । तस्या कथस्या नायिकाया । गूढ साधारणधीरालिजनावेद्य तात्पर्यमादायो

इमलिये यह समझना चाहिये कि अति चतुर नायिका के मुख से निकल हुए 'निरोपयुत-
वन्दनम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा ही होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यङ्ग्य
अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लग सके, न कि ऐसा जो केवल व्यङ्ग्य
सम्भोग में ही लगे ।

अब जिससे एक दोषों का अन्काश न हो, तथा यह वष धनिकाव्य का उदाहरण हो सके, ऐसी
व्याख्या उक्त श्लोक की प्रतिपाद करने है—'तथाहि' इत्यादि । 'दो अर्थ वाप्य परों से रहस्य वस्तु
को सूचित करना चाहिये' इस नियम के अनुसार चतुर नायिका दूरी से कहती है—'हे इति' ।
वही स्वाधिनी हो, तभी तो मुझ जैसी सगरी के दिल में बढ़ती हुई पीडा का कुछ भी ख्याल न कर
जाने स्नान-समय के चूक जाने के भय से मेरे धिय वे पाम नहीं गई, न नदी बिनारे ही गई (क्योंकि
यह भी दूर था) और सीधे मेरे पास से वापी पर स्नान करने पड़ी गई । दूसरे की पीडा को (जानने

कम् । यतो निश्शपच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नीर स्थलम्, वापीगतवहु-
ल्युदजन-त्रपापारवश्यादसद्वयलग्नाग्र-स्वस्तिकीकृत-भुजलतायुगलेन तटस्थै-
वोघ्नततया मुहुरामर्शात् । एव त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठो न निर्मुहुराग ,
अघरस्तु तदपेक्षया गण्डूपजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसम्मर्दमावह-
तीति तथा । किं च—सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गात् दूरमुपरिभाग
एवानङ्गने । शीतवशात् तानवाच्च तव तनु पुलकिता, इति । एव तस्या
विदग्धाया गूढतात्पर्यवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्ते ।

एव साधारणेष्वेपु वाक्यार्थे मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य भट्टित्य-
नाकलनान् कुतोऽत्र लक्षणाऽवकाश । अनन्तर च वाक्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृवोद-
व्य-नायकादीना वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ मत्यामघमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दु ख-
दातृत्वरूपो घर्म साधारणात्मा वाच्यार्थदशयापराधान्तर-निमित्तक-दु ख-
दातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक-दु खदातृत्वा-
कारेण पर्यवस्यतीत्यालङ्कारिकमिद्धान्तनिष्कर्षं ।

यस्या इति बहुव्रीहि । उक्तेर्गूढतात्पर्येणैव वीज वैदग्ध्यमेव । अत एवोक्तेरगूढार्थकत्वे
तदमङ्गप्रसङ्ग । मुख्यार्थवाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुपसाधारण्य हेतु । एव
मुख्यार्थवाधविरहाल्लक्षणाया अप्रसङ्गे । मुख्यार्थे दापीस्नाने । अनन्तर वाच्यार्थबोधो
त्तरम् । वक्त्री विदग्धोत्तमनायिका वाद्व्यापुञ्जली दूती, वाकुप्रभृतिश्चादिपदेन
प्रतिपाद्यते । त त्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवेतेच्छाविषयीभूतलक्ष्यार्थस्य श्रुतिरिति व्यञ्जनाव्यापा-
रेण विनाऽज्ञातनादानुपस्थिते । स्वप्रवृत्तिप्रयोजक स्वोच्चारणकारणीभूत । अपरा-
धान्तर तीव्रविरहवेदनेपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्त यस्य, तादृश दु खदातृ-
त्वम् । तच्च दु ख वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तक, व्यञ्जघप्रतीतौ तु निपिद्धदूती-
सम्भोगनिमित्तक भावते । आलङ्कारिकमिद्धान्तनिष्कर्षं इत्यनेन स्वमतस्य श्रद्धिमा
सूच्यते ।

इदमाकृतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यतनरायंक्वाक्योपादाना-
मनीचित्याद् विशेषणवाक्यार्थाना सम्भोगसाधारण्ये व्यञ्जघप्रतीतिरुपाभीष्टसिद्धेर
भावात्, तेषा सम्भोगस्नानयोक्तरीत्या साधारण्यमेवोचितम् । अघमत्वमप्पादकध-
र्मोऽपि दु खदातृत्वरूप एव गृहीतुं युक्तं, वाच्यव्यञ्जघकक्षयोरन्वयानुकूल्याम् । पदार्थो-
द्गुणौ) न जानकर दु ग देने वाला मेरा वह नायक भी अघम ही है (अन्यथा तुलने के लिए तुझे
भेदने की अनेका ही नहीं पत्नी) तू उन अघम के पाम नहीं गई वरन स्नान करने वाली गई यह
बात तेरी चेष्टाओं से ही सूचित हो रही है । देखो मेरी छाती में चन्दन ज्यों वा त्यों बना हुआ है
पर स्नानों के उपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है और ऐसा इसलिए हुआ है कि वापी पर
बहुतेरे पुत्रक स्नान करने रहे होंगे, उन लूटे लूटा के मारे अपने मुठे हुये हाथों को कन्धे पर
रखकर बैठने से स्नानों को मला होगा, निम्ने उँचे स्नान के उपर भाग पर ही मधर्म हो मजा,
निम्नभाग में नहीं, इसी तरह शीघ्रता से टीक में न धो मकने के कारण उपर के होठ की लट्टी
कुछ-कुछ बनी गयी परन्तु नीचे का होठ उपर होठ की ओरझ अधिक मुठों का चूट, दाँग स्वच्छ
करने की अट्टी आदि के संघर्ष लगने से सर्वथा स्वच्छ हो गया और टीक से नहीं हो मनने के

पूर्वोक्तनीत्यैव पुनरप्यदीक्षितोक्तमधमपदायव्याख्यानमपि दूषयति—

एतेन—‘अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति । नापि स्वापराधपयवसायि—दूतीस-

पस्थितिकाल एव वाच्यार्धन्वियद्वाग्रहवंधुर्याच्च न विपरीतलक्षणा । किन्तु स्थानपत्नी यवाच्यार्धप्रतीती वाच्यमात्रविदामर्वासाया प्रकरणाद्विपर्यालोचनेन काव्यार्धभावना-प्रसाधितधिया सम्भोगपक्षीयोऽर्थं प्राधान्येन वैयङ्गनिकप्रतीतिपदवीमचतरन् चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन् ध्वनिध्वेन व्यपदेशयति । दीक्षित-दीक्षिता दिशा तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो बज्जलेपायित एव ।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकया कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सद्योसमक्ष स्पष्ट-मुद्गापटयितुमत्यन्तमनहत्वेन, महसितदिशा व्यङ्ग्यमर्यादयैव तद्बोधनीचित्ये च । अधमेत्यादिश्रममीमासाग्रन्थो दीक्षितस्य । जात्याऽधमत्व द्विजातिभिर्नामानम्, मर्मणा तु द्विजातीनामपि । नायिकाया उत्तमत्वमुच्चकुलोत्पन्नत्वेन निवन्धतया प्रकृत्या च । जात्यपकषकषने नायिकाया नीचकुलोत्पन्नापकानुरागानीचित्यादुत्तमत्वमङ्गप्रसङ्ग । स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीशर्मकोपभोग आदिर्येषा तानि यावन्ति हीनान्यपकषप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन मित्नेन । प्राचीन दूती प्रेषणात् पूर्वकाले विहितम् । इतरव्यावृत्त्याऽधमत्वप्रयोजककर्मन्तरव्यवच्छेदेन । इतिशब्द प्रकृतविचारपर्यवसानम्, दिक्छब्दस्तदभिमकोटिसम्भावना च सूचयत ।

धारण ही आँखों में नल का ही सरागं हो पाया (अङ्गुलियों का नहीं) इसलिये ऊपर-ऊपर का ही बज्जल भिन्न सका (भीतर का नहीं) इसी तरह अधिक ठण्ट पड़ने से तुबला, पत्ता पैरा शरीर रोमाञ्जित हो गया है ।' इस प्रकार चतुर नायिका की वक्ति ऐसी ही होनी चाहिये, जितना अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी । इसी तरह से जब इन वाक्यों के अर्थ माधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने के लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा वत्त वा तात्पर्य रूप से समझने में नहीं आवेगा, ऊपर दर्शना का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा । वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिनके प्रति यह पथ बड़ा जा रहा है, उस दूती, जिनको दुःखाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा वक्तव्य की विच्छिन्नताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् जब काव्यभर्मण सद्बुद्ध सोचेंगे कि यह नायिका विरहिणी है, दूती स्वेच्छानारिणी है, इस तरह पतिव्रता प्रेयसी को उपेक्षा करने वाला नायक भी व्यक्तिकारी होगा और नायिका को वक्ति भी अनेक अर्थों में युक्त है, अगर स्नान को ही बात कहना होगी तो फिर इस तरह के दो-दो अर्थ का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ! इत्यादि तब सद्बुद्धों के मन्त्रिक में ये बात आयगी कि हमने जो 'नायिका माधारण द्वारा देने के कारण ही नायक का अधम बह रही है' प्रमा वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है मर्याद कोई विशेष ब्रह्म नायिका को नायक ने किया है, अब वह नायक को अधम बह रही है, परन्तु वह विशेष ब्रह्म कौन सा हो सकता है ! इस तरह प्रियामा स्वप्नर हाने पर व्यञ्जनावृत्ति से द्वारा यह सा होता है कि नायक ने इस दूता से मर्याद किया है जितना ध्यान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ श्रेय भी, अब यह नायिका पतिव्रता होकर भी पति के प्रति बड़ बरत का प्रयोग कर रही है, अधम बह रही है । यही अलक्षारवाच्य मर्मणों के निदान का सार है ।

मभोगातिरिक्तेन कर्मणा । तादृश च दूतीसम्प्रेषणात् प्राचीन सोढमेवेति नोद्धा-
टनार्हमितीतरव्यावृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति ।' यदुक्तम्, तदपि निर-
स्तम्, विदग्धोत्तमनायिकाया सखीसमक्ष तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य
स्फुट प्रकाशयितुमर्हितमामनीचित्येन प्राचीननामेव सोढानामप्यपराधानाम-
सह्यतया दूती प्रति प्रतिनिपादयिषितत्वादिति दिक् ।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाख्याने नायिकाया वैदग्ध्यमङ्गप्रसङ्गात्
पूर्ववदधमपदमप्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जकमेवेति सारम् ।

महामहोपाध्यायगङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—'इदमत्र दीक्षिताकृतम् । बाध्यसिद्धयङ्ग-
(व्यङ्ग्य) रूपमध्यमकाव्यता तत्रैव यत्र व्यङ्ग्यार्थोपसृष्टं बाध्य चर्वाणाविश्राम-
धाम, न तु व्यङ्ग्यार्थान्तिरोपकारकमपि । यथा त्वर्षवोदाहृते—'राघवविरह'-
इत्यादिपद्ये । 'कुम्पन्ति' इति कोपस्यैव व्यङ्ग्यार्थोपसृष्टतस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्य-
न्यद् ध्वन्यते ।

यत्र तु बाध्याभंतावच्छेदकमेव स्वरूपेणानुपपन्न व्यङ्ग्य स्वोपपादकतया न्यग्-
मावयति, यथा—'गच्छाम्यच्युत ।' इत्यादि पद्ये, 'आमन्त्रणमङ्गिसूचित'- इति
सूचनपदाद्यंतावच्छेदकस्याच्युतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाव्यैव विराकाऽसशाब्दधीपर्य-
वसायित्वम्, तत्र विशिष्टबोधोयप्राधान्यविरहेऽपि कविसम्भपयर्थसानभूमितासामा-
न्यात् पूर्वप्रदर्शितस्वरूपकत्व न हीयते ।

अन्यथा 'स नास्ति कश्चिद् विषय' इत्यादि प्रकाशदर्शितदिशा सामाजिकप्रति-
मामात्रकल्पनीमव्यङ्ग्यविरहामम्भवेन सर्वस्यैव काव्यम्य मध्यमकाव्यदत्त एवोदाहर-
णीयताऽऽपत्तेः । अत एवाहु —'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति । प्राधान्य चानार्थं
न तु शाब्दम्, तस्य प्रवृत्त्यादावोदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रवृत्तेऽधमपदव्यञ्जनीय-सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोक्तव्यमाणाणा स्तनतटा-
दिपदद्योत्पार्थना गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च
स्वतन्त्रित्वप्रकारकबुधोपमिपालक्षणाभंप्राधान्यसद्भावेन तत्प्रयुक्तमुत्तमत्व को निवारयेत् ।

अन्यथा भवदुत्प्रेसिनदिशावपि वापीगमतोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व
कथं निवारणीयम् । प्रस्तुत भवत्प्रदर्शितक्रम एव दोषो दुर्वारो वापीगमतस्य वाच्य-
त्वान् । सम्भोगस्य तु व्यङ्ग्यत्वेन वैपरीत्यात् ।

उक्तं नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखाने हैं—'पूतेन'-
इत्यादि । 'अधम पद का अर्थ अदृश्य-हीन है और अदृश्यता मनुष्य में दो तरह से आ सकती है—
एक जाति द्वारा दुमरा कर्म द्वारा, अर्थात् हीन जाति के होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा हान
कर्म करने से हीन हो सकता है । इन दोनों में अदने नायक की जातिमूलक हीनता का उत्तम
नायिका जवान पर नहीं हो सकती है । अब रही कर्ममूलकहीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती
है, कारण ? हीन बनाने वाले कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूती-सम्भोगस्य हीन कर्म
करने वाले अदने नायक को ही उत्तम नायिका हीन अधम करती है, वह जो इमतिने कि दूती-
सम्भोगस्य हीनकर्म, बुझा-फिरा कर नायिका का अना ही अराध निद्र हो जाता है, इस तरह के
हीन कर्म करने वाले नायक की उत्तम से उत्तम नायिका को भी छोड़ वह बैठने हैं—कि जब तुम
में कोई खाम दुर्गुण है, तब न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी दुलीना को छोड़कर एक गाथरता

एव प्रथम प्रकारमुत्तमोत्तम निरूप्य द्वितीयमुत्तम लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारण तद् द्वितीयम् ।

लक्षणवाक्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूत व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूत व्यङ्ग्यमादायाति-
व्याप्तिवारणायवधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

यदि तु नायिकाविथान्तिभूमिताया सम्भोग एव कल्पनेन परिहरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यतामनपह्ण्य तु व्युत्पत्तुं भवान् । अत एव च नाय काव्यलिङ्गस्य विषय, उपपाद्योपपादकयोश्चयोरपि व्यङ्ग्यत्वात् । तटादिपदायाना केवलाभिधाद्वेनोपस्थि-
ताना स्तानसम्भोगाधारणत्वेन विदग्धनायिकावैशिष्ट्यनिश्रयव्यञ्जनीयावधारणाना पुलकितेत्यत्र तथाविधविरोधस्य च व्यङ्ग्यताया दुरपह्वत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्तनतटाद्वयधारणव्यञ्जनीयत्वाम्युपगमेऽनुमानप्रकारान्त-
तया व्यञ्जनाव्यापारनैरर्थव्यभिचयेन माद्यारण्येन बोधवियमतोपपादनम्, सन् प्रकाशपञ्च-
मोत्प्लासशेषपदासितदिशाऽभ्रमत्वादेरिव स्तनतटादिमात्रचन्दनध्ववनादेरपि प्रमाणप्रति-
पन्नताविरहेणाप्रतिपत्त्यानुमापकतानङ्गीकारेण व्याप्तिपराप्रसंगाने अन्तर्पक्ष्य, प्रतिभा-
मागच्छोत्पत्ताया अनुभवसिद्धत्वेन च न किञ्चित् । इतरथा 'उअ णिञ्चन । इत्यादावपि
निरुपन्दत्वेनाश्वस्तताया अनुभेयत्वस्यैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्' इत्याह ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधान व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम् ।
एवकारोऽवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थं । द्वितीयमुत्तम काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधान
व्यङ्ग्यार्थं स्वज्ञानद्वारा चमत्कारस्य जतको भवति, तद् द्वितीयमुत्तम वाक्यमित्यर्थं ।

प्रधानीभूत गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव विशेषण न विरुद्धम्, वाच्य-व्यङ्ग्या-
न्तररूपनिरूपकभेदात् । तेन द्वितीयवाक्यलक्षणासामन्वयेन, तस्यापरव्यङ्ग्याङ्गभूतव्य-

द्वीप्रर षण्णक्त है । और वैसे कर्म भी जो दूरी को भेजने से पहले हुए थे वे सब सहा ही लिए गए
थे, उन थे अब बालने दोस्य रह ही नहीं गए, इस लिए और सब कर्मों के छू जाने से नायक वा
दूरीसम्भोगरूप हीन कर्म ही दोग्य सिद्ध होता है, जिसमें रण अथवा रिश्र होकर नायिका उसकी
अभ्रम कहने लगी है' इत्यादि जो टीकिल ने कहा है, वह पूर्वोक्त सण्ठन युक्ति से ही राश्रित है,
क्यों के चतुर तथा उत्तम नायिका समियों के समझ में ही उस (दूरी) के साथ विष गए सम्भोगरूप
अपने नायक के अराध को स्पष्ट धरे, यह परम अनुचित है, अतः वह समझना नादिण कि सहा लिए
गए नायक के पुराने अराध ही आज नायिका के मन में निगी कारण से अमश हो उठे है, जिसने
नायिका उग अराधों को ही दूरा के सामने बोळ छोी ।

इस तरह से वाक्य के प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निरूपण पर सुबने के बाद अब वाक्य के
द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षणा बखलाने है—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में अर्थ्य अर्थान होकर ही
चमत्कार वा कारण ही, है द्वितीय 'उत्तम' नामक वाक्य कहलाना है, अर्थात् उत्तम वा अर्थ्य
वाच्यार्थ की अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ का अपेक्षा भी गीग हो—विगी भी अर्थ में मुख्य नहीं हो—
पिर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' वाक्य है ।

लक्षणवाक्य में 'अप्रधान होकर ही' इस अर्थारण-नियम का निवेश क्यों किया गया हुआ पहा
दिखलते है—'वाच्यापेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त अर्थारण नहीं करेंगे, तब

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजन प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रानिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि ।

ङ्गधस्य, ध्वनित्वमुत्तमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात् ।

एवशब्दस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयमित्येव लक्षणं स्यात् । तथा सति— अयं स रसनोत्कर्षी रीनस्तनविमर्दनं । नाम्भूत्स्वधनस्पर्शी नीवीविस्रसनं कर ॥ इत्यादिष्वपराङ्गव्यगधोदाहरणेषु शृङ्गाररूपव्यगधस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यधकरणरसापेक्षया प्राधान्यात्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् । एवशब्दस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाप्राधान्यं विवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात्लक्षणसंगमनाभावात्प्रतिव्याप्तिः ।

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया शोकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशेऽप्यतिव्याप्तिः स्यादेवेति वाच्यमव्यग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुन प्राधान्यं निवृत्तमश्रमस्त्वारोत्कर्षस्य मद्भावे प्रमाणाभावात्, प्रदीपोद्घोतयोः शृङ्गारस्यैव करपोत्कर्षकताऽभिधानाच्च वाच्यापेक्षया शृङ्गारस्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्वत्र शृङ्गाररसस्याभिभावरतिपरम्, रसस्यापरिच्छिन्नात्मवतया पराङ्गत्वामम्भवात् । प्रधानीभूतकरणरममादाय ध्वनित्वम्, गुणीभूत शृङ्गारस्यापिरतिमादायचापराङ्गव्यग्ररूपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लीनव्यङ्ग्यमत्फुटव्यग्र गुणीभूतव्यगधस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेदः । वाच्यचित्रमयालिङ्गारोपमृत्तमविवक्षितव्यग्र चित्राख्यं चतुर्थमधमकाव्यम् । नत्र व्यग्रस्य सर्वथाऽप्राधान्यात् द्वितीयकाव्यनक्षणातिव्याप्तिः स्यादतश्चमत्कारकारणमिति निवेशिनम् ।

‘व्यग्र प्रधानं होवर चमत्कारजनकं हो’ यही लक्षणा होगी, और एसा लक्षण होने पर वहाँ का व्यंग्य वाच्य अर्थ में प्रधान और मुख्य व्यंग्य के गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण का अनिव्याप्ति हो जायगी, जैसे ‘अयं स रसनोत्कर्षी, रीनस्तनविमर्दनं । नाम्भूत्स्वधनस्पर्शी, नीवीविस्रसनं कर ॥’ इस अपराङ्गव्यङ्ग्य नायक मध्यम काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा करण दोनों रस व्यंग्य हैं, परन्तु आत्मन नायक की मृत्यु हो जाने में करण मुख्य और शृङ्गार लक्षणा गौण है) वाच्य में प्रधान होने पर भी शृङ्गार रूप व्यंग्य करण से नौ गौण है, जो एक लक्षण के संघटित हो जाने में यह श्लोक उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कल्पाने लगेगा । अब ‘अवधारण’ का निवेश किया गया है । निवेश करने पर दोष नहीं हुआ, क्योंकि उस निवेश में यह मतलब निवृत्तता है कि जो व्यंग्य किसी से प्रधान न हो—यह में गौण ही है, और वहाँ का शृङ्गार करण में गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है । इस प्रकार में शृङ्गार अथवा करण पर से रति तथा शोकात्म्य स्थायीभाव ममज्ञाना चाहिये अन्यथा रसों के निदान दृष्टि में अपरिच्छिन्न पूर्ण धनानन्दस्वरूप माने जाने के कारण इनमें गौणप्रधानभाव अमान होगा ।

अब लक्षणवत्क व्यंग्य में जो ‘चमत्कार का कारण हो’ ऐसा विशेषण दिया गया है, उसका प्रयोजन यह है—‘लीनव्यङ्ग्य’ इत्यादि । वाच्यचित्र काव्यों में व्यंग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्य जननात्मक आदि के चमत्कार में तबका चमत्कार तिरोहित हो जाता है, परन्तु व्यंग्य में चमत्कार नहीं रहता, जब उन काव्यों में यह लक्षण नहीं आता है, जब चमत्कार कारण नहीं कहने पर लक्षण इनमें भी चला जायगा इसलिए ‘चमत्कार कारण’ करते हैं । कुछ लोग वहाँ की मूल पंक्ति में लीन

द्वितीय काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वेदेहीविरहयन्नाप वनवासिनो रामचन्द्रस्य नञ्चिद् वषंसति—

'राघववि' हज्वाला-मन्तापितम ह्यशैलनिचरेषु ।

शिशिरे मुख शयाना कपय कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥' इति ।

इदं पुनश्चिन्नीयम्—पर्यायोक्ताद्यलङ्कृतकाव्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया भवदमिताया मञ्जावेनाव्यङ्ग्यत्वरूपाया अविवक्षितव्यङ्ग्यत्वलक्षणाया वा चित्रनाया जसम्भवात् । तथाहि—'चित्रामिघातप्रसमाश्रयैव, चकार यो राहुवधु-जनस्य । आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्य, रतोत्सव चुम्बनमात्रशेषम् ॥' इत्यादौ पर्यायोक्तादाहरणे राहुशिरश्छेदनात्मनो व्यङ्ग्यस्य यद्यविवक्षितत्वम्, तर्हि न गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम्, अथवा यदि विवक्षितत्वम्, तदा कुतश्चित्रता, व्यङ्ग्यस्य विवक्षिता-विवक्षितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्धत्वात् । इत्यथ सर्वा-लङ्कारिसम्भगत्वमपि चिन्त्यमेव, ध्वनिकार-मम्मट-प्रदोषकदाद्यसम्भतत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम् ।

राघवस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वेदेहीवियोग, तस्य वल्लेरिवान्तर्बहिर्दाह-कत्वाद् या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तथा सन्तापितेषूपधमयीकृतेषु, सहास्य-वदाव्यदाशिषात्परसौलस्य, सिद्धरेषु शृणुषु, शिशिरे शीततौ, मुख वत्साद्यमावेऽप्यशीत-क्लेश यथा स्यात्, तथा शयाना स्वपन्त, कपय सुप्रीवस्य वानरा, पवनतनयाय (वेदेहीकुमलवातांसूचनेन रामस्य सन्ताप गमितवने) हनुमते, कुप्यन्ति पुनरशीतबाधा सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य क्रुध्यन्तीत्यर्थं । इह रघुनाथमुप्रीवयोरतिवल्लम कपीनामपि सर्वदा हितकर हनुमन्त प्रति तेषामाकस्मिको बाध्यभूत कोपोऽप्ययाऽनुपपन्न इति तदुपपादकावाङ्क्षायामनायत्या जानकीकुशलसूचनविहितरामविरहसन्तापापनोद-नात्मा व्यङ्ग्यार्थ एव पुर परिस्फुरन्नङ्गता भजन्नपि, यथा दौर्भाग्येण दासोभावमा-पन्नाऽपि राजमहिषी काञ्चन विलक्षणा नैसर्गिकी सुपमाभाववृत्ति, तथैव नञ्चिद् विलक्षण चमत्कार करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारिनोत्कर्षेण द्वितीय-वाच्योदाहरणत्वमेतस्य ।

चिन्तान्तपटिन गुणीभूतव्यस्य काव्य का दृश्य नहीं घट सकेगा, यदि कोई कहे कि अब उन अलङ्कार-प्रधान काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब ही वहाँ गुणीभूतव्यस्य काव्य का दृश्य न घटे दही लचिन है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूतव्यस्य भी ही यह आवश्यक नहीं है, इनका उत्तर यह है कि उन अलङ्कार-प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूतव्यस्य दोनों ही इष्ट हैं, अर्थात् अलङ्कारिकों ने उन अलङ्कार-प्रधान काव्यों को दोनों (चित्र तथा गुणीभूतव्यस्य) ही माना है ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'राघव' इत्यादि । रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वाला की लकी से विरह में बहिरूपता व्यस्य होती है) तप्त बनाये गये सहा नामक पर्वत के शिखरों पर, शीत शत्रु के समय में, सुप्तपूर्वक लीने वाले चन्द्र पवनतनय-हनुमान् पर ऋणित होने हैं—कथेप करते हैं ।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलवेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकास्मिक-
कपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्देवशतो दास्यमनु-
भवद्वाराजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहरण द्वितीयकाव्योदाहरण-
पतामाद्यङ्कप समावधायति—

नन्वेव प्रागुक्तमाक्षेपगत मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमान
व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न, यतो हनुदिनसरयु-
पदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमान मान्द्यमिदं प्रथमचित्तबुम्बिनी
विप्रलम्भरतिप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचवणागोचरता-
माधातुम् ।

शिशिरीकृत शीतलीकृत ।

प्राक् उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे ‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादौ । व्यंग्येनैव
विप्रलम्भरतिरूपशृंगारस्याभिभावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपाद्यते मङ्गलीक्रियते ।
अनुदिन प्रत्यहं च सखीनामुपदेश केनिकलासु वामतापरिरागाय शिक्षा, स आदि-
यैषा, ते तदाद्य सततसाक्षिण्य-प्रचुरपरिचयप्रभृतय, तै । इदमाक्षेपगत मान्द्यम् ।
प्रथमचित्तबुम्बिनी प्रागेव बुद्धिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूप (मन्दत्व)
मात्रेण । परनिर्वृते परमानन्दस्य, या चर्चणाऽऽस्वाद, तस्या गोचरता विषयताम् ।
आधातु बोधुम् ।

इस पद्य का अर्थ यह है कि ‘हनुमान् ने जानकी को कुशलकारण सुनाकर रामचन्द्र को
शीतल बना दिया, अर्थात् हनुमान् के मुख से सीता की सकुशल लक्षा में रहने को बान सुनकर
रामचन्द्र का विदोष-दाप शान्त हो गया’ और वाच्य-अर्थ है ‘हनुमान् पर बन्दरों का सहसा होने
वाला शोभे’ । इन दोनों (वाच्य तथा वाच्य) अर्थों में अग-अगी (पोष्य-पोषक) भाव है, अर्थात्
वाच्य है पोषक और वाच्य है पोष्य, क्योंकि जो हनुमान् रामचन्द्र तथा सुधीव दोनों का वृतापात्र
था—स्नेहभाजन था और बन्दरों का भी प्रिय-हितचिन्तक वं वही पर अकस्मान् बन्दर सब मूढ़ हो
गये, यह वाच्य अर्थ तब तक समझ प्रतीत नहीं होता, जब तक उक्त वाच्य अर्थ न समझ लिया जाय
अर्थात् जब हम ‘हनुमान् ने राम के विरहाप को शान्त कर दिया, जिससे विरह-ज्वल-नाश मङ्ग-
शिक्षा, शीतल हो गये और शीत के मारे बन्दरों के सुख-शयन में बाधा पड़ने लगी’ इस अर्थ अर्थ
को समझ लेते हैं, तब हनुमान् पर बन्दरों का शोभे सपन लक्ष्य है । इस तरह स उक्त वाच्य अर्थ,
वाच्य-अर्थ के साक्ष्य होने के कारण यद्यपि गीण — गमा तथापि अत्र प्रवार दुर्दृष्ट का मारी हुई
कोई राजागना, किती की दासी बनकर रहने पर भी, अपने सहज-मौन्य को नहीं छोड़ती अथान्
उस दशा में भी कमकी सुन्दरता ललवनी हो है, वही प्रकार हम अर्थ में भी (गीण होने के फल-
स्वरूप) विलक्षण चमत्कार परिलक्षित होता है । अब ‘जहाँ अर्थ गीण होकर चमत्कार-जनक हो’
इस लक्षण का समन्वय, उक्त पद्य में, स्वयं स्पष्ट है ।

‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-काव्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में ‘वह भी
द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? बल्कि वही होना उचित है’ इस शङ्का का
अधान कर खण्डन करो है—‘अभ्येवम्’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जैसे ‘राघव-विरह-जाला’

यथा प्रकृते वाच्यस्य हनुमदुपरि कपिकोपस्यान्यथाऽसम्भवादनूपपन्नस्य हनुमता सीताकुशलनिवेदनेन रामस्य शीतलीकरण व्यङ्ग्य कपिसुखमुपिव्याधात्तदुपपादक वाच्याङ्गीभूय काव्यमिदमुत्तमकक्षातोऽपकर्षति तथैव तल्पगताऽपि च मुतनु इत्यादौ पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यसुवीयोदाहरण वाच्यस्य प्रियकराक्षपमाद्यस्य नवोद वधुस्वभावविरुद्धत्वाद्व्यथाऽनुपपन्नस्य व्यज्यमाना विप्रलम्भशृङ्गारस्थागिनी रतिरूप-पारिकाऽङ्गीभवतीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम् वैषम्ये बीजाभावादिति न वाच्यम उत्तमोत्तमस्य जागरूकत्वान् । तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यर्यान्तर वाच्यस्योपपादक नोपलब्धुं शक्यते । तल्पगताऽपि च इत्यादौ त्वाक्षपमाद्य वाच्य यथा व्यङ्ग्या विप्रलम्भरति तथैव प्रात्यहिकसखीशिक्षाप्रभृतिरप्युपपादयितुमहता त्यन्यथाऽनुपपत्तिरिह इत्यभिप्राय ।

यहाँ पर अन्यथा (व्यंग्य-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला, हनुमान् के ऊपर अव्यक्तान् बनने का क्रोध, (वाच्य) हनुमान् के द्वारा राम की विरह-ताप-शानि (व्यंग्य) में उपपन्न किया गया है, अब यह व्यंग्य गौण हो जाने से शमत्कारजनक होकर भाव-शक्य-यदावली को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, जैसे ही 'तल्पगताऽपि च मुतनु' यहाँ पर भी 'विप्रलम्भ की मन्त्र-मन्त्र-इत्याना रूप वाच्य, नव-वधु-स्वभाव-विरुद्ध होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोदा का यथा स्वभाव लाया है कि अपने भर्ता पर धरे हुए पति-करों का इत स हय देता है और यहाँ 'नवोदा मन्द-मन्द-य-का का हय रही है' ऐसा कहा हुआ है जो उत्तमग सा दोखता है । फिर तो रतिरूप व्यंग्य से ही वह (वाच्य) उपरान्त बनाया आदया अथात् अब हम यह समझ लेंगे, कि-उत्त नवोदा को अब पति से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस प्रीतिलता पर विरह के झोल गिरने वाला है, तभी नववधु का धीरे-धीरे पति-कर को हयना सगल प्रीति होगा, इस स्थिति में क्या वह विप्रलम्भ रतिरूप व्यंग्य भी वाच्य अर्थ के उपादक होने से गौण हो हुआ, अब उसे भी उत्तमोत्तम-काव्य-व्यवहार नियामक नहीं होना चाहिये अर्थात् इन दोनों स्थलों के व्यंग्यों को स्थिति समान है, इच्छित्ये दोनों एक उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है शक्य । समाधान यह है कि आपने दोनों पदों के व्यंग्यों को समानकोटिक समझ रहे हैं, वह आपका भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में वेग्यन्य सा है, देखिये- 'राधव-विरह-ज्वाला' यहाँ का व्यंग्य ऐसा है किमके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यंग्य से किन्तु कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तल्पगताऽपि' यहाँ का व्यंग्य ऐसा नहीं है अर्थात् यहाँ का व्यंग्य ऐसा है किमके बिना वाच्य को सिद्ध कर सकती है, जैसे दिन दिन के सखियों के उपदेश मन्त्र सखिच्य, प्रभु परिचय आदि से भी प्रियकर को धार धार हयना रूप वाच्य सिद्ध हो सकता है, अब आपको सिद्ध करने के लिये विप्रलम्भ रति को ही विशेष आवश्यकता नहीं है । फलतः यह माराग निबन्धा कि वाच्यमिद्धि का अर्थ वही व्यंग्य कहलाता है, जो वाच्यसिद्धि का एकमात्र कारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यंग्य ऐसा नहीं है, अब वह गौण नहीं हुआ फिर वह 'तल्पगताऽपि' इस पद को उत्तमोत्तम काव्य क्यों नहीं बना सकता ? यदि अब कहें कि अब सस्युपदेशि से भी तल्पगता वाच्य सिद्ध हो जाता है, तब तब वाच्य से विप्रलम्भ रति व्यंग्य होगा या क्यों ? इसका उत्तर यह है कि मानक सरस्वती के हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधु' होकर भी पति-धर धरें स्वाग-पति-पति-करों को हय रही है, अब नहीं, वह आसन्न-विरहकाटिक प्रेम का फल है । इनका बिना ध्वनित किए सस्युपदेशि से होने वाला मान्य (धीरे धीरे हयना) पर-अनन्द (किमके मन्त्र-य में 'ब्रह्मास्वादसरोवर' कहा हुआ है) के आस्वाद का विषय हो भी तो नहीं सकता ।

तुल्यन्यायादाचष्टे—

इत्थ 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्येष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्यधा-
तिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभाव-
शङ्कनीयः ।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्भोगेन विधीयते,
तथैव वाच्यार्थप्रत्ययावसरेऽप्यप्यन्तरेणापि विधासु शन्यत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिर्बधुर्थाद्
दूतीसम्भोगरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति नाव । ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारि-
तायास्तुल्यतया काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोर्भेद कुत स्वीक्रियत इत्याशङ्क्या
ब्रवीति—

अनयोर्भेदयोरनपह्लवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति
कश्चिद् महदयवेद्यो विशेषः ।

अधमत्व नायकस्य । व्यङ्ग्यधातिरिक्तेन दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यभिन्नेनापराधान्तर-
निमित्तकदुःखादातृत्वरूपेणार्थेन । आपाततस्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्वय तात्पर्यविरहाद्
दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखादातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात् निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि,
वाच्याधमत्वस्य दूतीसम्भोगातिरिक्तापराधैरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो
व्यङ्ग्यस्य ।

अनयोक्तमोत्तमरूपयो । भेदयो काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयो । प्राधान्याप्राधा-
न्याभ्यामप्यस्त्विति शेषः । विशेषो वैलक्षण्य भेदे इति यावत् ।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसङ्गावात् तुल्यत्वमेव, किन्तुत्तमोत्तमे
व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभव-
साक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयागीकार इत्यमिसन्धिः ।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रधान्य-
विदक्षा' इति ध्वनिकारानुशासने आप्रति, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यापेक्षया चमत्कारो-
त्कर्षं, तर्हि नाप्राधान्यम्, अथाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षं । यदि च व्यङ्ग्यस्य
चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽगत्वमिष्यते, तदा तदगत्वमप्यकिञ्चित्करम्,
चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्याहृतत्वात् । किञ्च
यत्र तुल्यचमत्काराघायकत्वेन वाच्यव्यङ्ग्ययोः समसन्दिग्ध वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणी
भूतव्यङ्ग्यप्रकारयोर्भवन्मते कुत्रान्तर्भावः ? न वाच्यापिरेपितुं शक्यते, 'बाह्यणातिक्रम-
त्यागो भवतामेव भूतये । जामदग्न्यश्च वो मित्रमग्न्यथा दुर्मनायते ॥' 'हरस्तु किञ्चिन्
परितुप्तघैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः । उमामुखे विम्बफलाघरोष्ठे व्यापारयामास
विलोचनानि ॥' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापलापानहृत्वेन मध्यमकाव्यताया सर्व-
सम्मतत्वाद् ।

इती उरह 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पद्यो मे भौ अधमत्व प्रकृति वाच्य का सिद्धि जैन
व्यंग्य दूता-सम्भोग से हो चकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती-सम्भोग से भिन्न अपराध)
से हो सकती है, अत उक्त व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का एकमात्र कारण नहीं है । इसलिये न वह व्यंग्य
वाच्यसिद्धि का अंग हुआ, न गौण, वह विदित करना चाहिये ।

इतपि उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दोनों काव्य-भेदों में व्यंग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यंग्य

'प्रहरविरती' इत्यादावप्यव्यदीक्षित प्रतिपादित गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व निरस्यति—
यत्तु चित्रमीमासाकृतोक्तम् ।

बान्नाधिपस्य प्रवासनिवृत्तिकारण कश्चिद् व्याहरति—

'प्रहरविरती मध्ये वाऽह्णस्ततोऽपि परेण वा,

किमुत सकले याते वाऽह्ण प्रिय त्वमिहैष्यसि ।

इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य यियामतो-

हरति गमन बालाऽऽलापै मवाप्पगलज्जत्ते ॥' इति ।

हे प्रिय ! बल्लभ ! (प्रवासानन्तर पुन) त्व प्रहरस्यैकयामस्य विरती समाप्ता ? वाऽयवा, अहो दिवसस्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराले ? वा यद्वा ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्णे तृतीयप्रहर इति यावत् ? किमुत वा किंवा मन्त्रे सम्पूर्णे, अह्ण दिने, याते विगने साय समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि ? इतीत्येवहर्षं, मवाप्पगलज्जलैर्वाप्यवतिष्पतदध्रुमिश्रितं, आलापं प्रथनात्मकमापणं दिताना शनेन (नतु पञ्चपदिनं, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्य गन्तु योग्य (दूरतर) देश जनपद, यियामन कार्यानिुरोधेन गन्तुमिच्छत, प्रियस्य बल्लभस्य, गमन प्रस्थान बाला नववधुमुग्धा हरति निवारयतीत्यर्थं । पृथ्वी छन्द ।

अस्मिन् पद्ये प्रियपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वम् । जलशब्दस्य पृथक्कथनाद् वाप्य उष्णमात्रम् । अपि च क्रमेण प्रहरान्तमध्याह्ना-पराह्ण-दिनान्तमात्रस्य प्रियागमनसमयस्य, नायिकया प्रथमगोचरी-वरणेन व्यज्यमानम् समस्त दिनमेव परमाऽधि-स्त्वद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्पर तु त्वदनागमन नाह कथमपि जीविष्यामीति वस्तु आलापं प्रियस्य गमन बाला हरतीति पदकदम्बकामिधीयमानस्य बालाकृतं कालाप-करणकप्रियागमननिवारणस्योपपादकतयाङ्गमिति वाच्यमिदं चङ्गव्यङ्ग्यपक्षगुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वमितिदीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्त्र वाप्यवद्विगलदध्रुमिश्रितालापरूप वाच्यमेव गमननिवारणतक्षण व्यङ्ग्यमुपपादयितुमोष्टे न तु तदर्थं व्यङ्ग्यस्यापेक्षा । तादृग्नालापाना गमननिवारणप्रिया प्रति प्रवृष्टतमवारणत्वरूपकरणत्वाभावे करणे तृतीयानुपपत्तिश्च वाच्यस्यैव वाच्योपपादकता साधयति तस्मान्नात्र गुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वम, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्यन्तिवविश्रान्तिघामतया ध्वनित्वमेव ।

की चमत्कार-जनकता का अर्थ नहीं किया जा सकता, तथापि उच्चोत्तम का अर्थ प्रथम रहता है और वचन का अर्थान अथात् उच्चोत्तम का अर्थ वाच्यमिदि का अर्थ नहीं रहता और वचन का अर्थ वाच्य-मिदि का अर्थ रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ विशेष अवश्य है, जिसे महद्वयवाक्ये को समझ सकते हैं । दोनों प्रभेदों को एक ही क्यों नहीं माना, जिस-जग-इत-उच्छा-जा-जसस्-नहीं-है-जली-इत-विशेष-अर्थ-न-जा-तक-है ।

चित्र-मीमासाकार अव्ययदीक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण का स्पष्टन करते हैं—'यत्तु' इत्यादि । चित्र-मीमासाकार ने जो कहा है ।

कोई नवीनता का पनि, किसी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था, यात्रा का सब पैसा कर चुका था, पल्लु गया नहीं, क्यों ? इसका कारण किसी ने बतलाया है—'प्रहरविरती' इत्यादि । शिव ! क्या तुम एक घर के बाद टोट आओगे या दो घर में अथवा उनके भी बाद ! क्या समूचा

तदाह—

अत्र सकलमह परमावविस्तृतं परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्धयङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तत्र, सबाष्पनलज्जलानां 'प्रहरविरता'वित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यमिदं चङ्गता व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । 'आलापे'रिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणताया स्फुट प्रतिपत्तेः ।

पुनराद्यङ्ग्य समाधत्त—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्धयङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्, 'तिशेषपच्युतचन्दनम्' इत्यादाविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया दृतीसम्भोगादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः ।

गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रकृत्यर्थस्यालापपदवाच्यस्य ।

पूर्वोत्लिखितवाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया वाच्य एव विनिगमनाहेतु करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्या ।

व्यङ्ग्यस्य तत्र पर प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य । अपिनाऽऽलापरूपो वाच्यार्थं समुच्चीयते ।

दिन बीत जाने पर ही लौटोगे ? गरम-गरम आँसू-सहित इन बलाओं से बाला (नवीन) जहाँ सैकड़ों दिनों में पशुषा का मकैना, उस देश में जाने के लिये उद्यत अपने प्रेमी के गमन का वारण कर रही है ।

इस श्लोक में नवीन नायिका अपने प्रेमी ने एक पहर के बाद, दो पहर में, अग्राह में अथवा शाम तक जाने की बात पूछनी है और उसके बाद में जाने की बात नहीं पूछनी—अर्थात् रात, परसो, तर्कों, आओगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिनसे 'सात दिन पूर्ण अवधि है, उसके बाद तेरे विरह में मैं न जी सकूँगी' यह व्यङ्ग्य होता है । परन्तु यह व्यङ्ग्य प्रेमा के गमन का निवारणरूप वाच्य की सिद्धि में अद्भूत है अर्थात् प्रेमी का गमन तभी रूक सकता है, जब वह यह जान ले कि 'यह मेरी नवीन प्रेयसा मेरा अनुपस्थिति में एक दिन के बाद न जी सकेगी । इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य सिद्धि के अन्त ही जाने से गौण है और चमत्कारा गौ, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है । परन्तु यह विजयीभावाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण-अश्रुधारा-भिक्ति 'क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे' इत्यादि उक्त से ही प्रियगमन-निवारण रूप वाच्य उत्पन्न हो जाता है इनके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य अवगत होने पर ही वह वाच्य उत्पन्न होगी ऐसी बात नहीं है, 'आलापे'—'आलापों से यहाँ करण अर्थ में उलोया हुई है और करण वहा कहलाता है ओ क्रिया का प्रकृतम साधक हो, अतः वह सिद्ध हुआ कि उक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने का है । जो उक्त व्यङ्ग्य गौण नहीं है, फिर यह पद गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण कैसे हो सकता है ? यह तो अति (उत्तमोऽम) काव्य का ही उदाहरण है—क्योंकि उक्त व्यङ्ग्य बहुत ही चमत्कारा है और प्रधान भी ।

उक्त श्लोक के बाद दीक्षित-मत को स्थिर करने वाली एक और नवीन युक्ति का इत्थान पर पुनः उल्लेख करने हैं—'न च' इत्यादि । यदि आप कहें कि 'प्रहरविरता' यहाँ 'आलापों से' इस एतिसान्ध के वाच्यार्थ से यद्यपि गमननिवारण रूप वाच्य की सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य

ननु नायिकायास्तादृशालापा नायकस्य गमनोत्तर विदेशे चिरस्वितेनिवारकत्वे-
नापि कृमकृत्या भवितु शक्नुवन्तीतिपूर्वोक्तवाच्योपपादनसामर्थ्यामिह व्यग्यस्यैव, न तु
वाच्यस्यापीति गुणीभूतव्यग्यत्वमभ्युपगत्य प्रकारान्तरेण ध्वनित्व व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'तत. परं प्राणान् धारयितु न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यं य वाच्य-
सिद्धयङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, वाष्पादेरनुभावस्य,
चित्तावेगादेश्च सञ्चारिण. सयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्व को
निवारयेत् ।

गमननिवारणरूपवाच्यस्य तादृशालापारूपवाच्येनोपपत्तावपि, तत—परमित्यादि-
व्यङ्ग्यस्यापि वाच्योपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य
काव्यस्य न दुरुक्तमिति न युक्तम्, यत एव सति, 'निश्चोपच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि
नायकाद्यमत्वरूपवाच्यस्य निश्चोपस्तनचन्दनव्यवहारिरूपवाच्येनोपपत्तावपि दूती-
सम्मोगत्पव्यङ्ग्यस्यादि तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभूतव्यग्यत्व
नवतोऽप्यनभिमतमापद्येत । तस्माद् वाच्येनोपपत्तौ, व्यङ्ग्यस्योपपादकत्वसम्भवेऽपि
न गुणीभाव इति भाव ।

अस्तु वेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्ध । तथाऽपि तादृशसलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि । ध्वनित्व काव्यस्येति श्रेय ।

यद्यपि वस्तुलक्षण व्यङ्ग्यमिह गुणीभवति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसरूपव्य-
ङ्ग्यस्य प्राधान्येन काव्यस्य ध्वनित्व सेत्स्यत्येवेत्याशय ।

नागेशमट्टास्तु—'आन्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहा-
रस्योपपद्यमानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्व को निवारयेत्' इति चिन्त्यम्, अन्यथा 'ग्राम-
तरणम्' इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्यधीयप्रकाशाद्युक्तोदाहरणानामप्यसङ्गत्यापत्तौ व्याकुली-
स्यात् । तत्रापि व्यङ्ग्यसङ्केतमङ्गन, वाच्यमुखमालिन्यातिशयरूपानुभावमुखेनैव

से भी तो उस वाच्य की सिद्धि हो सकती है, अत एव हमने उस व्यर्थ को गुणीभूत कहा है, तो यह
युक्ति भी आपको संगत नहीं है क्योंकि वाच्य सिद्धि की समताभाव रखने पर यदि व्यर्थ गुणीभूत
हो जाय तो 'निश्चोपच्युतचन्दनम्' इत्यादि वचन में भी 'दूतीसम्मोग' रूप व्यर्थ गुणीभूत हो जायगा,
क्योंकि वह व्यर्थ भी नायक की अभिजात्य वाच्य को सिद्ध करने को योग्यता रखता है, और उस
दूतीसम्मोग को गुणीभूत मानना ही आपको भी इष्ट नहीं है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि वाच्य
से यदि वाच्य की सिद्धि हो जाती हो तब व्यर्थ से उसकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर (व्यर्थ)
को गुणीभूत नहीं समझा जाय ।

उक्त वस्तुव्यर्थ को गुणीभूत मान लेने पर भी 'प्रहरविरती' इत्यादि वचन को मुख्य विप्रलम्भ-
शृङ्गाररूप व्यर्थ के अनुसार ध्वनिकाव्य का ही उदाहरण मानना सत्पथि है, वही बात अब कहने
है—'अस्तु वा' इत्यादि । तात्पर्य है कि यदि आप कहें कि नायिका ने 'एक पहर बाद आओगे'
इत्यादि अमृतिमिश्र आठारों तो 'विदेश में अधिक दिनों तक नहीं रहना' इस बात को सिद्ध करके
भी चरितार्थ हो सकते हैं, फिर इन आठारों में 'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने
का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि है तो 'उमके बाद मैं न जी सकूँगी' इस व्यर्थ में हा, अतः
यह व्यर्थ गुणीभूत अवश्य है । इस पर पण्डितराज कहने हैं—अच्छ, उक्त व्यर्थ को वाच्यसिद्धि का
वह बनाकर गौण समग्रिये किन्तु नायक प्रभृति विभाव, अश्रु आदि अनुभाव तथा चित्तावेग आदि

अथ तृतीयप्रकार मध्यमकाव्य लक्षणम्—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम् ।

मध्यम काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलधिजठरप्रविष्ट-हिम-गिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरव्या मखी' इति ।

विप्रलम्भाभासपोषणम्, न केवलेन सङ्केतमङ्गेन, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्, इतीह व्याजह ।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यंग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेश, किन्त्वान्तरालिकेनापि स । इतरथा 'ग्रामतरुणम्' इत्यादौ पार्यन्तिकव्यंग्ये शृङ्गाररसाभासे जाग्रति, ध्वनित्वस्यैवानिवायंतयाऽऽन्तरालिक वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहित आलङ्कारिकपरम्पराया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वविद्वान्तो नितरा व्याकुप्येत । तस्माद्य पण्डित-राजस्य प्रौढिवाद् एवेति तदभिप्राय ।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणेष्वर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरण । तत्त्व वाच्यचमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात् ।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यचमत्कारप्रतीतिजन्यचमत्कारो लेशत प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य सर्वतोमुखीनस्यान्तनिर्माणं स्पष्टतयाऽनुभवगोचरता नाचामति, तत् तृतीय मध्यम काव्यमित्यर्थ ।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽसद्भावस्तु नाभिधेय, तथा सति वाच्यचमत्कारस्याप्यसम्भव इत्यनुपदमेव स्फुटीकरिष्यति मूलकृत ।

तनय (हिमालयस्य) सुतश्रासी मैनाकस्तभ्रामा शैल, तस्य (इन्द्रमिया

सचारीभक्तों के सवोग से व्यक्त होने वाले 'विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनिबलवत्ता इस पद्य में प्राप्त होती है, उसको कौन रोक सकता है । वस्तुतः यहाँ दीक्षित-मत के रण्डन करने में पण्डितराज जगन्नाथ का दुःप्रयत्न ही शक्यता है । क्योंकि सर्वत्र चरम व्यंग्य के आधार पर ही 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य' काव्य को व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के) व्यंग्य के आधार पर नहीं, ऐसा नियम आलङ्कारिकों से आदृत नहीं है, अन्यथा (ताड़स नियम का आदर करने पर) 'ग्रामतरुणम्' इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गाररसाभास रूप व्यंग्य के आधार पर ध्वनि-काव्यता ही हो जायगी, फिर तो 'सवेतनम्' रूप बीच के व्यंग्य को आधार मान कर उक्त पद्य को गुणीभूतव्यंग्य काव्य वा उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असङ्गत ही हो जायगा । इस दृष्टिकोण से देखने पर 'इसके बाद मैं न जी सकूँगो' इस आन्तरालिक व्यंग्य को आधार मानकर-'प्रहरधिरतौ' इत्यादि श्लोक को गुणीभूतव्यंग्य काव्य का उदाहरण मानना दीक्षित का अनुचित नहा प्रतीत होता है ।

अब काव्य के तृतीय भेद 'मध्यम' का लक्षण करते हैं—'यद्य' इत्यादि । जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिन काव्य में व्यंग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अन्तर्भूत हो जाने से स्पष्टता अन्तर्भूत न हो, वह 'मध्यम' नामक काव्य कहलाता है ।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा यमुनावर्णने' इत्यादि । (यह यमुना) उस गङ्गा की सखी है, जो मानो, अपने पुत्र मैनाक को खोजने के लिये लम्बी को हुई तथा समुद्र के उदर में पैठी हुई हिमालय पर्वत को मुजा है ।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यं च मत्कृतिहेतु । श्वेत्य-पातालतलचुम्बित्वादीनां चम-
त्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पित-
काश्मीरद्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते ।

नमुद्रान्तर्लिनस्य) गवेपणायान्वेपणाय, लम्बीकृताऽऽपतीकृता, जलधे समुद्रस्य, जठर
उदरे प्रविष्टा, हिमगिरेर्हेमाचनस्य, मुजा बाहुरिवाचरतीति तस्या, भगवत्या
परमेश्वर्या, भागीरथ्या गङ्गाया, मखो सहचरी यमुनेत्यर्थः ।

अत्र श्वेतायतपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य मुजेव, समुद्रपूरे निमग्नस्य तनयस्य
मैनाकस्यान्वेपणाय प्रविष्टेति सद्शाचारायकव्यङ्ग्यत्वाद् उपमाया, पर्यवसाने
तु सम्भावनाया प्रतीनेरपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्यं च मत्कारस्य कारणम् । गङ्गाया
स्वच्छता—पातालपर्यन्तानुधावनप्रभृति व्यग्य तु पञ्चान् प्रतीतिपदधीभवतरदपि ताव-
न्तमेव चमत्कारं कर्तुं प्रभवति, यावान् वाच्यचमत्कारमुक्षावेव निक्षिप्तो भवति, न
त्वधिकं पृथक् प्रतीयत, यथा स्वभावगौराङ्ग्याज्जन्मिज्ञानायिकया कल्पितस्य काश्मीर-
द्रवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या अज्ञाना गौरता तिरोधीयते ।

ततश्चात्र व्यग्यचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निलीनताऽऽप्नुत्वाद् व्यग्यचमत्कारा-
सामानाधिकरण्या वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशयः ।

एवकार श्वेत्यादिव्यग्यं व्यविच्छिनति । चमत्कृतिहेतुत्वं ज्ञानद्वारकम् । मैनाकस्य
समुद्रान्त—पातालद्वारस्वतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीतिः । मन्त्रपीति कथनेनात्र भेदे
व्यग्यचमत्कारासङ्गावनिवेशाभावः पुष्यते । नायिकाया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनान-
मिज्ञता मूच्यते । काश्मीरं सम्प्रति 'वेसर' इति प्रसिद्धं गन्धद्रव्यम् । इवो रसः । यथा
प्रसाधनानमिज्ञया प्राप्यनायिकाया स्वतः सुपमाजनकमपि श्वकीयागौरस्य कल्पितेन
पीतगरकाश्मीरागरागेणाच्छादितं नैव मुख्यतया सुपमा जनयति, तथा प्रकृतोदाहरणे
व्यग्यमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कारजनकोऽपि भागीरथीश्वेतिमादिश्चमत्कारकतम-
वाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादितं प्राधान्यं नादधातीति वाच्यतृतीयप्रभेदत्वमेवैतस्येति
तात्पर्यम् ।

यहाँ मन्त्र में 'क्यङ्' प्रत्यय से और निन्दा में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली उत्प्रेक्षा
(अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है । यहाँ उत्प्रेक्षा शुद्ध नहीं अपितु उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा है, यह
समझना चाहिए क्योंकि 'क्यङ्' प्रत्यय मनुष्य आचार अर्थ में व्याकरण म अनुश्रुत है, अतः आरम्भ
में वनमा का प्रयोग होता है, परन्तु अन्त में सम्भावना का ही प्रमाण स्थिर रहती है । यद्यपि इस
गद्यांश में, गद्य में का गई हिमालय—मुजेत्प्रेक्षा से गङ्गा का 'श्वेत्य' और 'पुत्र' मैनाक को खोने
के लिये मनुष्य के वर में पैदा हुई इस उक्ति में गङ्गा का 'पाताल' के वह एक पर्वतना व्यग्य होने
है, जो किमी अंश में चमत्कारजनक भी है ही, तथापि व चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के
भीन्दे छिपा हुआ है, जैसे किमा शान्य नायिका का गौरवा, वेसर-रस के रूप के भीतर छिप जायी
है । अतः व सारांश यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रकृति से होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—दीप्त है,
और उनके मामले वक्त व्यग्य की प्रकृति से पीछे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—क्षीण है, अतः
यह मध्यम वाच्य का उदाहरण ठीक है ।

सर्वथा व्यङ्ग्यपासद्भावनिवेद्याभावाददोजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाघातु प्रभवति ।

नन्वलङ्कारप्रधानानि काव्यान्वयेषु प्रभेदेषु क्वान्तमन्वन्तीत्याकाङ्क्षायामभि-
दधानि—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययो प्रविष्ट
निखिलमलङ्कारप्रधान काव्यम् ।

अथ चतुर्थ प्रकार काव्यस्य सधमति—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् ।

मनागीपत । अनामृष्टप्रतीकान्तोऽस्मृष्टव्यस्यो व्यस्यसम्बन्धसूच्य इति यावत् ।
व्यस्यसम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कृतिता सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात्
काव्यत्वमव न स्यादती यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यक । अत एव व्यस्यमद्भावो
न निवेशित इति भाव ।

एवशब्द प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदक । जागरूको रागविरह—इत्यादाविव
चमत्कारविशेषापापकतया चर्चणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादरत्नेनाप्रधानीभूतो
व्यस्यो यत्र, तथाऽजागरूक 'तनयर्मनाक—' इत्यादाविव चमत्कारविशेषापापकतया
चर्चणाजाचरो गुणीभूतो वाच्यार्थपिषयाऽप्रधानीभूतो व्यस्यो यत्रेति च बहुव्रीहि ।
इत्यमलङ्कारचमत्कारिताया प्रधान यत्र तदलङ्कारप्रधानम् । अलङ्कारपदन्यालङ्कारपर
मन्दनंशुद्धनुरोधान् ।

इदमुच्यते—समासोक्तिप्रभृतिवल्ङ्कारेषु व्यस्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारिताया
तत्प्रधानककाव्यस्य द्वितीयभेदेऽतर्भाव । दीपकादिज्वलङ्कारेषूपमाऽदिरूपव्यस्यस्य तु
तद्भावात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदेऽतर्भाव । इत्यमलङ्कारप्रधान मकलमपि
काव्यमुक्तभेदद्वय एवान्तर्भवति ।

शब्दाद्यर्थोश्चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारनिमित्तक प्रतीतिद्वारक च । उपस्कारो
गुणाधानम् । अत एवाङ्गता शब्दचमत्कृतावयवचमत्कृते ।

इम मध्यम नामक वाक्य के तृतीय भेद में व्यस्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि
कोई भी वाक्य अर्थ ऐसा है हा नहीं, जो धीरे भी व्यस्य अर्थ के साथ बिना सम्बन्ध रूप स्वयं
चमत्कार को पैदा कर सके—अर्थात् वाक्य अर्थ को चमत्कारी होने के लिये वह निश्चय आवश्यक
है अर्थात् सम्बन्ध किसी व्यस्य में रहे । फिर यदि इन तृतीय भेद में व्यस्य का सर्वथा न रहना हो
अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव ही हो जायगा—एव भी लक्ष्य नहीं मिलेगा ।

अलङ्कार प्रधान वाक्यों का अन्तर्भाव किम भेद में होगा । इम जिज्ञासा कीं शान्ति बरने हैं—
'अनयोरेव' इत्यादि । इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) हा भेदों में व्यस्य यद्यपि गुणीभूत रहना
है, तथापि एक (द्वितीय) में, व्यस्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार—विशेषजनक होने में अन्तर्भव योग्य
रहना है, और (तृतीय) में व्यस्य, चमत्कार—विशेषजनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य । अतः
सामान्योक्ति प्रभृति जिन अर्थालङ्कारों में व्यस्य गौण होकर भी चमत्कारी हों उन अलङ्कारों में युक्त
वाक्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थालङ्कारों में व्यस्य गौण तो ही है, माय—माय
चमत्कारी भी नहीं हों, उन अलङ्कारों से युक्त वाक्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए ।

चतुर्थं काव्यमुदाहरति—

यथा—

मत्त कश्चिद् भगवन्त स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशापवशत्रवे ।

गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

तदाह—

अत्रायचमत्कृति शब्दचमत्कृती लीना ।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतिजन्यचमत्कारपोषितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य 'यथा-
न्यम न तु कथञ्चित्त मतोऽप्ययोग्यतदाऽविवक्षितस्य व्यवस्य तदधम नाम चतुर्थं
काव्यमित्यर्थः ।

मित्र सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य तस्मै, नय्या ऋग्यजुस्सामवेदानां शापवस्या
पहारकतया रिपोर्हृदयप्रोवदंत्यस्य शत्रवे नाशकाय गोत्राणां पवंतानां पक्षच्छेदनादरे-
रिन्द्रस्यगोत्रजान् वश्यान् देवास्त्रायत रक्षतीति तथाभूताय, गो पृथिव्या गवा धेनूना
वा प्रात्रे रक्षकाय ते विष्णवे नमो नमोऽस्त्विति विष्णुपक्षेऽर्थः । शिवपक्षे तु त्रय्या
ध्वंसनाच्छात्रवापामसुराणाम यद्वा त्रय्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्य कामदेवस्य
शत्रवे, गोशृषस्य प्रात्रे ते शिवायेति विग्रहः ।

तथा च सूर्याचन्द्रमसौ विराज पुरषस्य दक्षिणवामे चक्षुषी इति प्रमिष्टि ।
'मित्र सुहृदि न द्वयोः । पुमि सूर्ये गात्र शीले गात्र कुलाह्वयो' इति मेदिनी ।
'स्त्रियाभृक्कामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी इत्यमरः । 'गौ स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्र
शीतकरे पुमान् । अर्जुनीनेत्रदिग्वाण—भूवागादियु योषिति ॥ इति विश्वश्च ।

इह वृत्त्यनुप्रासात्मकशब्दालङ्कारप्रयोज्यचमत्कार एव कविसरम्भयोचरतया
प्रधानम् । वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा मत्त्वद्विषयक-चकृन्निष्ठ-रतिभावादिब्यर्थप्रतीति-
जन्मा वा लेशतः सन्नपि चमत्कारोऽप्युपट्वत्स्वीनोऽङ्गतामेव भजनीति निर्वाधश्च
यंकाव्यलक्षणसमन्वयः ।

अत्र काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अधम' का उदाहरण देन है—'यथात्रायचमत्' इत्यादि किम काव्य
में वाच्य अर्थ के चमत्कार में परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो चक्रे 'अधमकाव्य'
कहते हैं । इस काव्य में जो कुछ न कुछ व्यर्थ अर्थव रहता है परन्तु वह रह कर ना चमत्कारजनक
न होने से अविवक्षित रहता है अतः उमका प्रधानता नहीं रहती—येका समान नहि ।

चतुर्थं 'अधम' काव्य का उदाहरण देन है—'यथा मित्रात्रि' इत्यादि कोट्ट मत्त मंत्रान् को
स्तुति करता है—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र तिनके नेत्र हैं, त्रयी-वर्गों के गोत्रों (कुलों) के
जो शत्रु है तदा गोत्र-द्वेष के अन्ते-शत्रु (दुष्ट) के गोत्रों-वर्गों (त्रेवताओं के) का-चमत्क है
उन गोत्राना (त्रेवतः) अथवा वृषभकहन (शिव) आपकी बार-बार नमस्कार है

यहां वृत्त्यनुप्रासमप्य शब्दालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य प्रयत्न स्त्री
शेष में हुआ है, यह शब्द अर्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थ का चमत्कार अथवा अन्वय-
विषयक अर्थस्य व्यर्थ का चमत्कार लेशतः सन्नपि है तथापि वह शब्द के चमत्कार में छिपि हुआ है ।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपञ्चमप्रकारनिरूपणस्याकरणान्वनतामापाद्यति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत् पञ्चममधमाधम-
मपि काव्यविधानु गणयितुमुचितम् । यथंकाक्षर-पद्यार्थावृत्तियमक-पद्य-
बन्धादि ।

तमादधाति—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्त-
तया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र
काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुगोध्यत्वात् ।

काव्यस्य विधा प्रकार । एकाक्षरानुप्रासो यथा—'दाददो दुद्दुदादी दादादो
दूददीददो । दुदाद बददे दुद्दे पदाददददोऽदद ॥' इति । समुद्रापरत्वाभङ्ग पद्यार्था-
वृत्तियमक यथा— अयशोऽमिदुरालोके कौपघा मरणादृते । अयशोमिदुरालोके कौपघा
मरणादृते ॥ इति । पद्यबन्धो यथा— मारमासुपमा चारुत्वा मारत्वधृत्तमा । मात्त-
धृत्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मारमा ॥' इति । आदिपदेन द्व्यक्षराद्यनुप्रासमहा-
यमकापराह्वयपद्यावृत्तियमक-चक्र-खड्ग-मुरज-हार-नाग-शक्ति-गोमूत्रिका-मर्वतोम-
द्रबन्धादीनि दुष्करशब्दर श्लेषानि गृह्यन्ते ।

मिथानीत्यादिपद्येष्वन्यमत्कारोऽस्फुटोऽप्यस्त्येव । यत्र पुनरेकाक्षरानुप्रासादिशा-
लिपद्येषु काममर्षचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवल शब्दचमत्कार स्फुरति, तादृशा-
नामपि बहूना काव्यानामुपलम्भाच्छब्दचमत्कृतिमात्रवान् पञ्चमोऽपि काव्यप्रकार
कुतो नात्र इत्यभिप्राय ।

अय भाव —एकाक्षरादिचित्रैर्वर्षिकचमत्कारस्व सर्वेषाञ्जुपलम्भाद् रमणीयार्थ-
प्रतिपादकशब्दत्वरूप मदुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते
वास्तविक काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषा गणना स्यात् । वा वा तद-
गणने ग्रन्थस्य न्यूनता स्यात् ।

ननु माघादि महाकविभिश्चिन्तितानुपलम्भादिमहाकाव्येषु सन्निवेशितानामेवक्षरादि-
चित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविक काव्यत्वम्, रमणी-
यार्थप्रतिपादकशब्दत्वाभावात् । त्वस्तु गतानुगतिकतमैव प्राचीनाना महाकवीणां
परम्पराया अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविदेकेन । तद्विदेकपुरस्सर प्रवर्त-
मानैरस्माभिस्तु तानकूपक्षारजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरण-
स्यानीचित्यात् ।

यद्यपि किम् काव्यं मं अर्थं का चमत्कारं विलज्जलं नहीं हो और शब्द का चमत्कार हो जैसे
एकाक्षरपद्य, अर्थावृत्तियमक, पद्यबन्ध आदि, उस काव्य के पाचवां भेद 'अधमाधम' को भी गणना
काव्य, प्रभेदों में करनी चाहिए ।

किन्तु 'एकाक्षरपद्य' आदि रचनाओं में जब अर्थहीन चमत्कार विलज्जल नहीं रहना, तब तो वे
शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य
का सामान्य लक्षण ही संभटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा
अमङ्गल है । यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने शब्दों में

मम्मदाविसाम्मत काव्यस्य त्रिप्रकारत्वमात्र निराकर्तुमुपक्रमते—
केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाद्यमभावेन त्रिविधमेव
काव्यमाचक्षते ।

निराकरोति—

तत्रायचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणाद्यमत्वमयुक्त वक्तुम्, तारतम्यस्य
स्फुटमुपलब्धे ।

तदाहुरह शास्त्रिण — 'सर्वथाऽपरहितसन्निवेशमात्रे चमत्कृत्यनिर्वाहकतया
दुष्करशब्दसन्निवेशनिर्वाहणीयविशिष्टवाक्यार्थधीजनकस्यैकाक्षरादिचित्रस्य कथञ्चिदपि
कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्याच्चमत्कृतिविशेषजनकत्वेऽपि काव्यत्व नाङ्गीक्रियते ।
इति ।

वदन्तु—न एकाक्षरादिचित्रेषु सर्वथाऽपरहितस्य चमत्कृतिराहित्य वा, अनु-
भवविरोधात्, तच्छुश्रूषया प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च । आधिक एव चमत्कार काव्य-
त्वप्रयोजको न तु शाब्दिक इति त्वमियुक्तोक्त-चित्रोदाहरणेष्वव्याप्तिमुपेक्षमाणेन
प्राचीनस्थितिलङ्घनैकव्रतन भवतैव केवल व्याह्रियते, न तु केनाप्यन्येन । कृत्याकृत्य-
प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्य तु 'मम घम्मिन्न ' इत्यादावपि तुल्यमेव । एव तत्पर्यंचमत्कार-
स्य निष्कर्षेऽपि प्राचीनकविपरम्पराऽनुमत निष्कृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्वाच-
येवेति विद्य ।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रभृतय प्राचीनाचार्या, इमानिदोस्ताऽनुतनासीन्, ननु
काव्यस्य भेदान् प्रकारानपि, अगणयन्तोऽमन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाद्यमत्वेन च
त्रिविध त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारक काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थ । तामानु-
ल्लेखेन तन्मतऽपि सूच्यते ।

अर्थात्द्वारयुक्तमविवक्षितव्यग्य ह्यर्थचिन्तम्, शब्दात्द्वारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यपन्तु
शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण तुल्यतया, अद्यमत्व निष्कृष्टकाव्यत्व वक्तुमयुक्तम्, तार-
तम्यस्य तयोन्मूताधिकभावस्य, स्फुट स्पष्टम्, उपतब्धेरनुमवादित्यर्थ ।

अर्थचित्रेऽधिकचमत्कारस्य शब्दचित्रे च न्यूनचमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमातत्वात्
काव्यप्रकाशकारादिसम्मतभुमयो साम्यमयुक्तमित्याशय ।

इह तरतमयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तरतमशब्दान् ध्वज् । अन्यथा केवल-
प्रत्ययपरताया साधुत्व दुर्पटम् ।

अद्य तदां एव तरह की रचनायें की ह, तथापि हमने उस तरह का काव्य-भेद इतलिये नहीं माना कि
वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्वयपरता का ।

कुछ मन्त्रन काव्य के ये चार भेद नहीं मानने । वे—उपम, मन्त्र तथा अर्थम-तीन प्रकार के
ही काव्य मानने हैं ।

उन्हें सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि अर्थ चित्र (अर्थात्द्वारों में युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य
वाच्य, जो प्रकृत ग्रन्थ के हिसाब से तृतीय भेद में आता है) और शब्द चित्र (शब्दात्द्वारों से युक्त
अविवक्षित व्यङ्ग्य वाच्य, जो इस ग्रन्थ के अनुसार चतुर्थ भेद में समाहित होता है) दोनों को एक
सा-अर्थम ही कहना समुचित नहीं, क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनधिक भाव स्पष्ट स्थिति-

पूर्वोक्तामयुक्तिमुपपादयति—

का ह्येव महदय मन् विनिगन्त मानदमात्ममन्दिरान्', 'स च्छिन्नमूल क्षतजेन रेणु' इत्यादिभि काव्य 'स्वच्छन्दोच्छलद्-' इत्यादीना पामरश्लाघ्यानामविशेष ब्रूयात् । नत्यपि तारतम्ये यद्यवभेदत्व वस्तुहि ध्वनिगणीभूत-व्यङ्ग्ययोरीपदन्तरयाविभिन्नभेदत्वे दुराग्रह ।

नवम्पञ्चम्य यदच्छराऽपि यम् । ससम्भ्रमद्रुतपातितागला निमीलिताक्षीव मियाऽमरावती ॥ इति प्रथमस्य तस्योपरिष्ठात पवनावधृत । अङ्गारशेषस्य हृतासानस्य पूर्वोत्थिता धूम इवावभासे ॥ इति द्वितीयस्य वच्छकच्छुररच्छति-तराम्बुच्छा-भूच्छंमोहमर्त्तिहपिहवहितस्नानाहिकाऽह्नाय व । मिद्यादुद्यदुदारददुर-दरीदीर्घादिरिद्रुम-शोहोद्रकनहोमिमेदुरमदा मदाकिनो मन्दताम ॥ इति तृतीयस्य च पद्यस्य शेषान् । प्रथम मम्मटभट्टेन द्वितीयमप्यव्यधीक्षितेन चापचिभोदाहरणतयोप न्यस्तम् तृतीयन्तु मम्मटेन गदचित्रोदाहरणतयेत्यवमेयम् ।

आद्ययोरपेक्षाऽप्यान्द्धारस्यैव चमत्कारितया व्यङ्ग्यस्य लेखत सतोऽपि-चमत्कारानुपधानादपचिचत्वमिति सम्प्रदायविद ।

प्रदीपकारास्तु- विनिगन्तम् इत्यादौ ह्ययग्रीवप्रभावातिशयलक्षणव्यङ्ग्यस्य जागरूकतया विवक्षणादयद्विचित्रत्व व्यपास्य 'मध्ये व्योम स्फुरति मुमनोघन्वन शायचक्र मन्दाविन्म्याविपुलमुनिनाम्पागती राजहस । अल्लच्छेदे त्वरितचरणन्यासमावाश-तदम्या समपन्या श्रवणपतित पुण्डरीक मुष्माणु ॥ इति रूपकप्राच्यशालिनिस्वकी-यपद्य तद् व्यवस्थापशाश्रु ।

छोटा है अर्थात् अर्धचित्र में अधिक चमत्कार का और शब्दचित्र में लसकी अपेक्षा कम चमत्कार का अनुभव होता है फिर दोनों को एक कोटि में समीप कर लाना अनुचित है ।

कौन देखा होगा जो महदय होकर—

विनिर्गत मानदमानमन्दिराङ्कवस्तुपञ्चम्य पदच्छराऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रुतपातितागंल निमीलिताक्षीव मियाऽमरावती ॥

एषा

स च्छिन्नमूल क्षतजेन रसुम्भयोपरिष्ठातपवनावधृत ।

अङ्गारशेषस्य हुनाशनस्य पूर्वोत्थिकी धूम इवाऽऽवभासे ॥^१

१ इस पद्य में व्यङ्ग्य का राम का प्रभाव पाँच है । इसका अर्थ इस प्रकार है—अग्ने इतनी बनी है कि जल के बगैरे कभी कभी अग्नि नहीं बने मग्नाम को नष्ट करने का । इस ह्ययग्रीव का स्वच्छमूलक भी (न कि अङ्गार का करने के लिये) अग्ने भवन से निकलना सुनकर धवलाए हुए इस के द्वारा शीघ्रता से गिरलाई गई है अगले (कीले) अग्नि में ऐसी अमरावती (देव-मुरी) मानो भय में नेत्र मूँद टा है ।

२ यह पद्य सुद्ध-वर्ण में प्रमद का है । इसका अर्थ इस प्रकार है—मैत्र-सम्पर्द से जो शक्ति लगी उसका जल शक्ति ने शक दी अथात् शक्ति से भरा आर्द्र हो गई अग्नि में भूँड से कपर लगी हुई शक्ति का ताँता टूट गया, पर आकाश में शक्ति उफानी ही रही । (ठन अत्रया में) वह शक्ति ऐसी शक्ति होती थी माना आग के वैचल अङ्गारे शेष रह गए हैं उससे जो पहले निकल चुका था वह धूमोँ उपर टा रहा है ।

ननु यत्र तद्व्ये शब्दवचनानुनिरयचमत्कृतिश्च महैव विद्यत, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत् न तयोश्चमत्कृत्यो सामानाधिकरण्यापि सूक्ष्मेक्षिकया क्वचिदेकस्या प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं लक्षितं स्यादेव । ततश्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारमयचमत्कृतेः सूक्ष्मेऽपि प्राधान्ये मध्यमवाच्यत्वम् शब्दचमत्कृते प्राधान्येऽधमवाच्यत्वं व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दायचम कृत्योरैकाधिकरण्यात् तत्र तयोर्गुणप्रधानभाव पर्या-
लोच्य ययानक्षण व्यवहनव्यम् ।

एव तत्तारतम्याभिज्ञतया । काव्यादिभावनापरिपक्वबुद्धिगाली रमास्वादकुशली वा महूदय आहारादिमाधनिपुणोऽङ्गो ग्राम्यजनस्तु पामर । अविशेषमवलक्ष्य तुल्यत्वमिति यावत् ।

इदमाकृतम्— अयमेव हि भेदा भेदहेतुर्वा यद्विबुद्धधर्माध्याय कारणभेदश्च इत्यभिप्रेत्युक्तोक्तोरन्यन्तविजातोयचमत्कारवभया विबुद्धधर्मायासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दायचित्रयायद्यकप्रकारत्वं स्वीक्रियत तदा व्यञ्जयस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्रात्पहेतु-
कभेदभाज्योव्यनेगुणोभूतव्यङ्ग्यस्य च काव्ययोविभिन्नप्रकारत्वं कुतोऽङ्गीक्रियते, तयो-
रप्येकप्रकारत्वंमूरीक्रियताम् ।

एकाधिकरण्य मपानाधिकरणत्वम् ।

इत्यादि काव्यो के साथ—

सन्तुष्टोच्छ्रितच्छब्दस्योच्चारणानुच्छ्रय

सूक्ष्ममोहमहिर्हर्षविहिम्नानाङ्गिकाऽङ्गाय च

भिलादुषदुशरददुदरा दाषादरिद्रुम

दाष्टेद्रकमहोर्निनेदुरनग मन्दाकिनो मन्दतार् ॥'

इत्यादि काव्यो का केवल निर श्रेण के अत्यन्त अन दिनकी प्रथमा करत है, साम्य कह सकता है । और तारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में 'निर' जाय, तब दिनमें बहुत ही कम (व्यङ्ग्य की प्रधानता और अधधानता का हा) अन्तर है, उन 'ध्वनि' तथा 'युगीभूतव्यङ्ग्य' को अलग अलग भेद में गिनने का दुराग्रह क्यों ? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिमूलक है ।

जिन लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या काव्य का एक अतिरिक्त (पञ्चम) भेद होगा ? नहीं ता उनका समावेश किस भेद में होगा ? इन्सा उत्तर देने है—'यत्र च' इत्यादि । अर्थात् यह है कि यदि किसी काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहता, तब वही विचार में काम चला होगा अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रधान होगा तो चतुर्थ अधमकाव्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रधान होगा तो तृतीय अधमकाव्य में समावेश किया जाएगा । अतिरिक्त काव्यभेद मानने का आरेखकता नहीं है ।

१ वह शब्द का वर्ण है । इन्का अर्थ हम चार है—वह शब्द अपना मन्त्र-अङ्ग को साथ दूर करे, उस प्रायः प्रत्यय के अर्थों में ध्वनि-दुषल-तदितर-चल, स्वतन्त्रापूर्वक उच्छ्रित दुष, और स्वच्छ उल का परमता में एक है वह है मोह-अज्ञान निम्ने मन महविगा, इसपूर्वक निम्ने स्तन तथा दैतिक कर्म (मध्यकालम्) करत है और जो (शब्द) दाव पादे बन, विशाल नदियों काःअकाम स्तनभूत स्तनाओं में पुन है और बह-बड़े पत्तों के दह (निराने) में अक्षि-शक्तिगाली महान् एक ही जिन (शब्द) का गदा गर्व है ।

तनु यत्र सूक्ष्मेक्षिकायामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्योस्तुल्यमेव, (न त्वेकस्या-
कस्याश्चिन्वूनमपिक वा) प्राधान्य स्यात्, तत्र का गतिगित्याकाङ्क्षायामाश्चानि-
समप्राधान्ये तु मध्यमत्तैव ।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यमुदाहरति—

यथा—

कविरुदित नानुमन्त वर्णयति—

‘उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपत-मन्नपुष्पन्वयाना,
निस्तार शोकदावानलविकलहृदा कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसा चक्षुषा पक्षपात,

सङ्घात कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्तत. प्रादुरासीत् ॥’

मध्यमता प्रागुक्तकाव्यतृतीयप्रकारत्वम्, व्यङ्ग्यचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्य-
चमत्कृतेरुपलम्भान् । शब्दचमत्कृतिप्राधान्यस्य तूपलम्भेऽप्यविरोधित्वम् ।

फुल्लाना विकसिताना, पङ्केरुहाणा कमलाना, पटलान् समूहात्, पटले समूहे वा
पतन्तो निस्सरन्त, पतन्त प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्वया भ्रमरा, तेषामुल्लासो
नैशकुणेशयकोशबन्धनमोचकत्वात्, स्वच्छन्दमरुदमरास्वावसानाग्नीसाम्पादनाद्वा
आनन्द, तद्देतुर्वा, शोक प्रियतमविप्रयोगजन्मा चित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदा-
नाद् दावानलो वनवह्नि, तेन विकल खिन्न, हृदय मना पासा ता शोकदावानल-
विकलहृद तासा शोकदावानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीना चक्रवाकववूनान्,
आश्वासनविधानान्निस्तारश्शोकसागरपाररुमन तत्सम्पादको वा, तामसाना तिमिर-
निकराणा तमस्त्वभावतया तमस्विनीसञ्चरणशीतोलूकादीना वा, उत्पातो विनाश
उच्चाटन तन्निदान वा, उपहत तिमिरावरणाद् विनष्ट मह-पदार्यसायंशाहक-
प्रकाशो येषा, तादृशा चक्षुषा दृशा तत्तिमिरावरणतिरोघापनात् पक्षपात साहायक
तत्कारको वा, अयमुदीक्ष्यमाण, कोऽपि दीपक-खद्योनादिविचक्षण, धाम्ना तेजसा,
सङ्घात समुदाय सूर्य, उदयगिरे पूर्वाचलस्य प्रान्तत शिखरात्, प्रादुरासीत्
प्रातराविरभूदित्यर्थ ।

यदि घुड़म-विचार कर्त्तव्य पर भी प्रधानता का निर्णय न हो अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का
समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—उसका समावेश कर्त्तव्य किया जायगा ? इनका समाधान
करते हैं—‘समप्राधान्ये’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि उन स्थिति में उसको मध्यम काव्य ही माना
जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार वहाँ उत्पन्न रहेगा और शब्द-चमत्कार
का प्रधानता रहने से भा कोई विरोध नहीं होगा ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समान रूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करने
हैं—‘यथा, उल्लास.’ इत्यादि । ‘मरुदभट्ट’ अपने धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थ से उदाहरण लाने प्रात-
वाल्कि सूर्य का वर्णन करते हैं । गिरे हुए कमलों के समूह से निकलन हुए अथवा सिल हुए कमलों
के समूह पर गिरने हुए (रातभर मधुरान करने के कारण अथवा मधुरान की आशा से) मत्त, भ्रमरों
ज उन्मत्त (आन्दोलक), शीतल दावानल से विकृत हृदय वाली चक्रवाकियों का निस्तार

तदेवाह—

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च, शब्दस्य, प्रसादगुणयोगा-
दनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुल्य-
स्कन्धत्वान् नममेव प्राधान्यम् ।

अय रसध्वनिलक्षणाय समासेन ध्वनिप्रकारान् निर्देष्टुमवतरणमभिदधाति—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यान् ह्रस्वभेदस्यापि सामान्यत कैऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

इहायमिति निर्देशऽद्यतनभूतकाले तद्विधिश्चित्य । वैदक्षिकत्वाङ्गीकारेण
वोपपाद्य पकाराद्यक्षरामहृदावृत्ते 'अनेकस्यैकधा साम्यमसहृदाऽप्यनेकधा । एकस्य
सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास इत्येते ॥' इति दर्पणलक्षितो वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार पूर्वो
त्तवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य वैशिष्ट्यात् 'आवृत्तवर्णसम्पूर्णवृत्त्यनुप्रासवद् वच' । ओज
स्यात्' इति प्राचीनलक्षित ओजोऽभिधानशब्दगुणश्च शब्द भूषयति, तयाऽङ्गसैव स्पुट-
तयाऽधीपगमान 'यस्मादन्तऽस्थित सवं स्पष्टमघोऽवभासते । सलिलस्यैव सूक्ष्म
स इति स्मृत ॥ इति प्राचीनलक्षित प्रसादनामाऽर्थगुण, सूर्यरूपे तेजस्तद्भावे पुष्प-
न्धयोऽल्लागत्व—नोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारत्वतामसोत्पातत्व—चक्षुःपक्षपातत्वलक्ष-
णधर्मचतुष्टयारोपात् तद्रूपकभेदो य उपमानोपमेययो 'माला तु पूर्ववत्' इति प्रका-
शलक्षित मालारूपकम्, उल्लासादिधमंकारणस्य तेजःपुञ्जस्तोऽल्लासादिकार्यैरभेदे-
दामिषानान् 'अभेदेनामिषा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति पुनर्वर्णलक्षितो हेत्वलङ्कारो
वा वाच्यार्थं प्रसाधयतीति शब्दस्यार्थस्य चमत्कारस्तुल्यवक्ष एवेत्युमयो प्राधान्या-
न्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणालङ्कारमोक्षन्यासेनात्र त्रयविपर्या-
सोऽवसेय । ताद्रूप्यारोपापेक्षया तादात्म्याच्च 'एतत्तु त्विह' इत्याद्यालङ्कारान्त-
रोपादानस्य निदानम् । 'यत्तुल्लासादीना तत्-
रोपादानबीजप्रदर्शनं टीकाकृत, तत्त्वन्तनीयम्, रूपक'मित्यलङ्कारान्त-
प्राप्तयेव तत्कारोपाद् रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोर्भेदस्याप्येव बाध-
यासादलङ्कारान्तरोपादानस्याप्यमङ्गलत्वाच्च ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजस शब्देन सह व्यञ्जयव्यञ्जक-
भावात् प्रकाशनीति । तुल्यस्कन्धत्व साम्यम् । अन्यत् सुगमम् ।

तत्र तेषु शतुर्षु काव्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वने ।

(शिब-विद्वेग-मन्दादक होने से शीघ्र-कारणीभूत—अग्नि का अन्त करके दुःख का नाशक), अन्धकार
के समूहों का जला (नाशक) और अन्धकार के कारण जिनके मज न्द हो गए हैं उन नेत्रों का
पक्षात् (महापक्ष), यह कोई तेजपुञ्ज, उदमाघल के प्रान्त-भाग से प्रदुर्भूत हुआ ।

यहाँ पकारादि अक्षरों की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास की प्रचुरता है और अनूपी
श्लोक में उन वृत्त्यनुप्रास के वर्तमान रहने से हम पद्य की पदावली 'ओजगुण' को व्यक्त करती है,
इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद-गुणयुक्त होने से शब्द-क्षण के बाद
शीघ्र शांत हुए 'रूपक' अर्थात् 'हेतु' अलङ्कार-रूप वाच्य अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । उन
इस पद्य को मध्यम काव्य कहना उचित है ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके रूपसे अलङ्कार-

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् विरूपयति—

द्विविधो ध्वनि, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्राद्यखिविध —रस-वस्त्व-
लङ्कारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस भाव तदाभास-
भाव-शान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भविणवलत्वाना ग्रहणम् । द्वितीयश्च
द्विविधः—अर्थांतररसक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

असङ्ख्यभेदस्यापि विभावादिनेदानन्त्यप्रयोज्यात्मप्रकारकत्ववद्-रसादिध्वनिषटित-
त्वात् प्रातिस्विकरूपेणागणनीयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽवशेषरूपेण केऽपि साधारणा,
भेदा प्रकारा, निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

यद्यपि रसादिध्वनिषटितत्वाद् ध्वनिप्रकारा विशेषरूपेण सङ्ख्यातुमशक्या इति
तद्विरूपणमशक्यमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरवाच्या-विवक्षित-
वाच्यत्वादिसामान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

अन्यभानिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वने प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकटाह-
न्यायेनोपादाननाघवाल्लक्षणांमूलस्याविवक्षितवाच्यध्वनेरेव प्रागुपादानम् । इह त्वमि-
ध्याया लक्षणोपजीव्यत्वात्, तन्न्यायमुपेक्ष्य प्राकृतमेव क्रममनुसृत्य तदिति न विपर्यासः ।
द्विविध सामान्यरूपेणेति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अनिधामूलत्वादेव विवक्षित-
वाच्यत्व लक्षणामूलत्वादेव चाविवक्षितवाच्यत्वमवसेपम् । तथाहि—विवक्षितो
वाच्यताऽवच्छेदकरूपेणान्वयबोधविषयत्वेनापेक्षितोऽन्यपरो व्यङ्ग्योपमर्जनीमूलो
वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवाच्योऽनिधामूलो ध्वनि, पदार्थोपस्थितवत्सर
एवान्वयबाधे जागृकेऽविवक्षितो वाच्यत्वात्प्रादिरूपेणान्वयबोधविषयतयाऽपेक्षितो
वाच्योऽर्थो यत्र, स ^{द्विविधो ध्वनिः} लक्षणामूलो ध्वनि । चकार ममुच्चयार्थकः ।
तत्र तयोर्ध्वनोर्मध्ये । ^{रसध्वनिः} तमस्त्वित्वात् विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिः । त्रिविधो रस-
ध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिः तत्र त्रिप्रकारकः । रसपद रस्यन्त आस्वाद्यन्त इति
श्रुत्यन्तियोगाद् रस-भाव-रसामास भावामास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावश-
न्तवतानामुपलक्षण प्रत्यायकम् ।

अन्यत्र रसध्वने पञ्चाभिदिष्टत्वेऽपीह सर्वप्राधान्यबोधनाय पूर्वनिर्देशः । द्वितीयो
लक्षणामूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनिः । चकारस्त्वर्थकः । पदार्थान्तरान्वययोग्यत्वाद्योग्य-
त्वाभ्या वाच्यस्य विवक्षाविवक्षे बोध्ये ।

भेद है अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अनन्य हो सतत है अतः इन
सब भेदों का एक-एक बर उल्लेख करना अमम्भव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का यहाँ
उल्लेख किया जाता है ।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक । उनमें प्रथम अर्थात्
अभिधामूलक ध्वनि-काव्य में पुनः तीन भेद होते हैं—रस ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि ।
यहाँ 'रस ध्वनि' पद, अमलक्ष्य क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जकज्ञान और स्वयं-ज्ञान के बीच में होने
वाला क्रम (पूर्व-वधाद् भाव) लक्षित नहीं होता) का बोधक है अतः 'रस ध्वनि' पद से रस,
रसामास, भाव, भावामास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव शान्तना सब का ग्रहण करना
चाहिये क्योंकि वे सब अर्थलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं । द्वितीय अर्थात् लक्षणामूलक ध्वनि-
काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थान्तरसंक्रमिण वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । यहाँ यह

रसध्वने प्राधान्य शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयन्—

एव पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रमस्तात्रदभिधीयते—

प्रथममाचार्यामिनवगुणादिसम्मत रसस्वरूपमाह—

समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, महृदय-हृदय प्रविष्टैः, तदायसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्तरमणात्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिजडव्यपद-श्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः,

एव—पूर्वात्तरमध्वन्यादिभि प्रकारं, पञ्चात्मके पञ्चम्वरूपे ध्वनौ घटकत्वन्म सप्तम्ययनया) ध्वनिघटकस्य, रसध्वने प्रथमस्य, परमरणीयतयाऽनौकिकास्वादजनकत्वेन तदात्मा तस्य रसादिध्वने, आत्मा जीवनाप्रायस्त्वात् प्रधानम् रसो बध्यमाणस्वरूप, तावदादौ (सर्वम्य प्रथमम्) अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः ।

रसादिध्वने परमरमणीयत्व तु काव्यस्यात्मा स एवायं' इतीतरव्यवच्छेदायं-मेवकारमुपनिबध्नता ध्वनिवृत्ताऽपि प्रतिपादितम् ।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूल अन एव ललितो मनोरम सन्निवेश शब्दार्थवा-गुम्फनम्, तेन चारुणा सुन्दरेण, काव्येनोक्तलक्षणेन कविकर्मविशेषेण, समर्पितरसस्था-पितं, अत एव महृदयाना सचेतसा, (न त्वचेतसामपि) हृदय प्रविष्टैश्चत्कारितया मनोरमै, तदोया तेषा महृदयसामाजिकाना सम्बन्धिनी (तन्निष्ठा) या सहृदयना वंद्यो (रसास्वादनचातुरी) तया सहृदयेन विहितसाहाय्येन (उपोद्धतितेन) भावनाविशेषस्य सहृदयेतरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकलदर्यानुसन्धानस्य, महिम्ना प्रभावेण, विगलित प्रतीत्यविषयीभूत शकुन्तलादिनिष्ठो दुष्यन्तरमणीत्वा-दिलौकिकोऽनाधारणधर्मो येषा तै, लोकोत्तर-विभावानानुभाव-व्यभिचारणव्यापार-वत्तयाऽलौकिकविभावानुभाव-व्यामचारि (भाव) राई (नामभि) व्यपदेश्यैर्व्य-वहार्यं, शकुन्तलादिभि (आदिशब्दो नायिकान्तरबोधक) आलम्बनकारणैराल-म्बनविभावार्थै, चन्द्रिकादिभि (आदिना त्वच्चन्दनादिग्रहणम्) उद्दीपनकारणै-विशेष समराना चाहिये कि 'अभिधानूलक ध्वनि' को 'विवक्षितान्यतरवाच्य ध्वनि' और 'लक्षणमूलक ध्वनि' को 'अत्रविक्षितवाच्यध्वनि' भा कहन है ।

इन तरह ध्वनि-काव्य क सामान्य पाँच भेद है । उनमें 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमण्य (आस्वाद-जनक) होगा है, इनकेवे रस-ध्वनि की भावना (माररूप होने में प्रधान) को 'रस' है, उसका निरूपण पहले करत है ।

अब रस-निरूपण—प्रमत्त में सत्रप्रथम 'मन्यत तथा अभिनवगुप्त' आदि विद्वाना के अभिमत—'रस'-स्वरूप का उल्लेख करत है—'समुचित' इत्यादि । अभिमत एव है कि अपने जीवन में मनुष्य बहुतरे भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किमा का रोच, कभी किमा पर क्रोध करता है, तो कभी किसी पर घृणा, कभी किसी से भय खाना है, तो कभी किसी काम में उत्साह दिखलता है, कभी किसी पर ईर्ष्या है, तो कभी किसी काम पर आश्चर्य

अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टरामना-रूपो रत्यादिरेव रसः ।

रहीपनविभावाख्यं अश्रुपातादिभि (आदिपदेन कटाक्षभुजक्षेपादि गृह्यते) कार्य-रनुभावाख्यं, च पुन चिन्तादिभि (आदिपद नञ्जादिग्राहकम्) सहकारिभिर्व्यं भिचारिभावाख्यं (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणं) सम्भूय विभाव्यदिभावकभावा-दिसम्बन्धैर्मिलित्वा, प्रादुर्भावितेनोत्पादितेन, अलौकिकेन लोकोत्तरेणाद्भूतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरपययिष्य भावनाविशेषरूपेण (कारणेन) तत्काले तस्मिन् भावनाधिकरण एव समये, तत्काल वा, निवर्तितमपसारितम्, आनन्द्यागस्य चिदात्म-रूपस्य, आवरणमवरोधकमज्ञान यस्य, तादृशेन (भावनाविशेषोपसारित-सच्चिदानन्दस्वरूपात्मज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत एव-आवरणरूपज्ञानोपसाराणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्त परिमितप्रमातृत्वादिरियत्तावत् (परि-च्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रभृतिनिजधर्मो जोवात्मनैर्गतिकधर्मो यस्य, तादृशेन, प्रमात्रा ज्ञात्रा (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यात्माभेदेनात्मनैव प्रतिभासात्) प्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयतया सत्येन "सत्यं विज्ञानं मानन्दं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतेर्निजस्यात्मन स्वरूपेणानन्देन, महाभेदेन (रसोऽहम् इत्यादिप्रतीति) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमानं प्राक् पूर्वजन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च विनि-विष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूप यस्य, तादृशो रत्यादी रत्युत्साहप्रभृतिस्तत्तद्रसस्यायिभाव एव रस इत्यर्थः ।

(विस्मय) प्रकट करता है। इसी तरह कभी वह शान्ति का अनुभव भी करता है। वे अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनकी संस्कार सदा के लिये अमिट हो जाते हैं अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं। वे ही वासनारूप से मानव-हृदयों में बसने वाले भाव साहित्यशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, लुपुष्णा, भीति, जलाह, हास, विस्मय और शम इन नामों में स्थायीभाव कहलाते हैं, जो वस्तु एक प्रकार की चित्तशक्तियाँ हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। जब वे स्थायीभाव 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेदवाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वयं प्रकाशमान अस्तानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। इसी अवस्था में 'रसोऽहम्' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तबतक नहीं हो सकता, जब तक वे उनके साथ उनका अनुभव ही तबतक किया जा सकता, जबतक आनन्द-स्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, जब उस आवरण को हटाने के लिये एक कष्टीकृत व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकत्व'। जब वह लोकोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-आत्मा को उड़ने वाले उस अज्ञानानरण को हटा देता है, तब

इदमुच्यते—एवंस्तमोऽभिप्रवेन मत्त्वगुणोत्कर्षे श्रवणात्मकवपन वृत्तनाद्यानि
 नयदर्शनेन वा, धम्माना केपाचन महदयाना हृदये रत्यादे शकुन्तला-चित्रिकाप्रभृ
 तीत्यानम्बतोद्दीपनकारणानि अधुपातादानि वायांनि चिन्तादीनि सहकारिकार
 णानि च, वस्तुशोन्दयैष चर्च्यमाणानि महदपत्तामानिनिर्ध्वंदाधोपरिभाषिताया
 भूयो-भूयोऽनुमन्धानलक्षणविलक्षण-भावनाया बलन लौकिकमाधारण-शकुन्तला-
 दुष्यन्तरमणीत्वादिवर्माणो प्रमोपेज्जौकिक-साधारण-कान्तात्वादिप्रमुरस्कारण त्रय
 मानान्यलौकिकविभावनादित्याणारवत्तयाश्लौकिकविभावादिप्रदवाच्यन्व प्रनिपन्नम् ।
 तंश्च परस्पर सङ्गते प्रभावाद्दलीकिको भावस्त्वभावार प्रभुम् पन तु
 व्यापारेण, सद्य एव, मन्विदानन्दरूपम्यारमनो दीपम्यह शरावादिगवभ...
 मपसार्यते । अथाज्ञानस्य विफलतादेव तस्य नचेतस्य परिच्छिन्नज्ञानवृत्तिप्रज्ञानिय
 त्रितवस्तुभाववेदित्वमादिर्मोषा तप जीवयमेषु वितष्टेय मम...
 त्पारिपु परमात्मयमेषु रमस्यात्मनश्च मित्यत्वाज्ञानरूपत्वादानन्दहृदय-
 जन्मान्तराणामेनज्जन्मनश्च वामनात्म्यमकाररूपेण पूर्व हृदि प्रविष्टा भोवकम्बापर
 पमिण रसनाव्यापारेण आस्वादपदवी नीयमानो रत्यादिस्वतद्रमम्याया नाइ एव
 रसोऽस्ति ।

अनुभवता में ज अग्रपा रहती है, वह कुछ पदार्थों का हा रूप है—अन्तर के मध्य
 पदार्थों का नहीं, वह नष्ट हो जाती है अर्थात् मनुष्य में जो भावना (अवस्था-प्रकार का भाव-भाव
 सदि) रहने है, वे तप ही जान हैं और परमात्म-धर्म-अवेकत्व अति-परिणत हो ज ह वह
 अनुभवका को मातमान के साथ रनि आदि स्थयीभावों का अनुभव होने जाना है ।
 जोकेल 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि विभाव, अनुभव तथा मन्त्रीभाव फल्य-
 धन यहाँ उन 'भावकत्व' व्यापार की तुष्ट करने का विभाव, अनुभव एव मन्त्रीभावों का परिक्य
 प्राप्त करना पड़को नो आवश्यक प्रजात होगी, अत मध्ये में 'न भावों का परिचय करवा जना है ।
 अतानन्द के साथ अनुभूत होने पर 'म' सत्ता को प्राप्त करते वा चित्त-वृत्ति-विशेष-
 'नि' आदि स्थयीभाव त्रिन कारणों से उत्पन्न हान है, वे उन स्थयीभावों के अन्वयेन कारा
 बरलाने हैं, और 'ने अपने आलम्बन कारणों से उत्पन्न वे स्थयीभाव, जिनमे वदास हान है, वे
 बरलाने हैं उदीपन कारण । इसी प्रकार उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के उत्पन्न होने पर
 उनके परिणामस्वरूप शरीर आदि में जो कुछ विशेष प्रकार के भव उत्पन्न होत है, वे बरलाने हैं
 कार्य । इसा तरह उन चित्तवृत्ति विशेषात्मक स्थायीभावों के साथ हा कुछ और चित्तवृत्ति उत्पन्न
 होती हैं, जो स्थानात्मकत्वक चित्तवृत्तियों की महापदा जने वे कारा मरुती करवा-
 वदाहरण के द्वारा वे दानें और अच्छी तरह मनवा त सकती हैं । अत निम्नलिखित एक वदहरण
 पर ध्यान दीजिये—शकुन्तला को देवकृत उनके विषय में दुष्यन्त के हृदय में रति-प्रेम उत्पन्न हुआ,
 अत उस रति का वलादक होने के मान प्रेम को वलात करने का हुने, का वे ही म्मा तरह की
 इसी चीजें उदीपनकारण हुई । इस तरह प्रेम के हृद में जाने पर मन्त्रमात् शकुन्तला दुष्यन्त के
 दिले दुर्लभ हो गई, इसके विरह में दुष्यन्त रनि ली उनका वह रोन उस रति का कार्य हुआ और
 उस प्रेम के साथ ही दुष्यन्त के हृदय में भी चिन्ता ने भी जन्म-दरवा किण-
 'मिने' इत्यादि तरह की चिन्ता उस रनि की महापदा करने बरल हुआ, अत वह मरुती-
 हुई । वह वदाहरण ही केवल प्रकार-रसविषयक हुआ इसी तरह कला आदि रमों के स्थयीभाव होने

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकटयति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्याद्यो भावो रसः स्मृतः ।' इति ।
कारिकावटक 'व्यक्त' पद विवृणोति—
व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृत ।

तथा चोक्तम्—

विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिण तथा ।
रमतामेति रत्यादि स्यायीभाव सचेतसाम् ॥'
'सत्त्वोद्रेकादखण्ड—स्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यन्तरम्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहीदर ॥'
लोकोत्तरचमरकारप्राण कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदमिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रम ॥'
'पुण्यवन्त प्रमिष्वन्ति योगिवदमसन्ततिम् ।
सवासनाना सम्याना रसस्यास्वादन भवेत् ॥'
'निर्वासनान्तु रञ्जान्त—काष्ठकुडघाशमसन्निभा ॥' इत्यादि ।

आहुरित्यत्र 'काव्यप्रकाशे मम्मटभट्टा' इति शेष । बहुवचनेन तदुक्तो गौरवं सूच्यते ।

रसनाजन्यास्वादाभिन्नचेतन्वगोचरीकृत इत्यर्थ ।

आदि के विषय में भी समझना चाहिये । अब उक्त रीति में लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होत हैं, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण होत हैं, उनमें मयीभावस्था में रीमात्र आदि और त्रियोगावस्था में अश्रुपान आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, पर हृदय अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे हा सब जब कहीं जिस रस का वर्णन हो, उससे अश्रुत तथा सुन्दर शब्दों से गुम्दन से मनोहर काव्यों के द्वारा उपस्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ ने पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्व, दुःखन्तत्व आदि धर्म वनमें से निकल आत हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जात है, अतः जो कारण ये वे विभाव, जो कार्य ये वे अनुभाव और जो सहकारी ये वे ज्वन्तिचारीभाव कहलाने लगते हैं । इन्हीं अलौकिकोत्प्रेरण के लिये 'दर्पणकार' आदि आचार्यों ने काव्य - 'साधारणाकृति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारीरहित विभावार्देर्नाम्ना साधारणाकृति' इत्यादि । इन्हीं अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा ज्वन्तिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकत्व व्यापार से अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'भोगकत्व अथवा रसना कृता व्यञ्जना' नामक व्यापार से ज्ञात्वाच बनाया गया, रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है ।

आचार्य मम्मट भी अपने काव्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्त' इत्यादि । अर्थात् विभावादिकों से जब स्यायीभाव (रति प्रभृति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलया है ।

मम्मटोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' पद की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तो व्यक्ति-विषयीकृतः' इति । 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना ।

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेनिरासार्थमाह—
व्यक्तिश्च भग्नावरणा चिन् ।

निदर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचेतन्य विभावादिसवलितान् रत्यादीन् ।

ननु 'मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्त करणमान्तरम् इति परिभाषितस्यान्त-करणस्य ये धर्मा वासनात्पा रत्यादय न माक्षादात्मना भासिता भवन्तु ये तु षट्पटादय इव विभावदयोऽन्त-करणधर्मनो भिन्ना बाह्या पदाथा अन्त-करणसयोगेन परस्य रत्याऽऽत्मना भासनोपा, तेषां कथं साक्षादात्ममास्यत्वमित्याहङ्गाया व्याहरति—
अन्त-करणधर्माणां सान्निभास्यत्वाभ्युपगते ।

चल्बर्थे । भावमावरणपज्ञान यस्यास्तादृशा शुद्धा चिच्चैतन्यमात्वाद इह व्यक्ति-
तु तदात्वादकारणीभूता रसनावृत्ति । सा हि—

सा चेय व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते सुप्रै ।

रमध्यस्तौ पुनवृत्ति रसनाख्या परे विदु ॥' इति ।

दर्पणोक्तेर्व्यञ्जनाप्रकारविशेष ।

हृत्वर्थको हि —

यथा शरावादिना मृत्यान्निशेषेण पिहित आच्छादितो दीप (न प्रकाशयति पदार्थानि न वा स्वयं प्रकाशते) तस्यावरणस्य निवृत्तावपसरण तु सन्निहितान् समीपस्थान पदार्थान् षट्पटादीन्, प्रकाशयति स्वभासा लोकलाक्षणोचरीकराणि, स्वयं दीपश्च प्रकाशते दृग्विषयीभवति, एव तथा आत्मैव ज्ञानरूपत्वाच्चैतन्यम अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितानन्त-करणवृत्तितया सन्निकृष्टान् विभाव्य-विभावादिमध्यधेर्विभावादिभि सवलितान् सम्प्रदान रत्यादिस्थाविभावान प्रकाशयति चर्वाणागोचरीकरोति, स्वयं च रसो वै स इत्यादिश्रवणासदभेदेन प्रकाशन आत्वाद विषयीभवतीत्यर्थं ।

व्यक्ति पद का अर्थ अन्यत्र व्यञ्जनावृत्ति प्रसिद्ध है, अतः यहाँ ना उम पद का अर्थ वहा होना इस भ्रम के निराकरणार्थं कहते हैं—'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्' जे अर्थ व्यक्ति पद मे दर्पण वह शुद्ध आत्मादत्तरूप चैतन्य विवक्षित है जि का अज्ञानरूप अवरण दूर हो गया ह, न कि व्यञ्जनावृत्ति ।

इष्टान् दिष्टान् कर वक्त विषय का समर्थन करन ह- यथा हि' इत्यादि । जैसे 'कण्ठे' अदि से देवा हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नता करता है, न स्वयं प्रकाशित हो पाता है और वन (कण्ठे आदि) इन्कन के हट जाने पर मिट्टी के बस्तुओं को प्रकाशन करना है तब स्वयं भी इष्टिगाचर होता है, इसी तरह आत्मरूप-चैतन्य, अज्ञानरूप-अवरण के हट जाने पर अज्ञानरूप-वृत्ति-रूप होने से सन्निहित तथा विभावादि से भिन्न रति आदि व्य-दीभावों को प्रकाशित करता है—आत्माद का विषय बनता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—'रसो वै स' इस श्रुति के अनुसार रति आदि से भिन्न होकर आत्माद का विषय होना है ।

तदेव दृष्टान्तद्वयदर्शनेन द्रव्यति—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्ग रजतादीनामिव, साक्षि-
भास्यत्वमविरुद्धम् ।

साक्षिभास्यत्व साक्षादात्मभास्यत्वम् । पञ्चम्यर्थितुरगमिणेण 'विरुद्ध' मित्य-
नेनान्वेति ।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादय साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्य,
बाह्यत्वादनन्तःकरणधर्मा घटादिपदार्थोऽस्वन्तःकरणद्वारेण पारम्परिक-
सम्बन्धेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते । एव सति प्रकृते वासनारूपाणा
रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽ, विभावादीनामन्तःकरणद्वारेण
घटादीनामिव परम्परासम्बन्धेनात्मभास्याना साक्षादात्मभास्यत्व विरुद्धमिति न
विभावनीयम्, लोके नायिकादिपदार्था घटादय एव बाह्या अपि, वाक्ये लोकात्तर-
विभावनार्थिवापावरक्तयाऽऽर्थिकाश्रवणवसरे रत्याद्येकीमूतास्तद्वदन्तःकरणधर्मता
मज्जनं साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गते सत्त्वादित्याकूनम् ।

अपिरित्यादिममुच्चायन । स्वप्नतुरगादि स्वप्नावस्थादृष्टान्त, रङ्गरजतादिस्तु
जाग्रद्दृष्टान्त इत्युभयनिर्देश । तुरगोऽथ, रङ्ग रजत च घातू ।

यथा—स्वप्नदनाया प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुत्यादयो बाह्यपदार्था काल्पनिका
इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्या । यथा वा-जाग्रद्दृष्टाया चावचिक्य-
दोषाद् रङ्गे रजतस्य भ्रान्ती जायमानाया रजत बाह्य प्रतिभासिकमितीन्द्रियसंयोग-
सून्य साक्षादात्मभास्य, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिता
साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम् ।

'रति आदि स्वार्थीभावो जो आत्म—चैतन्य प्रकाशित करना है' इत्यनें दुक्ति बनलाने हैं—
'अन्तःकरण' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार सत्त्वर के सभी पदार्थ मिथ्या
हैं अर्थात् नहीं हैं, मन् वेवल आत्मा (ब्रह्म) है, बाध घट, पट आदि पदार्थ, आत्मा के वृत्ति-रूप हैं
अर्थात् अन्तःकरण नष्टा के द्वारा अरमा—राश ही घट-पट रूप में भासित होता है, और अन्त-
करण की वृत्तियां सुख-दुःख आदि भा आत्मा-रनाश से ही प्रकाशित होन हैं, अन्तर वेवल यह
होता है कि बाध-पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की महावता अपेक्षित होती है
और अन्तःकरण वृत्तियों (सुख आदि) को प्रकाशित करने में समकी सहायता अपेक्षित नहीं होती,
उनको आत्मा स्वद प्रकाशित करती है अन्तःकरण वृत्तियों माक्षि (आत्म) भास्य कहलानी
है । रति आदि स्वार्थीभाव जो अन्तःकरण के धर्म (वृत्तियां) हैं अन्तःकरण-भास्य हैं—आत्मा से
प्रकाशित होने वाले हैं ।

रति आदि स्वार्थीभाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव
आदि सर्वत्र अनुल्ला प्रभृति—जो घट-पट के जैसे बाध-पदार्थ हैं—वा केवल आत्मा के द्वारा भास
जैसे होगा—साक्षिभास्य के जैसे कहलियेंगे अर्थात् उनके भास में घट आदि बाध पदार्थों के जैसे
आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेती पड़ेगी, इसका उत्तर प्रत्यकार देते हैं—'विभावादीनामपि'
इत्यादि । अन्तःकरण यह है कि घड़े, रत्न और रजत के सब बाध पदार्थ हैं—अन्तःकरण-भास्य कहलिये

नन्वेवमात्मवैतन्यामिन्नत्वाङ्गीकारे रसस्य नित्यत्व, 'उत्पन्नो रस' 'विनष्टो रस' इति सर्वानुभवमोचरो तदुत्पत्तिविनाशो कथमुपपादनीयविति शङ्का समादधानि—

व्यञ्जकविभावादिचर्वणया आवरणभङ्गस्य बोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकतात्वादिद्वयापारस्य गकारादौ ।

व्यञ्जकत्व रसादिनिरूपितम् । चर्वणाऽऽस्वाद । आवरणभङ्ग प्रागुक्ताज्ञाननाश । उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतो पञ्चमी, उत्पत्तिविनाशयो सत्त्वादिति बोधयति । उपचार आरोप । वर्णाना नित्यता वैवाकरयाना मीमांसकाना चामिमता । गकारोदावुत्पत्तिविनाशावुपचर्येते इति सम्बन्ध ।

यथा वैवाकरपादिमते 'उत्पन्नो गकार' 'विनष्टो गकार' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयो नित्येषु वर्णेषु वस्तुनोऽम्भवान् तद्व्यञ्जककण्ठनाल्वादिव्यापारेषु च नम्भवादारोप, तथैव रसादिषु नित्येषु 'उत्पन्नो रस' 'विनष्टो रस' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयो रसादिव्यञ्जिकाया विभावादिचर्वणया विद्यमानयोश्चर्वणाविषयीभूनेषु रसादिध्वारोप इत्यर्थः ।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्वणया रसाद्यभिन्नतया वास्तविकावुत्पत्तिविनाशो न सम्भवत इति धटादिवार्येषु विद्यमानावुत्पत्तिविनाशो प्रथमं ग्राहाचित्तत्वेन माद्यर्म्येण रसादिचर्वणया, पश्चात् तद्विषयतया रसादिध्वारोप्येते इति माक्षास्तम्बन्यामावेऽप्यारोपाङ्गीकाररूपारुचे पशान्नरमुपस्थापितमावरणभङ्गस्य वेति । आवरणभङ्गीयोत्पत्तिविनाशयोविभावादिव्यञ्जकध्वारसादिचर्वणयामारोप इति तदर्थः । तत्र चोक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणम्यापि न कार्यत्वम्, तथापि तस्य कादाचित्योपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।' इति । 'गकारस्यातालव्यतया ताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ' इति नोचितम्, किन्त्वक्षरसमाभ्यायेऽकारस्य, स्थानेषु च कण्ठस्य प्राथम्येनोपदेसाद्, व्यञ्जककण्ठादिव्यापारस्याकारादौ इतीह मूले पठितुमुचितम् । तथा-व्यापारस्य = 'उत्पत्त्यादे' इति त्वपव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुकूलकण्ठादिभिषातक्रियाया एव तद्व्यापारपरदार्यत्वादुत्पत्तेरभिष्यक्तेर्वा तज्जन्यत्वेन तद्व्यञ्जकत्वात् ।

योग्य नहीं है बल्कि तन्ने में जब थोड़े का ज्ञान होता है अथवा जागृत में जब रोग में रजस का भ्रम, दूरत्व तथा चाकचिकच आदि दोषों से होता है, तब वे (थोड़े तथा रजस) भाक्षिमास्य ही माने जाने हैं अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उन अवस्था में बन्धुन वे चोरे हैं नहीं केवल काल्पनिक हैं, वही तरह वा विभावादि को भी भाक्षिमास्य भानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शुकुलला आदि भी भावनारूप होने पर वास्तविक नहीं काल्पनिक हा है जब हम अवस्था में इन सबों का भान भी आत्मवैतन्यमात्र से ही गकार के बाध चतुःपादि इन्द्रियों से नहीं ।

रस को आत्म-वैतन्य-स्वरूप मानने पर 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सम्भव हो सकेगा क्योंकि आत्म-वैतन्य नित्य है, जब उत्पन्न रस भी नित्य होगा, इस शङ्का का समाधान करने है—'व्यञ्जक' इत्यादि । जैसे वैवाकरणों के मन में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ तालु आदि स्थानों को व्यापारी में होने वाले उत्पन्न रस "नाश

नन्वावरणमङ्गे जाते विभावादिचर्वणोपरतावपि, रत्यादिस्थापिना कथं न तथाऽ-
यन्नास इत्याक्षेप क्षपयति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणमङ्गस्य, निवृत्ताया तस्या प्रकाशस्याऽऽ-
वृत्तत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते ।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यापारोऽधिकं कल्पनीयो भवतीत्यरथेलपिवाय पक्षान्तर
मुपन्यस्यति—

यद्वा-विभावादिचर्वणामहिम्ना महद्दयस्य निजसहृद्दयतावशोन्मिषितेन
तत्तत्स्यान्युपहित-म्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनिश्चितवृत्तिरूप-
जायते, तन्मयी भवति मिति यावन् ।

विभावादिचर्वणाऽवधि सीमा (तद्गुत्तर तदसत्त्वात्) यत्येति बहुव्रीहि । तस्या
विभावादिचर्वणायाम् प्रकाशस्य चिदानन्दात्वात्स्य । विद्यमानं सूक्ष्माकारेणान्त-
रिति शेष । यथा समवायिकारणतत्तावधिरेव कार्यसत्ता, तथाऽऽवरणमङ्गस्तावदेव
तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणाया विनष्टायामावरण-
मङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रकाशे पुनरजातेनावृते, दरावपिहितदीपवदन्तन्तिष्ठतो-
ऽपि रत्यादिस्थापिनो नास्वाद इत्यभिप्राय ।

सहृदपरम निजसहृदयतावशात् स्वबैदग्ध्यवलात्, उन्मिषितेनाभ्युदितेन, विभा-
वादीना यं चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रमावेण (कारणेन) योगिनः समाधी योगचर-

आरोपणों में करके 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उन्मं प्रकार
रस के नित्य होने पर भी उसके (रस के) व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-मङ्ग में होने
पाए उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होने हैं, जिनमें रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि
व्यवहार किये जाते हैं । यहाँ 'विभावादि-चर्वणा' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-मङ्ग' ऐसा
उल्लेख इतलिये किया गया है कि रसादि-व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न
ही है, फिर तो जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश सम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभा-
वादि-चर्वण' के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था । गकारवर्ण,
व्याकरण मन से तात्पर्यान्वित नहीं है जो 'व्यञ्जकतावधि-व्यापारत्व गकारादी' यह मूलशब्द सङ्गत
नहीं होता, इसलिये 'व्यञ्जकतावधि-व्यापारत्व अकारादी' ऐसा मूलशब्द मानना चाहिए क्योंकि वर्ण
सामान्ता में अकार अर्थ है और स्थान में कण्ठ ।

अब यहाँ एक उद्धा दह उपस्थित होती है कि अब रति आदि स्थायीमान वासनारूप में सदा
वर्तमान रहता है, अब भर्वा रस-रूप में उमका भान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि
अनीतक आत्मन के तपर रहने वाला आवरण अद्यान हय रहता है, तभी तक आत्मा, रति आदि की
मासित करती है, बाद में महा और अग्रान का आवरण आरम्भ पर से तभीतक हय रहता है, जबतक
विभाव आदि वी चर्वण विद्यमान रहती है अर्थात् अब विभाव आदि का चर्वण समाप्त हो जाती है
एव आवरण-मङ्ग भी नहीं रहता—आत्मन फिर अद्यानावरण से टूट जाती है, अब रस दशा में
स्थायी (रति आदि) विद्यमान रहकर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक से टूट जाने पर समीप
में पड़ी हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पाती ।

उक्त प्रथम पक्ष में अद्यानावरण की हयने के लिये एक कर्तव्यिक व्यापार (भावकत्व) की
कल्पना करनी पड़ती थी, जिनमें गौरव होता था, अब अद्यान्तर का उल्लेख करते हैं—'यद्वा'

नन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपम्यानन्दस्य त्रिविकृतया त्रिविक सक्च इनाद्युप-
भोगजन्यसुखेभ्योऽवशेषो विशेषा वा ? जाय तानि विहाय किमिति परोक्षक महद-
योप्रमं प्रवर्त्तते । द्वितीयो को नाम स इत्याकाङ्क्षा मनसिहृत्वाह—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकमुत्तान्तरगाधारण अनन्तकरणवृत्तिरूपत्वात् ।

माङ्गे त्रिविकल्पनामनीव तैस्तैश्च स्यामिमो रस्यादमि उगहित विषयतया तन्मद्व-
स्त्रमात्मा सच्चिदानन्दलक्षण स्वरूप यस्या (जा एव) आनन्द जावारी यस्या
स्तादृशी मन्त्रिदानन्दात्मरूपरमाभिरा तमयीभावरूपा रमान्मतादात्म्यावगाहिनी
चित्तवृत्तिज्ञानम् (आस्वाद , उपजापन भवतीत्यथ ।

इहानन्दाकारेत्यस्य तद्विषयति विवृत्तिन युक्ता आनन्दस्य रमात्मरूपण (न तु
विषयतया) प्रतीते । तथा त्रिविकल्पकममाघावानन्दाकारनचित्तवृत्तरभावमभिधाय
समाधिपदेन सविकरपक्षसमाधरेद द्रष्टव्यमत्यभिधानमसमञ्जसम जानन्दात्मचैतन्यस्य
निर्वीजसमाधावपि सर्वानुमतत्वात् । अत एव रसाद्यास्वादस्य द्रव्यास्वादमहोदरत्वं
सङ्गच्छत । एव तन्मयीभवनमित्यस्य आनन्दविषयतया तत्प्रचुरत्यय इति विदरण-
मपि नोपपत्तिसहम् आनन्द-रस-चैतन्याना तादात्म्यन विषयविषयिभावासम्भ-
वात् स्वरूपाय एव (न तु प्राचुर्यार्थे) मप्यतोऽत्र विधानीचित्वात् । श्रद्धाजाड्य तु
भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनीयमिति सुप्रीभिराकलनीयम् ।

अत्र मते रसात्मकतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवल काव्यव्यञ्जनात्यस्य रमानवरप-
र्याभिभोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुट लाघवम् । ननु भाव-
कत्वव्यापारमन्तरेणाज्ञानावरणविरासो दुषट इति चेत् न यत् प्रकृत्यथप्रकारस्यैव
भावत्वाद् भावनैव भावकत्वम् । सा च महदयस्य स्वीयसहृदयतामहकारेण काव्या
धैर्यविषयिणी पूर्वोत्पन्नैव विभावादीना साधारणीकरण प्रमातुरावरणमङ्ग च कर्मो
शीमेति न तदर्थमावात्तरिक-व्यापारान्तरकल्पनाऽवश्यकीत्याशय ।

इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप अरण्य को हटाने के लिये किन्ना नवीन व्यापार की कल्पना
आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की सहायता से परित्यक्त बनी हुई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही
महदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञानावरण को दूर कर दगी और विभावादि वा माधुर्याकरण
भी करेगी, 'भावहत्त्व' भी तो भावना से अभिहित कोई पदार्थनिष्ठ नहीं हो सकता, 'प्रकृति-जन्य-
बोधे प्रकृतीभूतो धर्मो भाव-शत्यार्थः' इस शिखर के अनुसार भावकत्व का दर्शन ही भावना
हो होगा । इस लिये ऐसा मना-ना बाहिर के उक्त भावना में साधारणीकृत विभक्तियों का
आस्वादन महत्त्व-जन कर है, हमका भावजन्य रूप महदयता के करण गहरा पला है, और
इस प्रभाव के द्वारा काव्यवर्गी व्यञ्जन-वृत्ति महदयों के चित्तों में तिन आनन्द-भावों से युक्त,
अज्ञानावरण में मुक्त अरमचैतन्यस्वरूप अनन्तारण वृत्ति उत्पन्न होता है अतः महदयता उन
आनन्द में छीन हो जाते हैं-इस लिये ही, हमको हो लग है जैसे कल्पितों के चित्तों में त्रिविकल्प
समाधिच्छेद में आनन्दावर वृत्ति हीनी के अर्थात् उन अवस्था में दोनों को साधारिक विमो पदार्थ
का ज्ञान मरी होता, क्योंकि न तब अज्ञानन्द में छीन रहते हैं, कहीं स्वदिक्तों से युक्त अनन्त-
धार चित्तवृत्ति को साहित्यरूप में 'रस' करते हैं ।

उपसृति—

इत्थ चाभिनवगुप्त—मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणाचिद्विशिष्टा
रत्यादि. स्थायी भावो रस इति स्थितम् ।

अथ पूर्वोक्तश्चित्तवृत्तिविशेषरूप आनन्द (सुखविशेष) ब्रह्मानन्दमिदमत्रात्लौकिक-
सामग्रीजन्यत्वाच्च लौकिकोऽपि, यान्यन्यानि सत्त्वन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिक-
सुखानि, तै साधारणस्तुल्यो नास्ति (किन्तु तद्विलक्षणोऽस्ति), अनन्त—करणवृत्ति-
रूपत्वावन्त—करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वाभावात् ।

अन्येषां हि लौकिकसुखानामन्त—करणवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपत्व, रसरूपावन्त्यस्य तु
शुद्धचैतन्यरूपताज्जत—करणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वाद्धान्त—करण-
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वम् । रसात्मकानन्दानुभवे चित्तवृत्तेरानन्दरूपतयैव परिणमना-
देनदानन्दस्य तद्वृत्तिरूपावच्छेदकामावाप्तिरवच्छिन्नतया, लौकिकसुखान्तरानुभवे
त्वन्त—करणवृत्तिरूपावच्छेदकसद्भावाप्तिरवच्छिन्नत्वाभावात्तन्मिथो विलक्षण्यमिति
सारम् ।

इत्थमुक्तीत्याऽभिनवगुप्त—मम्मटभट्टादीना ये ध्वन्यालाकलीचन—काव्यप्रकाश-
प्रभृतयो ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनाभिप्रेततया भग्नमज्ञानरूपमावरण यस्या सा भग्ना-
वरणा चित् (विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादि स्थायी भावो रस
इति स्थित पर्ययसन्नमित्यर्थ ।

काव्यप्रकाशे रसनिरूपणप्रकरणे चतुर्थस्याचार्याभिनवगुप्तमतस्यैव सर्वान्महित्वे-
नोपास्य, साधारणीकृत चैतन्यविषयभूतरत्यादिस्थापिभाव एव रस इति सारम् ।

यदि कोई कहे कि यह चित्तप्रवृत्ति—विशेषात्मक आनन्द ता अलौकिक नहीं है, उन लौकिक
सुखों से इनका कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई अन्य अलौकिक सुखों
को छात्रा. इन काव्यसुख का स्वरूप क्यों करेगा, इस शंका का उत्तर देता है—'आनन्दो ह्ययम्'
इत्यादि यद्यपि ब्रह्मानन्द से भिन्न तथा अलौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्त-
वृत्ति विशेषात्मक आनन्द (सुखविशेष) लौकिक अन्वय है, तथापि अन्य (सत्त्व, चन्दन, वस्त्रादि-
उपभोग—जन्य) लौकिक सुखों के गगन नहा अपेक्षे निरक्षण ही क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्त
करण का वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप रस है अतः उन सुखों के अनुभव करण समय वैन व का
अन्त करण का वृत्तियों से साथ सम्बन्ध रहता है, और यह स्वरूप आनन्द अन्त करण की वृत्तियों से
युक्त चैतन्यस्वरूप नहा अपेक्षे शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अतः रसात्मक आनन्द के अनुभव करण समय
चित्तवृत्ति को अनन्तरूप में ही प्रेरित हो जाता है, अतः यह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अलौकिक
('ह्ययम्—अलौकिक') नहीं, यद्यपि, 'विशेष' यह आनन्द अलौकिक ('सुखता—रहित') है, रहता है,
यही अन्य लौकिक सुखों की अपेक्षा इन रसात्मक सुख से विलक्षणता है ।

अतः अभिनवगुप्तादि मम्मट रसमन्वयों मत का उपसृष्ट करके है—'इत्थं च' इत्यादि । इन
तरह अभिनवगुप्त (ध्वन्यालाकली चोपन नामक टीका को बनाने वाले) तथा मम्मट (काव्यप्रकाश
के रचयिता) आदि कवियों के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना
हुआ रस इति स्थापनाभाव 'रस' है' यह सिद्ध हुआ ।

नन्वेव रसस्य रत्यादिस्वार्थिरूपतया चैतन्यमिभ्रत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादिका 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतयो विरुध्यन्तीति सिद्धान्तमतमभिदधति—

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।

महद्वयेऽपि रसस्य नित्यत्व स्वप्रकाशत्व न सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषण विशेष्य वा चिदशमादाय, नित्यत्व स्वप्रकाशत्व च सिद्धम् ।

ननु यथा 'नित्यो रस', 'स्वप्रकाशो रस' इत्यादिव्यवहारा रसविषयका भवन्ति, तथैव 'जन्यन्नो रस' विनष्टो रस' 'इतरमास्यो रस' इत्यादयोऽपि व्यवहारा ये भवन्ति, तेषां कथमुपपत्तिरिति शृण्वामा व्याहरति—

रत्याद्यशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्व च ।

रत्यादीनां विषयतया चिदवच्छेदकत्वम् । रत्यादिविषयक भग्नावरण चैतन्यमेव रसो न तु चैतन्यविषयीभूत रत्यादि, श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गादित्याशयः ।

मयैवैव—उभयथाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽवच्छेदकभावेन चिद्विशिष्ट-रत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, यस्या रसादिव्यक्ते रसादिरूपतया मतायाश्चित्तो वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रत्यादेर्विशेषण-त्वाद् विशेष्य वा चिदश चैतन्यरूपम्, आदायावलम्ब्य, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशरहितत्वं, स्वप्रकाशत्व प्रकाशान्तराप्रकाशयत्वं च सिद्धं निष्पन्नमित्यर्थः ।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चित्तोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीनां नित्यता स्वप्रकाशता च परिहीयेतेति मारम् ।

अस्या विशेष्य विशेषण वेति शेषः ।

अस्या रसव्यक्ते, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिन् कल्पे विशेषणं रत्याद्यश-मादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशशालित्वम्, इतरभास्यत्व परप्रकाशयत्वं च सिद्ध-मित्यर्थः ।

इमं प्रक्रिया के अनुसार जव रस रति आदि स्थायीभाव के स्वरूप दुग्न चैतन्यस्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रस को अभिन्न बतलाने काठी 'रसो वै स' इत्यादि श्रुति विरुद्ध हो जायगी, जव सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करने हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि । आशय यह है कि वक्त श्रुति के अनुरोध से रति आदि स्थायीभाव जिनके विषय हैं, ऐसे भावगण्युक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' कहना चाहिये, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को ।

'दोनों ही मनो में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध ही है' यही बात कहने हैं—'सर्वथैव' इत्यादि । ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायी भावविषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आशिकरूप से हैं, अन्यत्र केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य हैं और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण । दोनों ही कथों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्याश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है ।

'चर्वणा रस' इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्वणा निरूपयति—
चर्वणा चास्य चिद्गतावरणमङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरण-
वृत्तिर्वा ।

इदानीं रसचर्वणाया ब्रह्मास्वादाद् वैवक्ष्यम्य चर्वण्यति—

इयं च परब्रह्मास्वादाद् समावेदिलक्षणा, विभावादिविषयमवलित्त्रिदा-
नन्दारूपान्तरत्वात् । भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात् ।

रत्यादेरनित्यत्वमितग्मास्त्वत्वारोप्य रसविषयका प्रागुक्तव्यवहारो उपपाद-
नीया इत्यभिप्रेत्य ।

अस्य रसस्य पूर्वकल्प (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्गतावरणमङ्गचर्वणव्यावरणा-
ज्ञानध्वंस एव वाऽथवोत्तररूपे (यद्वा मते) तदाकारा रत्याद्यप्यङ्गितात्मानन्दरूपाऽ-
न्तरणवृत्तिप्रवेतनैव चर्वणेत्ययम् ।

रमचर्वणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन लोकोत्तररसमन्वारप्राणत्वादिह
चर्वणाया पूर्वकल्पोक्तमावरणमङ्गरूपत्वमचगत्कारित्वापत्तेर्नोचितमिति पञ्चान्तरो-
पन्यासोऽवमयः । उभयोस्तादात्म्य रमचर्वण्यंत इत्यादिव्यवहारान्मुनेदारोपानि
वाहलीया ।

इयं पूर्वोक्ता रसचर्वणा परब्रह्मण गन्धदानन्दम्यास्वादावो यत्र तादृशात् समाधेरे
सम्प्रज्ञानयोगचरमाङ्गात् (वस्तुतन्मु तन्कारालोत्पद्यमानपरब्रह्मसाक्षात्कारात्)
विलक्षण भिन्ना विभावादिनिर्विषयैर्ज्ञेयै सपत्तिनो विशिष्टाधिदानन्दो रस ज्ञानम्वन
विषयो यस्यास्तत्त्वात् । च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवलया व्यञ्जनया
(न तु श्रवणादिव्यापारं) भाव्योत्पाद्या भवतीत्यन्ताऽपि ब्रह्मसाक्षात्काराद्
भिन्नेत्ययम् ।

परब्रह्मासाक्षात्कारो विषयासंबन्धितत्वाद् विशुद्धब्रह्माविषयक श्रवणादिव्यापार-
जन्यश्च, रमास्वादात्मु विभावादिसंबन्धितत्वाद् विशिष्टरसविषयको व्यञ्जना (रसा)

'रस एतन्न दुःखं, रसं विना दुःखं' इत्यादि व्यवहारो से प्रतीयं होने वाली रस की अस्तित्वा
के सम्बन्ध में कल्प है—'रस्याद्यस' इत्यादि । करने का तात्पर्य है कि किस तरह वैवक्ष्य्य को
उपर रस शिव और स्वभाव है उन्ही तरह रसि कादि अस्त को स्वर रस भवित्य भी है और
रसाद्यस भा अत एक व्यवहार नौ अपभ्रान नहीं कहे जा सकते ।

'रसं चर्वते' ऐसा व्यवहार प्राचीनकाल में होता था रहा है, जहाँ रस की दृष्ट चर्वण क्या
काम है ? रसा शिवमा स्वात्मिक थी, उन्ही शिवामा वा शक्ति के शिष्टे चर्वण का निर्वचन
करता है—'चर्वणा च' अतः दि । वैवक्ष्य्य के उपर से अज्ञानध्वंस आवरण का दृष्टजान हो रस को
चर्वण (चर्वणा) है, अज्ञान आवरण को अज्ञानाकार वृत्ति को रस-चर्वण समझनी चाहिए ।
यहाँ अभिनवगुप्त मते का 'चर्वणा' का व्याख्या के हिमवद में पूर्ववत् और उन्की द्वितीय व्यवहार के हिमवद
से उत्तरजय कहा गया है ऐसा समझना चाहिए ।

ब्रह्मास्वाद से रस-चर्वण में जो वैवक्ष्य्य है उसका वर्णन करते हैं—'दुर्ध्वं च' इत्यादि । रस-
चर्वण सम्बन्धित में जो ब्रह्मानन्दस्वाद होता है, उनसे दृष्ट रस-चर्वण (रसास्वाद) विच्छेद—

अथ रसचर्वणाया आनन्दमयत्वं वाकोवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्या मुखाशमाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मान-
मिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् ।

ननु नीमयोस्तुल्यता समाधौ सुखाशमाने शब्दप्रमाणस्य जागरूकत्वादित्याह—

'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' इत्यादि शब्दोऽस्ति
तत्र मानमिति चेत् ।

रसचर्वणायामपि मुखाशमाने प्रमाणद्वयं दर्शयति—

अस्त्यत्रापि 'रसो वै म' 'रम ह्येवायं रज्ज्वाऽऽनन्दो भवति' इत्यादि-
श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।

मात्रजन्यश्चेति तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषो न यत्नप्रतिपाद्यः । साम्यं पुनरलौकि-
कनित्यानन्दचिन्मयत्वेन स्फुटम् । न च भेदाङ्गीकारे 'ब्रह्मैव रस' 'रसो वै स' इत्याद्य-
भेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तासामपि 'आदित्यो यूप' इत्यादीनामिव सादृश्य एव
तात्पर्यपर्यवसानात् ।

अत्रापि समाधिपदस्य सविस्मययोगपरत्वं परोक्तं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्ते
समाधौ ब्रह्मसाक्षात्कारे न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य मिद्वत्वेनासाध्यत्वाच्च ।
अस्या रसास्वादलक्षणाया चर्वणायाम् । पर्यनुयोगस्य प्रतिप्रश्नस्य ।

यथा समाधिकालिङ्गप्रतीतौ भवदर्शिमतमानन्दस्य मानम्, तथैव रसचर्वणायामपि
मदमिमत् तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—'यत्रोभयो समो दोष परिहारोऽपि
तादृशः । नैक पर्यनुयोक्तव्यस्नादृश्यविचारणे ॥ इत्युक्तेरकस्यैव शिरसि प्ररत्नसमाधान-
मारारोपो नोचित इति भावः ।

तत्र समाधिसुखाशमाने—आत्यन्तिकं सखललौकिकमुखातिगायि, बुद्धिग्राह्यं बुद्धि-
मात्रवेद्यम्, अत एवातीन्द्रियं 'मनसस्तु परा बुद्धि' इत्युक्तेन्द्रियागोचरीभूतं, यत् सुख
परमाह्लादः, तद् अयं योगी, वेत्ति साक्षात्करोतीत्यर्थकं शब्दो गीतापद्याध्याये
भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति नोनयो साम्यमिति चेद्, कथ्यत इत्यर्थः । 'वेत्ति यत्र न
चैवायं स्थितश्चतनित्त्वनि तत्त्वनः ।' इति पद्योक्त्याम् ।

भिन्नं तरह ही है क्योंकि रस-चर्वणा का आलम्बन विभावादि-विषयो (मानारिक पदाधी) से
भिन्न अतमानन्द है और काव्य की चर्चना (व्यापार) से जो यह चर्वण होता है हमके विरुद्ध
ब्रह्मानन्दवाद का आलम्बन, विषय-रिहीन-शुद्ध आत्ममानन है और श्रवण, मनन, निदिष्टमान
रस व्यापारी से यह होता है । अतः ब्रह्मस्वात् तथा रसास्वाद म कारण एवं विषय दोनों के भिन्न होने
से भेद है ऐसा समझना चाहिए ।

यदि आप पूछें कि हम रसास्वाद में सुख का अंश भासित होता है हममें प्रमाण क्या है ? तो
हम पूछेंगे कि समाधि में भी सुख भासित होता है, हममें क्या प्रमाण है ? तात्पर्य यह है कि जैसे
समाधि में सुख का भान मानने है वैसे ही रसास्वाद में भी सुख का भान मानना चाहिए ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख भान को 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादि गीता के शब्द प्रमा-
णित करने हैं अर्थात् गीता ने कहा हुआ है कि 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह बुद्धि-मात्र से
बेध है इन्द्रियों से नहीं' । इस तरह से 'समाधि में सुख का भान होता है' हममें शब्द प्रमाण मिलता
है और रसास्वाद में सुख का भान होता है हममें तो कुछ प्रमाण नहीं मिलता ।

अथ रसचर्चणाया प्रसङ्गाच्छाब्दापरोक्षज्ञानात्मकत्व व्यवस्थापयति—
येय द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्चणोपन्यस्ता, सा शब्द-
व्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका ।

दृष्टान्तोपन्यासेनैकस्या एव प्रतीने शाब्दत्व चोपपादयति—
तत्त्व वाक्यजबुद्धिवत् ।

आद्यमभिनवगुप्ताधार्यमतमवमितमवगमयति—
इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादा ।

अत्रापि रसास्वादे 'सुखाद्यमानेऽपि, स सन्धिदानन्दरूप आत्मा, वै निश्चयत,
रस' इत्यधिका, 'हि निश्चयेन अयमात्मा, रस, लब्धाऽऽस्वाद्य, एव न त्यन्यथा
आनन्दीभवति परमाह्लादरूपता प्रतिपद्यत' इत्यधिका च श्रुतिबोध, काव्यरसास्वाद-
समये सकलहृदयाना सर्वविदग्धाना, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति
कथं न तुल्यतेत्यर्थं ।

द्वितीयपक्षे यद्वैतमते या इयमुपादीयमाना, रसचर्चणा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता,
सा शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिशब्दनिष्ठवृत्तिजन्यत्वाच्छाब्दी शाब्दबोधरूपा,
अपरोक्ष प्रत्यक्षविषयीभूत यत् सुखमातन्द आत्मलक्षण उदालम्बनत्वात् तद्विषय-
त्वाच्च, अपरोक्षात्मिका प्रत्यक्षरूपा चास्तीति ज्ञेय ।

मवेन्यायादिनये शाब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोध, किन्तु वेदान्तमन, वाक्य 'तत्त्व
मसि' इत्यादिभ्रुतिवाक्य, तस्माज्जाता बुद्धिर्जीवब्रह्मोक्तप्रणीति, तस्या यथा वेदा-
न्तिमि' शब्दजन्यत्वाच्छाब्दत्वम् अपरोक्षब्रह्मालम्बनत्वाच्चापरोक्ष (प्रत्यक्ष) त्व
चाङ्गीक्रियते, तथैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्व च स्यादित्यर्थं ।

रसास्वाद में भी सुख का भान मानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—'रसो वै स'
(वह आत्मा रसरूप है) और 'रस बोधाय लब्धाऽऽनन्दीभवति' (रस को पाकर ही वह आनन्दरूप
होता है) इस तरह से समाधि में सुखमान वा प्रमाणक यदि गीता का शब्द है तो रसास्वाद में
वसक्य प्रमाणक वेद-शब्द है, अब अब स्वयं सोच सकने हैं कि किपर क्या पलटा भारो है, इतना ही
नहीं, 'रसास्वाद में सुख का भान होता है' इसमें तो मकलद्वय मानन का हृदय भी प्रवचनन दूसरा
प्रमाण उपस्थित है । सभी सहदय रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करने हैं ।

अब इस बात की व्यवस्था करने हैं कि रसचर्चणा शाब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षरूप है—
'बोधय' इत्यादि । 'द्वय' मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रस की चर्चणा कहो गूँ है वह
(चर्चणा) शब्द के व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, उन शब्दों अर्थात् शाब्दबोधरूप है और
प्रत्यक्षसुख अर्थात् आनन्दतम (चर्चणा) का आनन्दन है अब अपरोक्षरूप-प्रत्यक्षरूप भी है ।
कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि शाब्दबोध की रचना अपरोक्षज्ञान में ही व्यवस्था की गूँ है तथापि
रसचर्चणा शाब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षरूप है ।

एक ज्ञान में शाब्दत्व तथा प्रत्यक्षरूपकत्व दोनों कहीं कहीं रहने हैं, इसमें छानन शिरोधार्य है—
'तत्त्व' मित्यादि । अथय यह है कि शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैपथिक छेग मानन है,
वेदान्ती नहीं, वे तो 'तत्त्वमसि' इस वेदवाक्य से जो जीव तदा ज्ञान में एक बुद्धि होती है,—तम
बुद्धि को सुखरूप होने के कारण शब्द और अपरोक्ष ब्रह्मविषयक होने से प्रत्यक्षरूप मानने हैं, उसी
तरह साहित्यिक भी रसचर्चणा को प्रत्यक्ष और शाब्द दोनों मानने हैं ।

(०) भट्टनायकास्तु—ताटस्थ्येन रमप्रतीतावनाम्बाद्यत्वम् । आत्मगत-
त्वेन तु प्रत्ययो दुषेष्ट, शकुन्तलाऽऽदीना सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् ।

ननु विभावादिशतीति विनैव रमन्तीतिर्मवत्वित्यासाङ्कामपास्यति—
विना विभावमनात्मन्वनस्य रत्यादेरप्रतिपत्ते ।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सहृदयस्य हृदय प्रविष्टो रत्यादिस्त-
त्सहृदयत्वमदृष्टतभावनाप्रभावाधिगतसाधारण्यलौकिकविभाव प्रादुर्भावितभावनाविभो-
पस्पन्नावकत्वव्यापारमम्पादितावरणज्ञानध्वसेन समुदितसार्बज्येन सहृदयेनात्मस्व-
रूपमानन्वेन महा-माभेदेनास्वाद्यमनस्तथाविधरत्याद्यास्वादो वा रस इत्यवसितस्य
प्रथममनस्य सारम ।

ताटस्थ्यनौदामीन्यन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्त' शकुन्तलाविषयकरतिमा-
नित्याद्याकारवत्त्वेनेति यावत् । अनाम्बाद्यत्वमचमत्कारित्वम् । आत्मगतत्वेन स्वसम्ब-
न्धनया अह शकुन्तलाविषयकरतिमा नित्याद्याकारवत्त्वेनेत्यनर्पन्तरम् । प्रत्यय
आम्बादात्मिका प्रतीति । दुषेष्टोऽप्यम्भव । सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वाद् दुष्यन्ते-
तरसहृदयनिष्ठशृङ्गाररमालम्बनत्वामावान् ।

अभिज्ञानशकुन्तलाभिन्नयदर्शनावसरे यदि सामाजिकानां 'दुष्यन्त' शकुन्तला-
विषयकरतिमा नित्यकारिका प्रतीति स्यात् तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याश्चमत्का-
रित्वं न स्यात् सव स्र-वात्मन कामाय प्रिय भवति, इत्यादिष्ववगात् । तथा च
तत्र रसत्वमव न स्यात् रस सारश्चमत्कार 'लोकौत्तरचमत्कारप्राण' इत्याद्युक्ते ।
शकुन्तला मानवम-पुण्येति ज्ञाने जागरूके, 'अह शकुन्तलाविषयकरतिमा'निति
प्रतीनेरप्यसम्भव इत्यर्थः ।

साम्प्रदायिकास्त्वन एव सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिताधारण्येन,
विभावादिप्रतीतिमूरीकुवतीति— परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ॥ तदास्वादे
विभावादे परिच्छेदो न विद्यते ॥ इत्यादिनाऽप्यत्र स्पुष्टम् ।

जनालम्बनस्यालम्बनविभावरूपापासून्यस्य । आदिपदेनानुभावादिपरिग्रहः ।
तेपूरीपनादिश्वस्येति योज्यम् ।

इह प्रथम मन आचर्य अभिनव उक्तं क्व है ।

अत्र पण्डितराज 'हृत्-रूप' अदि शब्दों के निर्माता भट्टनायक के मत को रस-निरूपण-मनस्य
में द्वितीय स्थान देते हैं—'भट्टनायकास्तु' इत्यादि । भट्टनायक का कथन है कि तदवस्थाव से अर्थात्
'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमत्' है इस रूप से रमको प्रतीति होने पर हमने आत्मगत
चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे ? क्योंकि 'रसे
सारश्चमत्कार' ऐसा सिद्धान्त सर्व-मन्त्र है वरालीन भव मे शकुन्तलादि रति की प्रतीति होने
पर हमने चमत्कार का न होना भी मनुचित ही है क्योंकि सर्व सत्त्वात्मन कामाय प्रिय भवति' इस
सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रत्यक्ष किमी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो
सकता है । यदि अब कहें कि अपने में ही रम की प्रतीति मनिने अर्थात् 'मै शकुन्तला-विषयकर
रतिमत्' है' ऐसी ही प्रतीति इष्ट है, तब तो आस्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, उसे भी ठीक
नहीं क्योंकि जब शकुन्तला अदि सामाजिकों के विभाव नहीं है—उनसे सामाजिकों का कोई सम्बन्ध
नहीं है, तब उक्त प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् वरालीन शकुन्तला का प्रेम अपने में सम्भवा
बन ही नहीं सकता है ।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्व साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, प्रप्रा-
माप्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धा-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटावश्य निवेश्यत्वात् ।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्थमलम्ब्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणा-
नुभविष्यपि रसादिप्रतीति सामाजिकाना न सम्भवतीति भाव ।

अत्रापि शकुन्तलाऽऽदिभूमिका गृहीतवत्या नट्यामपि साधारणविभावताऽवच्छेदक-
मालम्बनविभावतासमनिपतप्तामान्यधम कान्तात्व नायिकात्वम अस्त्येव, तस्मात्
तदालम्ब्यैव रसोद्गम स्यादिति च न वाच्यम भाविज्ञानमप्रमाणम् इति निश्चयो
यद्विषयको नाभूत्, तदप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित यद् इय ममागम्या इत्याकारकम-
गम्यात्वप्रकारक ज्ञानम, तस्य विरहोऽभावस्तस्य विशेष्यतैव सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना
या प्रतियोगिता तन्निरूपकस्य (तादृशाभाववैगिष्टयस्य) विभावताया आलम्बन-
विभावताया अवच्छेदकस्य समनियतधमस्य कोटो कुलो अवश्य नियमेन निवेश्य-
त्वादित्यर्थ ।

ननु कल्पितशकुन्तलायामपि विभावताऽवच्छेदकसामान्यधम कान्तात्वमस्त्येवेति
तस्या आलम्बनविभावत्वे निर्वाध रसप्रतिपत्ति स्यादेवेति, चेत् न, यत् न केवल
कान्तात्वमालम्बनविभावताऽवच्छेदकम् अपि तु स्वसादीना तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय,
विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्रामाण्यनिश्चयाविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञाना-
भावेन सामानाधिकरण्यासम्बन्धेन विशिष्ट कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपालम्बन-
विभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावाद्दसप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम् ।

विभाव के बिना ही रस की प्रतीति मानें ? सो भी सँग नहीं, कारण ? आलम्बन रहित रति
आदि का ज्ञान नहीं हो सकना अर्थात् प्रेमाश्रय के अभाव में भी कोई करने को प्रेमी ममज्ञे यह
कैसे सम्भव है ।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ
आलम्बन का अभाव छोटे ही है ? शकुन्तला प्रभृति आलम्बन उपस्थित है, तब रही बात यह कि
शकुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती सो बात भी अकिञ्चिद् कर ही है क्योंकि
किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहलाने के लिये कान्ता-सुन्दर नादिका का होना हो पर्याप्त
है और शकुन्तला आदि सुन्दर नायिकार्ये हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं
होगी ? हमका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकनाय की रति के आलम्बन कारण बनने
के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मान ली जाय तब तो कान्ता होने के जाने माँ-बहन भी पुत्र
तथा चाचा की रति के आलम्बन कारण हो नोंय अत यह कहना पडगा कि जिस नादिका ने शिव
नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगयोग्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नादिका जमी नायक की
रति के आलम्बन-विभाव हो सकती है, या वहनों में तो पुत्र-भ्रातादिकों को वैना (यह अगम्य है)
ज्ञान रहता ही है अत वे उनके प्रेम का कारण नहीं होतीं । एक बात और बतपना बीबिरे किसी
नादिका के सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नादिका अगम्य है' और इस ज्ञान
के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अप्रमात्य का निक्षय हुआ अर्थात् उस नादिका को वैना अगम्य समझना

उक्तनिवेशाभावे दोष दशयति—

अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्ते ।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने जायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चय
सति न कार्यसिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित्वं ज्ञानविशेषणम् ।

अनालिङ्गित्वमविषयत्वम् ज्ञानविशेष इति त्वपव्याख्यानं ज्ञानविषयनयोर्मे
दात् । अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं विशेष्यतया कान्तापामिति विशेष्यतामन्वन्धावच्छिन्न
प्रतियोगिताकस्तदभावोऽपक्षितः । विशिष्यतासम्बन्धं ममवाय इति विवृतिर्गपि
चिन्तनीयैव, समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानानावस्य सवत्र
कान्तासु सद्भावात् तादृशभावविशिष्टकान्तात्वस्य विभावताञ्चच्छदककोटी निवेशोऽपि
'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि ईतं भ्यापेन न स्वस्रादेस्तत्त्वस्य परिहार
इत्यापत्ते स्फुटत्वात् । कान्तात्वस्य तादृशज्ञानानावस्य चैत्र कान्ताया मत्वात्
परस्पर सामानाधिकरम्यम्बन्धः ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावताञ्चच्छेदककोटावुक्तनिवेशाकरणं । स्वसादिय-
देनागम्याङ्गनान्तरपरिग्रहः । तत्त्व ध्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियागि-
ताकानावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावताञ्चच्छेदकतपानन्मुपगम
भगिनीप्रभृत्यगम्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य मत्वाद् ध्रात्रादिनिष्ठशृ-
ङ्गारालम्बनविभावत्वमापद्यत, तस्मादुक्तनिवेशः आवश्यक इत्यभिप्रायः ।

अदना है देना निश्चय हुआ, तब क्या होगा ? वह नादिका उन्को रति का विभाव होगा या नहीं ? अगर 'हां' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उन नादिका में विशेष्यतामन्वन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानभाव तो नहीं है अर्थात् 'यह आपका है' देना ज्ञान ही उन नादिका में विशिष्यता सम्बन्ध है, फिर व 'नरुपशैव रति का अलम्बन विभाव कैसे होगा ? बात ठीक है, इमान्ति प्रथकार आन्वत्विप्रकारक ज्ञान में अनन्वयन' दानादिनिष्ठ' विदेशा एता है अर्थात् उन नादिका में 'युद्ध आगम्यत्वप्रकारक ज्ञानभाव के न रहने पर भी अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित्वविशिष्ट उन ज्ञान का अभाव रहगा, इस तरह के अभाव को 'विशेष्यताभावप्रयुक्तविदेशभाव' कहते हैं, अब वह नादिका उन नादिक के प्रेम वा अलम्बन अवश्य ही मङ्गली है। अच्छ अव प्रकृत में विचार कीजिये कि इन परिष्कार के अनुसार 'शुद्धता' आदि सामान्यी का रति के अलम्बन विभाव होगी या नहीं ? उक्त प्रथकार का तर्कात्मक है क्या ? शुद्धता आदि-तो पूज्य कोटि में है—'अपत्या' इत्याकारक ज्ञान ही सामान्यी का रहता है और उन ज्ञान में वन अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् आन्वत् 'यह ज्ञान निष्ठा है देनी परण भा नहीं होनी, अब विशेष्यता सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक, अगम्यात्वनिश्चयानालिङ्गित्व आन्वत्प्रकारक ज्ञानभावविशिष्टकान्तात्व रूप विभावताञ्चच्छेदकधर्म शृङ्गारा आदि में नहीं है । माराश यह कि ज्ञानान्धेन स्वका प्रकृत नहीं हो सकती—अर्थात् 'शुद्धताविषयक रतियाला में है' देना ज्ञान नहीं बन सकता है ।

कान्तामत्र को रति का विभाव मान लेने पर भी दोष होगा 'क्या उन्व करन है—'अन्यथा' इत्यदि । कहने का कारण यह है कि रति के अलम्बन विभाव होने के लिये नादिका में विशिष्यता विशेषों की रहना आवश्यक बटलया गया है, उनका अर्थकार यदि न किण जय, केवल कान्ता

रसान्तरेष्वप्येव निवेशस्यावश्यकता प्रकटयति—

एवमशोच्यत्व-कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

नन्ववच्छेदककोटिप्रवेशितस्तादृशज्ञानाभाव सुलभ इत्यत आह—

तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

अशोच्यत्वमशोचनीयत्व, तच्च पुन सर्वथा कृतकृत्यत्वाज्जीवदृशाजायमानविषममातनानिवर्तनाद्वा, कापुरुषत्व तु पीरूपोचितानाधरणात् कदाचरणम् । तथाविधस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एव शृङ्गाररसोक्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताऽवच्छेदककोटावशोच्यत्व-कापुरुषत्वप्रकारकज्ञानीविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमानाधिकरण-विनष्टपुरुषत्वमेवात्मन्वनविभावताऽवच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टस्याशोच्यस्यापि पुरुष-स्य विनष्टपुरुषत्वादिसामान्यधर्मयोगात् करुणरसालम्बनविभावत्वमापद्येत (एवमेव रसान्तरेष्वभूहनीयम्) इत्याशय ।

तादृशस्याप्रामाण्यज्ञानाविषयागम्यात्वादिप्रकारक यज्ञज्ञान, तस्यानुत्पादोऽनुत्पत्ति, तु पुन तत्प्रतिबन्धकान्तराणा तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामन्येषा, निर्वचन निरूपणम्, अन्तरेण विना, दुरुपपादो दुर्वच इत्यर्थ ।

शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारकज्ञान तावन्नावरुष्येत, यावदेतद्दिग्मन् तत्प्रतिबन्धक कञ्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेशे तु विशिष्टविभावताऽवच्छेदकविरहात् प्रकृते रसप्रतीत्यभाव इति भाव ।

को ही विभावतावच्छेदक माना जाय, अर्थात् नाशिता होना ही रति के आत्मन् होने के लिये पर्याप्त सम्पन्न जाय, तब मौनहर्ष भी कान्ता होने के नाते पुत्र तथा भ्राता को रति के आत्मन् ही जार्गी, यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अथिउ अन्य रसों के विषय के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार करना पडेगा, यही बात कहने है—'एवम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आत्मन् विभावतावच्छेदक केवल कान्तात्व को न मान कर उक्त विशेषणविशिष्ट कान्तात्व को माना गया है, उसी तरह करुण रस के विभावतावच्छेदक भी केवल मृत जनत्व को न मानकर अप्रामाण्य-निश्चयनालिक्रित, अशोच्यत्व अथवा कापुरुषत्वप्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टमृगजत्व को मानना चाहिये अर्थात् करुण रस का-शोक का-आत्मन्-विभाव (कारण) केवल मृत इव व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, अन्यथा वह व्यक्ति भी शोक का आत्मन् हो जायगा, जो प्रह्वमान प्राप्त कर लेने के बाद मरा है—जिसको जीवन-भरण में कोई विशेष नहीं भागिन होता था, अथवा जो कापुरष था—निन्दित था, अर्थात् जिनके मरण से लोगों को सुखी ही होती है, अथिउ वह व्यक्ति विशेष ही मृत होकर शोक का आत्मन् होता है, जिनमें वह 'अशोच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विभाव निरूपण के अनुसार ही करना चाहिये ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सामाजिकों को 'ये हमारे लिये अगम्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामाजिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस शक्ये को छुट्काने के लिये कहते हैं 'वशात्' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि परलोकमात्र के विषय में 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्युल के लिये उचित तथा सम्भव है, सोदा शकुन्तला,

तत्र पुनराशङ्क्य समादधाति—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तयेति चेत्, न, नायके घराधीरेयत्व-
घोरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुट प्रतिपत्तेरभेदबो-
धस्यैव दुर्लभत्वात् ।

ननुक्तवैधर्म्यज्ञान कथञ्चिदजाते जाते वेच्छामूलकमाहार्यरूप दुष्यन्ताभेदज्ञान
मवेदेवेत्यहचे, प्रकारान्तरेण स्रष्टनमुपक्रमते—

किं च केय प्रतीति ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत् न व्यावहा-
रिकशब्दान्तरजन्यनायकमिधुनवृत्तान्तविस्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्ते ।

स्वात्मनीति सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । तथाजगम्यात्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रति-
बन्धिका । घराधीरेयत्व भूमाखहनक्षमत्वम् । घोरत्व प्राप्ततमत्व घृतिविशेषनालित्व
वा । प्रयमेनादिसब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्याना प्राचीनकालवृत्तित्व-वाकातर-
शौर्यादिगुणाना द्वितीयेन चाल्पज्ञत्वादीना स्वदोषाणा ग्रहणम् । वैधर्म्य विरुद्धा घम ।
प्रतिपत्तिज्ञानम् ।

स्वात्मविशेष्यक दुष्यन्तप्रकारकमभेदसर्गक दुष्यन्तोऽहम् इत्याकारक ज्ञान-
रामाजिकस्य यदि जायेत, तर्हि शकुन्तलाविषयकमगम्यात्वप्रकारक ज्ञान सामग्री-
विरहान्नैवोत्पद्येत, तर्कि तादृशज्ञानानुत्पत्तये प्रतिबन्धकान्तरकल्पनया, दुष्यन्ताभेद-
बुद्धर्थवागम्यात्वप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धसम्भवादिति वयन तु न सङ्गतम्, स्वात्म-
न्यसम्भाव्याना घराधीरेयत्वादीना दुष्यन्तगुणाना दुष्यन्तोऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वा-
दीनामात्मदोषाणा च मियोविरुद्धघर्माणा ज्ञाने स्फुट विद्यमाने, बाधितस्य स्वात्म-
विशेष्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्तमेवाशक्तत्वादित्यमिसन्धि ।

किञ्चेत्यादिना प्रथमकोट्टरूपपादन तत्खडन च । इय रसत्वेनाभिमत,
प्रतीति का किमात्मिकेति प्रश्न । प्रमाणान्तराणा प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम ।
शाब्दी शब्दजन्या शाब्दबोधरूपा । व्यावहारिकमव्यान्तराणि कल्यातिरिक्तनौनिक-

दस्यन्ती प्रकृति को तो बात ही क्या ? उन मयको समी पूर्य समसन है, उन उनदे विषय में उक्त
ज्ञान का होना अनिर्णय सा है, हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सकता, यदि उन ज्ञान का उत्पत्ति
को रोक देने वाला कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु वैसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता
नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान होगा हा ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान का रोक्ने वाला
प्रतिबन्धक आपके दृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो आपका दृष्टि-बोध है, मैं तो प्रतिबन्धक की देखना
हूँ और आपको भी दिखला सकता हूँ, देखिये—अभिमानशकुन्तला आदि के अभिन्न वेदने समय
प्रत्येक सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझना रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनको शकुन्तला आदि
प्रेमसिखा को) और अपने में होने वाली अनेक-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि हा शकुन्तला
आदि म अगम्यात्व ज्ञान की प्रतिबन्धिका है, यह भी तर्क ठीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के
नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधीर और धीर पुरुष थे और हम इस युग के छुद्र मानव हैं,
यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होना रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अनेक ज्ञान का होना
ही दुर्लभ-असम्भव है ।

ननु सा प्रतीतिर्मानस्येव भवेदित्याशङ्क्यामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीताना तेषामैव पदार्थाना मानस्या, प्रतीतेरस्या
वैलक्षण्योपलम्भात् ।

व्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दा । नायकमिदुन नायिका नायकश्च । वित्तिर्बोध । अस्या-
वाच्यशब्दजन्यरसप्रतीति । अहृद्यत्वचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतस्य सामाजिकप्रतीति शब्दजन्यत्वात्तन्निघाऽऽदिबुद्धि-
संग्रहत्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्याप्तिग्रहादनपक्षणात्तानुमानम् । सादृश्यज्ञानामूलक-
त्वाच्च नोपमानमित्यनायस्या शब्दबोधस्वरूपव्याभ्युपगता स्यात् । एव सति
प्रत्यक्षातिरिक्तनानामचमत्कारित्वस्य सवसम्मतत्वादस्या अपि चमत्कारशून्यतया
'रसे सारश्चमत्कार इत्युक्ते रसत्व न स्यात् । अन्यथा नायकमिदुनपृष्ठान्तबोधक-
काव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारकप्रतीतेरपि रसत्वमापद्येतेति भाव ।

अभिनेयकाव्यजप्रतीति शब्दजन्यत्वमावाञ्छन्दस्व तु चिन्तनीयम् ।

अपि प्रायुक्तशब्दबोधमूल्यायक ।

मानसी ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितु-
मर्हति, चिन्तया पुन—पुनरनुसन्धानरूपभावतया उपनीता सुरमिचन्दनम्' इत्यत्र
सौरभाशवदलौकिकप्रत्यक्षपोचरीकृताना, तेषा शकुन्तलाऽऽदीनामेव पदार्थाना या
मानसी प्रतीति, तस्या (सकाशात्) अस्या काव्यशब्दजरसप्रतीति, वैलक्षण्यस्य चम-
त्कृतिप्रयुक्तभेदस्य, उपलम्भादनुभववदित्यर्थ ।

अयमाशय—सुरमिचन्दनमित्यादौ ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षणे सौरभादीना
स्मरणमिव भानमेव भवति न तु कृत कश्चन चमत्कार । इह तु चमत्कार । इह
तु चमत्कारोऽपीत्युभयो कायभेदाद् भेदस्यानुभवमिद्वत्त्वान्नकात्म्यम् ।

यदि किसी कारण से उक्त विरुद्ध धर्म का ज्ञान न हो, अथवा उक्त विरुद्ध धर्म के ज्ञान होने पर
भी इच्छामूलक 'दुधनोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान नो हो ही सकता है क्योंकि आहार्यज्ञान से
अतिरिक्त ज्ञान ही बाध्यनिदय का प्रतिबन्ध होता है, अत प्रकारान्तर से ध्वष्टन का उपक्रम करते
हैं—'किञ्च' इत्यादि । अब हम आपसे पूछन हैं किनको आप रस कहन हैं वह सायागिज्ञे की
आत्मा में होने वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा अभिवा आदि वृत्ति-
सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि को अपेक्षा नहीं करने से
अनुमिति रूप भी हमको नहीं कह सकते, सादृश्य-ज्ञान-मूलक नहीं हो सकते, उपमित्यात्मक भी
नहीं मान जा सकती, फिर अगत्या शब्द-प्रमाणजन्य होने से शब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को
कहेंगे, परन्तु सो ठीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को भव श्रेय अचमत्कारी मानने हैं और
शास्त्रास भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अत वह भी अचमत्कारी होने से रसत्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि
'रसे सारश्चमत्कार' ऐसा सिद्धान्त है, अन्यथा दिन-रात व्यवहार में आने वाले काव्यभिर शब्दों
के द्वारा ज्ञात हुए को-पुरुषों के बुद्धान्तों का ज्ञान जो रस संज्ञा को प्राप्त कर लेगा ।

यदि आप उस प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक प्रत्यक्षरूप कहना
चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुन पुन अनुसन्धान रूप भावना) के द्वारा
अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये अर्थात् समझे गये वन्ही शकुन्तला यदि पदार्थों को मानस

नन्वेवमनुभूतिभिन्ना सा प्रतीति स्मृतिरेवाङ्गीक्रियतामित्यत आचष्टे—
न च स्मृति, तथा प्रागननुभवात् ।

इत्थ विकल्पान् निरस्य मृष्टनायकसम्मत रमस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यान्वादिरसवि-
रोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते । एवं
साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदिषु पञ्जी पूर्व-
व्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना, निगीर्णयो रजस्त-
मसोरद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्त्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण,
विषयीकृतो भावनोपनीत. साधारणात्मा रत्यादि म्यायी रम ।

चकारेण प्रागुक्तशब्दबोधोपादिमद्ग्रह । अस्तीति शेष ।

स्मरणानुभवयो कार्यकारणभावस्य सवत्र निर्गन्तत्वादिह शकुन्तलादिपदायविषय-
कानुभवस्य प्रागभावादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वनिर्वाणाय ।

अस्या प्रतीते स्मृतिरूपताऽङ्गीकारे परोक्षात्मकतयाऽवमत्कारित्वप्रसङ्ग
स्यादित्यपि न विस्मरणीयम् ।

तस्मान्-पूर्वोक्तरीत्या प्रकारान्तरागम्यवान् । निवेदिता-श्रव्यत्वाव्येऽभिधया
बोधिता दृश्यकाव्ये त्विन्द्रियसन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयता गीता । पदार्था दुष्यन्तादयो
रन्वादयश्च । भावकत्व हि साधारणीकरणतक्षप काव्ये विभावादिव्यापार,
तदुक्तम्—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति ।

तत्रभावेण यस्यासन पायाधिप्लवनादय ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते ॥ इति

'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वन प्रतीयत ॥ इति च ।

प्रतीति में काव्यरसान्तरमप्रतीति में विज्ञानात् उद्वेग्य होता है अर्थात् 'सुरभिवन्दनम्' इत्यादि
स्थानों में शान्तश्रवणम् अलौकिक सम्बन्ध से होने वाल सौरभश-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत
नहीं होता और वही रसात्मकप्रतीति से वह अनुभूत होता है, अत रसात्मक प्रतीति मागम नहीं हो
सकती ।

स्मृतिरूप भी रण प्रतीति को नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव कारण है अर्थात्
निज चीजों का जिन रूप में पहले अनुभव हुआ करता है वही चीजों का वम रूप में पीछे स्मरण
होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का वम रूप में पहले कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर
उसका स्मरण कैसे हो सकता है ?

इस तरह से अनेक विकल्पों का खण्डन कर अब भूनायकभिन्न रमस्वरूप का उपरार्दन करने
हैं—तस्मादभिधया' इत्यादि । अभिधाय यह है कि पूर्वोक्त एक ही प्रकार ठीक नहीं हो सके,
अत ऐसे सम्बन्धना चाहिद कि शब्दकाव्य में अभिधा के द्वारा और दृश्यकाव्य में चक्षुरिन्द्रिय से पहले
शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके बाद काव्य में रहने वाले 'भावकत्व' व्यापार से
शकुन्तला आदि के विषय में तो रमविरोधी 'अगम्या इयन्' इत्यादि ज्ञान होता था—वह नोक दिया
जाता है और कान्तात् आदि रसोपगोपी धर्म के साथ उन (शकुन्तला आदि) पदार्थों की जातिदति

श्रुतिस्वारस्वरधायै प्राग्बद्ध विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादि, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

अगम्यात्वादिरसत्रिद्विज्ञानप्रतिबन्धद्वारा-शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिरकार-
कम् (अत एव) रसस्य ज्ञानलक्षणस्य प्रतिबन्धवत्त्वाद् विरोधि प्रतिकूल यज्ज्ञान तस्य
प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्ध प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्ता-
त्वादयो ये रसानुकूला रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्मा, तेषां पुरस्कारेण वैशिष्ट्येन ।
अवस्थाप्यन्ते प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । एवम्—उक्तभावकत्वव्यापारेण । साधारणीकृतेषु
सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मावच्छिन्नतया) बोधितेषु । साक्षात्सम्बन्ध-
कुन्तलाशब्दस्य पूर्वनिपात उचित । देश उपवनादिस्थानम् । कालो वसन्तादिसमय ।
वयो बाल्यादि । अवस्था सयोगविप्रयोगादिदशा । आदिपदेन रत्यादिस्याधि—लज्जादि-
व्यभिचारि—कटाक्षविक्षेपाद्यनुभावादीनां ग्रहणम् । पञ्जी कृतकत्वत्वाद् विरते मतीति
शेषः । पूर्वव्यापारो भावकत्वम् । तृतीयत्वं भोजकत्वस्याभिधा—भावकत्वापेक्षया
बोध्यम् । भोगकृत्वं भोजकत्वमित्यनर्थान्तरम् । विगरणमधःकरणमभिभव इति
यावत् । उद्विक्त रजस्तमोगुणावभिभूयाविभूत यत् सत्त्व (गुण) तज्जनितेनेति
माहात्कारविशेषणम् । निजा स्वीया (आत्मरूपा) चित्स्वभावा चैतन्याकारा, या
निवृत्तिरानन्दो विश्रान्तिवैश्वविषयान्तरपरिहारेणावस्थितिलक्षण स्वरूप यस्य, तादृशेन,
साक्षात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृती शोचरता नीतः । भावनपेपनीत उपस्थापित
(अत एव) साधारणात्मा सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नरूपः ।

अभिधयोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतेषु विभावादिषु भोजकत्वेन
साक्षात्कारविषयता नीतो रत्यादि स्थायी वेदान्तरस्यसंशून्य सच्चिदानन्दरूपो रस
इत्येतन्मन्तविकल्पः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उपय भोगविषयीभूतरत्यादौ रत्यादिविषयकभोग-
श्चेतिविकल्पनाद् द्वयम् ।

उक्तश्रुतिविरोधरूपविनिगमकस्योपसम्भेदसि 'विनिगमनाविरहादाह—'इत्यवतरण
तु चिन्तनीयम् ।

करा दी जाती है । एवम तरह वह 'भावकत्व' व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय और संयोग,
वियोग आदि दशा सबको माधारण बना देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने
देता कि जिससे रसोद्वेग में राधा पड़े । वसु, इतना कार्य करके वह व्यापार विरत हो जाता है ।
इसके बाद 'भोगकृत्व-भोजकत्व' नामक तृतीय काव्य-व्यापार से रजोगुण और तमोगुण निर्गोण कर
छिड़े गये हैं—इना दिये जाते हैं और सत्त्वगुण उद्विक्त-प्रवृद्ध हो जाता है, जिससे हम (मामाजिक)
सांसारिक मग्न विषयों से छुटकारा पाकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते
हैं, वरा परी साक्षात्कार-आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' कहलाना
है जिस स्थायीभाव को पूर्वोक्त 'भावकत्व-भावताविशेष' साधारण रूप में व्यक्तित्व कर चुका था । यहाँ
वह जो एक समझ लेने की बात है कि सत्त्वगुण के उद्वेक से जो आत्मानन्द प्रकाशित होता है, परी
चैतन्यप्रकृत ज्ञान को 'भोग' कहते हैं, जिसके विषय बन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की 'संज्ञा'
'रस' पकती है ।

आस्वादात्मनोऽप्य रसभोगस्य, ब्रह्मास्वादाद् बेलक्ष्म्य मादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकटयति—

सोऽय भोगो विषयसबलनाद् ब्रह्मास्वादमविधवर्तीत्युच्यते ।

इदानीमुपसहरति—

एव च त्रयोऽशा काव्यस्य—‘अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च ॥’ इत्याहुः ।

अभिनवगुणमताद् मट्टनायकमतस्य विशेषमविशेष च दशयति—

मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मनाद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ।

भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्व तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु मैव मरणि ।

विषयसबलनान्—स्वेनरविषयसम्बन्धान् । ब्रह्मास्वादस्य सविधवर्ती—निकटस्य सद्गुण (न त्वेक) इति यावत् ।

इदमुच्यते—ब्रह्मास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वमिन्नविषयमात्मभृत्तो निविषय, रसभोगस्तु विभावादिविशिष्टस्यापि विषयकत्वात् स्वमिन्नविषयमभृत्तः सविषय इत्युभयोर्भेदः, सच्चिदानन्दसाक्षात्परोक्षसाक्षात्काररूपतया च तुल्यत्वम् । रजस्तमसो सत्त्वेनाभिभूतत्वादनयो साक्षात्कारयो केवलानन्दरूपता, लौकिकसुखसाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरनभिभवात् कदाचित् दुःखमोहयोरपि सम्भेदस्य सम्भवात् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसा त्रयेण सुख-दुःखमोहलक्षणपरिणते साह्यधाभिमतत्वान् ।

असा व्यापारा । अभिधेति लक्षणेन्द्रियमन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम्, साक्षणिकदृश्य-वाच्ययोरनुरोधात् । भोगीकृतिभोगस्य निदान भोजकत्वम् । भोगो मुक्तिराम्बाद इत्यनयान्तरम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन ‘मट्टनायका’ इत्यनन सम्बन्धः ।

एतस्य मट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मान् प्रागुक्ताद् अभिनवगुणस्य मताद्, भावकत्वमेव व्यापारान्तर पूर्वोक्ताद् मित्रो व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैश्वस्यम्, अस्तीति

इन पद्य में भी ‘रस’ पद्य की तरह ही भोग किए जाने के अर्थ में ही चैतन्य से युक्त रति आदि म्हायोभाव अथवा गति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य से दोनों ही ‘रस’ हैं ।

यद् भोग—रसास्वाद, ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती—महोदर अर्थात् महेश्वर कदलगा है, ब्रह्मास्वादरूप नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद—भोग, विभाव आदि से विद्विष्ट स्थायित्वाव को विषय रूप में साथ रखते रहना है और ब्रह्मास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को विषयरूप में साथ नहीं रखना अर्थात् रसास्वाद मविषयक होता है और ब्रह्मास्वाद निविषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी सत्त्वजन्य, सच्चिदानन्दस्य, अपरोक्ष-साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान कहने से योग्य अवश्य है ।

इन तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंग हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार रहते हैं—एक ‘अभिधा, जिसमें सर्वप्रथम वाच्यार्थों को समझा जाना है, यहाँ अभिधा पद को दृश्य तथा शब्दकाव्य के अनुरोध से स्मरण तथा इन्द्रियसन्निकर्षों का भा उपलब्धता समझना चाहिए । दूसरा अंग काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिसमें शकुन्तला आदि का माधारणोकरण होता है और तीसरा अंग है भोगीकृति या भोगकृत्व अथवा भोजकत्व, जिसमें रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है ।

पूर्व गत से इन गत में क्या अन्तर है इसकी समझना करके है—‘मतस्यैतस्य’ इत्यादि ।

अथ तृतीय नव्यमतमुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावा-
दिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतो गृहीतायामनन्तरं च मह-
दयतोऽल्लामितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वाव-
च्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजसखण्डे. समुत्पद्यमानो-
ऽनिवंचनीय साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रसः ।'

शेष । एवमप्येऽपि योजनीयम् । भोगस्तु भुक्तित्वं भोगावरणचिद्रूप आस्वाद इति
यावत् । भोगकृत्व भोजवत्त्वरूप तु पुन, व्यञ्जनाद् रसनाख्यकृते, अविशिष्टमवि-
सक्षणमभिन्नमित्यनर्थान्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽभिन्नवगुप्तीकता, एव, न तु
तद्भिन्ना, सरणि पद्धतिरित्यर्थः ।

प्रथममते यथा व्यञ्जनाज्ञानावरणमपर्यायं, सत्त्वोद्रेके सति, भोगावरणविदव-
च्छिन्नरत्यादि, रत्याद्यवच्छिन्न-भोगावरणचित वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवी नीत्वा
रसत्वेन व्यवहारयति । तथैव द्वितीयमते भोजकत्व सत्त्वोद्रेके सति स्वीयभोगावरण-
सच्चिदानन्दरूपेण साक्षात्कारेण, रत्यादि गोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति
व्यञ्जनास्यानीयमेव भोजकत्वम् । केवल भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन
इत्याकृतम् ।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी-
कृति 'इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यगतेऽभ्युपगमादिति चेत्,
उच्यते, आद्यमते विभावादीनां साधारण्य महदयनिष्ठ-तदीयसहृदपत्वप्रभारित-भावना-
विशेषमहिम्नैव सम्पद्यते । इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठम्य त्रननव्यापारस्याङ्गीकार
इत्युभयोर्भेदः । 'व्यापारोऽस्ति विभावादे' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी । तस्या
आद्यमतानुसारिता तु भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन बोध्या ।

नव्या इत्यस्य 'इत्याहु' इत्यनेन सम्बन्धः । विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य
पृथगुपादानात्) श्रव्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तीर्थेऽपि कवये नटाभिनेये दृश्यकाव्ये,
कविना शब्देर्नटेन चतुर्विधमिन्नपर्यञ्च प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्सु, व्यञ्जनव्यापारेण

अभिन्नरसज्ञाने जिम वस्तु को 'भोगावरणचित्' कहा है, उन्ही वस्तु को महनायक 'भोग' कहते हैं,
अर्थात् सथासात्र के भेद रहने पर भी पदार्थ में कोई भेद नहीं है । भोगकृत्त या भोजकत्व व्यञ्जना
का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है अर्थात् दोनों ही सत्त्वगुणोद्रेके द्वारा अज्ञान-
वरण को हट कर रसरूप आत्मानन्द का अनुभव कराने हैं, और सौर-गरीके भी प्राय दोनों मनों में
समान ही हैं, हाँ, एक विशेष इन द्वितीय मत में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का
स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत में साधारणीकरण के लिये एक विशिष्ट भावकत्व या भावना नाम
का व्यापार शब्द दो शब्दों में अविधा आदि के जैसा मान लिया गया है और प्रथम मत में
सहृदयतासहृदय, काव्यार्थों का पुन पुन अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होना, इनके
लिये काव्य शब्दों में किसी मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा छपमंहार में
मान लिया गया है ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के तृतीय मत का प्रतिपादन करने हैं—'नव्यास्तु'
इत्यादि) अविशय यह है कि अश्रव्य-काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और सपारी-

स्वत्वा, शकुन्तलादिरती शकुन्तलादिविषयकरती, दुष्यन्तादी दुष्यन्ताद्यधिकरणे सहृदयेन गृहीताया ज्ञाताया सत्याम अनन्तर तदनु महृदयस्य या सहृदयता तयोस्त्वासितस्य प्रादुर्भावितस्य पोषितस्य वा भावनाविशेषरूपस्य प्रागुक्तविलक्षण भावनात्मकस्य, दोषस्य दक्ष्यमाणभ्रमकारणस्य महिम्ना प्रभावेण, कल्पितमात्मन्य-सदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविक, यद् दुष्यन्तस्व तेनावच्छादिते तदवच्छिन्नविशेष्यता प्रभृति अज्ञानावच्छिन्ने तदभाववद् विशेष्यक तत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपगमाद् दुष्यन्तत्वामावधन्तमप्यात्मान दुष्यन्तत्वेन जानाने सहृदयस्य स्वात्मनि शुक्तिःशाराकले शुक्तिखण्डे वास्तविकरजतत्वाभावव्यपि रजतत्वेन ज्ञायमाने, इव यथा समुत्पद्य-मान प्रातिभासिकसत्ताश्रितत्वाज्जायमान अनिर्वचनीयो वास्तविकत्वानावात्र नन प्रत्यक्षणोचरत्वाच्च नासन्निति सदमद्विलक्षणतया निर्वचनानहं रजतखण्ड तथैव साक्षिभास्योऽस्त-करणमास्यत्वान साक्षादात्मनास्य शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत्) रमोऽस्तीत्यर्थ ।

चाकविक्रयदोषेण शुक्तिखण्डे रजतभ्रमे यथाऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यश्च रजतखण्डे प्रातिभासिकसत्ता लभते तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादि-रत्यादिमद्दुष्यन्तादिभ्रमे रत्यादि प्रतिभासमानो रसत्व लभन इति मतेऽस्मिन् न नवीनव्यापारकल्पनापेक्षति सारम ।

भावो को प्रकाशित करना है, दुष्काम्य न नष्ट अभिनयो के द्वारा उनको प्रकाशित करता है, हग (मामाणिके) को शब्दकाव्य के पठन में और दृश्य के अर्थोत्पन्न से उन विमर्शादियों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्ययना-वृत्ति में दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् व्यञ्जन वृत्ति के द्वारा इन वह समग्र है कि—'दुष्यन्त शकुन्तला-विषयकरतिनाम्'—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था इसके बाद हमारा सहृदय हममें एक प्रकार की भावना पैदा करती है अर्थात् हम सहृदय होने के जाने दुष्यन्त आदि के मन्वन्ध में पड़ पुन अनुसन्धान करने लग जाते हैं और वह भावना पुन पुन दुष्यन्त आदि के विषय में अनमन्दन-एक पैसा दोष है, जिसमें हमारी अनरातना कल्पित दुष्यन्तत्व में आच्छादित हो जाती है, अर्थात् हम अज्ञानरूप दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमा मन्वयने में कोई बाधा नहीं रह जाता अर्थात् एक दोष ने बरकर कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अरमा में कल्पित शकुन्तलाविषयकर रति भी भ्रमण होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान में एक एक—वास्तविकत्व में नहीं समग्र पड़ने तब उन टुकड़ों में ही चाकविक्रय दोष में चोरी के टुकड़े उत्पन्न हो पाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चोरी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं इसप्रति हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविकत्व में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चोरीयत्न तथापि मन्व-जात्मा वक्ता भ्रम करा देती है । इस तरह वे दोनों (हम में भ्रमण होने वाली शकुन्तला आदि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चोरीयत्न) अनिर्वचनीय हैं अर्थात् उनके कल्पित होने के कारण मन्व नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिग्दर्शक होने के कारण मन्व भी नहीं कह सकते अतः वे सद्भावमय इन चोरीय में नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं । यद्यपि भावना दोष से 'मै दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम में पड़े हुए मामाणिकों में उत्पन्न होने वाले, मन्व-रूप अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयकर रति आदि मन्वोभाव ही 'रम' है ।

'उत्पन्नो रस' विनष्टो रस' इत्यादिव्यवहारसिद्धये रसोत्पत्तिविनाशयो कारणे प्रतिपादयति—

अथ च कार्यो दोषविशेषस्य, नाशश्च तन्नाशस्य ।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्दस्वप्ता प्रतिपादयति—

स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति ।

ननु रसस्य लोकोत्तराह्लादेन सह भेदाग्रहाद् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कसून्यतया व्यञ्जयत्वम् अनिर्वचनीयतया यणनीयत्व च न सम्भवतीत्याशङ्क्यामनिवृत्ते—

स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्वर्तित्वेनैकत्वाव्यवसानाद्वा व्यञ्जयो वर्णनीयश्चोच्यते ।

अथ रस । च पुन । दोषविशेषस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनाया । कार्यो निष्पाद्य प्रादुर्भावं इति वा । तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषध्वंसस्य । नाशो ध्वंस्यस्तिरो-
घाप्तो वा ।

विलक्षणभावनाया सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्या विनष्टागामेव विनश्यतीति तद्भावनाया सत्त्वासत्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहार, शुक्तिधार्मिकभ्रान्ते सत्त्वानत्त्वयोरेव रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहार । इतरथा नित्ये तस्मिन्तद्व्यवहारानुपपत्तिरित्यभिप्रेतम् ।

स्व रसस्तदुत्तर तद्व्यवहितानन्तर भावो भविता यो लोकोत्तराह्लादो लौकिक सुखविलक्षण परमानन्द, तेन, सहाभ्य भेदाग्रहात् 'तस्मादय मित्त' इति ज्ञानाभावान तादात्म्येन ज्ञायमानत्वान्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) गुष्ठानन्द-प्रभृतिगन्धेन, व्यपदेश्यो व्यवहार्य, अथ रसो भवतीत्यर्थः ।

रसानन्दयोस्त्वत्तिपीर्वापर्येण भेदोप्यतिसन्निकर्षाद् दूरस्यमित्तवस्तुद्वयवद् भेदाज्ञाना-
दैन्यव्यवहार इति तात्पर्यम् ।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उन दोष के नाश के अर्थात् ही उत्पन्न नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मन में रस को नित्य माना गया है अतः परकीय उत्पत्ति-विनाश के आरोप से 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु इस क्षीय मन में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को हम मन में स्वयम् उत्पत्ति-विनाशशाली मान लिया गया है, उक्त दोष ही रस का उत्पादक है और हमके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उक्त दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक शकुन्तला आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और अतः उन दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब उन रति की प्रतीति भी अपने में नहीं होती । ठीक भी है, बाध-निर्धरण हो जाने पर भ्रम दूर हो ही जाता है, जब हम चौदरी समझकर सीप के टुकड़ों के समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सीप के टुकड़े हैं (रजत नहीं) तब रजतत्व (चौदोपन) की प्रतीति नहीं ही होती है ।

यद्यपि यह (रस) वास्तविक में स्वरूप नहीं है, तपारि 'मै शकुन्तलाविषयक रति वाला दुष्पन्न हूँ' इत्यादि प्रतीति के बाद जो अलौकिक सुख होता है उक्तमें और उक्त रतिरूप रस में भेद (जो वस्तुतः है) ज्ञान नहीं होना अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस स्वरूप है' ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

सचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमावच्छे—

अवच्छादक दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव । अवच्छादकस्य च रत्यादि-
विशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम् ।

स्वस्माद् रसान (रसोत्पत्त) पूर्वं प्राक् (जन्वध्यानन उपस्थितन व्यञ्जनया
प्रतीतिगोचरीभूतेन व्यग्येन, काल्पनिकत्वामावात्रिवचनीयन च रसादिना (दुष्यन्ता
दिनिष्ठेन) सह अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविशेषकल्पिन-रत्यादिस्मरणस्य तदग्रहाद्
भेदाज्ञानाद् भेदाग्रहेऽपि परकीयघमलानामसम्भव तु वाऽप्यवा तद्व्रतित्वनैकत्वाध्य
वसानाद् व्यङ्ग्यधरतिरूपितरस्योरैक्यारोपान अय रम व्यङ्ग्यध वचनीयश्च, उच्यत
कथ्यत इत्यर्थ ।

सहृदयहृदये य-श्राम वासनारूपेण विनिविष्टो रत्यादि स व्यञ्जनागम्यो
निर्वचनार्हश्च प्रसिद्ध तेन सहास्य रसस्य भेदाग्रहादेक्यारोपाद्वा व्यङ्ग्यधत्व वचनीयत्व
चोपपद्यत इत्याशय ।

यथा सहृदयस्यात्मनि रत्यादि काल्पनिकत्वादनिवचनताय तथैव 'शकुन्तला
विषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम् इत्याकारकप्रतीतौ रत्यादिनिष्ठप्रचारात्निरूपितस्वाम-
निष्ठविशेष्यताया अवच्छादकमवच्छादकपदप्रतिपाद्य दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्पन्न
त्वादननिर्वचनीयमेवेति माराण ।

इसी तरह रम वस्तु न व्यङ्ग्य है न वान करने का, परन्तु इन रम के लिये वान में पूर्व
व्यञ्जनावृत्ति में ही शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि का रति भाषि की रति गृहण-गत होने
में, वस्तु और दोष के कारण अवन न भाषिा होने वाला आ रम्य, शकुन्तला आदि का रति
आदि का भेद जान नहीं होता अथवा रम वास्तविक और इन कल्पित रति को एक समान मन है
अन यह रम व्यङ्ग्य और वचनीय कहलगा है अथवा दुष्यन्तानिष्ठ शकुन्तलादिविषयक वास्तविक
रति आदि का जान वस्तुन हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उनका वान भा वचिना वानन
काव्यों में करत है अन यह रति आदि वस्तुन व्यङ्ग्य और वचन्य है, अब यह कल्पित रम्य रति
आदि रति वस्तुन व्यञ्जना से ज्ञान न भी होता, कवि इनका वान न भा कारण, तथापि रम
वस्तुन व्यङ्ग्य और वचनीय रति से इन कल्पित रति को अन्तिम समान होने के कारण हम क्या वदत
है कि यह व्यञ्जना वृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि न इसका वान किया है ।

यिस तरह हम सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि का रति कल्पनामान प्रमत्त ज्ञान न होने
वचनार्थ है उमा तरह महदर्यों का आत्मा को अवच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भा काव्यन्तव ज्ञान
के कारण अनिर्वचनीय ही है । उन दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व अथवा अत्मा का अवच्छादने जानना
क्या वस्तु है यह भी समान तना चाहिए । यह यह है कि 'शकुन्तलादि'पद रतिवशात् न दुष्यन्त है'
इत्याकारक रत्यादि-विशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होने का दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व है अतः
एक ज्ञान में शकुन्तला की रति 'मैं' पदार्थ में प्रकाशयान-विद्यमान्य में नोमित हुई है, अन एक
ज्ञान में विशेष्य हुआ 'मैं' जो वस्तुन दुष्यन्त नहीं है, इसलिये उन 'मैं' पदार्थ में रहने वाला विग
थना का अवच्छेदक-परिचयक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये वरन् मैं पदार्थ में रहन वान धन
अतमत्व का स्वर को होना चाहिये परन्तु जिस लिये मैं अनन आरक दुष्यन्त समान रहा था, इसलिये
दुष्यन्तत्व ही विशेष्यता का अवच्छेदक ही रहा और वहा अवच्छेदक ही जाना जाना का अवच्छे
दित करना हुआ ।

पर्यवसित प्रतिवादिमतनिरास प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरमास्वाद्यत्वात् रसत्वम् । स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः । स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता ।' इत्यादिकमपास्तम् ।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनेनैव भारायत इत्याक्षेप समादधाति—

यदपि विभावादीना साधारण्य प्राचीनैरुक्तम् , तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पन विना दुरुपपादम् । अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा ।

एतेन भावनाविशेषम्य दोषत्वाङ्गीकारेण । अतत्सम्बन्धिनिष्ठस्य सहृदयनिष्ठरत्याद्याः सम्बन्धत्वस्य । इत्यादिक प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्वय ।

विलक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादिनिर्वचनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकुन्तलादिपद्यकरणेरनिर्वचनीयाया रसत्वेनाभिमतया भाव न बाधितम्, न वाऽव्यक्त्कारोति सर्वसामञ्जस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ता परकीयाक्षेपा निरस्ता इत्यभिप्राय ।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यदपि, विभावादीना साधारण्य शकुन्तलादीना कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि निसंगत शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रकारकबोधजनकैः शकुन्तलादिशब्दैः काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु, शकुन्तलादिषु विलक्षणभावनात्मकदोषविशेषकल्पन विना दुरुपपाद बुद्धेनोपपादयितुं योग्य यत्तोऽस्मिन् अतोऽस्मान् विभावादिसाधारण्यमभावादकत्वाद्देतो, दोषविशेषेऽवश्यकल्प्ये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि स्वर्णिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताद्यभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादा सुक्षेनोपपादयितुं योग्येत्यर्थः ।

मृदावरु के द्वारा द्वितीय मत में सड़ाई गईं अनेक शब्दों का इस मत में अन्वय नहीं रह जाता, यही दिखलाने है—'एतेन' इत्यादि । आशय यह है कि 'दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति स्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि वरामापी होने से उस रति में सामानिकों के लिये आस्वादा नहीं रहती । स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति तब शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों ? जिसमें मैं कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि वह कि अपने की दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध ठहर जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त प्राचीन युग के धीर सखाटू से और मैं वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ, जब मैं दुःख से अभिन्न नहीं हो सकता' ऐसा बात-निश्चय है, तब एक अनेदबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शब्दों का इस मत में अन्वय ही ही जाता, क्योंकि हम 'नमः' सहृदयतामूलक भावना' विशेषता 'दोष' 'दुष्यन्त' आदि की अनेदबुद्धि सिद्ध हो गई है, निम्न (अनेद बुद्धि) को बाध निश्चय नहीं रोक सकता । कारण ? दोषविशेषजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं ही उस बुद्धि के प्रति ही बाधक-निश्चय की प्रतिबन्ध माना गया है ।

दोष-विशेष की कथना भी इस मत को नहीं थीय नहीं है, प्राचीन लोगों में भी वह कथना करना पड़ती है यही बात बहान है—'यदपि' इत्यादि । मम्मठभट्ट आदि प्राचीन आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावादिकों का साधारणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण

अथ प्रसङ्गात् करुणादिरसस्थायिन शोकादेर्दुःखजनकताभासाद्भूते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि मुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिन शोकादेर्दुःखजनकता प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लाद-हेतुत्वम् ? प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवोचिन्यात् ।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्व क्लृप्तम् न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम् रज्जुसर्पादिर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन मुखजनकतानुपपत्तश्चेति चेत्—

काव्यघटवताना शकुन्तलादिशब्दानां शकुन्तलात्वादिविशेषप्रमावच्छिन्ने सत्त्वाच्छकुन्तलादीनां वान्तात्वादिसामान्यप्रकारकप्रतीतिविषयत्वरूप साधारण्य दोष-विशेषप्रभावेणैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकल्पना प्राचीनैरप्यङ्गीकृतवान्न नवीना । तदर्थं कल्पिते च दोषविशेष एका क्रिया द्वयध्वरी इति न्यायेन ननेव शुक्तौ रजताभेदबोध इव सहृदयात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबाधोऽपि सम्पद्यत इति भावः ।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे साधितेऽपि रतिमूनो प्रीति शोकस्त्वमीष्टनाशादिजय वैकल्यम् । शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-अगुप्सता ग्रहणम् । प्रत्यनीकवैपरीत्ये । न चेत्पादिनाऽऽवन्तरिकी गड्ढा रज्ज्वत्यादिना तदुत्तर च निदिश्यत । सत्यम्य वास्तविकस्य । क्लृप्त निश्चिन्तम् । कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य । नायकानामिन्द्रप्रकवचनमुचित सद्भग्नद्वधनरोषान् । रज्ज्वी भ्रान्त्या भासित सर्पो रज्जुसर्प अनुचिनापननमापति । उचितामङ्गुलमनुपपत्ति । इति कल्पित शङ्कालम् ।

राजायामिकाया रत्नोक्ते नायक इव काव्ये सहृदये मुखविशेषोपादकत्वाच्छक-ररसस्यानदनपताया सिद्धावपि नाक-भय-क्रोध-अगुप्सता ग्रहणमप्यदिश्यात्पुनलाक इव काव्योप्यनुभावक इव जननकत्वस्यैवोचिनात् करुण-भयानक-रीड-गोनस्तरमानामानन्दमय च नापद्यत ।

व्याख्या केवलम् न सत्यस्य रति अने कल्पिते न न कल्पितत्वात् आदि का छेत् कर कल्प अति साधारण भय न नय सहृदया न मान्य कल्पे न दात इ परन्तु यद दात तापयि रत् कल्प विने विना दन न्या मत् । कल्पे रत्ते न सत्यस्य रति शब्दो य ददा । न न्य आदि का प्रीतिरूपेण किं रहता न सत्यस्य रत्नोक्तं शकुन्तला अति कथम् यान्तरमेव वक्तव्ये वैभे हो सरता न अत नारताम्य दोष को कल्पना भयम् कल्प न्य अर्थात् यह अवश्य मानना पडेत् कि सहृदयत्वमूलक भावनाम्य दोष न वारा ही न (सहृदये रते) शकुन्तला, साधारण काना के रूप में ममय पत्ता न इन तरह त्व व दोष मानना ही पत्, त्व छनी से सहृदयो को अपने में दुष्यन्त की अनेक-बुद्धि ना हो जायगी ।

अब यहाँ एक शङ्का यह व्यथित होना है कि अपने मम दायि स्वतः सुखमय नहीं है अति अनिर्वचनीय रति आदि स्थायी-भक्त्यरूप रत्न की नीति के साथ जो विच्छिन्न-मत्ता उत्पन्न होना न, वसते वक्त रति आदिरूप रत्न में भेद का ज्ञान नहीं होना अतः रत्न को दुःखमय कहना न सत्य विवेचन के द्वारा जो 'अनिर्वचनीयत्वदिनावरमकरमननीति के बाद विच्छिन्न-मत्ता की उत्पत्ति' स्वीकार की है वह सवाँध में ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तविक शकुन्तला की रति वास्तविक

उत्तरयति—

अथ हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादय पदार्था आह्लादमलौकिक जनयन्ति ।

काव्यव्यापारजप्रतीतेरलौकिकतया चैतक्षप्यमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वाद. प्रमाणान्तरजादनुभवान् ।

नन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वामावान् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्ट—

जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

न चति वाच्यमित्यत्रान्वेति । स्वात्मनि सहृदयस्येति शप । सप्तम्यर्थो विशष्यत्वम् । स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा । सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽप्रस्मारादिरोगान्तरे वा । तदाराप शोकादिमद्दृष्टारथादितादात्म्यारोपे । स आह्लाद । आनुभविकमनुभवप्रमाणमिदम् । इहापि करणरसादावपि । तदेव दुःखमव ।

सहृदयस्य पुत्रवियोगजशोकवद्दृष्टारथोऽहमित्पाकारक-शोकादिप्रकारक-स्वात्मविशेष्यकप्रतीतेरेव यदि करणरसादावाह्लाद स्वीक्रियते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचित् सहृदयस्य तादृश्या प्रतीति सम्भवान् तत्राप्याह्लाद स्वीक्रियताम्, पूर्वोक्ततादात्म्यारोपस्योभयत्र तुल्यत्वान् । न च तत्राप्याह्लादोऽभ्युपगन्तुं शक्य, स्वप्नादितादृशबोधाद् दुःखस्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात् । एव सति करणरसादावपि तादृशप्रतीति बबलदुःखोत्पत्तिरेव युक्तेति पूर्वपक्षामिप्राप ।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनावृत्ति । यत्प्रयोज्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषया । य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा पदार्था, त एव काव्ये समुपनिवद्धास्तदीयव्यञ्जनाव्यापारमहिम्नाऽलौकिकीमूला अलौकिक सुखमेव जनयन्ति, न तु द्रागपि दुःखमिति सर्वानुभवविशुद्धत्वात् करणरसादौ न दुःखोत्पत्तिरित्युत्तरपक्षाशय ।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुमात्रानामचकारितया न कमनीयता, काव्यव्यापारजन्यास्वादरूपानुभवस्य त्वलौकिकतया चमत्कारित्वेन कमनीयतेरनुभवोर्वैतक्षप्यमित्याकृतम् ।

यदि आप यत्र प्रदन कर कि कृष्ण आनन्द म शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का अमेद बनने में मान लेंगे वर जब महारथों का जानना होता है, तब स्वप्न आदि में अथवा मन्निपात आदि रोग में अनन म शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अमेद का आरोप कर लने पर भी आनन्द ही होना चाहिये, परन्तु अनुभवमिदं तो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अन पहा (कृष्ण आदि रसों में) भा वल्य दुःख जानना हा उचित है ।

इसमें उत्तर में प्रवक्षार का बहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) को महिमा है कि उनके द्वारा ज्ञान किये गये अनुन्दर (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द बो उत्पन्न करने लगते हैं ।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अवस्था काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाला आस्वाद (अनुभवविशेष) विलक्षण है । अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है ।

तदाह—

तेन रसात्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरन् नव्यमतमुपसहरति—

शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यनेदबुद्ध्या प्रति-
वध्यते । इत्याहुः ।

अथ चतुर्थं परकीयमतमुपन्यस्यति—

(४) परे तु—अयञ्जनव्यापारस्यानिवचनीयख्यातेऽनानभ्युपगमेऽपि, प्रागु-
क्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्या-
दिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।

स्व काव्यव्यापारो व्यञ्जना तज्जन्या या तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तज्जन्यत्वे
मति रस्यादिविषयकत्वभास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमिति स्वीकारे रसात्वादस्य
व्यञ्जनसाक्षात्जन्यत्वविरुद्धेऽपि तत्त्वमवाधमित्यभिप्रायः ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादिसमाधाय ।

शकुन्तलादिविशेष्यकमगम्यत्वप्रकारक रसविरोधिज्ञान सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्
इत्याकारकेण स्वात्मविशेष्यक—दुष्यन्ताभेदप्रकारक—ज्ञानेन प्रतिबद्ध नीत्यस्त तत्र
शकुन्यादिति तृतीय नव्याना मत सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवाङ्गीकृताया भावनाया दोषत्वस्य, रसाना प्रातिभासिकत्वे-
नानिवचनीयत्वस्य चाङ्गीकृति, ननु व्यापारान्तस्य नवीनस्य कल्पनेति साधवम् ।

तुरीय मतमिदम् परे त्विति वदन्तीत्यनेनान्वेति ।

व्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ—शकुन्तलादिविषयवरतिग्राहकस्य, अनिव-
चनीयख्याते 'साक्षिमास्य सदसद्विलक्षण शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्य-
नुभवविषयोभूतानिवचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽङ्गीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽनङ्गीकारेऽपि

यद्यपि इस मत में श्लोकीकृत आनन्दजनक आत्साद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं
होता फिर पूर्वोक्त वाक्य के काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला इस अंश का क्या अर्थ हो सकता
है ? इस जिज्ञासा को शान्ति करने के लिये कहते हैं—'साम्यत्वम्' इत्यादि । इस अंश का अर्थ यह
है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली एक दोषात्मक भावना से उत्पन्न रसि यदि
का आत्साद । अब अब एक अंश के अर्थ में दोष रहने वाली अनिगति समाप्त हो गई ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसात्साद साक्षात् काव्यव्यापारव्यञ्जना से उत्पन्न होने
वाला नही है, तथापि कोई क्षति नहीं ।

अब रसो एक बात और वह यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह शान इस
सहृदयो को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि दोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की
अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उसी बुद्धि से एक अगम्यत्वज्ञान रोक दिया जाता है
अर्थात् अब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, अब फिर शकुन्तला को स्वार्थभोग दोष्य नहीं समझें, यह
असम्भव है ।

अब रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि ।
अभिप्राय यह है कि व्यञ्जना व्यापार के (जिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् किसी न किसी रूप

नन्वेव स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—
स्वाप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजनमेति न रसः । तेन न तत्र
तादृशाह्लादापत्तिः ।

सहृदये वास्तविकरतेरभावादनुभवे च विषयसत्त्वस्य कारणतयाऽपेक्षणां प्रकृते
रत्यादिवोधस्यासम्भव इत्याशङ्कते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ?

समादधाति—

भैवम्, नह्यय लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादे, येनावश्य विषयसद्भावोऽपेक्ष-
णीयः स्यात् । अपि तु भ्रमः ।

प्राक् तृतीयमते उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्ना प्रभावेणैव, स्वात्मनि
स्वात्मविशेष्यक, दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही दुष्यन्ताद्यभेदविषयक, शकुन्तलादि-
विषयकरत्यादिमदभेदबोध शकुन्तलादिविषयकरत्यादिनदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽह
शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारको यो मानसो मनस्सन्निकर्षजन्मा काव्यार्थस्य
भावनाया जन्म यस्य तादृश, विलक्षणविषयताशाली लोकोत्तरत्यादिनिष्ठविषयता-
निरूपक बोध आस्वाद, स एव रस इत्यर्थः ।

स्वप्नकालिको हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सन्नि-
कर्षजन्य सन्नपि, न काव्यार्थभावनाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविशेष
आपद्यत इत्यभिप्रायः ।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि,
स्वस्मिन् सहृदयात्मनि । इतरत् स्फुटम् ।

में अवश्य मानने हैं) और अनिर्वचनीय र्यादि के (जिने नवीन विद्वान् मानने हैं) मानने को
कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को व्यर्थ अथवा अनिर्वचनीय मानना आवश्यक नहीं है । फिर
रस है क्या ? मुनिदे—तृतीय मते में निम भावनात्मक बोध को चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से
सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मनःभ्रित्तर्ष मे उत्पन्न होने वाला (जिसमें बाह्य इन्द्रियों के
सम्बन्ध को अपेक्षा नहीं पड़ती) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है । उस ज्ञान में सहृदयों की
आत्मा विशेष होना है, जिस (आत्मा) में दुष्यन् आदि का तादात्म्य-अभेद भासित होता रहता है
और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मैं दुष्यन्, शकुन्तलाविषयक रति वाला
हूँ' ऐसा ज्ञान होता है । यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से होता है । लोकोत्तर-विल-
क्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होन हैं आ एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-शाली कहा जाना
है । संश्लेष में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहने हैं ।

आप कहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो
इसी प्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा इत्यादि का समाधान देन है—
'स्वप्नादिस्तु' इत्यादि । स्वप्न आदि में इसी तरह का मानसज्ञान होता है, वह वात नहीं है,
परन्तु वहाँ का ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला
सकता और न उसमें उम प्रकार का आनन्द ही आ-सकता है, क्योंकि काव्यार्थों के अनुसन्धान से
होने वाले उस प्रकार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है ।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुत्पत्तेरा-
स्वादो रसविषयक इति व्यवहारो नोपपद्यत इत्यतोऽभिपद्यते—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बन इत्यपि
वदन्ति ।

सुरीयमते विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानस्वरसस्य विनिगमनाविरहात्
त्रैविध्य प्रतिपादयति—

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मिताऽवच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-
वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तता-
दात्म्यवगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्याव-
गाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रमपदार्यतयाऽभ्युपेयः ।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, भ्रमे तु रज्जाव-
गतोऽपि संपत्स्य भ्रान्तिनि साहचर्यममयेतरत्यादिप्रतीतेर्योपगम्यत्वाद् भ्रमत्वेन न
वास्वविकविषयसद्भावापेक्षेति भावः ।

भ्रमरूप—रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरस-
पदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिपदत्वस्य विवक्षणादिति तात्पर्यम् ।

एतन्सुरीयमतावलम्बिभिः । एतैरित्यभ्युपेयमित्यनेनान्वेति । स्व महदयः । रति-
वैशिष्ट्य धर्मो दुष्यन्तश्च धर्मो । दुष्यन्तत्व धर्मिताऽवच्छेदक मयः, तादृश यच्छकुन्तला-
विषयनरतिवैशिष्ट्यम, तदवगाही तद्विषयव 'अहं दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान्'
इत्याकारक एको मानसो बोधः ।

इमं तरह मानने पर भी एक शङ्का यह रह जाती है कि जो रति आदि हम में है ही नहा वेउल
मनगदन्त है, उनका अनुभव ही कैसी होगा ? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-मत्ता का कारण माना
गया है ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति जो विषय-मत्ता कारण है अर्थात् लौकिक
अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिन वस्तुओं का अनुभव होता है व अन्तः, वाग, नाक
आदि प्राण-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य उपस्थित रहना है । भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात्
भ्रम विषय के बिना भी होता है, जैसे रम्पा में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) क न रहने पर भा होता
है, भावनारूप दोषप्रयुक्त यह रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उम रति आदि
विषय के वस्तुतः न रहने पर भी उससे ज्ञान होने में किसी तरह का बाधा नहीं हो सकती ।

आज क्या कि जब रम भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब 'रम का आस्वादन होता है' यह व्यवहार
भ्रमरूप का उदाहरण क्योंकि आस्वादन भा एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा ?
दन्तदा वन्त एन है—'आस्वादनस्य' इत्यादि । रति आदि का भ्रम का विषय अर्थात् रित्य रति
आदि के विषय में भ्रम होता है उनका आस्वादन हो सकता है, होगा नो है, वन्त ज्ञानी विषय (रति
आदि) का आस्वादन का विषय (भ्रमात्मकरम) में आशेष करके उक्त व्यवहार होता है । वस्तुतः
रम का आस्वादन हो नहीं होता । व लीग वह भी कहने है ।

इमं मत के अनुसार जिन ज्ञान को रस कहने है, उनका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है
यहो दिखलान है—'एतैश्च' इत्यादि । ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं—१. दुष्यन्त आदि में

मतेऽस्मिन् रत्यादिप्राहकस्यानुमानस्यावश्यकतामाचष्टे—

तत्र रतेविशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया
अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य
तादात्म्यमभेदमवगाहते विषयीकरोति, तादृश शकुन्तलाविषयकरतिगद्दुष्यन्तोऽहम्
इत्याकारको द्वितीयो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलाविषयकरतेष्वयद् वैशिष्ट्यं सम्बन्ध,
तदवगाही 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमाश्चाहम्' इत्याकारकश्च तृतीयो बोधः ।

त्रिषु विषयैक्येऽपि चिनिगमनाविरहादुद्देश्यविषयभावभेदाद् बोधभेदः ।
त्रिविधोऽयं बोध एवात्र मते रसपदायतयाऽभ्युपय स्वीकार्यं इत्यर्थः ।

— तत्र बोधत्रये, स्वात्मनि विशेषणीभूता या रति तस्या शब्दादप्रतीतत्वाद्वाचक
शब्दादज्ञानत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतिबोधिकाया व्यञ्जनायाश्चात्र मतऽनभ्युपगमाद-
स्वीकाराच्च, आदौ प्रथममे चेष्टा नदादिन्यापार एव लिङ्ग हेतुयंत्र तादृशम् 'अय
(नटरूपो) दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान तद्विषयककटाक्षमुज्ज्वलितेपादिवेष्टाव-
त्वात् श्याकारकमनुमान विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपगमज्ञीकरणीय-
मित्यर्थः ।

अत्र मतं पूर्वं दुष्यन्तत्वेन ज्ञात मटे चेष्टया शकुन्तलारतरनुमानम् पश्चात् तादृश-
दुष्यन्तस्य सहात्मनस्तादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति
सारम् । तुरीयं मतमवसितम् ।

रहनेज्ञानं नो शकुन्तला आदि की रति ह उम (रते अन्) म युक्त मे ह । २ मे शकुन्तलादि-
विषयक रति-युक्त-दुष्यन्त से अभिन्न हू ३ मै दुष्यन्तत्व मे त्रीं शकुन्तलाविषयक रति म भी युक्त
हू । इन तानों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार रस मन्ना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने
में कोई काम युक्ति नहीं है । यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक भा ही है, तथापि उद्देश्य-
विषय-भाव के भेद में ये ज्ञान परस्पर भिन्न होने हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में 'मे' उद्देश्य है और
दुष्यन्त न रहने वाला रति विषय । द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वहा 'मै' है परन्तु विषय ह शकुन्तला
विषयक रति-युक्त-दुष्यन्त का अभेद । और तृतीय ज्ञान में भा उद्देश्य 'मै' ही है किन्तु विषय दो
ह—एक दुष्यन्त और दूसरा शकुन्तला-विषयक-रति, अर्थात् यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है ।

इन मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान को आवश्यकता पड़ेगा, इस बात का
मनिषादन करन ह—'तत्र' इत्यादि । आशय यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण रूप से
रति अत्र इन ज्ञानों के होने में पूर्व रति का ज्ञान हो जना आवश्यक है, परन्तु उसका ज्ञान
होगा कौन ? काव्य के शब्दों से ही नहीं सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे
नहीं रहन और उनका बोध करानेवाली जो व्यञ्जना अथ मन्त्रों में स्वीकृत था, उनका स्वरूप इस
मत में किता ही नहीं पता ह, फिर ता आत्मा विशेषणभूत उम रति आदि व ज्ञान के लिये
अनुमान का शरत इस मत में लनी ही पडगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों में पहल नट आदि की चेष्टा को
हेतु बनाकर 'दुष्यन्त, शकुन्तलाविषयक रति माल है, क्योंकि उन रति से होने वाली चेष्टा उनमें
विद्यमान है' ऐसा अनुमान करना पड़ेगा ।

वप्र प्रकीर्णं मतपञ्चने प्रपम पूर्वक्रमाच्च सप्तम मतं निदिशति—

(७) 'विभावादयस्य समुदिता रसा' इति कतिपये ।

द्वितीय पूर्वक्रमादष्टम मतमुपपस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः । अन्यथा तु त्रयोऽपि न ।'
इति बहवः ।

समुदिता परस्पर मिलिता, विभावादयो विभावानुभावव्यभिचारिस्वाविभावा
एव रसा रसनव्यापारोपादास्वादा इति कतिपये कियन्तो व्याहरन्तीत्ययं ।

'प्रतीयमान प्रपम प्रत्येक हेतुहन्त्ये ।

तत सम्मिलित रावो विभावादि सञ्चेतसाम ॥

प्रमाणकरसन्वायाञ्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥'

इत्युक्ते छण्डमरिचादीनामिव विभावादीना मपस्तम्भेत्तनेन प्रमाणपरम इव
काव्यरस' त्रयोऽपि निष्पद्यत इत्याशय ।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, य एवान्यतम स्वपोषकसामग्रीप्रकपाल चम-
त्कारी विच्छित्तविशेषवासी, स एव न तु चमत्कृतिसूत्रयोऽपि, रसो भवतीति शेष ।

नहीं होगा ? पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि एक काठ में दो शान नहीं हो सकी, उन
दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगे यह बात नहीं कही जा सकती । इसका उत्तर यह है कि जहाँ
एक ही समय में एक वस्तु को प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु को अनुमिति-सामग्री लुप्त जाती है,
वहाँ उभ स्थिति में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्न-
विषयक अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिबन्धक माना है । क्यों उसको प्रतिबन्धक माना गया
है ? इस विनाश की शक्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए । भिन्नविषयक प्रत्यक्ष
के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति सामग्री को प्रतिबन्धक मानने का पहला कारण यह है कि उभ स्थिति
में अनुमिति का हाना हा अनुभव भिन्न है । तमरा कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री का अवेक्षा
अनुमिति-सामग्री पुन-भूत रहती है अर्थात् प्रत्यक्ष सामग्री (चतुस्रविहारी आदि) भिन्न का
लुप्तना नहीं करना अगर किसी अंश में लुप्तना भी पद तो उनमें बहुत अर्थ अन्वय करना पना
है और अनुमिति-सामग्री (व्याप्तिमान आदि) विनाश संख्या अधिक है) को लुप्तना करना - जिनमें
बहुत अधिक अन्वय करना पना है, एनी स्थिति में अगर उक्त दोनों सामग्रियों में य त्रिणी एक
सामग्री का अर्थ पना पद ना लोय किमको अर्थ करना चाहेंगे ? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सामग्री
को, क्योंकि वह अवेक्षा है और उनमें अन्वय भा वन करना पना था । अब नाटक देरन समय भिन्न-
विषयक प्रत्यक्ष-सामग्री व लुप्त रहने पर भी शत्रुन्लान्तिविषयक रति को अनुमिति ही क्यों होती है
इस सङ्का का उत्तर पाठकों के मण रूप से समझ आ जायगा । यह तो हुई नाटक की बात, काव्य में
कमते पाठकों पर हा सब गगाहा बजना है अर्थात् उन्ही को दुष्कान आदि समझा जाना है और उन्ही
को पशु बनकर रति आदि की अनुमिति की जानी है ।

अब रस-विषयक समझ मन का प्रतिबन्धन करने हैं—'विभावाद्य' इत्यादि । कुछ लोगों का
कहना है कि विभाव, अनुभव और सञ्चारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाने हैं ।

अब रस-मन्त्रन्थी अमम मन का बसादन करत हैं—'त्रिषु' इत्यादि । कतिपय विद्वानों का कथन
है कि विभाव, अनुभव और सञ्चारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वह रस है और यदि

तृतीय पूर्वक्रमाश्रयम मत प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यग्ये ।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशम मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे ।

पञ्चम पूर्वक्रमादेकादश मतमाधृष्टे—

(११) 'व्यभिचार्यैव तथा तथा परिणमति' इति केचित् ।

भावनामहिम्ना प्राधान्य भजन् व्यभिचार्यपि भावत्वमिव रसत्व प्रतिपद्यत इति भावः । उक्तमतेष्वष्टानां क्रमेण प्राभाषिकत्व दर्शयितुमुपक्रमते—

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रं तत्तन्म-
त्तपरतया व्याख्यायते—

अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुनैक न रस इति बहुवो व्याहरन्तीत्यर्थः । लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वान् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः ।

भाव्यमान पुनः पुनरनुसन्धानरूपभावभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आत्मन्व-
नोद्दीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणावपि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः ।

प्रादुर्भावकेषु विभावस्यैव प्राचम्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम् ।

अनुभाव स्याधिकार्यरूपः, तथा भाव्यमानो रस इतीतरे प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ।

भावनाया = प्रभावेण, कारणपेक्षया कार्यस्य विच्छित्तविशेषापाद्याकत्वेन चानुभावस्यैव रसत्व मन्तव्यमित्याकृतम् ।

पूर्वस्तयाशब्दो भाव्यमानार्थको द्वितीयश्च रसायकः ।

तथा भावनाविशेषविषयीक्रियमाणो व्यभिचारी भाव एव तथा रसरूपतया परिणमतीत्येके कथयन्तीत्यर्थः ।

तत्र तेष्वेकादशानु मतेषु समूलकत्व माधयितुमाचार्यभरतस्य विभावेत्यादिमून
तत्तन्मतपरतया तेषां तेषामादितोऽष्टानां मतानामनुकूलतया व्याख्यायते मयेति
शेषः ।

श्वमत्कारी न हो, एव एक को वान ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकत क्योंकि
छेत्रैवैचर चमत्कार को हा काव्य का प्राप् माना गया है ।

अब रस-मन्वन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमान' इत्यादि । अन्य कुछ विद्वानों
का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान किया गया विभाव (अलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है
(अनुभाव और सञ्चारी नहीं) ।

अब रस-मन्वन्धी दशम मत की चर्चा करते हैं—'अनुभाव' इत्यादि । कुछ पण्डितों का मत है
कि पुनः पुनः चिन्तन किया गया अनुभाव ही रस है । (विभाव सञ्चारी नहीं) ।

अब रसमन्वन्धी ब्यारहवें मत का प्रतिपादन करते हैं—'व्यभिचार्यैव' इत्यादि । अनेक पण्डितों
का कथन है कि व्यभिचारी भाव ही पुनः पुनः चिन्ता का विषय होकर रस रूप में परिणत हो
जाता है ।

आद्याचार्याभिनवगुप्तमते द्विविधकल्याणुकूला सूत्रव्याख्यामाह—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिः सयोगात् व्यञ्जनाद् रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाव्यात्मनः, स्थाव्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम् ।' इत्याद्यै ।

द्वितीये भट्टनायकमते सूत्रव्याख्यामभिप्रेत्याति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणा सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावकत्वव्यापारेण भावनाद्, रसस्य स्थाव्युपहित-सत्त्वोद्रेकप्रकाशित-स्वात्मानन्दरूपस्य, निष्पत्तिर्भोगक्षयेन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः ।' इति द्वितीये ।

तृतीये नम्बमते सूत्रव्याख्या ब्रवीति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणा सयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये ।

विभावेनानुभावेन व्यभिचारिभावेन (सह) सयोगाद् व्यञ्ज्यव्यञ्जकभावसम्बन्धात् प्रथमकल्पे चिदानन्दविशिष्टस्थाव्यात्मनश्चैतन्याह्लादविषयीभूतरत्यादिरूपस्य, द्वितीयकल्पे स्थाव्युपहितचिदानन्दात्मनो रत्यादिविषयकचैतन्याह्लादरूपस्य, रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरूपेण प्रकाशनमित्याद्यमते सूत्रार्थः ।

सयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति योगादित्यस्य भावकत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्येत्यस्य सत्त्वोद्रेकोद्भासित-रत्यादिविषयक-स्वात्मानन्दरूपार्थक स्थाव्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य भुक्त्यपरपर्याय-भोगात्मक-साक्षात्कारविषयीकरणार्थक भोगक्षयेनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः ।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव सयोगः, अनिर्वचनीयगावापन्नो दुष्यन्तादिनिष्ठ-शत्रुन्तादिविषयकरत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विरोधः ।

अत्र एक मते में विनने प्रामाणिक और विनने अप्रामाणिक है इन बात का निर्णय करने के लिए हममन्थी मूलभूत-भरतध्वज को व्याख्या करने का अफ्रग करने है—'सप्र' इत्यादि । उन मत के अनुसार 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इन सूत्र की व्याख्या करते हैं ।

प्रथम आचार्य अभिनव गुप्त-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनिगत होने से, आत्मानन्द-सहित स्थायीभावरूप अथवा स्थायीभावामरक उपाधि से युक्त आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् यह अपने बान्धवरूप में प्रकाशित होगा है' यह प्रथम मत में अर्थ है ।

द्वितीय भट्टनायक-मत के अनुसार सूत्र का व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (संयोग) सम्यक् अर्थात् साधारणत्व से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप उपाधि से गहित सत्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वतीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है ।

तृतीय 'नम्ब' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, और मन्थारी भावों के संयोग अर्थात् सद्दर्शनमूल्य वाच्यार्थ-रसकार्य दोष से दुष्यन्त आदि से अनिर्वचनीय रस आदि रूप रस निष्पत्ति अर्थात् 'उत्पत्ति' यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है ।

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्या ब्रूते—

'विभावादीना सयोगाद् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः ।' इति चतुर्थे ।

पञ्चमं मट्टलील्लटमते सूत्रव्याख्या व्याहरति—

'विभावादीना सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे ।

षष्ठं श्रीसङ्कुचमते सूत्रव्याख्या प्रतिपादयति—

'विभावादिभिः कृत्रिमरूपकृत्रिमतया गृहीते' सयोगादनुमानाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे ।

सप्तमे कनिषपमते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

'विभावादीना त्रयाणां सयोगाद् समुदायाद् रसानिष्पत्ती रसपदव्यवहारः' इति सप्तमे ।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्या निगदति—

'विभावादिषु सम्यग् योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे ।

तत्र मयोगो ज्ञानम्, रमश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेषः ।

इह सयोग सम्बन्ध, नट आरोप्यमाणो रत्यादी रस, निष्पत्तिरारोपः । तामाजिवन्धु तु भावनात्मकशोषवशात् कथाश्चित्रेण सह तादात्म्याध्यागादास्त्वाव इति विशेषः ।

अत्र मयोगाऽनुमितिरित्येव—व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम्, अनुमेयो रत्यादौ रस, निष्पत्तिश्चानुमितिरिति विशेषः ।

इह नयागा मिश्रस्तम्भेखनेन समुदाय, निष्पत्ती, रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश इति विनायः ।

अत्र मयोगश्चमत्कार इति विशेषः ।

चतुर् 'पर' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करने ह—'विभावादीनाम्' इत्यादि । 'विभाव आदि के मयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान-विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् 'उत्पत्ति' यह चतुर्थ मत में सूत्र का अर्थ है ।

पञ्चमं मट्टलील्लट-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करने ह—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव आदि के मयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट आदि पर आरोप' यह पञ्चम मत में सूत्र का अर्थ है ।

षष्ठं श्रीसङ्कुच मत के अनुसार सूत्र का व्याख्या करने ह—'विभावादिभिः' इत्यादि होने पर भावाभावक रस मन्त्रण पर विभावादिभिः (हेतु) के साथ मयोग अर्थात् व्याप्ति नामक मन्त्रण से ही आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति (नट रूप पक्ष में) यह षष्ठ मत में सूत्र का अर्थ है ।

सप्तमं मत के अनुसार सूत्र का व्याख्या—'विभाव आदि तानो के मयोग अर्थात् मन्त्रण म रस का निष्पत्ति अर्थात् इन समूह में रस पद का व्यवहार' यह सप्तम मत में सूत्र का अर्थ है ।

अष्टम मत के अनुसार सूत्र का व्याख्या—'विभाव आदि म मन्त्रण योग अर्थात् चमत्कार - रस कहलान' है यह अष्टम मत के अनुसार सूत्र का अर्थ है ।

उपसहरति—

तदेव पथदमितसिषु मतेषु सूत्रविरोधः ।

ननु भरतसूत्र एव सन्धिनिदाना विभावादीना प्रयाणानुपादानस्य किं बीजम् ? येनात्र विभावादिष्वेकमात्रावलम्बि चरम नतत्रय शूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याद्यद्वा निरस्यति—

विभावानुभावव्याभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरस-
व्यञ्जकताऽनुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम् ।

एवमुत्प्रकारेण, केवल पूर्वोक्तेष्वष्टनु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्, त्रिप्रथिमेषु त्वैकं कमात्रोपादानात् विभावादीना प्रयाणानुपादानाद् भरतसूत्रस्य प्रागुल्लिखितस्य, विरोध पर्यवसित इत्यर्थम् ।

भरतसूत्रानुसारि मताष्टकमेव साधीय, तद्विद्वद्भ्यमतत्रय तु निर्भूतवत्त्वादनुपादेय-
मेवेति सारम् ।

इदमपीहावलनीयम्—पथा भरतसूत्रविरोधादिहास्ति मतात्रय हेयम्, भावकत्व-
रूपाधिकव्यापारस्वीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादोपलक्ष्यनागौरवाद्, रमस्या-
निर्वचनीयत्वाद्गीकारोऽव्यास्तविकत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य
ध्रमत्वाम्बुपगमेऽनातिवक्तृत्वापत्तैस्तुरीयम्, रसस्य नटवृत्तैर्वस्तुत सामाजिकवृत्तित्वा-
नङ्गीकारेण त्रिलक्षणस्वादासम्भवात् पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारि-
त्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारोऽचमत्कारित्वप्रमङ्गात् षष्ठम्,
विभावादिममूहनमात्रेण लोकोत्तररसत्वप्राप्त्यसम्भवात् सप्तमम्, एकस्य विभावाद्य-
न्यतमस्य रमसारचमत्कार-परिपूर्णताऽसद्भावादष्टमं च मतमरुचिश्चासादनादेयमेव ।

इदमुक्तं भवति—विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च विप्रतीजेकरससाधारणा
नत्वचरमनियता गन्तीति त्वैकं कमात्रोपादाने रमप्रतीतावनियम स्यात्, मितिसा
विभावादमनयस्त्वेकरमामाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे
मिन्नाना प्रयाणानुपादानमावश्यम् । तथा लोक्तं काव्यप्रकाशे—'व्याघ्रादयो
विभावा गयानकस्येव रोद्रादमुतवीराणाम्, अश्रुपादयोऽनुभावा शृङ्गारस्येव
वरुणमयावका किनादयो व्यभिचारिण शृङ्गारस्येव वरुणवीरमयापानानामिति
पृथगनैकान्तिकरवान् सूत्रे मितिता निदिष्टा । इति । विवदलितमिनाम्बुगममेषम्'
इत्यादी केवलविभावानाम्, 'परिमृदितमृणालीम्नानमङ्गम्' इत्यादी केवलानुभावा-
नाम्, 'दूरादुन्मुवमागते विवर्जितम्, इत्यादी केवलव्यभिचारिणा चोपादाने श्रुगार-
रमप्रतीत प्रमिदत्वात् प्रयाणा मिदितानामुपादानमावश्यकमित्युक्तिर्निर्मूलैति चेत् न,

अत्रेण नीन मतो मे सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उन मतो मे सूत्र का विरोध सर्वप्रथि
होता है—अथानु वे मन क्षतन्व है, सूत्रानुसारी नहीं ।

विभावाऽन्विको मे से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इस शंका का समाधान देने
है—'विभावानुभाव' इत्यदि । अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव और सप्रतीभाव इनमें से
केवल एक अर्थ न केवल विभाव, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारीभाव किसी नियत रस का

तदेवाह—

एव च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद् रसोद्बोध. तनेत्तरद्वयमाक्षेप्यम्, अतो नानैकान्तिकत्वम् ।

प्रकृत रसस्वरूपनिरूपणमुपसहरति—

इत्य च नानाजातीयाभि. श्रेयुषीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमान, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयताभावह-
तीति निर्विवादम् ।

उक्तस्यलेख्येकमात्रस्य शृंगाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव
श्रुतियाक्षेपेण लामाद् व्यभिचारासम्भवात् । तदुक्तम्—

‘सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरैकस्य वा भवेत् ।

श्रुतित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥’ इति ।

अनैकान्तिकत्व व्यभिचार ।

इत्यमुक्तरीत्या, नानाजातीयाभिरनेकविध्याभि, श्रेयुषीमर्बुद्धिभि, मनीषिभि
काव्यकोविदै, नानारूपतयाजेकप्रकारत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि,
परमाह्लादाविनाभावितया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीभव-
तरन्, रस, अस्मिन् प्रपञ्चे सन्दर्भे विश्वस्मिन् वा, रमणीयताभावहति सुप्रमाविशेष
चमत्कारोत्कर्षं वाऽऽदधातीति निर्विवाद निर्णीतमित्यर्थं ।

बुधाना बुद्धिर्विविधेन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारवाहृत्येऽपि विच्छित्तविशेषा-
घायकत्वे न काचिद्विमतिरित्यभिसन्धिः ।

व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनुभाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक
रस वा हो सकता है, जैसे व्यंग्र आदि जिम तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, वही तरह
वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी, अद्भुत आदि जिम तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, वही
तरह कल्या और भयानक रस के भी, चिन्ता आदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं,
वही तरह कर्ण, वीर और भयानक रस के भी । अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख किया गया है ।

इस तरह अब यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव) सम्मि-
ष्टि रूप में ही किसी एक रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किसी अभाधारण (जो
किन्ना लाभ रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किन्ना अभाधारण (जो किन्ना एक ही रस
का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास
रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहाँ जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से
आश्रय कर लेना चाहिए, अतः एव का विरोध वहाँ नहीं होगा । इस प्रसङ्ग में सम्मत ने उदाहरणार्थ
निम्नलिखित तीन श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत किये हैं । (१) ‘वियदलितलिन्नाभ्युपमेयम्’
इत्यादि । (२) ‘परिमृदितभृणालीम्लानमद्भम्’ इत्यादि । (३) ‘दूरादुत्सुकभागने विवलिन्’
इत्यादि । इन श्लोकों में क्रमशः पथम में केवल विभावों का, द्वितीय में केवल अनुभावों का और
तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी
भाव अभाधारण है अर्थात् केवल शृङ्गार रस में हो होने वाले हैं, अतः यहाँ अनेक रसों के व्यञ्जक होने
का सन्देह नहीं हो सकता । तब वाच रही यह कि शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा,
जिसका उत्तर उपर दिया ही जा चुका है कि वर्णित से अतिरिक्त दो का आश्रय कर लिया जाएगा ।

एव रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानावष्टे—
स च—

शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव, बीभत्सश्चेति ते नव ॥'

इत्युक्तेनैवघा ।

नन्वेतदुक्तौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

मुनिवचनं चात्र प्रमाणम् ।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

'शान्तस्य शमसाध्यत्वात् नटे च तदसम्भवात् ।

अष्टाधैव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥' इत्याहुः ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अत्रास्या रसनवविधत्वोक्तौ, मुनेर्महर्षिभिरतस्म—'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका । बीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नव रसा स्मृता ॥' इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं च (चकारात्महृदयानुभव) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यावधिप्रस्तता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्थापितत्वात्, नटे वास्तविकसहृदयता-विषुदे केवलशिक्षाभ्यासादिनाऽनुकरणपटीयसि तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽग्निनेत्रकाव्ये, अष्टौ शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमसाध्यात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुः इत्यनेन सम्बन्धः ।

शान्तरसस्यापि नमस्य नटेऽमहृदयेऽसम्भवात् प्राट्ये शान्तातिरिक्ता एवाष्टौ रसा इति पूर्वपक्षस्य सारम् ।

इम प्रकार विद्वद्गणों ने, यद्यपि भले प्रकार की बुद्धियों के द्वारा रस-का अनेक रूपों में समझा है, तथापि इम बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अर्थात् आनन्द का व्याप्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय तन्मू है ।

अब रस के भेदों को लिखना है—'स च' ज्ञायादि । पूर्वोक्त रस के शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ भेद हैं ।

रस की इम मन्त्र्या में भरत मुनि का वचन ही प्रमाण है । अने नाट्यशास्त्र में भगवन् मुनि ने 'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका । बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नाट्ये नव रसा स्मृता ॥' यह वचन कहा है ।

नाटक में शान्त-रस नहीं हो सकता इम परकीय शब्दा का स्पष्ट निरूपण है—'केचित्तु' इत्यादि । नाटक में आठ ही रस होत हैं, शान्त नरत, ऐसा कुछ लोग कहत हैं और वे अनेक काल में मुक्ति यह देत हैं कि शान्त रस ही भिदि शम (शान्ति) से ही हो सकता है, ज (शान्ति) केनच से सम्बन्ध रहता है और नट उदरा सांसारिक भावों में आनन्द भाव, अतः इममें शान्ति की सम्भवना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस हो, तो, कैसे ?

समादधाति—

तच्चापरे न क्षमन्ते । तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गत, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकाना शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

नटे शमानङ्गीकारेऽनुपपत्ति प्रकाश्य निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तस्य भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः ।

इदमुच्यते—नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके । नटे तु 'यत कश्चिन्न रस स्वदते नट, इत्युक्तेननटे रसास्वादाभाव । सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽवच्छेदक न तु नटत्वम् । यश्च क्वचिन्नटस्यास्वाद', स तस्य काव्याद्यंभावनाया, सहृदयत्वेनैव 'काव्याद्यंभावेनायमपि सम्भ्यपदास्पदम्' इति दर्पणात् । किञ्च वक्ष्यमाणक्रमेण श्रव्ये महाभारतादौ शान्तरसस्वीकृतौ न कस्यापि विमति । दृश्यकाव्ये तु नटे वास्तविकरामाभावादभिनयासम्भवात् केचिन्न मन्यते । परे तु तत्रापि 'अष्टावेव रसा नाट्येऽप्यिति केचिदच्युतदन् । तदचारु, यत, कश्चिन्न रस स्वदते नट ॥' इत्यभिव्युक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रस साक्षात्कृत्य च तमूरीकुर्वन्ति । तस्य स्यायिन केचन निर्वेद मन्यन्ते । अपरे निर्वेदस्य विश्वविषयात्म्यमात्मवस्यात्मावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभाव व्यपदिश्य, सकलतृष्णानिवृत्तित्रन्यात्मपरिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च कामसुख लोके, यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाहंत पोडशो क्लाम् ॥' इत्युक्तमहिमान शममेव तथा व्याहरन्तीति दिक् ।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च भयक्रोधादे' परामर्श ।

यदि नटे शम स्यात्, तदा स तदभिनय विधातु क्षमेत । न च तथा, तस्माद्भिनयेकाव्ये शान्तरसो नोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविक कोऽपि स्यायी न तिष्ठति, तथापि शिक्षाम्पासादिबलेन तदभिनय सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्य विरहेऽपि तदभिनयानुष्ठाने नासङ्गति । अन्यथा नटे रौद्रस्यापि क्रोधस्य, भयानकस्यापि भयस्य चासत्त्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम्-।

रक्त शङ्का का समाधान करते हैं—'तथापरे' इत्यादि । दूसरे छोग एक शङ्का-कारक की बात को मानना नहीं चाहते । उनका कथन है कि नाटक में शान्तरस के न होने में आपने जो दह देल दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', वह सङ्गत नहीं, क्योंकि हम छोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानने ही नहीं, फिर उसकी शान्ति अथवा अशान्ति से हमें क्या लेना देना ! वहाँ हम रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सामाजिक यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहाँ उसके होने में तो किसी तरह को बाधा है नहीं ।

इति अथ कहे कि शान्ति रिहीन नट शान्तरस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सक्ता, पर हम आपसे कहेंगे कि नट, भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये अहित्य करता है, यह तो आप भी मानते हैं, परन्तु आपके शान्तरसविषयक इस नूतन तर्क के अनुसार वह अहित्य ही न हो पाया, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं रहती, वसी तरह वास्तविक भय ही न हो भी नहीं रहते, अतः इस कारण से अगर शान्तरस के अभिनय करने का अभिकारी वह नहीं होता तो भयानक और रौद्र रस के अभिनय का अभिकारी ब होना भी उसके लिये उचित प्राप्त है ।

पुनःपूर्वपक्ष विधाय निराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वषट्प्रधादीनामुत्पत्त्य-
सम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाम्यासादित उत्पत्तौ नास्ति बाधकमिति
निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

पुनश्चाद्भूते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिना गत्वात्, सामाजिकेष्वपि विषय-
वैमुख्यारम्भेन, शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत् ।

उत्तरमिति—

नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलवत्त्वात् तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन्
विरोधिताया अकल्पनात् ।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि सन्नूणा वषट्प्रधा-
तीनि नोत्पन्तु सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वादवास्तवानि तत्कार्याणि
गर्जनतर्जनादीनि शिक्षाम्यासादिवत्त्वाद् बाधकवैधुर्षान् कथं नोत्पादयन्ति कुटान्त-
दाष्टान्तिरुकोर्वैषम्यमालोक्यते चेत्, तर्हि नटऽपि वास्तवशामाभावेन वास्तवसमका-
र्याणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेरभावेऽपि, कल्पितसमकार्याणामक्षिणिमीलना-
दीनां शिक्षाम्यासादिवत्त्वाद्दुत्पत्तिबोधकानाथान् कथं न स्यादुभयोर्वैषम्यविरहा-
दित्याशयः ।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण श्रोतुर्मनसिन्वन्तीति विषया मनोविक्षेपवृत्त तया
समविरोधिना नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयेभ्यां वैमुख्यमात्मा स्वरूप यस्य नाट्य-
स्य विषयविच्छेदस्वभावस्य शान्तरस्य तद्द्वयेऽपि (विमुक्त नट) कथम् उद्रेक
आविर्भावो भवन् । तस्मान्न नाट्ये शान्ता रस इति पूर्वपक्षानिप्रायः ।

ये नाट्येऽपि शान्त रस एवोक्तुंन्ति, तं देवविषयकभावे विषयवैमुख्यतद्भावऽपि
तद्भावानुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधिता न मन्यन्ते, तथाऽप्रापीयु-
त्तरपक्षात् ।

यदि अथ कर्तुं किं नट में क्रोध आदि ने न होने के कारण भेषादिक के वास्तविक कर्षण वष-
ट्प्रधा आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वषट्प्रधा आदि की शिक्षा और अभ्यास
आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे कि यहाँ भी वैसा ही समझिये कर्षण
वास्तविक रस के अभाव में वास्तविक रस—कर्षण शरीर में अनास्था आदि दे न होने पर भी
दिशति से नट बनावटी रस के कर्षण को दितल्य सकना है ।

एक शब्द अथ यह उत्तरि कर्षण कहते हैं कि नाटक में शान्त रस के विरोधी गीत, वाद्य आदि
बस्तुओं के विघनन रहने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उदय कैसे होगा क्योंकि विषयों से
विमुक्त होना ही शान्त रस का स्वरूप है ।

एक शब्द का उत्तर यह है कि शान्तरस-स्थान नाटक के दर्शन से सद्द्वय मानसिकों में शान्त
रस का उदय होते देखने हैं, अतः नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने के लिये गीत-वाद्यदिकों
को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेंगे, क्योंकि पट के अन्तर्गत ही कारण को कल्पना ही जाती है ।

उत्तरपक्ष समर्थयन्नुक्तव्यवस्थातिश्रमे दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य ससारा-
नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सरसङ्ग-पुण्यवन-तीर्थविलोकनादेरपि
विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

उक्तार्थे प्राचीनसम्प्रति दर्शयन् निगमयति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

‘अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।

तदचारु, यतः कश्चिन्न रस स्वदते नटः ॥

इत्यादिना नाट्यस्य शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् ।

नाट्ये शान्तरसामावाभ्युपगमेऽप्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकीत्याह—

यंरपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते, तंरपि बाधकाभावान्महा-
भारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये
सोऽवश्य स्वीकार्यं ।

तत्र शान्तरसे । पुण्यवनानि वृन्दावन-नैमियारण्यप्रभृतीनि । तीर्थानि काश्या-
दीनि ।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरस विरोधीति गीतवाद्याद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि,
न नाट्य शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीप-
नयोरपि विषयत्वाच्छून्यकाव्येऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां
विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः ।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः ! सङ्गीतरत्नाकरनामा प्राचीन-
सङ्गीतविद्याप्रबन्धः । अचूचुदन् व्याहृष्टं । अचारु सङ्गतिगुण्यतयाऽनुन्दरम् । यत
इत्यादिना तद्वेतूपन्यासः । कश्चिन् कश्चिदपि । स्वदत इत्यन्तर्भावितव्यर्थत्वादास्वाद-
यतीत्यर्थः । अन्यथाऽर्थासङ्गतिर्नटपदाच्चतुर्थ्यां दुर्निवारत्वं च स्यात् ।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्व स्वीक्रियते, तथैव
शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये बीजानुपलम्भादित्याकृतम् ।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-मात्र को यदि शान्त रस का विरोधी मान लिया जाय, तब
शान्त रस का आलम्बन-ससारा का अनित्य होना एवम् उसके उद्दीपन-पुराणों का सुनना, सलज्ज,
पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन आदि भी विषय ही हैं, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो
जायेंगे । दुर्भाग्ये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे भजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं
हैं, अपितु उसके अभिव्यञ्जक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों को सम्प्रति दिखलाते हैं—‘अत एव च’ इत्यादि । जिसलिये वे गीत-
वाद्य, शान्त र. के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसलिये
‘संगीत रत्नाकर’ के अन्तिम अध्याय में ‘अष्टावेव रसा नाट्ये’ इत्यादि अर्थात् नाट्यों में आठ ही रस
होते हैं, ऐसा कुछ लोभ कहे हैं, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किन्नी रस का
आस्तादन नहीं करता-इत्यादि उक्ति के द्वारा-नाट्यों में भी शान्त रस होता है, यह सिद्ध किया है ।

पुन शान्तरससत्तामेव समर्थयन् सन्दर्भमुपसहरति—
अत एव अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य शान्तोऽपि नवमो रसः'
इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्यु ।

एव रसान् परिगणय्य, तेषामास्वादे भेदाभावाग्निभोजभेदे प्रसक्ते, स्थापिभेदेन
भेद दिदशंपिषु स्थापिभावान् क्रमेण परिगणयति—
अमीया च—

रतिः शोकश्च निर्वेद—क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः ।

हासो भयं जुगुप्सा च, स्थापिभावाः क्रमादमी ॥

अयं प्राशुक्तमतभेदेन रसानां स्थापिभ्यो भेद दर्शयति—

रसेभ्य स्थापिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथम—द्वितीय-
मतयो, मत्परजतस्थानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः)
शानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः ।

नाट्यं शान्तरसामात्र वदन्तोऽपि बाघवानुपसम्भाद महाभारतप्रभृतिप्रबन्धेषु
शान्तरसप्राधान्यस्य सवलसहृदयानुभवसिद्धतयाऽनपलपनीयत्वेन शान्तरसस्य नाट्ये
तरकाव्ये सत्तामवश्य स्वीकुर्युंरित्येतावताऽपि शान्तरसमता रसानां नवता च
सिध्यत्येवेत्यभिनिधि ।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव । उपक्रम्य प्रारभ्य । उपसमहार्यु ममाप्तिम-
कार्यु ।

श्रम्यवाक्येऽपि शान्तरसानङ्गीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रस' इत्युपसहारोक्ति-
मम्मटनट्टानां शान्तरसस्य, तन्नवमत्वस्य सामावाप्तं सङ्गच्छेत, तस्मात् काव्ये शान्त-
रससत्ता निर्विवादवैति तारम् ।

अमीया शृंगारादिरसानाम् । क्रमात् शृंगारस्य रति, वरुणस्य शोक, शान्तरस्य
निर्वेद, रौद्रस्य क्रोध, वीरस्योत्साह, अद्भुतस्य विस्मय, भयानकस्य भयम्,
बीभत्सस्य च जुगुप्सा स्थापिभावः । एतेषां स्वरूपपत्रे स्फुटीभविष्यति ।

नाट्यो में शान्तरस को मानने पर भी काव्य में उन्का मानना आवश्यक है इसी बात का
उल्लेख करने है—'यैरपि' इत्यादि । आशय यह है कि जो लोग नाट्यो में शान्तरस नहीं मानते हैं
उन्को भी काव्यो में उसको (शान्तरस को) अवश्य मानना चाहिए क्योंकि उनको दिग्गज में भी नहीं
उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महाभारत आदि ग्रन्थो में शान्तरस ही प्रधान
है' यह बात सब लोगो के अनुभव से सिद्ध है ।

इमोटिड मम्मट ने भी 'नाट्यो में आठ रस होते हैं' इस तरह से आशय्य करके 'शान्तरस
नाटक एक नवम रस भी है' इस रस में उपसंहार किया है । अर्थात् काव्यो में शान्तरस का होना
मम्मट ने अनुसंधार भी सिद्ध है । अत रसो को कुछ संख्या भी है, यह निम्नन्देश बात है ।

अब इन रसो के स्थायीभावो के नाम गिनने हैं—'अमीयां च' इत्यादि । एक रसो के क्रमता
रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और जुगुप्सा ये स्थायीभाव होने हैं । अर्थात् शृंगार
का रति, कल्प का शोक, शान्तरस का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय,
हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायीभाव होता है ।

ननु स्यादीना पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्यादित्वमित्यन वाच्य—
तत्र आ प्रबन्ध स्थिरत्वादमीषा भावाना स्यादित्वम् ।

पुनस्तद्धुने—

न च चित्रवृत्तिविशेषरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्व दुर्लभम्,
वामनारूपतया स्थिरत्व तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम् ।

अभिनवगुप्त—भट्टनायकमतयो रत्याद्यर्णच्छत्रचंतन्यस्य रमत्वाङ्गीकारात् तयार-
वच्छेद्यावच्छेदभावरूपो भेद । तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरत्यादे रमत्वाङ्गीकारात्
तयो सादृश्यात्मा भेद । चतुर्थे परकीयमते रत्यादिविषयकज्ञानस्य रसत्वाङ्गीकाराद्
विषयविषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थम् ।

पञ्चमपष्ठमतयोस्तु रम-स्यायिनोरभेद । सन्नमादियु तु मतेषु स्यायिनोऽनुपादा
नभवेति मतचतुष्टय एव भेदो वर्णितः ।

रत्यादीना वस्तुतः कूटस्थन्वविरहेऽपि, तत्र काव्येषु आप्रबन्ध प्रबन्धमभिन्यास्य
स्थिरत्वात् स्यादित्वमित्यर्थम् ।

रत्यादयो हि कूटस्थनया न स्यायिनः, किन्तु व्यभिचार्यपक्षया नियमेन प्रबन्ध
व्यापकम्यनिशालित्वादिति सारासः ।

एषा रत्यादीनाम् । अतिप्रसक्तमतिव्याप्तम् ।

चित्तस्मान्निचपणत्वात् तद्ब्रह्मतीना क्षगमङ्गुरतया वक्ष्यमातीत्या तदकरुणाया
रत्यादीना स्थिरत्व न सम्भवति । न च तेषा क्षणिकत्वेऽपि तद्वास्तनाक्यसम्कारणा
मक्षणिकत्वात् तद्रूपाणामेव तेषा स्थिरत्व सम्भवति एव मति व्यभिचारिवाचनाया
अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्यादित्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः ।

रमो और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन मन्वेद सं करन है—
‘रसेभ्यः’ इत्यदि । अभिनवगुप्त और भट्टनायक के मतों (जो हम इन्ध में प्रथम और द्वितीय है) के
अनुसार रम और स्थायीभाव में परस्पर वैसा ही भेद है, जैसा ध्व और रमके अन्तर्गत आकाश में
है । अर्थात् जैसे आपक मावाश घटका वनपि के अन्दर बिर नर छोय मा हो जाना है, वही
तरह आपक चैत्य रति आदि स्थायीभाव रूप वनपि से प्रस्य होकर केन्द्रित मा हो आता है । दुर्ग्य
नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्य-चौदी और काल्पनिक चौदी
में है अर्थात् रम काल्पनिक चौदी मा है और स्थायीभाव सत्य चौदी सा । चतुर्थ परकीय मत के
हिनाय से वन दोनों में वम तरह का भेद है, जिस तरह का भेद वान और वनके विषय में इत्या है
अर्थात् रम वानरूप है और स्थायीभाव विषयरूप ।

ये पूर्वोक्त मत सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—‘तत्र’ इत्यदि । ये सब
कूटस्थ निय नशा है, वरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनेक बार आत, जाते
और बदलते रहते हैं, वम तरह ये मत बदलते नहीं अर्थात् इन्ध मनाति पदना बने रहते हैं, अत
एव स्थायी कहलाते हैं ।

यदि आप कहें कि ये रति यदि मत तो चित्तवृत्तिरूप है, अत एव का भर के बाद न्य हो जाने
वाले पदार्थ हैं इतलिये सम्पूर्ण इन्ध में इनका स्थिर रहना अनम्भव है, फिर दे (मत) स्थायी कैसे
कहाला सकते हैं ! और वामना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारीभाव भी स्थायी
कहालाये ल्यागे, क्योंकि वासनारूप से वे भी अन्धकरण में सदा बर्तमान रहते हैं ।

समावधाति—

वामनारूपानामोपा मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात्, व्यभिचारिणा तु नैव, तदभिव्यक्तविद्युद्द्योतप्राप्तत्वात् ।

उक्तार्थं प्रमाणयति—

यदाहु —

‘विहृद्धेरविरुद्धेर्वा, भावेर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभाव नयत्यायु, स स्यायी लवणाकर ॥

चिर वित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभि ।

रमत्व ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धा स्थायिनोऽत्र ते ॥

विरमितिभ्यभिनारिवारणाय । अनुबन्धिभिर्विभावाद्यै ।

तथा—

‘सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्त्तिमान् ।

यावद्रस वर्तमान स्याद्विभाव उदाहृत ॥’ इति ।

वमोपा रत्यादीनाम् । मुहुर्मुहुरभिव्यक्ते । पुनः—पुनः—प्रतीते । विद्युद्द्योत-
प्राप्तत्वात् कादाचित्कत्वात् ।

नैरन्तरेण भूयो-भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम् । तच्च स्वायिनामेव, न
तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रसिद्धत्वादि-
त्युत्तरम् ।

अनुबन्धिभिः सम्बन्धिमिभिन्नावादिभिः । लवणाकर क्षारसमुद्रस्युच्य ।

यथा क्षारसमुद्र स्वादिष्टैरस्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिथितोऽपि स्वभाव न जहाति,
विन्दु तानव स्वभाव प्रापयति, तथैव यो भाव प्रतिकूलैरनुबूलैवा विभावादिभिर्मि-
लितोऽपि स्वभाव न जहाति (विच्छेद न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभाव
प्रापयति स स्यायी भाव इति प्रथमवारिकार्यं ।

य (वासनारूपेण) चिर (नतु व्यभिचारित्वं कदाचिदेव) चित्ते निष्ठन्ति,
तथाऽनुबन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता मवन्ति, किञ्च रमत्व प्राप्नुवन्ति तेषां
वाच्ये स्थायिनो नामा प्रसिद्धा मवन्तीति द्वितीयवारिकार्यं ।

एक शब्द का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति दो यही
स्थिरता विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र ग्रन्थ में बार-बार प्रयोग होने हैं यही उनकी
स्वयिना है व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति तो विजली की तरह क्षणमग्न होती है अर्थात् चिर
तरह विजली कभी-कभी हो सकती है बराबर नहीं, कभी तरह ग्रन्थ भर में दो बार बार मग्न ही
किसी व्यभिचारी भाव की प्राप्ति हो जाय, परन्तु नियमन सम्पूर्ण ग्रन्थ में उनकी प्रतीति नहीं होती
भार वे स्थिर नहीं रहना सकते ।

एक शब्द को प्राचीनों की सम्प्रति दित्यन्तकर प्रमाणित करने हैं—‘यदाहु’ इत्यादि । प्राचीनों
ने भी इन शब्दों को अतीत-अतीत सम्प्रति देकर प्रमाणित किया है । इन लोगों ने ठीका है कि
स्थायीभाव उत्कृष्ट कहते हैं, जो विरोधी अर्थात् विरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, परन्तु
विरोधी भावों को भी शीघ्र आने रूप में परिणत कर लेता है, और क्षारसमुद्र के समान ही कभी-क

स्यायितक्षणे मनान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्व स्यायित्वमाहुः, तत्र, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररूढे-
ऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वोपगमात् ।

प्रसङ्गाद् भावाना प्ररोहाप्ररोहो निरूपयति—

प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे बहुत्वविभावजत्वे ।

मदुर्गसदुर्गार्वा भावैर्यस्य स्वरूपपरिवर्तन न भवति, तथा य स्रक्नूत्रन्यायन रस-
सत्तामभिव्याप्य तिष्ठति, स काव्ये स्यायिभाव कथितो भवतीति तृतीयकारिकार्थं ।
तदेवोक्तमन्यत्रापि— विरुद्धा अविरुद्धा वा य निरोघातुमक्षमा । आस्वादाङ्कुर
वन्दोऽसौ, भाव स्यायीति सञ्ज्ञित । इति । विरुद्धत्व तु तत्र केपाश्चिद् व्यभिचारि
भावाना बोध्यम् ।

यतो रत्यादय स्वरूपेणैव न स्यायिभावा किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेषां
प्ररूढस्य भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्या स्थिती,
रत्याद्यन्यतमत्व स्यायित्वमिति लक्षणास्य नाममात्रेण स्यायिषु, प्ररोहाभावात् व्यभि-
चारितामापन्नेषु रत्यादिष्वेवातिव्याप्तिः । तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः ।
यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररूढत्व निवेशितं तथापि तत्तद्भूतमितत्व-
स्यान्यतमत्वादनुरोधि-प्रतियोगित्वाभ्यां जगतः प्रवेगेन गौरवभाषणतः । तल्लक्षणे-
कूटप्रतियोगिकामाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गीकारे तु न गौरवमिति विभावनीयम् ।

बहुविभावजन्यत्व प्ररूढत्वम् अल्पविभावजन्यत्व त्वप्ररूढत्वमित्ययम् ।

जिस तरह क्षार मसुर से जाकर मर वस्तुई क्षार हो जाता है, वही तरह जिनमे मिश्रण मर मसुर
हो जाते हैं । । भाव बहुत कठ तक चित्त म वसना रूप से रहत ह, विभावीकों के साथ मन्त्र
होते हैं और मन्त्र म रूप बन जान है, वे वहाँ (माहित्य न) स्थानभाव नाम म प्रसिद्ध है ।
तथा—जिम भाव का स्वरूप, मन्त्रीय भववा विभावीय किना भाव मे निररूढ अर्थान् परिचयित न
हो सके, और जो जब तक रम का अन्त्यादन हं, तब तक वनमान रह, वही के स्थानभाव
कहते हैं ।

स्थानभाव के लक्षण के विषय में परमत्र का उल्लेख कर हमका अर्थान् बत है—'केचित्तु'
इत्यादि । कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्त्यम (कोई एक)
होना ही स्थानभाव कहलाने के लिये पर्वोक्त परिचय है । परन्तु वह परिचय पद्यत हो नहा सकता,
क्योंकि वे रति आदि भाव तल्लक्षणमधारी होने पर भी जहाँ अरूढ अर्थान् दर हुए रहत हैं, वहाँ
उन्हा रति आदि भावों में से जो प्ररूढ अर्थान् मसृद्ध रहता है उमके व्यभिचारी भाव कहलान ह ।
इम स्थिति में यदि रति आदि नामधारा होने से व भाव स्थाना भा कहलाने लों तब भी, वहाँ भी
वे स्थाना कहलाने लयंगे जहाँ अरूढ होने के कारण वस्तुन वे व्यभिचारा हो गये ह । अतः लक्ष
परिचय-पत्र (लक्षणा) ठाक नहीं । इमके अनिरेक्त उम लक्षणा में अन्त्यमत्व का प्रवेश कराना
और अन्त्यमत्व पदार्थ तल्लक्षणे-कूट-प्रतियोगिकामाववत्त्व रूप है, जिनमें अनेक मन्त्रार्थ मन्त्रिणि है,
मत् वस्तु लक्षणा गौरव-अन्त्य होने के कारण भी अग्रह-कोटि में जा पडना है, वह समपत्ता चरित ।

उपर के अर्थ में आये हुए 'प्ररूढ' और 'अरूढ' शब्द की व्याख्या करते हैं—'प्ररूढ' इत्यादि ।
अर्थात् बहुत विभावों से जिनका उत्पत्ति हो वह प्ररूढ और कौड़े विभावों से जिनका उत्पत्ति हुई हो,
वह अरूढ कहलाना है ।

तत्र दास्यां प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्त रत्नाकरे—

‘रत्यादयः स्थायिभावाः, स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।

स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ॥’ इति ।

इदानीं कस्य स्थायिनं कुत्र रसे व्यभिचारित्वमविनामाकित्वं च भवतीत्याख्याति—

एव च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासः, व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च ।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानम्परिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते, तदा तु रसालङ्कार इत्यादि बोध्यम् ।

भूमिष्ठं विपुलं, स्तोकं काल्पम् । विभावपदमनुभाव—व्यभिचारिभावयोरप्युपलक्षकम् । अत्रैव मङ्गीनरत्नाकरोपास्त—विभावपदोत्तरबहुवचनस्वरसः । भूमिष्ठं विभावादिभिर्जनितं ‘कारणगुणा कार्यगुणानारमन्ते इत्युक्तेर्बलवन्मा रत्यादयः स्थायिभावा बन्धविभावादिभिर्जनितास्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थं ।

मध्यमश्चकारो मिश्रक्रमं सङ्गत्यनुरोधत् ।

एकभावप्ररोहेऽपरभावाप्ररोहाभ्युपगमादुत्साहप्ररोहेण वीर रसे प्रधाने, रौद्रस्याप्यपि शोषोऽप्रकृतत्वेन व्यभिचारी, क्रोधं विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्यकतया नान्तरीयकश्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्याप्युत्साहः, शृङ्गाररसे प्रधाने हास्यस्यापि हासश्च व्यभिचारी नान्तरीयकश्च भवतीत्यर्थः । एवमेकस्यैवैकत्र स्थायिताया परत्र व्यभिचारितायाश्च प्ररोहाप्ररोहाभ्यां दर्शनाद् रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायि-सञ्चलनं न सङ्गतमिति भावः ।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गमूतो भावोपि, बहुविभावजो रसत्वसम्पादकविभावादिषामग्रीसर्वालत त्रित्यन्ते, तदा सामग्रीसमवधानाद् रसत्वमापन्नस्य तस्य प्रधानीभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवदलङ्कारो भवतीत्यर्थः । तदुक्तं ध्वनिकारेण—

‘प्रधानेऽप्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसादयः ।

काल्ये तरिमञ्जलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥’ इति ।

शब्द और अर्थ पर ही लक्ष्य ध्याव्या की प्राचीनों के उद्धरण देकर प्रमाणित करते हैं— ‘तदुक्तं रत्नाकरे’ इत्यादि । रत्नाकरधर ने भी एक व्याख्या के अत्र उद्धृत भाव व्यक्त किये हैं । उन्होंने लिखा है कि शब्द विभावदिकों से उत्पन्न हुए रसि भादि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही कस्य विभाव भादि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कारणते हैं ।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और शृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और अनेक वहाँ रत्नाकरशब्द भी है अर्थात् क्रोध के विना वीर, उत्साह के विना रौद्र और हास के विना शृङ्गार रस ही भी नहीं सकते, क्योंकि वे ही इन रसों के शेषक हैं ।

अत्र स्थायिभावान् क्रमेण लक्षयन्नादौ शृङ्गाररसस्याविरति वक्ष्यति—
तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः

गृह-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

द्वितीय कर्णरसस्याभिभाव शोक लक्षयति—

पुत्रादिवियोग-भरणादिजन्मा वैकलव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

अन्वय तु स्तरन्योन्यनिष्ठत्वे शृङ्गारस्थायित्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपत्तिविषयकत्वाद्वा च भावाभासत्वम् । तथाहि—'रतिर्देवादिविषयस्य व्यभिचारी तथाऽङ्घ्रित । भाव प्रोक्त, इति प्रकारेण । रत्यादिश्लोभरङ्ग' स्याद् देवादिविषयोऽप्यवा । अन्याङ्गभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिसम्बन्धात् ॥ इति प्रदीपे । 'उपनायकसंस्थाया, मुनिगुरुपत्नीगताया च । बहुनायकविषयाया, रती तथानुभवनिष्ठायाम् । प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वद्वधमपात्रतिर्यगादिगते शृंगारेऽनीचित्वम्' इति दर्पणे च ।

क्वचित् पुत्र — नायकमिधुनान्योन्यविषयिका रति शृंगाररसस्थायिभाव देवादिपूज्यविषयिका च श्रद्धा भक्तिरसस्थायिभाव, पुत्राद्यनुकम्पनीयविषयिका च वात्मन्य वत्सलरसस्थायिभाव, प्रत्यपाद्यत ।

तत्र तेषां स्थायिभावानां मध्ये नायिकानिष्ठो नायकविषयक नायकनिष्ठो नायिकाविषयकश्च प्रेमाख्य प्रीत्यपरपर्यायमित्तवृत्तिविशेष रतिर्मनोऽकूलेऽर्थे मनस प्रवणायितम्' इत्युक्तस्वरूपो मनस उत्कटावेश एव सर्वं वाक्य सावधारणम्' इति दर्शनाद् रति शृंगाररसस्य स्थायिभावो भवति विपुलविभावादिजन्यत्वादित्यर्थं

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यमीष्टसम्बन्धिना वियोगान्मरणादेश्च जन्मोत्पत्तियस्य तादृशो वैकलव्याद्योऽवसादलक्षण इष्टनाशादिभिस्वेतोवैकलव्य शोकशब्दभाक् इत्यान्य-त्रोक्तस्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो बहुविभावज शोक कर्णरसस्य स्थायिभावो भवतीत्यर्थं ।

अन्ये तु—'इष्टनाशादनिष्टाप्त कम्पाख्या रसो भवेत्' इत्यादिदर्शनादिष्टना-शवदनिष्टाप्तेरपि वैकलव्यजननत्वम्, भनुध्याणामिव भनुष्येतरामोष्ट प्राणिनाम्, प्राणीतरामोष्टवस्तुना च विनाशाद् अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाच्चो-त्पन्न वित्तावसाद शोक कर्णरसस्वापिन व्याहरन्ति ।

एव इष्टान् रस को पुत्र करने के लिये उन अशुभ क्रोध आदि को भी बहु-विभव-अन्य बना देता है, तब वे व्यभिचारी भव न कहलाकर 'गमवत्' अलवार कहलाने हैं—इत्यादि समझना चाहिए ।

अब स्थायीभावों के लक्ष्य करने के तम न सर्वत्रयन रते का लक्ष्य करते हैं—'स्त्रीपुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुंस्य ही, एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उससे रति-संज्ञक स्थायीभाव कहल है । वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभि-चारीभाव कहलता है ।

शोक का लक्ष्य करत है—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा भला

ननु लक्षणघटकपुत्रादिपदेन पल्लभाश्चापि ग्रहणात् तद्विषयोपेक्षेण शोकस्याङ्गीकाराद्
विरहहेतुको विप्रलम्भशृंगारो निविषय स्वादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशाया वैकलव्यपोषिताया रतेरेव
प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भास्यो रस, वैकलव्य तु सञ्चारिमात्रम् ।

कण्ठरसस्य विषयमभिदधाति—

मृतत्वज्ञानदशाया तु रतिपोषितस्य वैकलव्यस्येति करुण एव ।

तत्रैव विशेषमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुच्छीवनज्ञान कथञ्चित्
स्यात्, तदात्मन्वनस्यात्यन्तिकतिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, त
स करुणः ।

स्त्रीपुंसयो स्त्री च पुमाश्च तयो वियोगे विभिन्नस्थानवासे एकत्रापि दर्शनाद्
योगे, जीवितत्वज्ञानदशाया मन प्रणयिणो जीवति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ
वैकलव्येन पोषिताया शृंगारस्थायिरतेरेव प्राधान्याद्धेतो विप्रलम्भास्यो विरहहेतु
कविप्रलम्भानामा शृंगार (न तु करुण) रस करुणस्थायिचित्तवैकलव्यस्याप्राधा
न्यादित्यर्थः ।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाने तु रतिरूपालम्बनस्य विच्छेदाद् दीर्घत्वेनाङ्गभूतया
रत्या पोषितस्य करुणस्थायिणो मनोर्षवलम्बस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु
शृंगार इत्यर्थः ।

आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-वृत्ति होती है उसको शोक कहते हैं ।
यहाँ एक बात और समझने योग्य है । 'इष्टनाशरनिष्टाने वरुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के
विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण नामक रस होता है । इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कतिपय
विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति
से भी, साथ-साथ उस इष्ट अथवा अनिष्ट का मनुष्य होना ही आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य भी हो
सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अविनन वस्तु हो
सकती है, इस तरह से सर्ववस्तु यह हुआ कि किसी भी इष्ट वस्तु के नाश से अथवा किसी भी
अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और करुण रस का स्थायी भाव भी है ।
इस मत के अनुसार शिव मुक्ता वा मरण, प्रिय जंगली का वहीं रसो गन्ध तथा स्त्रिय गये कर्क के
स्वप्ने माँगने के लिये आवा हुआ प्यादा आदि को भी आहार बनाकर करुण रस प्रधान काव्य की सृष्टि
को जा सकती है ।

स्त्री-पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है परन्तु वह
शोक करुण रस का स्थायीभाव नहीं हो सकता है यदि वह प्रेमप्राप्त के मरण-ज्ञान के साथ हो, अथवा
अर्थात् 'प्रेम-यात्र नहीं जाता है' देने ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, परन्तु व्यभिचारी
भाव मात्र होता है, क्योंकि हम अस्तम में शोक से पुत्र की गई रति की ही प्रधानता रहती है, अतः
यहाँ विप्रलम्भ शृंगार रस ही होता है ।

प्रेम-यात्र के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री-पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है
और रति होती है उस का पुत्र करने वाली, अतः हम स्थिति में करुण रस ही होगा । यह बात मैं
पढ़ने भी लिख चुका हूँ ।

त विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा—चन्द्रापीड प्रति महाश्वेतावाक्येषु ।

इह मतान्तरभूपन्यस्यति—

केचित्तु—रमान्तरमेवात्र करण—विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति ।

तृतीय शान्तरसस्यादिभाव निर्वेद लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागास्यो निर्वेद ।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादादिना केनापि कारणेन पुनः प्रत्युज्जीवनज्ञान भवेत्, तर्हि चिरप्रवासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेशवास इवावाप्यालम्बनस्य प्रणयि-
जनस्यात्यन्तविच्छेदाभावाद् रतेरेव प्राधान्याद् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः ।

महाश्वेताया पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनचारिवचनात् पुनः प्रत्युज्जीवन-
ज्ञानस्य जननादालम्बनात्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरीप्रबन्धे महाश्वेतोक्तिषु
विप्रलम्भशृंगार एव रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः ।

अत्र पुनः प्रत्युज्जीवनज्ञानस्थले । तदुक्त दर्पणे—

‘यूनोरेकतरस्मिन्, गतवति लोकांतर पुनर्लभ्ये ।

विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य ॥’ इति

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहः, सकरुणविप्रलम्भरूपरमान्तर-
स्वीकारो व्यर्थ इत्येवमिदं केचित्त्वित्यनेन सूच्यते ।

परे तु—चिरप्रवासे विश्लेषे सत्यप्यालम्बनध्वसाभावाद् रतेरविच्छिन्नया
प्राधान्येन, वैकल्यस्य यथा वादाचित्तेनाल्पविमावजत्वात् सञ्चारित्वम्, तथा
मरण-पुनः प्रत्युज्जीवनयोक्तानि न सम्भवति, तत्रालम्बनध्वसस्य कालिकाव्याप्यवृत्ति-
स्वेऽपि वास्तविकत्वेन रतिलोतस पूर्वमिज्ञया किञ्चित्क्षीणप्रायत्वेन, वैकल्यस्य चेपदा-
धिक्येन, करणरसेन पोषितस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य करुणविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य
स्वीकारेऽपि न गौरवम्, न वा रसान्तरत्वमित्युदाहरन्ति ।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ब्रह्मजगतोर्विचाराद्विवेकाज्जन्म यस्य तादृश, विषयेभ्यो-
ऽनित्यवस्तुभ्यो विरागास्यो वितृष्णोभावरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः ।

प्रेम-पात्र के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता को प्रमत्तना आदि से किसी तरह उनके
पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलम्बन (प्रेम-पात्र) के सर्वदा के लिये विनष्ट न हो जाने
के कारण चिरकालिक परदेश-गान की तरह ‘विप्रलम्भ’ ही होता है, करुण नहीं ।

ईदृश विप्रलम्भ का उदाहरण दिखलाने हैं—‘यथा’ इत्यादि । कादम्बरी-ग्रन्थ में चन्द्रापीड के
प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य कहे हैं, उनमें इसी तरह का ‘विप्रलम्भ’ अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि
पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानना दुर्लभ भी महाश्वेता आकाशवाणी के द्वारा उनके पुनः जीवित
होने की बात जान चुकी थी ।

कुछ लोगों की इच्छा है कि अहाँ प्रेम-पात्र के मरणोत्तर काल में किसी कारणवश पुनः उषके
जीवित हो जाने की आशा है—विश्राम है, वहाँ न ‘कस्त रस’ का होना उचित है न ‘विप्रलम्भ
शृङ्गार रस’ का, अतः वहाँ ‘करुण-विप्रलम्भ’ नामक एक तृतीय रस मानना चाहिए ।

अब निर्वेद का लक्षण बताने हैं—‘नित्यानित्य’ इत्यादि । वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (मरण)

पष्टमद्भुतरमम्यायिभाव विस्मय लक्षयति—

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ।

सप्तम हास्परसस्य स्यामिभाव हाम लक्षयति—

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।

अष्टम भयानकरमन्य स्थायिभाव भय लक्षयति—

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैकल्यव्याख्यः स भयम् ।

स्थायिनो भयस्य व्यभिचारिणस्वाप्ताद् भेदमाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी ।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु सरम्भ स्थेयानुत्साह उच्यते ।' इति लक्षणम्, 'कार्य-
रम्भेषु सप्रिवृष्टकार्येषु स्थेयान् सरम्भ उरवट आवेश उत्साह' इति तद्विवरणञ्च
स्फुटम् ।

अलौकिकाना लोकोत्तराणा वस्तूना दर्शनादे साक्षात्कारस्मरणप्रभृते जन्म
यस्य तादृश, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्भुतरमम्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु । विस्फारश्चेत्तमा यस्तु न
विस्मय उदाहृत ॥' इति लक्षणम्, लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारानिजान्तप
विस्फारो विस्तार । स च दृष्टहनुम्योऽप्यममवित्वज्ञानेन हेतुनुगन्धान मनोव्यापार-
रूपः ।' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

अन्यस्य वाचि-अङ्गेषु, आदिपदेन वेपे भूपणे च विकारस्यान्यथामावस्य दर्शनात्
(क्वचित् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशचित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषा हाना
हास्परसस्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'वागादिवैहृतेष्वेतेविकारो हास इत्यन्ते ।' इति ।

व्याघ्रपदमन्येषामपि सद्योमरणकारणानाम्, आदिपद सन्निकर्षस्मरणयोश्चो-
त्तक्षणम् । परमानर्थविषयको मरणाद्यनर्थसम्पादक वैकल्य विह्वलत्वम् ।

व्याघ्रादिसद्योमरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृश, चित्तस्य वैकल्य-
रूपो वृत्तिविशेषो भय भयानकरसस्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

रम्भेषु सरम्भ स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् सरम्भेन कार्यो मे उच्यते अन्तर्ह उन्साह कर्त्तव्य है, रह
उत्साह वा लक्ष्ण किया गया है ।

आ 'विस्मय' का लक्षण करने हैं—'अलौकिक' इत्यादि । लौकिक विषय वस्तु के दर्शन
अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विक्रम—(आश्चर्य)—नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय'
कहते हैं ।

आ 'हाम' का लक्षण करने हैं—'वागङ्गादि' इत्यादि । दूरों के अर्थ, वचन, १४ और भूत
में विकार (अन्यथाभाव—अज्ञेय) के दर्शन से (कहीं वहाँ अना मे नी) उत्पन्न होनेवाली चित्त-
(चित्त जना) नामक चित्त-वृत्ति 'हाम' कहलानी है ।

आ 'भय' का लक्षण करने हैं—'व्याघ्र' इत्यादि । व्याघ्र आदि के दर्शन (चिन्ते परम ५२-५-
मरण सम्भविन हो) से उत्पन्न होनेवाली वैकल्य-विह्वलता नामक चित्त-वृत्ति 'भय' कहलानी है ।

भयानयो स्वरूपभेदे मतान्तरमुक्तिरिति—

अपरे तु औत्पातिकप्रभवसास, स्वापराधद्वारोत्य भयमिति भयत्रासयो-
भेदमाह ।

नवम दीप्तसरसस्याभिभाव जुगुप्सा लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।

इत्य रसानां स्थायिभावान्निलक्षयित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभावान्निलक्षयिषु
प्रथम विशादान्निलक्षयति—

एतेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्वालम्बन-
तयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययो-
र्व्यङ्ग्यमानेषु विभाषशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

स एव चित्तवैकल्यरूपवृत्तिविशेष एव परमानवविषयकत्वामात्रे सधोमरण-
प्रयोजकत्वामात्रे क्षुब्धवैकल्यमग्नादकत्वे धामोद्ग्लूपविभावजत्वाद् भयानकरसस्य
व्यभिचारी न तु स्थायी भावो भवतीत्यर्थं ।

अत्र हि कायभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽवधारणीय ।

रोदसरस्या तु जगित् चित्तवैकल्यवद् भयम् इति परोक्त लक्षणन्तु चिन्तनीयम्,
चित्तवैकल्यस्यैव भयत्वात् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वमङ्ग-
प्रमत्तान् ।

महावाग—यच्च निर्घातप्रभृत्युत्पातप्रभूत (स्वल्प) मन्—सोमस्नास, स्वाप-
राधद्वारोत्य गुरुरर्नजापराधजन्य बलवच्चित्तचान्चल्य तु भगणित्युभयो कारणभेदाद्
भेदमपर आहुरित्यर्थं ।

इह उत्पातप्रभवत्नास स्वापराधोत्य भयम् इति मूलपाठ समुचित । अ-
वीन्यातिक उन्नातिजय प्रभव उत्पत्तिपर्यस्य स स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्प-
न्नान् स्वापराधद्वारोत्यमिति कथञ्चिन्नापनायम् ।

कदापि धृगोत्पादकत्वान् कुत्सितानां दस्तूता विलोकनाज्जन्म यस्य, स
विचिकित्साद्वारश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा भीमत्सरसस्याभिभाव इत्यर्थं ।

'विचिकिरता तु सन्धम इत्यमरकोशे, 'जुगुप्सा गहंणाश्वानां दोषसन्दर्शना-
दिभि । इत्यमरश्च च दशनाद् विचिकित्सास्थान मूले गहंणाया उगादानमुचित
प्रतिभानि ।

यदि व्याप्ति-दशान्जन्म विह्वला से परम अनर्प प्रसन्न की सम्भावना नहीं हो, तो वह भयानक
रस का स्थायिभाव 'भय' न कहलाकर वही रस का व्यभिचारी भाव 'सास' कहलाता है । मय और
शय में परस्पर बहा भेद है ।

कुत्र विद्वान् रदन है कि मयद्वार आधी, वक्रपाठ यदि उत्पत्ति से उत्पन्न होने वाली विह्वला
का नाम 'शय' और आने भयार्थ से उत्पन्न होने वाली विह्वला का नाम 'मय' है । वही मय
और शय में भेद है ।

अत्र 'जुगुप्सा' का उद्गुण कहते हैं—'कदर्य' इत्यादि । विनी धृति वस्तु के देखने से उत्पन्न
रस का नाम विचिकित्सा (१०) नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं ।

विभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावयन्तीतिव्युत्पत्तेः ।

अनुभावसञ्ज्ञायाम्—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन ।

अनुभावसञ्ज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनु पश्चाद्भावात् उत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः ।

नायकपदं तत्तस्यापिभावाश्रयपरम् । आलम्बनत्वमुद्दीपनत्व च प्रसिद्धौ हेतुः, कारणत्व च प्रकारः ।

एवममुना प्रकारेण, एषा रत्नादिस्थापिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आलम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु रत्नादिस्थापिभावेषु काव्यनाट्ययोः श्रव्यदृश्यकाव्ययोर्व्यञ्ज्यमानेषु सन्तु ताग्यालम्बनोद्दीपनकारणानि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते व्यवहियन्त इत्यर्थः ।

एतौ पञ्चमीनि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनेनान्वयः ।

विभावयन्ति रत्नादीन् विशेषेणाम्वादाद्दुरयोभ्यनामानयन्तीनि विभावा उच्यन्ते इत्यर्थः ।

लोके स्थापिभावानां यानि कार्यतया प्रसिद्धानि काव्यनाट्ययोर्व्यञ्ज्यमानानां स्थापिना तान्यनु (पश्चाद्) भावयन्ति (वहिः—प्रकाशयन्ति) इत्यनुभाव उच्यन्त इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—‘उद्बुद्धं कारणं स्वं स्वैर्वहिर्भावः प्रकाशयति ।

लोके यं कार्यरूपं सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥’ इति ।

‘उक्ता स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ।

तद्रूपा सात्त्विका भावास्तया चेष्टा परा अपि ॥’ इति च ।

अनुभावानां स्थापिकार्यत्वान् पश्चादुत्पत्तिः । तावत् प्राचीनपरम्पराजुरोद्यमं द्वितीयव्यञ्ज्यपन्थ्यामे जीवम् ।

अब विभाव-पदार्थ का परिचय कराने है—‘एवमाम्’ इत्यादि । मानसिक रूप-व्यञ्ज्यो में हम इन पूर्वोक्त रति आदि (स्थापि) भावों का अनुभव दिन-रात करने हैं और इनके (रति आदि भावों के कारणों का भा अनुभव कराने हैं, जो (कारण) दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बन अर्थात् रति आदि जिनके विषय में होने हैं, व-द्वि-रति का विषय ना-विषय । दूसरा उदाहरण अर्थात् इत्यस्य स्थानों में जो जोश पैदा करने हैं—पैरे रति में जोश पैदा करने पार, एकान् स्थान आदि । हम तरह कारण रूप में हम जिन आलम्बन और उदीपन को जानते हैं, वे ही जब काव्य-रथा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थापिभावों के व्यञ्जक होते हैं, तब विभाव कहलाते हैं ।

क्योंके व्युत्पत्ति के अनुसार, विभाव शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावों को विदेपत्य से जन्माद के दोष बताना होगा है ।

अनुभाव पदार्थ का परिचय कराने है—‘यानि च’ इत्यादि । उन रति आदि स्थायीभावों के जो कार्य-लोक में प्रसिद्ध हैं—जैसे रति के रत्नादि आदि । उनके काव्य तथा नाटक में अनुभाव कहने हैं ।

व्यभिचारिभावान्नस्यति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन ।

अथ रसाना विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विमज्ज्य दर्शयन्नादौ शृङ्गाररसस्य
समाहृत्य दर्शयति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रत्न
स्थानादय उद्दीपनविभावा, तन्मुखावलोकन-तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽप्ये
सात्त्विकभावाध्वानुभावा, स्मृतिविन्तादयो व्यभिचारिण ।

करुणस्यालम्बनादीनि दर्शयति—

करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि, तत्सम्बन्धिगृहहुरगाभरणदर्शनाद-
यस्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपका, गात्रचेपाश्रुपाता-योऽनुभावा, ग्लानि-क्षय-
मोह-विपाद-विन्तौत्सुक्य-दीनता-जडतादयो व्यभिचारिण ।

यानि हर्षादीनि स्यायिभावेन सहचरन्ति फेनबुदबुदन्यायेन सम्मिलन्ति, तानि
व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेष । तदुक्तम्—

‘विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिण ।

स्यायिन्युन्मग्न-निर्मग्नास्त्रयास्त्रिशच्च तद्भ्रूदा ॥’ इति ।

‘ये तूपकर्तुमायान्ति स्यायिन रममुत्तमम् ।

उपकृत्य च गच्छन्ति, ते मना व्यभिचारिण ॥’ इति च ।

तत्र तेषु रसेषु । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुंगु, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम् ।
आदिमादिपदेन मत्तयानिस-गणुपगुञ्जन-कोकिलकूजनप्रभृतय मग्राह्या । तच्छब्देन
रतिविषयीभूतव्यक्तिर्बोध्या । मध्यमादिपदेन सलनालङ्कार-कटाक्षभुजविशेषादयो
ज्ञेया । विकारा सत्वसम्भवा सात्त्विका । पारकीर्तिता ‘इत्यन्यत्र लक्षिता, ‘स्वप्न
स्वेदोऽयं रसोऽयं स्वप्नोऽयं वेपथु । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका
स्मृता ॥’ इति परिगणिताश्च सात्त्विकमाया । तेषा चेष्टास्वेऽपि गोबलीवर्दंम्यायेन
पृथगुपादानम् । ‘स्यक्तवोऽप्रथमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।’ इति व्यवच्छिन्नेभ्यो
ऽप्ये हर्षप्रभृतयोऽन्तिमादिपदावसेया ।

क्योकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न हान वाला भाव
(विकृतिविशेष) अर्थात् विभावों के द्वारा अस्तादयोय बने हुए स्थायीभावों का अनुभव कराने
वाला भाव होता है ।

जब व्यभिचारी परार्थ का परिचय कराते हैं—‘यानि’ इत्यादि । रति आदि स्थायीभावों के साथ
अन्यभिन रूप से रहने वाली विकृतिशियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—ऐसे भिन्ना आदि ।

जब वक्तु जन-विषय रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारादियों का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन करने
के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गाररस-सम्बन्धी इन भावों का वर्णन करते हैं—‘तत्र’ इत्यादि । शृङ्गार-रस
के स्त्री-पुरुष अलम्बन विभाव, बन्धु-भ्रातृणा, बन्धु-जन्तु, अनेक तरह के बाग-बगीच, स्तम्भ
स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमभाव के मुख का दर्शन, अपने गुणों का श्रवण और कीर्तन प्रभृति
तथा स्पर्श, स्नेह, रोमांच, स्पर्श, कस्य, विस्मय, अहसान, इत्यादि के आदि ‘सात्त्विक भाव
आत्मन, स्मरण और भिन्ना आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ।

शान्तस्य विभावोन् दशदनि—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञात जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-
तापसदशंताद्युद्दीपनम्, विषयार्थि-शत्रुमित्रौदासीन्यचेष्टा-हानि-नासाग्र-
दृष्ट्यादयोऽनुभावा, हर्षान्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिण ।

रीदरस्य विभावोन् दशदनि—

रीदस्यागस्कृतपुष्ट्या, रालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधाः रुद्दीपक, वधब-
न्धादिफलको नेत्रारु-य-दन्तपोडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभाव, अमर्ष-
वेगोग्र-चापलादय मञ्चारिण ।

बीराद्भुनहास्यभयानकवीमत्सरससम्बन्धिनिभावाद्यनमिधानोत्थ-भूतता परिहरति—

एव यस्याश्चित्तवृत्तेषु विषय स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीप-
कानीति बोध्यम् ।

प्रथमादिसाधेनानिष्ठाप्ते सग्रह-इष्टनासादनिष्ठाप्ते इत्याद्युक्ते । यात्राणाम-
ज्ञाना गोनवेगप्रकर्षाद् विह्वलानामितस्ततो म्यास क्षेप ।

जगत्तोऽनित्यत्वेन ज्ञानभेद तद्विषयकनिर्वेदो चापकम् । विषयेषु सात्कारिकभौम्य-
वस्तुष्वर्हचिरप्रीति । शत्रुमित्रवोरोदासीन्यसमानभाव । चेष्टाहानिनिस्पृहत्वेन प्रदृ-
त्तिराहित्यम् ।

आगम्युदपराधकर्ता पुस्य । आविपदेन तादृग् योपिदधि । तच्छब्दोऽपराधिवा-
धक । वधो वन्धादिश्च फल यस्येति बहुव्रीहि । अमर्षो वेग औम्य चापल च पृग्न
नन्दारी ।

एष शृङ्गाराद्युत्तरीत्या यस्याश्चित्तवृत्तेषु स्यायिभावस्य, यो विषयो भवति,
स तस्याश्चित्तवृत्ते स्यायिभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभाव, यानि च तस्या निमि-

भव कल-रस के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'करुणस्य' इत्यादि । करुणरस के दृग्जनों
दे विनाश-द आलम्बन विभाव, उनके अन्तर में आने वाली वस्तुओं (घर, घोड़े, आभूषण
आदि) के न आदि तथा समके सम्बन्ध में वही गई बातों का श्रवण आदि तरोपन विभाव, अज्ञों
वा इधर-उधर फेकना और अज्ञान आदि अनुभव और स्थानि, क्षय, मोड़, विषाद, विन्ता, उत्सुकता,
दौनता और अज्ञान आदि व्यभिचारीभाव होत हैं ।

अत्र शान्त-रस के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'शान्त' इत्यादि । शान्त-रस के अनित्य
रस से समझा गया मन्तार अलम्बन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का श्रवण, तपोवन तथा तपस्वियों के
संन आदि उदीपन विभाव, सात्कारिक वस्तुओं से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता
(समान भाव), निश्चेष्टा, नाभिज्ञा के अर्थ भाग पर बराबर दृष्टि को समा कर रखना आदि
अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

अत्र रीदरस के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'रीदरस्य' इत्यादि । रीदर-रस के अपराध
काने वाटा पुरष आदि आलम्बन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उदीपन विभाव, आसों
लाल करना, दान कटकाटना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि विनयक पक्ष (अपराधी
क) वध अपराधन आदि होते हैं, अनुभाव और अमर्ष, वेग, उन्माद, चञ्चलता आदि व्यभिचारी-
भाव होते हैं ।

अथ शृङ्गाररसस्य प्रकारद्वय निरूपयति—

तत्र शृङ्गारो द्विविधः, सयोगो विप्रलम्भश्च । रते सयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः ।

ज्ञानि कारणानि, तान्युद्दीपकान्युद्दीपन विभाव-यानि पुतस्तत्कार्याणि, तान्यनुभाव, यानि च तत्सोपकाराणि, तानि सञ्चारिभाव इत्यर्थः ।

तथाहि—वीररसस्य द्विपदाद्यालम्बनम्, तत्पराक्रमदर्शनाद्युद्दीपनम्, प्रहारप्रति-प्रहारादिरनुभाव, हृष्येगादिश्च व्यभिचारिभाव, बद्धमृतरमस्यालौकिकचमत्कार-शुद्धस्त्वालम्बनम्, तत्प्रासात्काराद्युद्दीपनम्, नेत्रविस्फारस्तन्मरोमाञ्चादिरनुभाव, वितर्कादिश्च व्यभिचारिभाव । हास्यरसस्य विहृतवागादिमन्युस्पादिरालम्बनम्, उद्विग्नतिरुद्दीपनम्, रदनप्रकाशादिरनुभाव, श्मोद्वेगादिश्च व्यभिचारिभाव । मयानकरसस्य मयावहवस्त्वालम्बनम्, तद्विकटव्यापाराद्युद्दीपनम्, मुखशोषपलाय-नादिरनुभाव, जाड्यकम्पादिश्च व्यभिचारिभाव । वीमत्सरसस्य च जुगुप्सितवस्त्वा-लम्बनम्, तद्गन्धाद्युद्दीपनम्, निष्ठीवनादिरनुभाव, ग्लान्यादिश्च व्यभिचारिभाव इत्यन्यत्र स्फुटम् ।

सयोग सम्भोग संयुक्ता संयुक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः, वियोगो विप्रलम्भो वियुक्ता वियुक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषश्च यस्मिन् काले भवति, तत्कालवर्तिनी वा रति सा कातस्यावच्छेदकतया सयोग-कालावच्छिन्ना संयुक्तव्यवहारकज्ञानसमकालिकी, तत्सत्त्वे प्रथम प्रकार शृङ्गारस्य सयोगो भवति । रतेवियोगकालावच्छिन्नत्वे वियुक्तव्यवहारकज्ञानसमकालिकत्वे तु द्वितीय प्रकार शृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः ।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिसके विषय में होती है, वह (विषय) उस (रति आदि) चित्तवृत्ति (रसभाव) का अलम्बन और जिस चित्तवृत्ति (भावभाव) के जो निमित्त (कारण) है, वे उसके उद्दीपन होते हैं—वह समझना चाहिए । इसी प्रकार जिस चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) उस (चित्तवृत्ति) के अनुभाव और जिस चित्तवृत्ति का शोष जो चित्तवृत्ति का रती है, वे वृत्तियाँ उस वृत्ति के व्यभिचारीभाव होती हैं, वह भी ज्ञान करना चाहिए । जैसे—वीर रस के शत्रु अलम्बन, शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, लोगों और गे होने वाले प्रहार आदि अनुभाव और हर्ष, वेग आदि व्यभिचारी हैं । अर्जुन रस के आश्चर्यजनक वस्तु अलम्बन, उन वस्तु के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विवर्ण, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और चिन्तन आदि व्यभिचारी भाव हैं । हास्य-रस के विहृत-वाणी-अह-वेग आदि से युक्त व्यक्ति अलम्बन, उसके ब बहादि-विकार उद्दीपन, दाँत निरोधना आदि अनुभाव और अम, उद्वेग आदि व्यभिचारी हैं । मयानक-रस के व्याप आदि भावार्थ वस्तु अलम्बन, उन भावार्थ वस्तु को भयदूर क्रियाएँ उद्दीपन, मुख का सूखना, मागना आदि अनुभाव और जाड्य, कम्प आदि व्यभिचारी हैं । वीमत्सर-रस के शृणासद वस्तु अलम्बन, उनके गन्ध आदि उद्दीपन, धूना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं ।

जब रतों के अन्तर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में वह शृङ्गार-रस व अन्तर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन करते हैं—'तत्र' इत्यादि । शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—'तत्काल' ।

सयोगस्यैकाधिकरणवृत्तिस्वरूपता, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तिस्वरूपता निराकृत्य प्रागुक्तसंयुक्तत्व-वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपता व्यवस्थापयति—

सयोगो न दम्परो सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपीर्ष्यादिमद्भावे विप्रलम्भस्यैव वणनात् । एव वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद् द्वाविभौ सयोगवियोगात्प्रावन्त—करणवृत्तिविशेषौ, यत् मय्युक्तो वियुक्तश्चास्मीति धी ।

सम्मोगशृङ्गारमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

तत्र सयोग विप्रलम्भयो —

‘शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा’ इत्यत्र निरूपित ।

अप्यप्यदीक्षितदर्शित सम्मोगशृङ्गारध्वनेश्दाहरण रूपयति—

यत्तु चित्रमीमासायाम्—‘वागर्थाविव सम्पृक्तौ’ इत्यत्र रसध्वनि, निरतिशयप्रेमश लिताव्यञ्जनात्’ इति तदध्वनिमागानाकल्पननिबन्धनम्, पावंतीपरमेश्वरविषयक-कविरत्नौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात् ।

यदि जायापत्यौ सामानाधिकरण्य सयोगो वैयधिकरण्य च वियोग स्यात् तदा तयोरेकस्या शय्याया शयितयोरपि हृदयोर्ष्याया जापत्या सर्वाभिमतस्य विप्रलम्भ-स्याभाव सर्वाभिमतस्य सयोगस्य च सद्भाव प्रसज्येत । तयोरन्त-करणवृत्ति-विशेषरूपन्याङ्गोकारे तु ज्ञानविशेषरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वात् काऽपि हाति रित्याशय ।

निरूपित उत्तमोत्तमकाव्योदाहरणप्रमञ्जेन पूर्वमिति शेष ।

मुग्धार्थत्वे प्रधानशब्दो नित्यनपुसकलिङ्ग इति न स्त्रीलिङ्गनिर्देश । वागर्थ प्रतिपत्तये । जगत पितरौ बन्दे पावंतीपरमेश्वरी ॥’ इति पद्यस्यावतिष्टास । वागर्थी

और दूसरा विप्रलम्भ । रति जब-खी पुस्को के संयोग काल में उपमुक्त होती रहती है, तब ‘नवग शृङ्गार’ और जब रति खी पुस्को के वियोगकाल में उपमुक्त नहीं होती रहती है, तब ‘वि लम्भ शृङ्गार’ कदरना है ।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ ‘खी-पुस्को का एक स्थान पर रहना’ नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि रहता है, तब विप्रलम्भ शृङ्गार का ही कर्न प्राचीन काल में आज तक कवि लोग करते आये हैं । इसी प्रकार वियोग पद का अर्थ भी यहाँ ‘अलग-अलग रहना’ नहीं है, क्योंकि दोष उक्त है, अर्थात् ऐसा मानने पर पुन खी-पुस्को के एक शय्या पर रहने दो हालत में ‘वि-लम्भ-शृङ्गार’ का कर्न असंगत हो जायगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि ‘संयोग और वियोग’ ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ हैं, जिनके चलन ‘मिठा हुआ हूँ’ और ‘बिपुला हुआ हूँ’ ये ज्ञान होने हैं अर्थात् ‘मिठा हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव हा संयोग है और ‘बिपुला हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव ही वियोग है ।

संयोग और विप्रलम्भ के मध्य में संयोग जैसे—

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से ‘शयिता सविधे’ इत्यादि श्लोक में निम्नलिखित हा उक्त है ।

उक्तमेवाथं समथयति—

नहि गुणीभूतस्य रसपादे रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्व युक्तम्, 'भिन्नो रसाध-
रङ्कारादलङ्कार्यतया स्थित' इति सिद्धान्तात् ।

वाणी तदभिधेयाविव सम्पृक्ताबन्धोन्मत्तत्वात्साम्प्रिमिनी न तु कदाचिदपि बिभ्रित्यौ, जगत स्यावरजङ्गमात्मकविश्वस्य पितरौ प्रपूजयितारौ पार्वतीपरमेश्वरी गिरिजागिरीशो वागधया शब्दाभिधययो प्रतिपत्तये ज्ञानाय, वन्दे नौभौति तदयं ।

अत्र ननिष्कर्मभूतयोर्गौरीगिरीशोर्वागधयदभिरत्ययाश्लेषात् तत्कारणीभूतरणे प्राधान्येन व्यज्यमानत्वात् सम्भोगश्रृंगारध्वनेरिबमुदाहरणमिति चिन्तयामासाकतुर-
निधान ध्वनिसिद्धात्तविरद्वम इह श्लोके कवि (कालिदास) निष्ठाया गौरीगिरीश-
विषयाया अपुष्टरसाङ्गावस्थाया रतेरेव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतया पार्वतीपरमेश्वर-
श्रृंगारस्य च ततोपक वेनाङ्गतया रसध्वनेरसम्भवादित्याकृतम् ।

रमभावं तदाभास भावसान्स्यादिरक्रम इति काव्यप्रकाशे कारिकाया पूर्वात् ।

इदमिहाकलनीयम्—ध्वनिमजानाना उद्भूतमतानुयायिन कतिपये रसादीना
प्राधाय रसवदाद्यलङ्कारान गीणत्वे तूदात्तालङ्कारद्वितीयप्रकारमुरीकुवन्ति । ध्वनि
कारास्तु—प्राधान्यत्र वागधायै यत्राङ्गन्तु रसादय । बाव्ये तस्मिन्प्रतद्वारो
रसादिरिति म मति ॥ इत्यादिसम्भवेण रसादीना प्राधान्येजलङ्कारपत्वेनालङ्कारत्वा-
भावाच्चमस्कारोत्वर्पाच्च रसादिध्वनीना गीणत्वे तु रसवदाद्यलङ्काराश्च निष्पद्यन्ति ।
तदवानिप्रत्य भट्टमम्मटोऽपीमा कारिकायुपन्यस्यति—अत्रमोऽतलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽ-
लङ्कारपत्वेऽङ्गितया ियने रसादि रसाद्यलङ्काराद् रसवदाद्यलङ्काराद्, भिन्नोऽ-
ङ्गत्वाभावादतिरिक्तोऽनीति तदय । एव सति वागधायिव' इत्यादौ श्रृंगारस्य
व्यङ्ग्यपत्वेऽपि कविनिष्पत्तिभावाङ्गतयाऽलङ्कारपत्त्विरहात् ध्वनिव्यपहारकारण-
त्वमिति ।

अत्र अस्मिन् दार्ढ्य द्वारा दिवे गये सम्भोग श्रृंगारोदाहरण का वर्णन करत है—'यत्तु'
इत्यादि । चिन्तामामा' ने जो यह लिखा है कि 'वागधायिव मयुषी वागधै प्रतिपत्तये । जगत'
पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरी ॥' (अथ य शब्द और अर्थ की तरह वाग्धर मयुष, परमेश्वर के जतनी
'नक यत्रा जीर पासेदार (शिख) को शब्द और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रणाम करता है) इस
श्लोक में श्रृंगार-रस का ध्वनि है, क्योंकि यहाँ जो 'वागधायिव मयुषी' अर्थात् शब्द और अर्थ की
तुल्य सत्ता मयुष शब्द अन्वय नहीं रहने बावु इस उदाह में सदा सट रहने का कारण शिख-पार्वती
का निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है । यह ध्वनिमार्ग अज्ञान-मूलक है । क्योंकि इस श्लोक में
पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति—जो भव्य बाल्या है—उपलब्ध है और शिख-पार्वती
का परमेश्वर प्रेम अत्यन्त ही रम (कविनिष्ठ रति) का अनेक गीण हो गया है ।

गौरी रति अर्थात् 'यहा रस ध्वनि है' इस अर्थशास्त्र का अनु नहीं हो सकता क्योंकि गौरी रति
भादे की लवर रस ध्वनि नहीं हो सकती, कारण है यह सिद्धान्त है—'भिन्नो रसाधरङ्कारादलङ्कार्य-
तया स्थित' । अर्थात् चिन्तकी अलङ्कार अर्थात् से रतेभिल किया जाता है, वह (रस अर्थात्) रस
नहीं अर्थात् कि जो भिन्न करने बावु अलङ्कार रूप रस अर्थात् से भिन्न है । अभिप्राय यह है कि अज्ञ-
पान रस भाव अलङ्कार कहलाने है, ध्वनि नहीं, अथ उक्त शब्द (वागधायिव) में श्रृंगार रस

विप्रलम्भाख्य द्वितीय शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—
द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीय प्रकार ।

‘वाचो माङ्गलिकी प्रयाणसमये जल्पत्यनलज जने
केलीमन्दिरमास्तायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निश्चामग्लपिताधरोपरिपतद्वाप्याद्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव । शिव ॥ प्राणेशमानोक्ते ॥’

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निश्चामाश्रपातदेरनुभाटस्य, विपाद-
दिन्ताऽऽवेगादेश्च व्यभिचरिण सयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, त्रियोगकाला-
वच्छिन्नत्वाद् विप्रलम्भरसपदप्रदेशहेतु ।

प्रयाणसमये प्राणस्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्ग-
लिका वल्याणप्रयोजना निवासे सन्तु पन्थाने’ इत्यादिका, वाचो वाणी,
अनल्पमजल जल्पति व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य नौतुनागारस्य, मास्तायनमुखे
नवाक्षाप्रमाणे, विन्यस्त तद्दिदक्षीन्मुखेन सलग्नीकृत वक्त्राम्बुज मुखकमल यया,
तादृशी, निश्चामं सद्याभवद्विप्रयोगजातनावशात्निस्सरद्विनासांनिर्ले, भ्रूणितस्य
शोभाभ्लापितस्याधरस्य, उपसृष्ट्वंभाने, पतद्भिन्निरन्तर स्तलद्वि, व परेश्रुभि-
नाद्री विलस्री वक्षोरहौ कुचो यस्या सा लोलविलोचना प्रतीकारानवधारणात्
वरलभयना, बाला मुग्धा, शिवशिव । आ कष्ट, प्राणेश प्राणनायम्, आलोक्ते
प्रतिषेधाक्षमतया केवल पश्यति, न त्वपन्नपया प्रयाणनियेषन्नवचन विश्विदुच्चार-
यनीत्यर्थ ।

अत्रापि ‘वाचो माङ्गलिकी’ इत्यादिपद्योऽपि । आलम्बनस्य नायिकानलहरनेरिति
शेष । सयोगो विभाव्यदिनावकनावादिसम्बन्ध । रतिरह त्रियोगवातावच्छिन्नत्व
विप्रलम्भशृङ्गाररसप्रदेशनिदानम् ।

इदं श्लोकं भीमलक्ष्मी ही कहलयाया, त्रिमेने शिव-नाव विविषय क्क क्क निउ भव अल्ल हृत हीता
है, पठान यह पद्य भाव-ध्वनि वा उदाहरण ही मक्ता है, रस ध्वनि का नडा ।

अत्र ‘विप्रलम्भ-शृङ्गार’ का उदाहरण देने हैं—‘द्वितीयो यथा’ इत्यादि । ‘वाचो माङ्गलिकी’
इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है । नायिका को सजी भयने मन में
मोचनी है, अथवा एक सदी दूरी सवाी से कहती है—पतिदेव परदेश के लिए यात्रा कर रहे हैं,
सुभक्तिक लोग गेर-गेर से माङ्गलिक वचनों को बोल रहे हैं, परन्तु वह काळ (मुग्धा) रति-
मन्दिर के बानायनों में मुत्र-कमल को टालकर बैठी है, उसके काम प्रबल वेग से चल रहे हैं,
जिसे उसने अथर शुक्ल होकर म्भन हो चुके हैं और उन अर्थों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित
होने वाली अश्रु-धारा से उसके लोच भीग गये हैं, शिव । शिव ॥ इस दुर्दशा में पड़ी हुई वह
(बाला) चञ्चल नेत्रों से अपने प्राणेश को देख रही है । उस बेचारी को यात्रा काळ में अश्रुपात से
शोभावाले अश्रुपुन का बोध नहीं है, लोच-लज्जा की शक्ता भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है ।

इस श्लोक में नायक-रूप आलम्बन, निश्चाम, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विषाद, विजा,

स्यूणामिष्वननन्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनो,
कान्ति. काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा ।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे,
शून्या वृत्तिः कुलमृगदशा चेतमि प्रादुरासीत् ॥’

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘नयनाञ्जलावमर्शं, या न कदाचित् पुरा मेहे ।
आलिङ्गिताऽपि जोष, तस्यो सागन्तुकेन दयितेन ॥’

यदवधि यस्मात् कालादारम्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-
श्लोकलोचनासेचनकतया मधुसाविणी, निखिलनयनाना सकलजीवलोचनानाम्,
आकर्षणे वशीकरणे कार्मणज्ञा कार्मण तद्वशीकरणमाधकभन्नादि जानातीति तथाभूता,
अक्षुप्तैव वशीकारिणी काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहदुःखि, आविभूता प्रकटीभूताभूत,
उदवधि तस्मात्कालादारम्य, कुलमृगदशा कुलीनहरिणाश्लोषा, रमणाक्षमत्वात् भुषे
दीर्घं, श्वासं, गण्डयुग्मे कपोलयुग्मे, पाण्डिमा पीतभाव, चेतमि वित्ते, विपादो-
त्कर्षणे शून्या निरालम्बता, वृत्तिर्व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्राकटीदित्यर्थं ।

इह कार्यकारणयो पीर्यापर्यविषयंयादतिशयोक्तिरलङ्कार । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य,
श्लासादेरनुभावस्य, तद्वपुःश्लेषविपादप्रभृतेषु व्यभिचारिण सयोगाद् व्यज्यमाना,
कुलीनमृगाश्लोषिणा वियोगकालावच्छिन्ना रतिविप्रलम्बशृङ्गारत्व मञ्जति ।

या नवोद्धा, पुरा प्रस्थानदिवसात् पूर्वम्, नयनाञ्जलस्य लोचनाप्रभागस्य
कटाक्षस्य, अवमर्शं मस्पर्शं (विमुक्त समग्रनयननिरीक्षणम्) ह्रिया मिया वा, न सेहे
नामृष्यन्, मा सैव, न त्वन्या, गन्तुवेन जिगमिषुणा निर्णीतविदेश-गमनेनेति यावत्,
प्रियेण चल्बनेन, आलिङ्गिता गाडमुपगूढाऽपि जोष तूष्णीं तस्यो, न तु चपाल, न वा
निवारयाञ्चकारेत्यर्थं ।

स्वप्ने आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है, जो वियोग-काल
में रहने के कारण ‘विप्रलम्ब रस’ शब्द से व्यरहण होती है ।

विप्रलम्ब रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—‘यथा सा’ इत्यादि । ‘आविर्भूता’ इत्यादि पद्य ओ
विप्रलम्ब शृङ्गार रस का उदाहरण है । गोकुलकहिनी कोई नायिका भरणे मन में सोच रही है—
अब से मधु-भृष्टे करने वाली और जीरमात्र के नेत्री की आश्रय करने का जादू जानने वाली नन्द-
तनय कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-रति संभार में एक दुई, समी से कुलाङ्गनाओं के भ्रम में दीर्घ
श्वास, कपोल-युगल में श्वेकता तथा पित्त में शल्लक्षित (शान-राहित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ
कृष्णचन्द्रस्य अर्द्धन, श्वास आदि अनुभाव, व्यर्थव विरह आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से
कुलमृगनिरीक्षण, विषोपकण्टिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्ब शृङ्गार का यह
उदाहरण शुभ ।

पुनः विप्रलम्ब का ही एक और उदाहरण देते हैं—‘नयनाञ्जला’ इत्यादि । प्रत्यक्षरतिरुक्त

अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भध्वनित्व प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणी ।

मन्टाद्यभिमत विप्रलम्भस्य भेदप्रपञ्चक निरस्यति—

इमं च पञ्चविधं प्राञ्च प्रवासादिभिरुपाविभिरामनन्ति । ते च प्रवासा-
भिलाप-विरहेर्ष्यां शापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिता ।

नयनाञ्चलावमर्शमित्यस्य नयनपद्मस्पर्शमिति विवरणत्वर्थासङ्गतेश्चिन्त्यम् ।

इह नयनेत्यादिपद्ये । अपि 'आविर्भूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपाद्यान् विप्रलम्भव्यञ्ज-
कान् समुन्विनोति । सहजस्य स्वाभाविकस्य चाञ्चल्यस्य निवृत्ति स्तिमितीभावोऽ-
नुभाव, तत्कारणतया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभाव, प्रिय आलम्बनविभा-
वश्च सम्भूय, नवोढ्याया प्रवत्स्यत्यतिकाया वियोगकालावच्छिन्ना रति विप्रलम्भपदवी
नयति ।

इमं विप्रलम्भम् । चस्त्वथंक ।

प्राञ्च काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भशृङ्गाररस, प्रवासेनानुरक्तयोरपि
गुरुकार्यवशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वरागरूपेण कदाचिदप्यसमागत-
योरपि नायकयोगुणश्रवणादिनैकतरानुरागेण परस्परप्रेम्सया वा, विरहेण समाना-
धिकरणयोरपि गुरुजनसज्जापारवश्यादिप्रतिबन्धेन, ईर्ष्यायां मानजनन्या, शापेन
वियोगजनक = तपस्विवाग्विशेषेण चोपाधिभिर्निमित्तैरुपलक्षित, पञ्चविधं प्रवासा-
दिनिमित्तकप्रकारपञ्चकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति ।

अस्माभिन्नु प्रवासाद्युपाधीनां विशेषस्य मिथोर्द्वैतक्षय्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीति-
गोचरत्वामावात् ते भेदा प्रवासनिमित्तकादिप्रकारा, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण
वर्णिता, किन्त्वेकप्रकार एवायं मामान्येनासत्प्रत्यक्षमव्यङ्ग्यवद् गणित इत्यर्थः ।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढिवाद एव, प्रवासिषु वियुक्तत्वप्रकारकबुद्धेरेकरूप-
त्वेऽपि तद्वुद्धिकारणानां भेदस्य स्फुट प्रतीयमानत्वान्, कार्येऽपि भेदस्यावश्यममु-
पेतत्वाद्, 'अपमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् द्विधर्माध्यास कारणभेदश्च' इत्याद्यभि-
युक्तोक्ते । अन्यथाऽन्यत्रापि भेदाधिगमो दुर्घटं स्यात् । 'यूनोरेवतरस्मिन्' इत्यादिना
संक्षिप्तं करणविप्रलम्भाह्वनमपि प्रकार प्रागुक्तरीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भि-
परीक्षणीयम् ।

नायिका कं वां किमी से कोई कह रहा है—ओ नायिका, (नवोरा) पहले कभी पति-नयन-कीण
(कटाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनखी से भी पति को अपनी ओर देखने
देखने भाग रानी छोड़ी थी, वही परदेश जाने के लिये वगत शिव है अ लिक्षित होकर भी नुप ही
रही—अग्ने की बाल क्या, मुख से भी निवारण नहीं को ।

इमं श्लोक में स्वाभाविक चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और उज्ज्वला व्यभिचारी भाव है । अर्थात्
उक्त अनुभाव, व्यभिचारीभाव और शिदरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहाँ भी विप्रलम्भ शृङ्गार
व्यक्त होता है ।

प्राञ्चन आचार्यों ने इमं विप्रलम्भ रस को प्रवाम आदि उपाधियों से पांच प्रकार का माना है
परन्तु प्रवाम, अभिलाप, विरह, ईर्ष्या और शापरूप पांच उपाधियों के कारण जो वियोग होता है उनमें

करणरम निरूपयति—

करुणो यथा—

सद्योमृत पुत्रमृद्धिम् पिता ब्रवीति—

‘अपहाय सकलबान्धव-विन्तामुद्गास्य गुस्कुलप्रणयम् ।

हा तनय ! विनयशालिन् ! कर्षामिव परलोकपथिकोऽमूः ॥’

तत्र विनावादीन् दर्शयति—

अत्र प्रमीततनय आलम्बनम्, तत्कालावच्छिन्नबान्धवदशंनाद्युद्दीपनम्,
रोदनमनुभा, दर्शनादयः सञ्चारिणः ।

शान्तरम निरूपयति—

शान्तो यथा—

कश्चिन् स्थितत्रज परामृशति—

मलगानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयो ।

श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा. मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥’

हा विनयशालिन् मुक्तिनेत्र ! तनय पुत्र ! सकलबान्धवानां भ्रात्रादिनर्तनीय-
नाना मा विना कथमेते प्रणयान् धारयिष्यामीति विन्ताम्, अपहाय स्वस्वाङ्ग-
नेत्रिणा यावत् । तथा गुस्कुलम्योपाध्यायगृहस्य पिशाचिपुत्रजनस्य वा प्रणय प्रेमाणम्
नक्तिम् । उद्गास्य सगुणेश्यागणयित्वेत्यनर्थांतरम्, कर्षामिव केन प्रकारेण, स्व
परलोकात्म्य पथिकोऽन्वन्वोऽभूरित्यर्थः ।

कधुवर्गविन्ता गुणजनप्रणय बोधेभ्य तवात्तमये परलोकप्रस्थान सर्वयाज्ञीजित्वेन
नितरा शोचनीयमित्यमित्यस्य ।

अथापहायैत्यादिपद्ये । प्रमीतो मृतध्यामी तनय इति कर्मधारयः । तत्कालो मर-
णस्य कालः । कालस्यावच्छेदकत्वमधिकरणत्वेन । ‘सकलरम्य हि दुःखमप्रतो विद्वन्-
कारमिवोपजायते’ इत्याद्युक्तेर्वाश्वपन्नदर्शनस्य शोचोद्दीपकत्वम् ।

इहालम्बनविभावान्दिमामघोममवधानाच्छोकस्याधिक — करणरमस्याभिव्यक्तिर्मे-
वति । अस्य करणविवरणम्माद् भेदस्तु स्याद्विभेदेनाव्यत्र दर्शितः ।

किमी वैतथ्यः कीं उरुभि न होने मे हसने विन्तारपुत्रक जनना वने नही किया । वहा अब
परमादि का स्वल्प भी गमना सेना चाहिये अनुरक्त नायक-नायिका में से किमी एक के बर्दाश्त
परदेश में रहने पर इकाम, मनागम से पहले ही गुणपत्ता आदि से अभिप्राय, गुस्कुलो की ह-
जदि के धरन समागम से ब्रिज रहने पर रिह, मान से ईर्ष्या और विनी तन्वी आदि के अराधो
होने पर उनके भाग्यविशेष का प कहलाने है ।

अब ‘करुणो रम का उदाहरण देते हैं—‘करुणो यथा’ इति । ‘करुणो रम जेने—

सुख में हृद पुत्र की उदरधर कर दिया कहना है—‘अपहाय’ इत्यादि । अर्थात् हाय ! अति-
विनीत पुत्र ! तू सब बन्धुओं को चिन्ता को त्यागकर और गुस्कुल के प्रेम को भी विहाकर जैसे
परलोक का पथिक हो गया ?

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, हम समय में यहाँ पर शरीरधर भाषणों का दर्शन आदि उद्योग है,
रोना अनुभाव है और शोचना आदि अभिप्रायी भाव है ।

उदाहरणे विभावादीन् निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्च सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभाव, मत्यादयः मञ्चारिणः ।

उक्तोदाहरणे भग्नप्रक्रमत्वमाशङ्क्य निराकरोति—

यद्यपि प्रथमाधे उत्तमाधमयोरुपक्रममाद्, द्वितीयाधेऽधमोत्तमवचन प्रक्रमं भङ्गमावहति, तथापि वक्तुब्रह्मात्मवत्तयोत्तमाधमज्ञानवैकल्य सम्पन्नमिति द्योतनाय क्रमभङ्गो गुण एव ।

मलयानिलो दक्षिणपवन मुखजनकतयाऽनुकूल कालकूटो गरल मृत्युजनकतया प्रतिकूलस्तयो, तथा रमण्या ललनाया, कुन्तशिवकुरोनुकूल मोक्षिनी मुजगम्य भोग फणादिकाय प्रतिकूलस्तयो एव श्वपचश्चण्डानो नीचतया प्रतिकूल आत्मभू ब्रह्माऽऽत्मज्ञानीवाऽऽपुच्छुष्टतयाऽनुकूलस्तयो निरन्तरा निर्बलक्षणा (तुल्या) म्बि निर्धारणः प्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा मम समदृश परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पत्ताऽभूदित्ययं ।

सर्वोऽपि प्रपञ्चस्वराचररूप क्षणमङ्गुरतया निश्रारित आनन्दनविभावस्तमात्र म्ब्यैव निर्वेदोद्गमात् सवचनमेत्वप्रमेयु च अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु वा साम्य समदृशिरनुभावो निर्वेदम्य कायत्वात् मत्यादिपदोपस्थाप्या घृतिप्रभृतय सञ्चारिमावागव निर्वेदेन स्थायिना सम्भूय शान्तरसात्वाद् जनयन्ति ।

आवहति जनयति । तथा चाक्रमत्वदोगद् दुष्ट काव्यमिति विवृतिस्तु चिन्तनीयैव, अक्रमत्वम्य वाचकानिरिलक्रमव्यत्यासत्पल एताद्भाषारान् ।

प्रथमाध आदिचरणद्वये उत्तमस्य मनयानिलस्य रमणाकुन्तस्य च पूवन अधमस्य कालकूटस्य मागिभोगस्य च पञ्चातिदेशो य उपक्रमन् उत्तरार्धेऽधमस्य पूर्वम्, उत्तमस्यात्मनुबध्न पञ्चान्निदेशेन व्यत्यास कृत इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षा विषयीकृतप्रकारेण पश्चादनुक्ते प्रक्रमभङ्गान् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावनीयम् यतो ब्रह्मभूयमासादितवत् सर्वत्र समदृशो वक्तुरत्तमाधमत्वादिनकारकज्ञानशून्यत्वाद् वक्षसि प्रक्रमभङ्गो वक्तु स्थितप्रज्ञत्वानिश्चयमेव प्रकारायन् गुणत्वमेव प्रयाति, न तु दोषत्वमित्यमिसन्धिः ।

अत्र 'शान्तरत' का उदाहरण देत है—'शान्तो यथा' इत्यादि । किसी अत्म-ज्ञानी को उक्ति है—मलद्वयन के धन और विश्व में कामिनियों के बेश-रूप और मर्ग का क्या में धन काणा तथा ब्रह्मा में तुल्य अर्थात् भेद-भाव-रहित मैरी सि नि परमत्ता में हो गई है ।

यहाँ मभूय' ममार आम्बन है, मव पदाओं में समन्ता को बुद्धे अनुभव है और म्बि आदि महातीभव है ।

यन्पि उक्त पद के पृथार्थ में यह कम है कि पदल म्ब्य-धन आदि उल्लन वस्तुओं का निर्देश, वद में शिव म्बे अधम म्बुधो न, परन्तु उत्तरार्थ में उन क्रम को छोड़कर पदल अधम म्ब्याल का, वद में उत्तम ब्रह्म का निर्देश किया गया है । अत्र कम-भद्र दोष यहाँ होता है यन्पि 'यन्म ब्रह्म-रत हो जाने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान में शून्य हो गया है' इन शब्द को प्रकटित करने में 'कम-भद्र' उ। हा इ ।

विशय्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कश्चिद्भगवद्भक्तस्तदीयसाक्षात्कारमाप्तसति—

सुरस्रोतस्विन्या पुत्रिन्मघितिष्ठन् नयनयो-

विद्यायान्तर्मुद्रामय सपदि विद्राव्य विषयान् ।

विपूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुराया चिति कदा,

निमग्न स्या कस्या च न नवनभस्याम्बुदरिषि ॥'

इह निवेदस्य व्यङ्ग्यपत्रेऽपि, यथा न शान्तरसध्वनिव्यपदेशस्तथा प्रतिपादयति—
अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बन सुरस्रोतस्विनीतटाद्बद्धोपितो नयन-
निर्मोलादिभिरनुभावित स्यासीति निवेदः प्रतीयते, तथापि भगवद्दामुदेवालम्ब-
नाया कविरसो गुणीभूत इति न शान्तरसध्वन्यपदेशहेतुः ।

इह कदा कस्मिन् काले सुरस्रोतस्विन्या दवनद्या गङ्गाया पुलिन तीरम्,
अधिनिष्ठन् पुत्रिन वनगतं नयनयोर्दृष्टो अन्तर्मुद्रामभ्यन्तर्निगीतनं स्तब्धव्यानम्,
विद्याय कृत्वा अथ तदनु सपदि रीघ्रं विषयानिन्द्रियसाहचर्यापदाद्यान विद्राव्य
दर्यायित्वा विपुन ज्ञानादयाद् विध्वस्तमन्तर्ध्वान्तं मानसाज्ञानं यस्मिन् नादं सन्,
कस्याचनानिबचनीयाया मधुरमधुरायामतिमग्नारमाया, नयनसन्ध्याम्बुदरिषि नवीन-
मद्रपदीयजलदकान्ती, चिति चैतन्यात्मनि श्रीहृत्पत्रेऽपि निमग्नानि नितरा लीन,
स्यः नवयमित्यर्थः ।

पद्यस्मिन्प्रत्ययव्यवस्थं द्विरपादानं सौन्दर्यं किञ्चिदाकुञ्चयतीति चिन्त्यम् ।

अनापीत्यपि पूर्वपद्यसमुच्चायकः । तथा च पूर्ववचनैव इवात्र एतावत् निवेदस्य
ज्ञानस्थायिनः, विषयसमुदयालम्बन-सुरधुनीतीराद्युद्दीपन-नत्रनिर्मोलाद्यनुभाव-
सम्बन्धाच्छान्तरसाध्वनिव्यवहारो न भवति, निवेदस्य व्यङ्ग्यपत्रेऽपि सर्वप्राधान्येन
व्यञ्जमानाया कविनिष्ठाया श्रीहृत्पत्रविषयविरती सामग्रीसङ्कटनानादादनुष्ठिताया भावे,
गुणीभावाद् भावध्वने रसवदनद्वारस्य वा व्यपदेशत्वोचित्यादित्याकृतम् ।

अथ विशदयामो ये विद्वान्-इत्ये ये शिष्ये 'शान्त-रस' के प्रत्युदाहरणं न दिशयति है—'इदं
पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि । कर्तुं भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार वा बोधना काला ई—शून्या (गंगा)
के तीर में बँध हुआ मैं अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख बनाकर शीघ्र मेन्तन सामरिक शिष्यों को हूँ
हटका, अथ एवं अन्तर्भाव के अन्वहार (अज्ञान) से हीन हटकर अज्ञानमय के जगत जगत् के
तुम का नेत्र वाप रित्वा (अज्ञानवशात्) अतिमग्न चैतन्य (कृपावशः) में कल निमग्न होऊँगा ?

एषो हे इम इत्यत्र मैं भा शिष्यों के अन्तररस अलम्बन से अङ्गीत, गंगा के तीर आदि
उदीपन से उदीपित दृष्टि के अन्तर्मुखकरण आदि अनुभावों में प्रत्येक शब्द वनया गुण व्ययान्तर
निवेद प्रतीयमान है, एषो हे कृपावश-विपन्न कवि-निष्ठ शिष्य का अज्ञान रस गीत हो गया है, अथ
एतदेवमने पर भी वहाँ 'शान्त-रस' का चित्त नहीं हो सकता क्योंकि 'पुनः शान्त-रस' का अलम्बन
में वही-रस हीन है वह वहाँ शिष्य का अलम्बन है । अर्थात् वह हीन है वहाँ का 'निवेद' कवि
रसवद्द्वार ही काला सवर्ण है । एव वान् अत्र—वहाँ का 'विषयगणालम्बन' वह मूलतः अन्तर्
'न', क्योंकि 'विषय-मग्न' शान्त रस का अलम्बन है' पर भी एत एत में प्रमाण होता है, ये सग्न

भावध्वनित्वमेवोक्तपद्यस्य समर्थयति—

इदं च पद्यं मन्त्रिमिताया भगवद्भक्तिप्रधानाया 'करुणालहरी' नुपनिबद्ध-
मिति तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवाहति ।

पुनरन्वया शान्तरसाप्राधान्यामिह दर्शयति—

शान्तरसानुगुणश्रायमोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहायमेवंतत् ।

नन्वेव मलयेत्यादिपद्येषु च वक्तृनिष्ठ-परमात्मविषयकते प्रतीतेस्तस्य कथं
शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपात्यति—

पूर्वपद्ये तु 'परमात्मनि स्थिति' इत्यनेन तत्ताद्रूप्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः ।

भक्तिर्नगवद्विषया रति । तस्या करुणालहरी प्रधान यो भाव (रति) तस्य
प्राधान्यमेव, न तु गुणीभूतनिर्देशस्य ।

करुणालहरीप्रबन्धे रतिभावप्राधान्यात् तद्वदकेऽस्मिन् पद्येऽपि यतो भावप्राधान्य-
मेव युक्तम्, अतश्शान्तरसध्वनिर्नेह सम्भवतीत्याशयः ।

ओजस्वितया शान्तरसानुगुणत्वम् । अयं सुरस्रोतस्वीत्यादिश्लोकः । ओजस्वी
वक्ष्यमाणपरिपाटघीजोगुणव्यञ्जकः । गुम्फो रचितश्लोकसन्दर्भः । इतिहृत्वी । चकार
ममुच्चये ।

अस्य श्लोकस्य समासरेफ-संयोग-टवर्गादिषट्ठित्वाच्छान्तरसप्रतिकूलौजोगुण-
ध्वजत्वतादपि न शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमुचितमिति भावः ।

तस्य परब्रह्मणस्ताद्रूप्यस्य तदवात्म्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिर-
प्रतीतिः ।

तादात्म्ये पूज्यपूजकभावावतायाभावाद् रतेरसम्भवात् प्रतीतिरिति न तत्प्रा-
धान्यस्य सम्भव इति तुगाव्यञ्जयमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिगोहितमित्य-
मिप्रायः ।

नहीं जंचता, क्योंकि ? शान्तरस में विषयों से विमुक्तता अपेक्षित मानी गयी है, फिर विषय उस रस
का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरणीयत्वेन ज्ञान' यह विशेषण 'विषय' में जोड़ना पड़ेगा, तब
कहीं मूलपाठ सफल हो सकेगा, हमने अच्छा है कि 'विषयावगणनालम्बन' ऐसा मूलपाठ माना जाय,
जिससे हम का अक्षर ही न आ सके ।

यह पद्य पण्डितराज-रचित 'करुणालहरी' का है और उस ग्रन्थ में भगवान् की भक्ति-भाव
(भावत्वेन) ही प्रधान है, अब इस पद्य में भी भाव की ही प्रधानता समुचित है ।

दूसरी बात यह है कि इस श्लोक का रचना समास रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से युक्त होने
के कारण भोजस्विनी है, जो ज्ञान-रस के प्रतिशूल पद्यों हैं, इसलिये भी इस पद्य की शान्तरस का
उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

यदि कहे कि 'मलयानिलकालकूटयो' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति का वर्णन
है', अब वहाँ भी भाव की प्रधानता होनी चाहिये, 'ज्ञान-रस' के उदाहरणपद्य में हमको कौन
व्यक्ति कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति' इस वक्ति के द्वारा वक्ष्य की
ब्रह्म-रूपता दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वक्ष्य का प्रेम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रेम-भाव
और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही बन सकता है, उन दोनों में ऐक्य-रान होने
पर नहीं ।

अथ रौद्ररम निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासक्तवङ्गध्वनिमग्नममात्रि समुद्रोपितकोप परशुरामो ब्रवीति—

‘नवोच्छलितयीवम-स्फुरदखर्वगवंज्वरे, मदीयगुरुकामुक्क गलितसाध्वसवृश्चति ।
अय पतनु निर्दय दलितदमभूभृद्गलम्बलद्बुधिरधस्मरो मम परश्वधो भैरव ।

प्रकृते रौद्ररसव्यञ्जकसामग्र्या प्रथममालम्बनविभाव द्वांयति—

अत्र तदानी रागत्वेनाज्ञातो गुरुकामुक्कभञ्जक आलम्बनम् ।

अत्र रामनामानुपादनस्य हेतु दर्शयन्नुक्त समर्पयति —

अत्र एव विशेष्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणानोचत्यात्, क्रोधा-
विष्काराद्वा ।

नवाच्छलितेन द्रुतनोल्लसितेन, धीवनेन तारप्येन, स्फुरन् विजृम्भमाण, अखर्वोऽ
नल्पो गर्वोऽभिमान एव तापकत्वाज्ज्वर सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोमन
मस्त्रास्त्रविद्याध्यापकस्य रामो, कामुक्क धनु, गलितसाध्वस निर्भय मया भवति,
तथा वृश्चति छिन्दति, उल्कटापराधकारित्वादप्राह्यनामनि जने, अयमुत्तोल्यमान,
दलितेभ्य समरे छण्डितेभ्य, दृप्ताना दर्पोद्वताना, भूभृता क्षितिपतीना गतेभ्य
कष्टेभ्य, स्थलतो निष्पतत, रुधिरस्य क्षोणितस्य, घस्मर वाना, भैरवो भीषण
ममाद्भुतपराक्रमस्य, भार्गवस्य, परश्वध परशु, निर्दय विष्करण मया भवति तथा,
पठत्वित्यर्थ ।

अज्ञोत्तोदाहरणे । तदानी क्रोधोद्रेकावसरे । रामत्वेनाज्ञातो रामोऽप्यमित्या-
वारवज्ञानाविषयीकृत, गुरुकामुक्कभञ्जक शिवधनुस्त्रोटको राम आलम्बन शोधस्येति
शेष ।

अत्र एव गुरुद्रुहस्य बलवदपराधस्य वा वर्तुर्जनस्याप्राह्यनामत्वादेव । विशेष्यस्य
रामस्यानुपादान नामाग्रहणम् । शोधस्याविष्कार उद्रेक ।

इदमुच्यते—‘आलापात् प्राक् परशुरामेण दाशरथिरामस्य नाम न ज्ञातम्,
ज्ञातमपि वा दुःखमापराधविघ्नानजन्यमनुभवेण नोपात्तमिति क्रोधोद्रेकव्यञ्जनादुचित-
मेव । अन्यथा नदेव्यादिविषोपणद्रूपोपादानेऽपि विशेष्यरामानुपादानमनुचितमेव
प्रतिभायान् ।

अत्र ‘रौद्र-रम’ का उदाहरण देने हैं—‘रौद्रो यथा’ इत्यादि । शिव-धनु-भङ्ग से स्फुरित
परशुराम की वक्ति है । नवान उच्छलितो दुर्द युवावस्था के कारण वह दुये अत्यधिक अभिमानका ज्वर
से युक्त किमी ने निर्भर होकर मेरे गुरु-शिष्यी-के धनुष को तोड़ बाटा है । अर्था, अत्र युद्ध में
काटे गये गरीब भूयो के गये मे यो दुः खोपिण यो वीर्ये बाटा वह मेरा भयङ्कर परमा डमके उर
निर्दयनामूकं गिरि ।

गुरु (शिष्यी) के धनुष को तोड़ने बाटा वह राम यहाँ आलम्बन है, शिवा रामस्य से शत्रु
परशुरामजी को उन समय तक कहा था ।

अर्था गुरु-द्रुही का नान नहीं देना चाहिए इस कारण, वा शेष उक्त्य हो जाने के कारण
‘तोड़ने बाटा’ वह विशेष्य-मात्र कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का नाम) नहीं कहा गया ।

उद्दीपनविभाव वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निश्शङ्कधनुर्भङ्ग उद्दीपकः ।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः ।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोन्नत्वादयः सञ्चारिणः ।

प्रकरण प्रकारावयति—

एषा च धनुर्भङ्गध्वान-भग्नसमाधेर्भागिवस्योक्तिः ।

रौद्ररसानुकूलवृत्तिदर्शनादप्युक्त समर्थवति—

वृत्तिरप्यत्र महोदता रौद्रस्य परमौजस्विता परिपुष्पाति ।

पुना रौद्ररसव्यञ्जनक्षमतामेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वाय-
लक्षणाभूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कपस्यैव प्रकाशनात् स्फुट गम्यमानेन
विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्य गम्यते ।

ध्वनिविशेषो धनुर्भङ्गोत्थितस्तुमुत्तनिनाद, य च धनुषो निश्शङ्क भङ्गन विना
कथमपि न सम्भवतीत्यनुमानेन गृहीत तादृश रामस्य धनुर्भङ्गनसाहसमिह क्रोधस्यो-
द्दीपनमिति सारम् ।

मार्गवस्य कट्टति क्रोधस्य कार्यत्वादनुभाव इति तात्पर्यम् ।

गर्वं उग्रता चादिपदग्राह्या अमपंप्रभृतयो व्यभिचारिणावा क्रोधस्य पोषकत्वात् ।

एषा नवेत्यादि । अकम्मादुत्कटशब्दश्रवणान समारम्भेभङ्ग । तथा च क्रोधोदयो-
चित्यम् ।

महोदता दीर्घसमासबहुला सयुक्ताक्षरमयी पटपानाम्नी वृत्तिरप्यत्र पद्ये ओजो-
गुणाश्रयस्य रौद्ररसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्ररसस्य पोषिकाऽस्तीति रौद्र-
रसोदाहरणमिदम् ।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे । अहम्भावोऽहङ्कार । प्रकृते क्रोधोद्रेके । अजहत्स्वार्यो-
पादानलक्षणा, वाच्यस्यापि लक्ष्येण सह प्रधानप्रतीतिविषयत्वान् । अक्रुद्धावस्थाया,
गुरो स्मरणे विनयोदयादहङ्कारोपशमस्यैवौचित्यम् । सम्प्रति क्रोधशयायान्तु, मदीये

विलक्षण दृङ्ग को जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष का तोड़ देना'
उद्दीपन है ।

कट्ट वचन अनुभाव है ।

गर्व और उग्रता आदि व्यभिचारी हैं ।

यह धनुष के भङ्ग को ध्वनि से समाधि दृष्ट जाने पर परशुगमजी का उक्ति है ।

उन्हे ममारों में युक्त, सयुक्तक्षरमय, 'पस्था' नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) भी इस पद्य में
'रौद्र-रस' को परम ओजस्विता को पुष्ट करती है ।

यद्यपि, जहाँ क्रोध का अवनर नहीं रहना, गुरु का स्मरण होने पर विनय-भाव के उद्दिष्ट हो
जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है. परन्तु यहाँ वैसा नहीं हुआ है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि दर्श

प्रसूदाहरण व्याहरति—

इद पुनर्नोदाहार्यम्—

कृद्ध परशुराम वञ्चिद् वर्णयति—

'घनुविदलनध्वनिश्रवण—तत्क्षणाविर्भवन्—

महागुरुवधस्मृति श्वसनवेगधृताधर ।

विलोचनविनिस्सरद्वहलविस्फुलिङ्गप्रणो

रधुप्रवरमाक्षिपञ्चयति जामदग्न्यो मुनि ॥'

धनुरित्यादिपद्यस्य बुतो न रोद्रध्वन्बुदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनारम्भितौ घनुविदलनध्वनिश्रवणेनोद्गी-
गतौ निश्वासा—नेत्रज्वलनादिभिरनुभाविता महागुरुवधस्मृति—गर्वोत्प्रत्वादि-

स्मच्छब्देनैकविंशतिवारान् क्षितिनि—क्षत्रियत्वसम्पादननिश्चाद् मातृभ्रातृवधानुष्ठा-
नवित्रादेशपरिपालनाद्यद्भुतवर्षयातिस्वात्मन्मुपादानलक्षणया, व्यञ्जमानेन, बीज-
भूतेन गर्वोत्प्रेरणे, विवेकशून्यत्व द्वाराकृत्य, व्यञ्जमान क्रोधाधिक्य, रोद्ररम गोचर-
यतीति रोद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम् ।

धनुष शिवकामुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्भूत) ध्वनिनाद, तस्य
श्रवणादाकण्ठात्, तरलाने सद्य, आविर्भवन्ती समुत्पद्यमाना, महागुरो फितुर्जमदग्नि-
मुने, वधस्य सहस्रबाहुभूनुकतंकातस्य, स्मृति स्मरण यस्य स, तथा श्वसनस्य
क्षत्रियवृत्तापराधस्मरणोद्भूतत्रोद्योद्भावितश्वासस्य, वेगेन रहसा, धृत नम्पितोद्धारो
निम्नोद्यो यस्य स, तथा विलासनाभ्या, क्रोपलोहितनेत्राभ्या, विशेषेण प्राचुर्येण,
निस्सरन् निर्गच्छन्, बहलो विपुला विस्फुलिङ्गप्रजाऽभिव्रणणो यस्य तादृशो
रधुप्रवर रामचन्द्रम्, आक्षिपन् घनुमंडलनापराधपरित्वादाक्रोधान्, जामदग्न्या
जमदग्निधुतु मुनि परशुरामो व्यपति सवालकपेण वर्तत इत्यर्थं ।

अपि पूर्वश्लोकसमुच्चयायक । अपराधो घनुमंडलनरूप, तदनुष्ठाप्यो रामचन्द्र
आलम्बनम्, घनुमंडलध्वनिश्रवणमुदीपनम्, निश्वासा नेत्रज्वलनादिभ्रानुभाव, पितृव-

गुरु मे जो 'मदीय' (मरे) विशेषण लगाया गया है, वह आक्षिपिद् ई अर्थात् मदीय पद का इस्तेमाल
कारणों को निश्चय बनाने बाद अस्मच्छब्दा' में अबदत्तार्थों (उपादान) दर्शना है, जिससे
अस्मच्छब्दार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष अभिहित होता है, इससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत
होती है, (गुरु के सामने अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेकहीनता का सूचक होता है) उस
(प्रतीयमान-विवेकहीनता) से भी परशुराम का क्रोधाधिक्य व्यक्त होता है । इस तरह स्वयीभाव
'बोध' का सब तरह से प्रति होने के कारण यह पद 'रोद्र-रस' का उदाहरण होता है ।

रोद्र-रस का प्रसूदाहरण दिखलाने है—'इद पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि । 'घनुविदलन'
का शब्द 'रोद्र-रस' के उदाहरणस्य में आक्षिप्य करने योग्य नहीं है । क्रोधि, क्रुद्ध-परशुराम का
वर्णन करता है—धनुष टूटने का शब्द सुनने की, लज्जाल, जिनको महागुरु पिता जमदग्नि की सरप-
बाहुतनय द्वारा की गई शपथ का शमण हो गया, आ पर निश्चाम-वायु के वेग में नीचे का होठ
पकड़ने लगा और औंलों से आग की चिनगारियों का महान् पुत्र धरने लगा, वे ऐसी स्थिति में,
रामचन्द्र पर आक्षिप करते हुए मुनि परशुराम, सबसे श्लुट है ।

अपि इस पद के भी उस 'बोध-रूप' स्वादीमान को अभिव्यक्ति होती है, जिसका आलम्बन,

भिन्न सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववगन्वीजभूताया कविरतौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः।

काव्यप्रकाशोन्निखितमुदाहरणं दूषयति—

काव्यप्रकाशगत रौद्ररसोदाहरणे तु—'कृतमनुमतं दृष्टं रैरिदं गुरुपानकम्' इति पद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरप्युक्तेरेव।

धम्भनिर्गन्धं उग्रता च व्यभिचारिभावः, सम्भूय क्रोध रौद्रस्थायिन रसत्व नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्तम्, किन्तु जयति जामदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वपंनीयजामदग्न्यविषयककविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनरेवेदमुदाहरणम्। क्रोधस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि रसो पोषकत्वेनाङ्गभूत एवेति नेद रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिसन्धिः।

वक्ष्यमाणारचिस्तुना सूच्यते। 'मनुजपशुभिर्निर्मयादैर्भेदद्विरुदायुर्ध्रं। नरकरिपुणा साधं समीमकिरीटिनामयमहममृद्भेदोमासं करोमि दिशा बलिम् ॥' इति पद्यावशिष्टायाः। वेणीसहारे—द्रोणाचार्येशिरश्छेदान् क्रुद्धस्याश्रुत्याम्नोऽर्जुनं प्रत्युक्तिरियम्। रौद्ररसस्य व्यञ्जने क्षमा समास—संयुक्ताद्यक्षरबहुला परुषा वृत्तिः। तामेव गौडी रीति वामनादयो मन्यन्त। तत्कवेर्वेणीसहारवतुर्भट्टनारायणस्य। असाक्ति प्रतिमाङ्गना, एव नत्वन कथञ्चन समाये सम्भवः।

रौद्ररसोचिताया परुषाया वृत्तेरनिबन्धनात् कवेरसाक्तिरिह प्रनीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अव्युत्पत्तिवृत्तो दाप सन्त्या सन्नियते कवेः। यस्त्वसाक्तिवृत्तस्यास्य स हृदित्वेव भासते ॥' इति ध्वनिवारोक्तेरित्याकृतम्।

परे तु—ओजोनिर्गुणमुपक्रम्य द्वितीय उद्घोषे—'तत्प्रकाशनपरश्रार्थोऽनपेक्षित, दोषसमाश्रयचन प्रसन्नवाचकान्निधेय। यथा—'यो य शस्त्र विभक्ति स्वमुजगुरुमद' इत्यादौ। तृतीये पुन 'तथा रौद्रादिध्वसमासा दृश्यन्ते। यथा—'यो य शस्त्रम्' इत्यादौ' इति ध्वनिकृतं समासादिप्रयोज्यशब्दकाठिन्यविरहेऽप्ययं वाठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रय रौद्रादिरसाना च व्यज्यमानताया निबोधमभिधानात् 'कृतमनुमतम्' इत्यादौ रौद्ररसव्यञ्जनाक्षमवृत्तिनिबन्धनात् कवेरसाक्तिवृत्तदोषस्थोद्धोष पण्डितराजस्यैव विवेकसाक्ति सूचयति, न तु कवेः, सहृदयानुभवमाक्षिकविच्छित्तरसतत्त्वादिति व्याहरन्ति।

अरापी रामचन्द्र है, वहीरान, धनु—भेद—ध्वनि का अर्थ है, अनुभाव, शम्भ, तथा नेत्रों का उल्लास है, और मजारी—मिना ही इत्या का स्मरण, गर्व, ध्वन् वपना आदि है, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नडा हो सकता, क्योंकि जिनके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उन (परशुराम विषयक) कवि निष्ठ-रति की अवस्था वह गौण हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने 'माध' की ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, 'रौद्र-रस' के स्थायी-भाव क्रोध को नहीं। अतः यह श्लोक 'रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है।

भव काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में दूषण दिखाने हैं—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि। मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखाने के लिये उद्धृत किया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा... करोमि दिशा बलिम् ॥'

अग वीररस विनय्य निरूपयति—

वीरअनुषां, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तदुपाधरत्माहस्य चतुर्विधत्वात् ।

दानवीरमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

विश्रवणेण याचमानायन्नायावयनवचादिदानाङ्गीकारमाकलय्य चरितान् सम्भान्
वर्षो ब्रवीति—

‘क्रियदिदमधिक मे यद् द्विजायार्ययित्रे

कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि ।

अकरणमवहृत्य द्राक् कृपाणेन । न दूर-

बहूलरधिरधार मौलिमावेदयामि ॥’

तदुपाधवीररसोपादानस्योत्साहस्य दान-दया-युद्ध-धर्मैरुपविषयभेदेन निश्रव-
णोपधस्य वीररमस्यापि चतुर्भेदकत्व भवतीत्यर्थः ।

यस्मिन् कर्मविदपि याचकाय महत्पस्यापि वस्तुन सदा सात्तास विनयना
प्रसिद्धस्य कथास्य मे मम अपयित्र याचमानाय द्विजाय विश्राय, ऋणमोय चमत्स
त्वादनुन्दरम मुवर्णनिमित्तायाग माधारण कुण्ठन च यद् अर्पयामि दयामि इदं तद्
क्रियदधिकम् (प्राप्तुं क्षुण्णकमम्) । द्राक् कृतिनि, अकरण निदय यथा म्यात तथा
कृपाणेन खड्गन अवहृत्य छिन्वा निमता नित्यवन्ती बहूला विपुला अधिरस्य धारा
परमान तादृश मौलिमात्ममस्तकम्, जावदयामि समपयामीत्यर्थः ।

श्लोदीय—कवचादिदानादय यूय विमिति चरिता ? अह तु बाह्येण माचितं
मत् स्वधिरासि छिन्वा समपयितुमर्हामीति कारणः ।

‘वाराहार्’ नाटक म शाण्ड्यायन का इत्या स ब्रह्म अस्तत्त्वा का अंजुन च प्रति दह लडि

—एकर उदने का महाश रडिड, जिन, नर-गुभी ने दह (शाण्ड्यायन) महत्पय क्रिया है न
अनुनति दा है अथवा सन् वृत्तम वा अंगी व. समन हाता दया है—कृपा के माध्याय—उत्
भीम, अजुन अष्टि मता रागी व शक्ति, मन्ना तथा मम स मे अवदा हो दिव्युष्टी को रडि
कता ह । इस पत्र का रचना ‘वीररस का व्यक्त वारन म समर्थ नरा है क्योंकि इसकी रचना ने
न ममम का बहुत ह, न संयुक्तियों का और सुसुत्तम-बहुत रचनाय्य ‘वरा’ वृत्ति कथा
कमन अदि अचली व मन स लृष्ट गीी तीति का हा ‘वीररस’-अत्रक माना गया है । अत्र
इही यहा मानना पडता कि कवि में रके का बमो था, निमन वह वीररसभिरुक्ति का अस्तित्व
मम पर था तथा म पत्राटा का रचना नहीं कर सका ।

अब वारस का विनय प्रदर्शनपूर्वक निष्पत्ता गता है—‘वीर’ इत्यादि । ‘वीरस’ के वर
भेद है क्योंकि वारस का स्थापनाय ल्याह, दान, दया, युद्ध और धर्मस विषय के भेद ने वार
प्रकार का हो सकता है ।

जन्म प्रथम अर्थात् दानवार रत्न—वाचक-रस ने ब्रह्मन्-वच परल करके इतिषु इन्द्र को
हाथ और कुण्डल दने क टिपे सप्त दसका सम दान म चकित कर्मों के प्रति का का लडि है—
अर टिप पर कौन क्या बात है कि मैं वाचक ब्रह्म का, सधरल, हाथ और कुण्डल भांग कर
रहा हूँ । निर्दय-भूत, ललवार म लच्छल मर का बरती हुई शान्द-रधि-गाम दुः
कनी मन्क को भी उनके मग निर्दिष्ट करण है—सन्धि कर म्कण है ।

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेपायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितात्
सम्भ्यान् प्रत्युक्ति ।

आलम्बनादीन् दर्शयति—

अत्र याचमान आलम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुदीपिका । कवचादिवितरण
तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिक चानुभावः । 'मे' इत्यर्थान्तसङ्क्रमितवाच्यध्वन्यु-
त्थापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिस्मृतिश्च सञ्चारिणी ।

इहत्ववृत्तेरपि रसानुकूलता प्रकटयति—

वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम-विरामशालितया सहवयेकचमत्कारिणी ।
तथाहि—उत्साहपोषक कवचकुण्डलापणयोर्लघुत्वनिरूपण विधातु पूर्वार्धे तदनु-
कूलशिथिलबन्धात्मिका । उत्तरार्धे तु 'मोलि'त प्राग् वक्तृगत-गर्वोत्साहपरि-
पोषणयोद्धता । ततः पर द्राह्मणे सविनयत्व प्रकाशयितु तन्मूलोभूत गर्व-
राहित्य ध्वनयितु पुन शिथिलत्व । अत एवावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि
वितरामीति वा ।

पित्रा भगवता भास्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीनां दत्तत्वादेयानामपि दानो-
द्यमेन सम्प्राप्तानामाश्चर्यम् । एषेत्युक्तिविशेषणम् ।

अत्र 'विय'दित्याद्युदाहरणे । याचमानोऽर्थी द्विजवेप इन्द्र । स्तुतिर्पाचययुता
प्रशसा । तत्र कवचादिषु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छत्वज्ञानम् । 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चा-
रयिनमिन्नेऽभिधा, निश्चङ्क समस्तीर्णदानदक्षत्वादिधर्मविसिष्टस्वार्थोऽजहत्स्वार्था
प्रयोजनवती लक्षणा, स्वकीयाद्वितीयदानशीघ्रत्वादिप्रयोजने च व्यञ्जनेत्यर्थान्तरमङ्-
त्रमितवाच्यध्वनि । तेन व्यज्यमानो गर्व आत्मनोऽमर्त्यादित्यजन्यत्वत्वस्मृतिभावश्च
व्यभिचारिभावी विभावादिभि सम्भूय दानोत्साह दानवीररसत्व प्रापयन्तीति
हृदयम् ।

अत्रोदाहरणे । वृत्तिरूपनागरिकादित्रितयान्यनमरुपा । तत्तदर्थानुरूपोद्गमविराम-
शालितया—तस्य तस्य चार्थस्यानुरूपी तुल्यो यावद्गमविरामो प्रारम्भसमाप्ती,

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अचरणरूप में उपर दिया जा चुका है ।)

यहाँ वाचक (द्विजवेपथरी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशसा उदीरन है, कवच
आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद
के 'मेरे लिये' पद में व्यक्त होने वाला गर्व तथा व्य्थीकृत पिता स्वर्ग से अपनी कृपति का स्मरण
मन्थारी भाव है । यहाँ 'मे अथवा मेरे लिये' पद से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भा
समझ लेना चाहिए—'अमर्द' शब्द उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः हम पद के न रहने पर भी वाच्य
के वाच्यार्थ में कोई कमी नहीं रहनी, फिर वह पद कहा ही क्यों गया ? इसका उत्तर यह होगा कि
'मे' पद अत्यधिक है—वाचक नहीं, अतः हम पद से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, परन्तु
विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविशिश्ट उच्चारणकर्ता का बोध होना है, जिसमें धक्त अर्थ—जो लक्षण
का प्रयोजन है—व्यक्त होता है । इसी की अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि कहने हैं ।

इस पद में वृत्ति (पद-योजना की शैली) भी उन-उन अर्थों के अनुकूल कहीं प्रौढ़ और कहीं
कीमल होने के कारण समुद्गमत्र को चमत्कृत करने वाली है । देखिये—पूर्वार्ध में कवच और

प्रत्युदाहरण दर्शयति—

इदन्तु नोदाहरणीयम्—

दानवीर नरेश कश्चिद् वर्णयति—

'यस्योद्दामदिवातिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रधा-

माकष्यविनिमण्डलागत-वियद्वन्दीन्द्रवृन्दाननात् ।

ईर्ष्यानिभंरफुल्लरोमनिकर-व्यावल्गदूधस्त्रवत्-

पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पगोदायते ॥'

ताम्या शालितया तद्वत्त्वेन । एकशब्दो मुख्यायं क, मुख्यत्व चात्यन्तत्वपर्यवसावि । कवचस्य कुण्डलयोश्चार्पणस्य दानस्य यहलपुत्रत्वस्य तुच्छताया निरूपणम्, तत् तद्दानविषयकोत्साहस्य पोषणम् । शिपिलबन्ध्यात्मिका मृदुलवर्णपटिता कोमलास्या वृत्ति । मौलितो 'मौलि'मित्यस्मान्, निर्विभक्तिकानुकरणात्तसिन् । उदता ककेश-वर्णपटिता परया वृत्ति । शिथिला कोमलैव, न तु परया ददामीत्यादेर्वर्णप्रकाश-सम्भव ।

अयं भाव—इह पद्ये वर्णनीयार्थानुमारी धुनिनसिवेग सहृदयहृदयङ्गम तथा चादिमचरणद्वये देयकवचादिलपुत्रविभावनाद् दातुहस्ताहस्य पुष्टिरिति वीररसोक्तिता परया वृत्ति । तृतीय-चतुर्थचरणयो 'मौलिम्' इति शब्दान् पूर्व वक्तु वर्णस्य, गर्वात्साहयोर्वोधनाच्च सैव वृत्ति । तदूर्ध्वं दानीयविप्रप्रस्तावादीद्वल्यपरिहारान्न-ताप्रदर्शनयोरीचत्वेन तदनुकूला कोमला वृत्ति सन्निवेशिता । ददामि वितरामी-त्याद्युक्तौ वक्तारि दानवृत्ताभिमान प्रतीयते, समर्पणार्थकवेदयामीति कथनेन तु विन-यातिशय इति विवेक ।

यस्य नृपस्य, उददामो निरतरप्रवृत्तन्वादनवरद, दिवानिशा रात्रिन्दिवम्, क्वपि याचकेषु, विलसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाह परम्परा, तस्य प्रधा-ख्यातिम्, अवनिमण्डलाद् भूलोकाद्, आगतस्य वियद्वन्दीन्द्रवृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठ-श्रेष्ठमनूहस्य, आननान्मुखात् आकष्यं श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरमिर्देवराजकामधेनु, ईर्ष्या प्रतिस्पर्धदानयदानसमुन्नपंथवधात्तहिष्णुताया, निभंरमतिमात्र फुल्लोऽञ्चितो रोमनि-करो लामपालियंस्य, तादृशम्, अत एव व्यावल्गन् शोभिण सञ्चलद्, यद् ऊष-स्तन-मार, सत्मान् स्रवता निगंलता, पीयूषपाणा नवीनदुग्धाना, प्रकरं पूरं (हेतुभिः) प्रावृट्पगोदायते वर्णनुमेष इवाचरतीत्यर्थं ।

कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का मान—जो सत्मा है जो पुत्र करता है—बताने के लिये पद-सोदरन शिथिल (कोमल) है और वतगर्भ में ' मौलि' से पहन बला के गर्भ और ललाह को पुत्र बताने के लिये, उदत (पीड़) है, उनके बाद शिर ब्राह्मण के विषय में विलय प्रकाशित करने के लिये, विल के मूलभूत शरीराविलय को अभिव्यक्त करने वाली कोमल रचना है । इमीलिये 'आवेदयामि—निवेदन करता हूँ—' कहा, किन्तु 'ददामि—देता हूँ' 'निररामि—विरण काता हूँ' नहीं कहा ।

'दानवीर' का यह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

कवि किन्ती दानी राजा का वर्णन करता है—मण्डल से छोट कर आये हुए स्वर्गोय बन्दीजने के मुग से, हम दान-प्रवाह—जो विना उदाहरण के रानदिन याचकों को दिया जाता है—की स्तुति

कुतो नेदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बन, अवनिमण्डलागत-वियद्वन्दी-
न्द्रवदनविनिर्गत-राजदानवर्षनोद्दीपित, ऊर्ध्व-प्रस्रुतपीयूषप्रकरैरनुभाषित,
असूयादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत उरसाहो राजस्तुति-
गुणीभूत इति न रसव्यपदेशहेतुः ।

वीररसस्याङ्गत्वादव्यप्रापि तद्व्यनिव्यपदेशाभाव दर्शयति—

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

बलिबामनवृत्त कश्चिद् वर्णयति—

‘साविधद्वीपकुलाचला वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरा
मर्वां घामपि, मस्मितेन हरिणा मन्द समालोकित ।

प्रावृभूतपरप्रमोद-विदलत्रोमाञ्चितस्तत्क्षण

अ्यानघ्रीवृत्तकन्धरोऽसुरवरो मौलि पुरो न्यस्तवान् ॥’

यस्य राज्ञः सार्वदिकदानातिशयप्रदणान कामधेनु प्रतिस्पर्धया वधमिष्ट इव
नितरा पय प्रवाहयति, तादृशो दानिनामप्रणीरेप राजेति तात्पर्यम् ।

इन्द्रशब्दस्यात्र द्विरुपादान चारुता किञ्चिदपकर्षतीति सहृदयवैचल्यम् ।

इह ‘यस्ये’त्यादिपद्ये यद्यपि देवसमावृत्तान्तवर्णनान तत्सादस्यवर्णनम्बन्धस्य, भूलो-
कागतवन्दिकृत राजदानवर्णनरूपोद्दीपनस्य कामधेनुस्तनक्षीरक्षरणलक्षणानुभावस्य,
ईर्ष्याजनकतया व्यङ्ग्यस्यामूयादेशव व्यभिचारभावस्य, सम्बन्धात् कामधेनुनिष्ठो
दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयति, तथाप्यनो रस स्तुतिव्यङ्ग्याया वन्दिनिष्ठ-
राजस्तावद्भिन्नायामङ्गत्वमेव दद्यातीति नेद दानवीररसव्यनेदाहरणम्, अपि तु
रतिभाववनेरित्यभिप्रायः ।

को मुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उत्फुल्ल (कष्टकित) रोमराजि से तने हुये स्नन-भार
मे चून हुये अमृत तुल्य नदीन दुग्ध के समूहों से वर्षाकालिक जलद मी हो जाती है अर्थात् राजा को
दानकीर्ति की मुनकर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अहों के रोंगटे खड़े
हो जाने हैं और रोम के खड़े हो जाने से उसके मन-स्थान में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा होती है
जिसमे दूध की अचिरल धारा प्रवाहित होने लगती है ।

यद्यपि इम पद्य में भी कामधेनु का उल्लाह अभिव्यक्त होना है क्योंकि उसकी अभिव्यक्त सम्पत्ती
यहाँ वर्णमान है, जैमे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब दशंन आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य
बन्दीजनों के मुख से निम्नत, राजा के दान का वर्णन (तत्परक वाक्य) उदीपन है, स्ननभार से
चूने हुये अमृतोपम नूतन दुग्धममूह अनुभाव है और ईर्ष्या की ठक से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण
अट्टल आदि मद्यारीभाव हैं । तथापि यह उल्लाह ‘दानवीर’ रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता,
क्योंकि वह कवि-विरक्षित राजविषयक स्तुति की अपेक्षा गीत है अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक रति-
भाव ही यहाँ प्रधान है और उक्त उल्लाह उसके पोषक होने से अह है, अतः यह श्लोक भावध्वनि
का उदाहरण हो सकता है—रसत्वनि का नहीं ।

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

अत एवेत्येतदनिप्रथमर्षे प्रकाशयति—

इह च भगवद्भामनात्मन्वन् तत्कर्वुकमन्दनिरीक्षणोद्दीपित, रोमाञ्चादि
भिरनुभाविता हर्षादिभिः पापित, उत्साहो ध्येयमानोऽपि गुण ।

अपिभिः सप्तभिः क्षारादिभिः समुद्रं द्वीपं सप्तभिः पाम्बद्धमतोयाद्वृतभूमार्ण
पुत्ररादिभिः कुनाचने सप्तभिर्विध्यादिनिधराज्वष्टम्भ-पवर्तैश्च सहिता वसुमती
पृथ्वीम् अपि तथा सप्तान्तरा स्वरादिसप्तप्रकारा सर्वा सम्पूर्णा, धामूध्वन्बुवनावलीम्
पद्म्याम् आनम्य सस्मितेव परपराजयजनितेपद्मसितेन, हरिणा निविक्रमेण, मन्द
(द्वान्मानव पद्म्या छलेन सवस्वग्रहणान्) स्मित यथा स्यात् तथा समालोकितो
दृष्ट प्रादुर्भूतो भगवत्माक्षात्कारेणोत्पन्न पर आनन्दानन्देभ्य उत्कृष्टो य प्रमोद
मुत्रविशय तन् विदत्तन् विवसन् रोमाञ्चो रोमविचार सञ्जातो यस्मिस्तादृश
तथाप मद्य (प्रणामाय) व्यानग्रीहता विज्ञापण नतीहता बधरा शोवा यत्
सादृशाश्च अनुरवरो देत्यधष्ठो बलि भौति मस्तवम् (तृतीयचरणारोपणाय) पुरो
नग्वतोऽग्र न्यस्तवाननिर्दिष्टादित्यय ।

जत्र इत्यादि त्रिविधप्रमाणात्स्मरन्त तत्कृतमन्दालोकनोद्दीपनेन रोमाञ्चादिभिर
नुभावे हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावे च सम्भूयान्निध्यजनमानो बलिनिष्ठो शनोत्साहो
दानवीररमत्वभामादयप्रपि वनिस्तुत प्रधानीभूताया उपकारकत्वादङ्गुलिनि नेद
वीररसध्वनेरसाहरणमित्यागय ।

प्रमोदपदेनेह सुष्ठुमुच्यन् ह्यस्तु तदगावच्छिद्रावरणनञ्जकश्चित्तवृत्तिविशय इति न
ह्यस्य बाध्यत्वम् न च तस्य बाध्यत्वे व्यभिचारिबाध्यत्वस्वरमदोषापात ।

छेद करि बटि तय बानन कर भावन् का बान करला है—मान समुद्रो, मात शीरो तय
सात पवन पर्वो से युक्त पृथिवी को और सात परकाट वाले मण्डू मर्ग को भी बरलो से आक्रमण
का लोके से सात जव मगतान् विचिक्रम ने ईश्वर्याय पूर्वक तया बलि को और निष्क नजर से देला,
ता उन आत्मार ने उत्कृष्ट सुख की उत्पत्तिके कारण रोमाञ्चित होकर उमा काट में नवानन होकर
मन्त्र मानने रख दिया । काशिश दह है कि मावन् राया बटि को छटने में लिये शीने का रूप
ध का हमके शर प गये और नोन एग पृथिवी हमने मोगी, उदार चूकनी बटि ने हम आधरक
बाणा का महर्षी मीकर का लिये परन्तु मगतान् ने एक एग में मन्त्र नूलाक और दूसर एग में
मन्त्रा मन्त्रिके का नाप लिया, निर 'तमरा एग मान्ने के लिये तुम्हार पान जग्य नहीं है, अब
आज मन्त्रिका को पूर्ण कैसे बोगे ?' एग मनोभाव को इष्टवाने के लिये बटि का आर देस का
कल्प कने छग, तब बटि वन्दे मावन् परमेश्वर मन्त्र वनके दर्शन से आनन्दमन्त्र हो टग्य और
और तमरा एग बने के लिये आज मन्त्रक हमके आगे रख दिया, हम आधर से हमने दह प्रार्थना
को कि नरा मन्त्रक लो मान्ने अभी तक माग नहीं, कर्मयोग अभी तक आता है, अब आप मन्त्रिके
आप का मेरी प्रार्थना को पूर्ण करें ।

एग श्लोक में भी यही भावन् बाननस्य बाध्यन्त तत्कृत ईश्वर दर्शनस्य दर्शन रोमाञ्च
करि अनुभाव और हर्ष आदि सदरा भावों के संलग्न से बटि का 'तमरा' व्यक्त होना है तदपि
यद गीत है ।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिह समर्पयति—

प्रागन्यगतस्यैव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

सारबोधिन्या काव्यप्रकाशविद्वत्तौ श्रीवत्सलाञ्छनमट्टाचार्येणोल्लिखित दानवी-
रोदाहरण खण्डयति—

एतेन 'त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्स-
लाञ्छनोक्तमुदाहरण परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्ग-
मुदाहरणीयत्वात् ।

हेतौ पञ्चमी ।

प्राग् 'परस्मै'त्यादिश्लोकेऽन्यगतस्य कामगवीधृतेरत्साह (स्थायिकवीररस)स्य
यथा वर्णनीयरजस्तुतेरत्कर्षकत्वम्, तथा प्रकृते 'साब्धी'त्यादिश्लोके राजा बलिस्तन्नि-
ष्टस्यापि तस्मोत्साह(स्थायिकवीर)स्य स्वकीयस्तुनेरत्कर्षकत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयो
पूर्वम भिन्नसम्बन्धित्वम्, प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेना-
विशेषादुभयोरप्युत्साह(स्थायिकवीर) योरङ्गत्वमेव ननु प्राधान्यमिति भाव ।

'उत्पत्तिर्जमदग्निता, स भगवान् देव पिनाकी गुरवीर्यं यत्, न तद् गिरा पथि,
ननु व्यक्त हि तत् कर्मणि । त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधि, सत्य-
ब्रह्मतपोनिर्धेर्भगवत किं किं न लोकोत्तरम् ॥' इत्यय मभूषणं श्लोक । एतेन—परशु-
रामनिष्ठोत्साहस्यायिकवीररसस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, कविनिष्ठद्विपयकरती गुणीभूतत्वेन ।
तस्य—उत्साहस्यायिकवीररसस्य अङ्गत्वाद् गुणीभूतत्वम् ।

श्रीवत्सलाञ्छनमट्टाचार्येण इत्यादिपद्यस्य दानवीररसध्वन्युदाहरणत्व यदुक्तम्,
तदमनञ्जयम, 'साब्धी'—त्यादाविवात्राप्युत्साहस्यायिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि पराङ्ग-
तया गुणीभावादित्यभिसन्धिः ।

उत्साह को गीण होने का कारण बतलाने है—'प्रागन्य' इत्यादि । पूर्व (परस्मैराम इत्यादि)
पथ में सत्य (कामधेनु) का उत्साह जिन तरह राजा को स्तुति को उत्कृष्ट बनाने वाला था, उभय
तरह यहाँ राजा (बटि) का उत्साह भी राजा बटि को स्तुति को उत्कृष्ट बनाता है । अतः इन दोनों
पथों में स्तुति प्रधान और उत्साह गीण है ।

इन्में 'सारबोधिनी' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में 'श्रीवत्सलाञ्छन महाचार्य' के द्वारा
दिया गया 'दानवार रमचनि' का उदाहरण भा स्पष्टित हो गया, ऐसा समझना चाहिए । उन्होंने—

'उत्पत्तिर्जमदग्निता न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को बीररम ध्वनि का उदाहरण कहा है । यह श्लोक 'महावीरपरित' नाटक के द्वितीय
अंक में आया है, धनुर्भङ्ग से क्रुद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—'भगवन्' आपका क्या-क्या
लोकोत्तर नहीं है अर्थात् आपकी सभी क्रियायें अलौकिक ही हुई हैं, आपका जन्म अगत्नतिद
बनदग्नि मुनि से हुआ है, धनुर्पारी मायाय शिवजी आपके गुरु हैं—उन्हीं से आपने धनुर्विद्या प्राप्त
की है, आपके पराक्रम आपके कर्मों में ही प्रकट होता है—बचनों से वह प्रकट नहीं किया जा
सक, त्याग भी आपका निराला ही है, मात मुद्रों में परिवेष्टित अर्थात् समुच्चो पृथिवी का अकारण
अप से दान कर देना आपका बान नहीं है । आप क्षत्रियोचित तथा ब्राह्मणेचित दोनों तरह की
व्यस्त के निधान हैं । परन्तु यह पथ 'रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का

तुल्यन्यायेनाक्षिपति—

ननु 'अकरुणमवकृत्य' इत्यादिपि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य कर्णस्तुत्यङ्ग-
त्वात् कथं ध्वनित्वमिति चेत् ।

उत्तरयति—

सत्यम्, अत्र कवे कर्णवचनानुवादभात्रतात्पर्यं कत्वेन कर्णस्तुतो तात्पर्य-
विरहात् ।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतो तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव वेदात्मस्तुतो तात्पर्यम्, तर्हि न
कथं स्तुते प्राधान्यमित्याशङ्का निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वनात्मस्तुतो तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव ।

ननु 'त्रियदिदम्' इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपलपितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्व-
विरहाद् यदि न शब्दधीविषय, तर्हि का गतिरित्यत बाहू—

परन्तु वीररमप्रत्ययानन्तर तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनु-
मीयते राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतो तात्पर्याद्विवाक्यार्थतेव तस्याः ।

पूर्वोक्ते 'त्रियदिदम्' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानस्य दानवीररमस्याप्येव कर्णस्तुतेरङ्ग-
त्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कथं रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्याक्षेप्तुराशय ।

नात्र तुल्यन्यायावसर, उभयोस्तीन्याभावान्, तथाहि—'अकरुणमवकृत्य' इत्यादि-
पद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादभात्रे तात्पर्यम्, न तु कणस्य स्तुतो, तेन कर्ण-
स्तुतेस्तात्पर्यविषयत्वाभावाद्वाहित्वम्, न वा वीररसस्य तदङ्गत्वम् । 'साङ्ख्यदोषे'-
त्यादौ तु स्तुतेरेव अकृतान्तर्यविषयत्वात् प्राधान्यमित्युभयोर्विषयमित्याशय ।

चस्त्वयं महाशय उदात्तमना । तात्पर्यस्यानुपपत्तिरसङ्गति । अवाक्यार्थस्ता-
त्पर्यविषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधायियम् ।

न हि महाशया आत्मधनापिनो भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मरस्तुतो तात्पर्य-
सम्भवाद् न स्तुते सत्त्वेऽपि तात्पर्यविषयत्वाभावात् प्राधान्यसम्भावनेति वीररसस्य
गुणीभावाभावाद् रसध्वनेरेवेदमुदाहरणमित्याकृतम् ।

'उत्साह' एव शब्दोभाव वाऽत्र 'दानवीररम' व्यङ्ग्य श्लोक भी कविनिष्ठ परशुराम विषयक रतिभाव
का उद्ग हो गया है, अत्र यह श्लोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अथवा भावधनि का उदाहरण ही
सकता है ।

यहाँ वह शब्द जो आ सकता है कि 'अकरुणमवकृत्य' इत्यादि पद्य में भी जिस 'दानवीर
रम' को प्रतीति होती है वह भी कर्ण की स्तुति का पोषक है अत्र है—गौण है—प्रधान नहीं,
किर वह पद्य भी 'दानवीर रमधनि' का उदाहरण नहीं हो सकता ?

उक्त शब्दा ठीक हैं, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिए, यहाँ कवि का तात्पर्य केवल
कर्ण के बचनों का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में ।

यदि आप करें कि प्रथम—मूलक होने से एक श्लोक स्तुतिरस्य तो अवश्य है, एव रही यह
यह कि कवि उस वाक्य का अनुवादक मात्र है, अत्र उभया स्तुति में तात्पर्य नहीं माना जा सकता,
ठीक है, परन्तु मूल पद्य कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण
महाशय पुत्र्य है और अपने मुख से अपनी स्तुति कोई श्लोक ही कर सकता है । परन्तु स्तुति का
शक्य का तात्पर्य विषयोभूत अर्थ नहीं है ।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा ।

राजा शिवि शरणापन्न कपोतरूप धर्मं वक्ति—

‘न कपोत ? भवन्तमण्वपि, स्पृशतु श्येनममुद्भव भयम् ।

इदमद्य मया तृणीकृत, भवदायु—कुशल कलेवरम् ॥’

कपोतापेक्षया श्येन प्रत्युक्त्या भ्रयो भयनिवृत्ते सम्भवात् पाठान्तर कल्पयति—
अथर्वव विन्यास —

लिङ्गेन हेतुना । स्वाधिकरणे श्रोतुरात्मनि । सा स्तुति ।

दानवीररसप्रधानक शाब्दात्मकवाक्यार्थदोषे पर्यवसन्ने, व्यक्त्या प्रतीतेन कर्ण-
स्योत्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि ‘कर्णं’ स्तुत्यो (विभावाच्चभिद्व्यक्त) दानविषयको-
त्साहवत्त्वान्’ इत्याकाराज्जुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिरत्रानुमितेर्गोचरो
नतु शाब्ददोषस्येत्याशय ।

हे कपोत पारावत ! श्येनात् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भव उत्पत्तियम्य, तादृश
मय, भवन्मम, अण्वपि मनागपि, न स्पृशतु (श्रागपि श्येनात्मा ग्रंथी) यत इद
पुरोवति, भवदायु—कुशल रसकत्वाद् भवदायुष धैमकर, कलेवर (स्वस्य) शरी-
रम्, अद्य मया दीनदयाव्रतिना शिविना, तृणीकृत मयद्रक्षणाय श्येनाय नक्षयितु
समर्पमाणत्वात् तृणवत्तुच्छ मतमित्यर्थ ।

इह शिवेर्दयालुतापरीक्षार्थं श्येनरूपेणैवैनाश्रम्यमाणो भूत कपोतरूपो धर्मं
प्राणपरित्राणाय शिवि शरणमगात् । स च दयाद्रंचेता स्वशरीरममपणेन श्येनान्
कपोतमरक्षीदिति पौराणिकमितिवृत्तम् ।

अथ दयाविषयकशिविवृत्तिरत्साह स्वामी, कपोत आलम्बनम्, तदीयव्याकुल-
त्वमुदीपनम्, शरीरार्पणमनुभाव, धृत्यादयश्च व्यभिचारिणः सम्भूय दयावीररस-
मास्वादपदवी नयन्ति ।

विन्यास पदानामिति शेष ।

इनकी बात अवश्य है कि ‘दानवीर रस’ को प्रतीति हो जाने के बाद रस उल्लाहल्य हेतु से
सहृदयों के हृदय में वह (कर्ण की स्तुति) अनुमित होती है । इस तरह से यहाँ जो स्तुति की
प्रतीति होती है, वह अनुमितिरूप है—शाब्दबोधरूप नहीं । परन्तु यहाँ राजा का कर्ण किना गया
हो, यहाँ तो राजा की स्तुति में ही श्लोकवाक्य का तात्पर्य रहना है अतः वहीं स्तुति को प्रधानता
माननी पत्नी है ।

हे पारावत ! (कव्तर !) बाज से उत्पन्न होने वाला भय भोज भी तेरा स्वर्ग न करे, (यह मैं
चाहना हूँ) अर्थात् तू बाज से मत डर । (क्योंकि) आज मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ
हम अपने शरीर को त्याग दिया है । तात्पर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बदल में अपना
शरीर बाज को दे रहा हूँ, जिसके भक्षण से तू होकर बाज तेरे ऊपर आवाज नहीं करेगा, फिर दुःख
भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है ।

अर्थात् हम पक्ष के स्थान पर इस तरह की रचना समझिये—

शिवि श्येन वृते—

‘न कपोतकपोतक तव, स्पृशतु श्येन । मनागपि स्पृहा ।
इदमद्य मया समर्पित, भवते चास्तर कलेवरम् ॥’

प्रकरणमात्मन्वनादि च प्रकाशयति—

एषा शिवे कपोत श्येन प्रति चोक्ति । अत्र कपोत आत्मन्वनम्, तद्गत व्याकुलीभवनमुद्दीपनम्, तस्य कुते स्वकलेवरार्पणमनुभावः ।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद् दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनकपोतयोर्मध्यभक्षकत्वापत्तरेव न शिविशरीरस्यापिनोऽभावत् तदप्रतिपत्तेः ।

हे श्येन ! तव स्पृहा जिपत्सा मनागपि, कपोतक-पोतक पारावतस्याशुनम्पनी-पशावक न स्पृशतु । यत्र इदं चास्तर कपोतशरीरापेक्षयाऽधिकमामलत्वादतिमनोरम कलेवरम् अद्य मया मयतो समर्पितमित्यर्थः ।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः । तद्गत कपोतनिष्ठम् । तस्य वृते कपोतस्य जीवन रक्षार्थं । वृत्यादिव्यभिचारिभावश्च बोध्यः ।

प्रत्यया ज्ञानम् । श्यतो भक्षक कपोतश्च भक्ष्य । श्येन कपोतशरीरस्यार्थो, ननु शिविशरीरस्येत्यपिनोऽभाव शिविशरीरस्य । तदप्रतिपत्तं शरीरदानाप्रतीतेः ।

अत्र पद्ये कपोतरक्षार्थं शिविकर्तृक-श्येनोद्देश्यक-शरीरदान प्रतीयत इति पूर्ववद् दानवीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः ।

श्येनो हि भक्ष्यस्य कपोतशरीरस्यार्थो, नत्वभक्ष्यस्य शिविशरीरस्य, तस्माद्या-चक्ष्म्यामावेऽत्र दानप्रतीतरसम्भवात् दानवीररसध्वनिरित्युत्तरपक्षभावसेयः ।

हे श्येन ! (बाज !) नदी गदा (मारने की इच्छा) दयनीय इन कबूतर के बच्चे का थोड़ा भी स्पर्श न करे (ऐसी मेरी अभिलाषा है) । मैंने आज गने श्येने इस सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया अर्थात् नू मार शरीर को गशका अना धुआ-ज्वाला की शान्त कर और कबूतर के इस बच्चे को मन मार । प्रथम पद्य में कबूतर के बच्चे को निर्भय रहने का आश्वासन दिया गया है और द्वितीय पद्य में बाज को, कपोत-पोतक का इनका नहीं बगने का सम्मति दी गई है जो उक्त आश्वासन की अग्रगण्य अधिक महत्त्व है । अत एव अन्वकार ने प्रथम पद्य को दिनाय पद्य में बदलना आवश्यक समझा । इस श्लोकार्थ का आधार एक पौराणिक कथा है—राजा शिवि की दयालुता की ख्याति बहुत ही चुकी थी, इन्द्र ने उनका दयालुता की परीक्षा करना चाही, अतः इन्द्र स्वयं बाज बन गये और भय की कपोत बनाया । फिर उस बाज ने अन्विष्ट बाज उस कपोत ने राजा शिवि की शरण ली और शिवि ने अपना शरीर देकर बाज में कपोत की रक्षा की ।

यह राजा शिवि की प्रथम श्लोक में कबूतर के बच्चे के प्रति और द्वितीय श्लोक में बाज के प्रति उक्ति है । वहाँ कबूतर का बच्चा आत्मन्व है, उसकी व्याकुलता उदीपन है और उसको रक्षा के लिए अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है । इसी तरह पद्य आदि मजारी हैं, यह भी समझ लेना चाहिए । कारण यह है कि इन सब भाषों के संयोग से ‘दान-वीररस ध्वनि’ के व्यवहार का कारण होता है ।

यहाँ शरीर-दान की प्रतीति होती है अतः यह पद्य ‘दानवीर ध्वनि’ का ही उदाहरण है ऐसी रक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि बाज का खाद्य कबूतर है, अतः यह कबूतर का नाशक ही उदाहरण

ननु शिविकृत शरीरापंगमेव दानमिति कुतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्काम-
भिदधासि—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपातशरीरप्राणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्य-
त्वात् ।

युद्धवीररमध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

समराङ्गणे सन्नद्ध रावण श्रीरामो ब्रवीति—

‘रणे दीनान् देवान् दशवदन ! विद्राव्य, वहति,
प्रभावप्रागल्भ्य त्वयि तु मम कोऽय परिकर ।

ललाटोद्यज्ज्वाला—कवलितजगज्जालविभवो

भवो मे कोदण्डच्युतविशिश्ववेग कलयतु ॥’

उपाधि प्रयोजनरूप निमित्तम् ।

यत् शिवि कपोतशरीररक्षार्यं तत्परिवर्ते स्वशरीरमापिषत् । ततो (द्रव्यस्य)
विनिमयो न तु दान प्रतीयते, निरुपाधिकस्थल एव दानस्य प्रत्ययादित्याशय ।

रे दशवदन रावण ! दीनान् निरतिशयपराक्रमहीनतया दुर्गंतान्, देवानिन्द्रादीन्,
रण समरे, विद्राव्य बान्दिशिकान् विधाप्य, प्रभावप्रागल्भ्य प्रभुत्वप्रीडिमनुभावधृष्टता
वा, वहति धारयति (स्वल्पबलामरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुन,
मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकर समराय सन्नाह समारम्भो वा कोऽय वीदृश ? ।
(किन्तु) ललाटाद् भालाद् उद्यन्त्या, ज्वालया तृतीयनयनानलशिखया, कवलितो
मक्षित (मस्मीकृत) जगज्जालस्य ब्रह्माण्डमण्डलस्य, विभवो विभूतियेन, तादृश
(तृतीयनेत्रोन्मीलनमात्रमस्मीकृतत्रिभुवनम्बलत्साहाय्यार्थमुपस्थित) गव स्वय
भगवान् पिनाकी, मे रामस्य, कोदण्डाद् धनुष , च्युतस्य निर्गतस्य बाणभ्य वेग रह,
कलयतु, धारयतु जानातु वेत्यर्थे ।

क्षुद्धवीर्यामरविजयमात्रण प्रभुत्वगवाध्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्ध
नोचितम्, केवलमेकनेत्रोन्मीलनमस्मीकृताशेषमुवनेन भवेनैव मे युद्धमुचितमिति
भाव ।

हे, राजा के शरीर का नहीं, और जिस घाम का याचक जहा नहीं हो, वहा उस चीज का दान कैसे
हो सक्ता है अर्थात् यहाँ दान की प्रनाति होता हा नहीं है ।

वदि आप कहें—शिवि ने द्वारा शरीर का अपंग दान नहीं तो क्या है ? इसी का उत्तर देन
है—‘श्येनशरीर’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर की रक्षा के लिये शिवि ने अपना
शरीर दिया है, फिर वह दान कैसे कहलाया ? क्योंकि किसी चीज के बदल में न्ने दूसरी चीज दी
जाती है वह विनिमय (लन-देन) कहलाना है—दान नहीं ।

तृतीय ‘युद्धवीर’ जैसे—

हे दशमुख रावण ! पराक्रमहीन-हीन देवताओं को युद्ध में खदेडकर महा-सामर्थ्यशाली बनने
वाले तेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवार की) तैथारी क्या हो सकता है, हाँ, जिनके छलट से
निकटनी हुई ज्वालये सभय सृष्टि के वैभव को प्राप्त कर लेवी है, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष

प्राग्वत् प्रसङ्गादि दर्शयति—

एषा दशवदन प्रति भगवतो रामस्योक्तिः । इह भव आलम्बनम्, रणदश-
नमुद्दीपनम्, दशवदनावज्ञानुभवः, गर्वः सञ्चारी । वृत्तिरत्र देवाना प्रस्तावे
तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा वीररसानालम्बनत्वावगतयोऽनुद्धतैव, दशवदन-
प्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धताऽपि, तस्यावज्ञया रामगतोत्सा-
हानालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकृष्टवती भगवतो भवस्य तु
परमोत्तमालम्बनविभावत्वात् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्योजस्विनो वीररसस्य
निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता ।

धर्मवीररसध्वनिबुवाहसति—

चतुर्यो यथा—

गर्वो रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्य । तद्गतस्य देवनिष्ठस्य । कातर्यस्य भीरुत्वस्य ।
अनुद्धता कोमला वृन्दिर्दशवदनेति यावत् । उद्धता परया प्रागम्यमिति यावत् ।
तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य । प्रवर्षयती नापिकोद्धता । उत्तरार्धे तु शिवस्य
प्रस्ताव उपादानम् । ओजस्विन जोजोगुणाश्रयस्य । निष्पत्तिरास्वाद । प्रकृष्टोद्धताऽ-
तिपरया ।

इदमुच्यते—पद्येऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्यावज्ञापान्तया रावणो नालम्ब-
नम् । तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीति । अत एव द्वितीयचरणे रावणस्या-
मरविद्वावणतामधर्मसूपनाय यद्यप्युद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धता वृत्ति । विध्वविदित-
परात्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीति ।
तस्मादुत्तरार्धे तदनुकूलैव प्रकृष्टोद्धता वृत्ति । सर्वत्र रसानुमारिणो वृत्तिव्यवस्था
बोध्या ।

से निकले हुए बाणों के वेग को सन्हाट । अधिप्राय यह है कि मैं तुझे जो अपने सामने कोई बोज ही
नहीं समझता, परन्तु यदि समस्त संसार के मंहारक महाकाठ हर भी युद्ध में मेरे सामने आवें तो
मे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर विस्मित हुए दिना नहीं रहेंगे ।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है । यहाँ शिव आलम्बन है, युद्ध-दर्शन स्वीपन
है, रावण का विस्कार अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यस्य होने कला राम का गर्व
संशरीभाव है । वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाठ) नहीं है अर्थात् कोमल
है, शिमले उगकी (देवताओं को) कागला प्रकट होता है और कागला को अभिव्यक्ति से यह शिष्ट
होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनके वाररम का आलम्बन नहीं समझत । हाँ, रावण के प्रस्ताव में
देवताओं के दर्प को दमन करने काली उनके वारता का प्रतिपादन करने के लिए रचना उद्धत
भवत्य है, परन्तु उक्त औद्धत्य में प्रदर्श नहीं है क्योंकि राम ने उनका दिग्भार किया है, उसके
भरती बागरी का नहीं समझा है अतः वह उनके उल्हास का आलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर
उसको आलम्बन मानकर उस की प्रतीति नहीं हो सकगी । परन्तु भगवान् शूर अस्तुत्तम आलम्बन
विभाव है और उनके आलम्बन मान कर ही श्रेयोगुणयुक्त वीररम की सिद्धि होती है, अतः उनके
प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्धत है ।

चतुर्थे चर्नवीर सेते—

अधर्मणापि शत्रुविजय विवेहीति वदन्त युधिष्ठिरो व्याहरति—

'सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणवारा ।

अपहरतुतरा शिर कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपेति धर्मात् ॥'

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एपाधर्मणापि रिपुर्जेतव्य इति वदन्त प्रति युधिष्ठिरस्योक्ति । अत्र धर्म विषय आलम्बनम्, 'न जानु कामात्र भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ।' इत्यादिवाक्यालोचनमुद्दीपनम्, शिरश्छेदाद्यञ्जीकारोऽनुभाव घृति सञ्चारिणी ।

वीररसस्य प्रकारचतुष्टयवत्त्वस्यैव सूचयन्नुपसहरति—

इत्थ वीररसस्य चातुर्विध्य प्रपञ्चिन प्राचामनुराधात् ।

तमेव स्वविचार प्रकाशयति—

वस्तुतस्तु—बहवो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते ।

तथाहि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादिपद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपति सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवात् ।

राज्यलक्ष्मी (मम), सपदि शीघ्र, विलय नाशम्, एतु प्राप्तोतु । अथवा (मम) उपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, घारा पतन्तु । (अथवा) कृतान्तोऽन्तक (मम) शिर, अपहरतुतरा नितरा छिनत्तु । तु पुन (तथापि) मम धर्मकनिष्ठस्य युधिष्ठिरस्य, मतिर्विद्धि धर्मात्, मनागीपदापि, न अपति नापसरतीत्यर्थं ।

धर्मस्य विषय सम्बन्धनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषय । 'धर्मो नित्य सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवा नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥' इति भारतीयपद्यस्यावशिष्टाद्य । आलोचन समीक्षा ।

प्राचा मम्मटादीनामनुराधात्, न तु स्वविचारात् ।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते । तथाहीत्यादिना प्रकारस्वातुल्यप्रतिपादनम् ।

एव यदि निश्चिदंलक्ष्यमात्रण प्रकारभेद स्थान, तर्हि शृङ्गाररसवद् वीररसस्यापि भूयास प्रकारा भवेयु । तस्मान्नद प्रकारभेदकल्पन युक्तमिति स्वरम ।

चाहे राज लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा सङ्गो की पारायें मरे ऊपर गिरें, किन्ना त्वयं वन मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अनुमात्र भी विचलित नहीं होना ।

यह 'अधर्म से भी शत्रु को जानना चाहिये' ऐसा कहने वाच के प्रति युधिष्ठिर की वक्ति है । यहा धार्मिक विषय आलम्बन है, 'काम भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना प्राण के लिये भा धर्म का कर्मो नहीं छोड़ना चाहिये' इत्यादि वचनों का विचार करना उद्दीपन है, मम्मक वर्तन अदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्चारीभाव है ।

इस तरह मम्मद अदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वार रस के चार भेद दिखलाये गये हैं ।

वस्तुतः शृंगार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद दिखलाये जा सकते हैं । देखिये,— यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु' 'इत्यादि पद्य को 'मम तु मतिर्न मनागपेति सत्यात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो शोषा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इस तरह चतुर्थ चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया, तब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है ।

प्राचीनपद्यापात्री शब्दुते—

न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गतया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम् ।

समादधाति—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणनानोचित्याद् ।

सत्यवीररूपनवीनप्रकारान्मुपगमेऽपि न निस्तार इत्याचष्टे—

एव पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते ।

उदाहरति—

यथा—

हयग्रीवोपासनालम्बसिद्धि कश्चन पण्डित सदसि द्रुते—

'अपि वक्ति गिरा पति' स्वयं, यदि तासामधिदेवताऽपि वा ।

अयमस्मि पुरो हयानन—स्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधि ॥'

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि गतायंतया नाधिकप्रकार-कल्पनासम्भव इत्यभिप्राय ।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययो परामशक ।

यथा सत्य धर्म एव, तथैव दान दया चेति तुल्यन्यायात् सत्यवीरवद् दानवीर-दया-वीरयोरप्युपादानं पृथङ् न सङ्गच्छते । तस्मात् प्राचा प्रसारपरिगणना नोचि-तेत्याशय ।

यदि स्वयं गिरा पनिर्वृहस्पतिरपि (ना कथा मानवपण्डितानाम्) वक्ति शास्त्रार्थविचारे पूर्वंपक्षमुपक्षिपति, यदि वा तामा गिराम अधिदेवता वाग्देवी (स्वयं) सरस्वत्यापि वक्ति, (तर्हि) हयाननस्य भगवतो हयग्रीवस्य, स्मरणेन उल्लङ्घित उत्तीर्णो वाङ्मय शब्दब्रह्मोपापारत्वादम्बुधिर्धने, तादृशो हयग्रीवकथानासादितसर्व-शास्त्रतत्त्वागम, अयं गम्भुयत्सोऽहम् पुरस्तदुत्तरदानायाप्रेऽस्मि भवामीत्यर्थ ।

हयग्रीवोपासनालम्बपाण्डित्यमिन्द्रिरह नाशाद्वृहस्पतिना सरस्वत्या वा शास्त्रार्थविचारे न मनापि विभेभि, विमुक्तान्यै महेति सारम् ।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, अतः 'सत्य-वीर' का भी अन्तर्भाव 'धर्म-वीर-रस' में हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

तब मैं कहूँ कि दान और दया भी जो धर्म के अन्तर्गत ही हैं, फिर 'दानवीर' और 'दया-वीर' को भी पृथक् भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है ।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' का भी प्रतीति होनी है ।

जैसे—हयग्रीव की उपासना से अद्वितीय भिन्नता प्राप्त करने वाला कोई पण्डित मना में बैठ कर कह रहा है—'अपि वक्ति' इत्यादि : यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साश्वान् वगणित्वादी देवो बोलें तथापि हयग्रीव के स्मरण से सम्पन्न वाङ्मय-को पार करने वाला यह मैं मानने उपस्थित हूँ अर्थात् अब मैं बृहस्पति तथा परस्वती से भी बाद में करने वाला नहीं हूँ तब इस मना में उचित आप जैसे साधारण पण्डितों को बात ही क्या ? निमग्न मन करे, आश्वर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर सकना है ।

स्वोक्त समर्थयितुमालम्बनाद्याह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनं सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानु
भाविता गवण सञ्चारिणा पोषित उत्साहो वक्तुं प्रतीयते ।

पाण्डित्यवीर युद्धवीरे प्रागुक्तेऽन्तर्भाव्याक्षेपपरिहारमाशङ्कत—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत् ।

समादघाति—

क्षमावीरे किं ब्रूयाः ?

क्षमावीरमुदाहरति—

यया—

क्षमावान् व्याहरति—

‘अपि बहलदहनजाल, मूर्च्छिन् रिपुर्भे निरन्तर धमतु ।

पातयतु वाजसिधारानहमणुमात्रं न किञ्चिदानाप ॥’

स्यापि उत्साहस्य बृहस्पति सरस्वती चालम्बनम्, सभा तद्वदकपण्डितमण्डली
वेष्टा चोद्दीपनम्, समास्यमकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभाव, पाण्डित्यविषयको गवण
व्यभिचारीनि वक्तृगतस्य पाण्डित्यवीररसस्य प्रतीतिर्भवतीति शेषः ।

शास्त्रयुद्ध-शास्त्रयुद्धयोर्विजिगीषैकमूलकत्वे युद्धत्वस्योभयनापि मन्वेनाभेदान्
पाण्डित्यवीरो युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वनिरिक्त इति शङ्कापक्षायम् ।

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भाव्यपि क्षमावीररूपं प्रकारो हृत्नोऽपलपितुमशक्य
एवेति प्राचा प्रकारपरिगणनमसङ्गतमेवेति भावः ।

रिपुं सन्तुं मम मूर्च्छिन् शिरसि, बहल भूषिष्ठम्, दहनजालमग्निपुञ्जम्, अपि निर-
न्तर सन्तत धमतु नानुसयोगेन बध्नेयतु, असिधारा करवालजला वा पातयतु,
(तथापि) अहं तितिक्षु, अणुमात्रमीषदपि, न किञ्चिद् अमापे निवारकत्वेन
वदामीत्यर्थः ।

यहाँ बृहस्पति वीर सरस्वता का आलम्बन है, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, मण्डली विद्व-
न्मण्डली का तिरस्कार करना अनुभाव है और गवण सञ्चारीभाव है, इन भावों से सभा का पाण्डित्य-
विषयक सम्बन्ध अभिव्यक्त होगा है, जो ‘पाण्डित्य-वीर-रस’ का स्थायीभाव है और तम रस के
व्यवहार को प्रकृत्य देगा ।

यदि आप कहेंगे कि यह तो ‘युद्ध-वीर’ ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी विजिगीषा रहती है,
अथ युद्ध से उसके भी संग्रह हो जाय है ।

तो मैं भी आप के कथनानुसार कश्चिद्वाद को युद्ध मान लेना हूँ किन्तु फिर भी तो आप
को इति-तिदि होती नहीं दीखती, क्योंकि ‘क्षमा-वीर’ के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ? अर्थात् उसका
आलम्बन तो नहीं किया जा सकेगा ।

ब्रह्मे—उक्तुं भवे ही में मन्त्र पर अग्नि-युद्ध को फूँक फूँक कर बसों (प्रखण्डित करें) अपना
उत्तर को गिरावें, पर मुझे कुछ भी बोलना नहीं है ।

प्रसङ्गमाह—

क्षमावत् उक्तिरियम् ।

क्षमावीरवद् बलवीररूपप्रकारस्यादि सम्मवात् परिगणनमयुक्तमेवेत्याह—
बलवीरे वा किं समादध्या ?

बलवीररसध्वनिमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो वासव ब्रवीति—

'परिहरतु घरा कणिप्रवीर, सुखमयता कमठोऽपि ता विहाय ।

अहमिह पुरुहूत । पक्षकोणे, निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि ॥'

प्रसङ्गमभिधत्ते—

पुरुहूतं प्रत्येषां महत्मत उक्तिः ।

अत्रोत्साहस्य विपुक्रुतापकार आलम्बनम्, तदस्पृशताद्युद्दीपनम्, मीनमनुभावो धृतिश्च व्यभिचारिभावः ।

उक्तरीत्या बलवीरोऽपि प्रकारं सम्मवतीति तत्रप्रश्ने किं समाधानं कुर्यात् । न हि तस्य प्रकारान्तरेणैवैव कथमपि कर्तुं शक्यं इत्याशयः ।

हे पुरुहूत महेंद्र । कणिप्रवीरं रूपं श्रेष्ठं शेषं, घरा निरमि धृता वसुधा, परिहरतु परित्यजतु, कमठं कुर्मो मगवानपि ता वृष्टस्या वृष्टी विहाय विमृज्य सुखं म्वाभ्यस्य, अयता प्राप्स्येत् । अहं वैनतेय, इहात्र पक्षस्य महत्, कोण एकदेशे (न तु गमन्ते पक्षे) इदं प्रत्यक्षगोचरम्, निखिलं सम्पूर्णं, (पारादिपटितं) जगदण्डकं वहाण्यमण्डनं, वहामि (हेतुर्वाचं) धारयामीत्यर्थः ।

इह शेषं विरसा, वमठं वृष्टे, न च कथञ्चन वृष्टी विमन्ति, अहं पुनः पक्षकोणेनाप्यस्यण्टव्रह्माण्डमण्डलं हेतुया वोद्गमनमिति शेषकमठापेक्षयाऽऽमनो व्यतिरेकं प्रतीयते ।

अत्रापि शेषकमालम्बनस्य, तत्प्रसाताकर्णनाद्युद्दीपनस्य, घराधारणोद्यमाद्यनुभावस्य, गर्वादिभ्यविचारिणश्च प्राग्बुद्धो विधेयः । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यात्रनुमतं पाठं एवाङ्गीकृतं । 'जगदवलमम्' इति पाठस्तु व्यतिरेकपोषकत्वाद्दुर्विज्ञोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सवपिक्षया महत्तमत्वेन शीरवोत्पथं बोधकत्वान् परित्यक्तं ।

यह किंगी क्षमा-शील पुत्र भी उक्ति है । यहाँ शत्रुकृत अराधन आलम्बन से अङ्कुरित, वगमन व्यक्त-रूप प्रसंगारूप वशीरन से वशीरिन मीन धारण-रूप अनुभाव से अनुभावि और धैर्य भादि मण्ठी भावों से शेषिन वला वा क्षमाविषयक समाह-श्री 'क्षमा-शीर' का स्थायीभाव है—मनीषमान होकर 'क्षमा-शीर-रस-व्यवहार' का कारण होता है ।

अथवा 'बल-शीर' के विषय में क्या समाधान देग ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'शीर-रस' का एक भेद आ'य स्वीकार करना पड़ेगा ।

वैशे—श्री में मन् से वीर शेषनाम अपने ऊपर से पृथिवी को हटा दें और बचन भागान् भी हने स्थान पर सुन-उत्पन्न करें । हे देवन्द' मैं अट्टा ही बनने पर वे एक श्रेष्ठ पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारण कर लेता हूँ ।

यह इन्द्र के प्रति गरुड की उक्ति है । यहाँ 'बल-शीर-रस' की प्रतीति होती है ।

उक्तोदाहरणत्रये वीररसध्वनेरभावमाशङ्कते—

ननु 'अपि वक्ति' परिहरतु धराम्, इति पद्यद्वये गर्वं एव नोत्साहः । मध्य-
स्थपद्ये तु धृतिरेव ध्वन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत् ।

समादधाति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितामेव किं न ब्रूया ? रसध्वनिसामा-
न्यमेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतायंये ।

ननु रसध्वनिषु व्यभिचारिभावोपेक्षया स्याद्विभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तदव-
लादसध्वनिष्वपदेश, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिष्व्यभिचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति
भावध्वनित्वमेवोच्यत इति चेत् न, उभययोत्साहस्यैव स्याद्विभावस्योत्कटत्वेन प्रतीय-
मावत्वात् । किञ्च बलवीराद्युदाहरणपूर्वसाहस्य प्रतीतिर्न भवति दानदयामुद्धवीरो-
दाहरणेषु तु भवतीति वस्त्वचिदुक्तिरपि राजाज्ञेपोपपत्तिविचारवन्धितैव, उभयत्र—
वैषम्याननुभवत् । तस्मात् प्राचीनानां वीररसप्रकारपरिगणनभसङ्गतमित्येवाह—

मध्यस्थ पद्यम् 'अपि बहले'त्यादि ।

प्रथम-तृतीयपद्ययोः प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपद्ये च धृतेरेव व्यभिचारिभा-
वस्य, ननुत्साहरण स्यान्न प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽज्ञित' इत्युक्तेरेतानि
त्रोष्यपि भावध्वनेरेव न तु रसध्वनेरुदाहरणानीति शङ्कादसतात्पर्यम् ।

'तद्व्यभिचारिध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्भाशुद्धतिरस्त्वत् ।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषूच्यते, तदा दानदयामुद्धवीरेष्वपि
गर्वस्य, सत्यवीरे च धृतेर्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुष्यताम्, वीररसध्वने-
रुच्छेद एव त्रियताम् । अथवेत्य सर्वेषु रसध्वनिषु तत्तद्रसध्व्यभिचारिभावस्यापश्य
प्रतीते सर्वत्र भावध्वनिरेवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिगतायार्थीक्रियताम्, इत्य
हि सबलरसतन्त्रध्याकुलोभाव स्यादित्यहो तव मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रवर्य इति समा-
धानपक्षाशय ।

का शङ्का यह होती है कि 'अपि वक्ति' और 'परिहरतु धराम्' इन दोनों ब्रिजको
आप क्रमशः 'गाण्डित्य-वार' और 'बल-वार' के उदाहरण मानते हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति
होती है—उत्साह को नहीं, अतः ये तानों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते वरन्,
'भाव-ध्वनि, के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाऽज्ञित' इस भिद्वान्त के अनुसार
व्यञ्जनात् व्यभिचारि भावों को 'भाव' माना गया है ।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनिों का स्वीकार
किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भा गर्व आदि भावों का ध्वनिदा ही क्यों नहीं मान
लें जायें ? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वार्ता के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के
उदाहरणों में धर्म की प्रतीति अवश्य ही होता है । अर्थात् जहाँ रस रस की ध्वनि होता है, वहाँ वर
रस के अनुचित व्यभिचारा भावों की प्रतीति का होना आवश्यक ही है, फिर वन सब जगहों में वन
वन व्यभिचारीभावों की ध्वनिों को ही मान कर 'रस-ध्वनिनाश' का उच्छेद क्यों नहीं कर
रिखा जाय ? अर्थात् आपके हिसाब से 'रस-ध्वनि' नाम की कोई चीज ही माहित्यशून्य है नहीं रह
जायगी ।

स्यापिप्रतीतिर्दुरपह्लावा चेत्, तुल्य प्रकृतेऽपि । अनन्तरोक्तपद्ये तु मोत्साह
प्रतीयते, दगावीरादिषु प्रतीयत इति राजाज्ञामात्रम् ।

अथाद्भुतरसध्वनिदुहाहरति—

अद्भुतो यथा—

वदनान्तमंतविश्वदर्शनचकिता यशोदा गोविन्द वदति—

‘चराचरजगज्जाल-सदन वदनं तव ।

गलद्गगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥’

प्रकरणादि प्रदर्शयति—

वदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यशोदाया इयमुक्ति ।
अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुदोपनम्, हृतचेतनत्वम्,
तेन गम्य रोमाश्रनेरस्फारणादि चानुनाय प्राप्तादयो व्यभिचारिणः ।

दुरपह्लावत्वेनोक्तव्यत्वं प्रतीते । अनन्तरोक्तपद्य परिहरतु इत्यादि ।

हे कृष्ण ! चराचरजगज्जालस्य स्थावरजङ्गमाश्रकविश्रमण्डलस्य सदनमधि
करणम्, गलनस्थन गगनस्य व्योमन (किमुतान्त्रवस्तुनाम) गाम्भीर्यमगाधत
यस्मात्, तादृशम तव जालकृष्णस्य वदन मुख वीक्ष्य बिलोक्य हृतचेतना विम्बया-
तिशयेन जडीमूताश्रमोत्पन्नम् ।

वदाचिज्जन्मनागरे तथा च श्रीमद्भगवत— पीतप्रायस्य जननी मा तस्य
वचिरस्मितम् । मुग्न बालगती राजन ! जन्मप्रती दत्तो इदम् ॥ य रोदमी उपारिना
कमाशा सुयेंदुवर्जितसनाम्बुधीश्व । द्वीपान नगास्त्रदुष्टितवनानि भूनानि यानि
स्थिरजङ्गमानि ॥ सा वीर्य विश्व मह्या राजन ! सञ्जातवेपथु । सम्भ्रान्त्य मृग
पावाशी नेत्रे आमौन मुविस्मिता ॥ जन्तमंत कृष्णमुमुक्षुष्यस्यम् । तेन हृतचेतनत्वेन
गम्य वाचनशब्दविरहात् पापनया व्यङ्ग्यम् । नेत्रय स्फारणमतिविकासनम् ।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनो विस्मयमदीनम्बनादिसामश्रीसमयपानाद
द्भुतरसध्वनिः ।

यदि आप कहें कि ‘रस-ध्वनि’ के जो मर्म गमन संग्रहण हैं उनमें व्यभिचाराभावे को अल्प
स्वादीभावे को प्रतीति उक्त रूप से होती है, अतः यहाँ रस-ध्वनि मानते हैं तब भी कहेंगे—यहाँ
(पाण्डित्य-वार आदि -) भा उन्मादरूप स्थायीभाव को उक्त प्रतीति होती है, अतः यहाँ भी वीर
रसध्वनि मानिये ‘जुद्ध-वीर’ आदि में उन्माद ही प्रतीति होती है और ‘पाण्डित्य वीर’ आदि में
जहाँ ऐसा मध्य ने राजाप्रधान होगा—सुकर्मनव नहीं । मायाएँ यह है कि प्राचीनों को ‘वीर-रस
के बार में है’ का मन्त्र अल्पमहतामूल्य है, यन्तुन उनके बहुत भेद ही मन्त्र है ।

जो रसध्वनि और उद्भूत-स्वरूप संसार का निवृत्त-भाव है और जिसके सामने में गमन ही
भी गम्योरना नष्ट हो जाती है, अतः तो मुग्न को देव कर ऐसा नेत्रय धुप हो गया है—अर्थात् से में
हल-मुक्ति हो गई है ।

यदि किसी समय भगवान् श्री कृष्ण ने विद्वान् वदन को देखने के बाद यशोदा को उक्ति है । यहाँ
‘वदन-मुग्न कृष्णत्व है, उसमें अर रसपूर्ण स्थावर जङ्गमालम्बन गगन का अश्लोकन उदोपन है,

अत्र रतिभावध्वनित्वमाशङ्कित खण्ड्यति—

नवात्र पुत्रगता प्रीति प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात् ।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीताया वा तस्या विस्मयस्य गुणत्व न युज्यते ।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्व केनाप्याशङ्कित निराकरोति—

एव 'कश्चिन्महापुरुषोऽयम्' इति भक्तिरपि, तस्या. 'पुत्रो ममायं बालः' इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तुमेव नेष्टे । अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः ।

नन्वत्र यशोदानिष्ठाया पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्येन व्यज्यमानत्वाद् भावध्वनेरिदमुदाहरणं न त्वद्भुतरसध्वने विम्भयस्य प्राधान्येनाप्रत्यादिति चेत्, स, पुत्रविषयकरतरत्र व्यञ्जकविरहेणाव्यञ्ज्यत्वादित्याशयः ।

तस्या पुत्ररती । गुणत्वमप्राधान्यम् ।

प्रकरणपर्यवेक्षणेनात्र पुत्ररतिप्रतीतियंछानुभविवी, तथापि तस्या अङ्गत्वान् हृतचेतनत्वेन मुख्यतया व्यज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वात् रतिभावध्वनिः, अपि त्वद्भुतरसध्वनिरिवेति भावः ।

एव विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्तौ । तस्या यशोदाया । ईष्टे शक्नोति । तस्या भक्तौ ।

ननु यदनान्तर्गतविश्वकलोकनाद् यशोदाया 'कोऽपि महानुभावः पुरुषोऽयम्' इत्याकारकबुद्धावुत्पन्नाया जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्प्रापकत्वादङ्गमिति पुनर्नयमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदाया 'पुत्रो ममायं बालः' इत्याकारकनिश्चयात्मकप्रतीती जागरूकाया, समाने विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । 'महापुरुषोऽयम्' इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहानुत्पन्नेर्गते सर्वथाऽसम्भवादिति तात्पर्यम् ।

'नैनन्व-लोप' तथा 'उसमे' व्यक्त होने वाले रोगात्र एव नयन-विक्रम आदि अनुभाव हैं और ज्ञान आदि सञ्चारोभाव है । तात्पर्य यह है कि इन सब के भावों के संयोग से अभिव्यक्त विन्मयाख्य स्थायी भाव की यहाँ प्रधानता है, अतः 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहाँ होती है ।

यहाँ यशोदा का पुत्र प्रसन्न वस्तुतः गह्वर भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि हमकी प्रतीति कठाने बाल एक भी पद इस पद्य में नहीं है, अतः पुत्रविषयक रतिरूप भाव ध्वनि का ही यह उदाहरण है— 'अद्भुत-रस ध्वनि' का नहीं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये ।

यदि प्रकरण पर्यालोचन से यहाँ पुत्र प्रीति की प्रतीति होती है यह बात अनुभवसिद्ध हो, तब भी यह (पुत्र प्रीति) नैतन्व-लोप की बात से प्रधानतया व्यक्त होनेवाले विस्मय की अपेक्षा गौण ही होगी । विस्मय उसका अपेक्षा गौण नहीं हो सकता ।

इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ कर भक्ति भी यहाँ व्यञ्ज नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह बालक मेरा पुत्र है' इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसको उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है अतः भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है ।

अथ काव्यप्रकाशकृता दत्तमद्भुतरसध्वनेरदाहरण रूपयति—

यत्तु सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरदाहृतम्—

‘चित्र महानिष नवावतार, क कान्तिरेपाऽभितवैव भङ्गि ।

लाकोत्तर धैर्यमहो ! प्रभावः काव्यावृत्तिर्नूतन एष मगं ॥’ इति ।

इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यञ्जयतयाऽऽभुतरसध्वनिरिति मद्भुतममट । तन्मतं
दृश्यति—

तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयता नामान् विस्मय, परन्त्वसौ कथङ्कार ध्वनि-
व्यपदेशहेतु ? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयाया प्रधानीभूताया. स्तोत्रगत-
भक्ते. प्रकर्षवत्वेनास्य गुणीभूतत्वात् ।

निदर्शनदर्शनत स्वमतं द्रष्टव्यम्—

यथा महाभागे गीतासु विश्वरूपं दृष्टवत्. पार्थस्य—‘धषयामि देवाऽतव
देव ! देहे, सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ॥’ इत्यादी वाक्यसन्दर्भे ।

चित्रमाश्रयम्, एष महान् परमोत्कृष्ट नवावतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भाव,
एपाऽस्य शरीरे विद्यमाना काचित्शक्ति इव ? (कुत्राप्यन्यत्र न) अमिनशाऽभूतपूर्व-
वास्य मङ्गी रीति, लोकोत्तर मनुष्यलोकाप्राप्य, धैर्यं धृति, अहो अद्भुत प्रभावोऽ-
नुभाव, काऽप्यनिर्वचनीयैव, आहृतियकार (अङ्गसन्निवेश) एष (तस्माद् धातु)
नूतनोऽभूतपूर्व, सर्गं सृष्टिरस्तीत्यर्थं ।

तत्र सम्मतोक्तविषये । असौ विस्मय । कथङ्कार केन प्रकारेण ।

अत्रोदाहरणे प्रतीयमानाऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया भवनेरङ्ग-
भूताया उत्पत्त्यप्रयोजकत्वादङ्गम् । तस्मान्महापुरुषविषयकमतिप्राधान्याद् भावध्वने-
रेवोदाहरणमिदमद्भुतरसध्वने, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः ।

पार्थस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्बन्धः ।

अथ काव्यप्रकाशकार द्वारा उपस्थित ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाहरण का दूषित करने का छिपे
रमका स्वरूप यह दिखलता है—‘यत्तु इत्यादि । सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यो ने ‘चित्र
महानिष...’ इत्यादि श्लोक को ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाहरणरूप में लिखा है । उस श्लोक का
अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवतार आधर्य-जनक है, ऐसा कान्ति आज तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं
हुई, यह चटने, बटने, न लने और टूटने का वह भा सर्वक नरीन हो है, असी रक्त धैर्य है, चित्त-
द्या-अदर्य-वक्ति कर देनेवाला प्रभाव है अनिर्वचनीय अकार है, एक नई सृष्टि है अर्थात् अत एक
देगा कोई उत्पन्न नहीं हुआ, अकर हम रूप में वह निरा मरुत्तुय वा अविर्भाव हुआ है । यह
महान् वामन के कथन से विभिन्न बलि को उक्ति है ।

यहाँ प्रधानत्वा विस्मय व्यङ्ग्य होगा है, अत यह ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ का उदाहरण है, इस
सम्मत-मत का सम्बन्ध करते हैं—‘तद्येद् वक्ष्यम्’ इत्यादि । अनेक यह है कि हम यप में
‘विस्मय’ रचना मान का प्रतीति होती है, हो, में हमारा अन्वय करना नहा चाहता, पर वन
विस्मय के कारण यहाँ अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार जैसे हा मरगा है ! क्योंकि इस श्लोक में
विमि महापुरुष का वर्ण किया गया है, हमके विषय में स्तुति करने (बलि) को जो भीत है, वही
यहाँ प्रधान है और विस्मय उसके उदाहरण बनाता है, अत उसकी अन्वया यह गीत हो गया है ।

पर्यवसितमाह—

इत्य चास्य रसालङ्कारवमुचितम् ।

अत्रैव पुनरन्यथाऽऽक्षद्वय निरस्यति—

भक्तिर्नैवान प्रतीयत इति चेत्, दरमुकुलितलोचनं विदाद्भुवंन्तु सहृदया ।

अथ हास्वरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

यथा भगवतो विश्वरूपं विलोक्यार्जुनिनामिहिताया 'पथ्यामि देवास्तव देव । दह' इत्यादिभगवद्गीताघटकवाक्यपरम्पराया भक्ति (भगवद्विषया रति) प्रतीयमाना प्रधानम् अदृष्टपूर्वरूपदर्शनजन्यो विस्मयस्तु भक्तिपोषकतयाऽङ्गमिति भावध्वनिरद्भुतरसत्याङ्गत्वेन रसकदलद्वारद्वय, तथैव प्रकृते 'चित्रम्' इत्याशयवि भक्ते प्राधान्यमद्भुतस्य चाङ्गत्वमित्यभिसन्धिः ।

- अस्य प्राचीनोक्ताद्भुतरसध्वन्युदाहरणस्य । रसालङ्कारत्वं रसबदलद्वारोदाहरणत्वम् । एतद् भावध्वन्युदाहरणत्वस्याप्युपलक्षकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधात् ।

यदि च भक्तिरत्रोदाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्या प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा सति विस्मयस्यैवात्र प्राधान्येनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपालेन कश्चिन् कथयेत् तर्हि विषयेऽस्मिन् तदस्या परमाप्ताः सहृदया एव भावतयेषाम्भोसिततपन यथा स्यात्, तथा तथ्यातथ्य जानन्तु, अथ न किञ्चिद् भ्रम इति सारम् ।

आग्रह विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे भक्तेरिह प्राधान्य विस्मयस्य चाप्राधान्य व्यक्त प्रतिभायादिति भावः ।

रसविशेषणतयैव पुस्त्वम्, अन्यथा 'हासो हास्य च' इत्यमरात् क्लीबत्वमेव ।

एते श्लोके पर भक्ति की ही प्राप्नता होती है और विस्मय गीत ररता है इममें इणत दिग्गज हैं—'यथा' इत्यादि । भगवान् ने मुग्ध अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखाया, किन्तु देपकर अर्जुन भगवान् में वद्वत है—'हे देव' मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा नाना तरह के सब प्राणियों को देर रहा हूँ । इत्यादि गीता के वाक्यों में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उन भक्ति की अंशु वह गीत है जो अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति उत्पन्न हुई । चात्पर्य यह है कि जैसे यहा विस्मय की प्रधानता नहीं है, वैसे हा कक पय में भी वमका प्रधानता नहीं ही है ।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि 'चित्र मरानेव - ' इत्यादि श्लोक अद्भुत-रसध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता, अपितु भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय भी यहाँ बहु-विभाव-जन्व है. अतः तन्मूलक 'रसवत्' अलंकार यहाँ होगा ।

यदि आप कहें कि 'चित्र मरानेव - ' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूँ ? केवल सहृदयों से इतनी प्रार्थना करूँगा कि आप परा भक्ति मूढ का शब्द होकर सोचें और फिर कहें कि यहा भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं अर्थात् आग्रह छोड़कर विचार करने से आप को भी यहाँ भक्ति की प्रधानता अत्यय अवगन होगी ।

अथ 'हास-रस' का उदाहरण देते हैं—'हास्यो यथा' इत्यादि । शान्य जैसे—

वालिगो नवतादिवपुत्रो ब्रवीति—

'श्रीतातपादं विहिते निबन्धे, निहृपिता नूतनयुक्तिरेया ।

अङ्ग गवा पूर्वमहो पवित्र, कथं न वा रामभयमपल्या ॥'

आत्मन्वनाद्यापट—

तात्किकपुत्रोऽत्रालम्बनम्, तदीया निशङ्कोक्तिरुद्दीपिका, रदनप्रवाशादि-
रुद्गादनश्चानुभाव—व्यभिचारिणः ।

अथ हास्यस्य भेदं दशमित् प्राचीनोक्तिमनुवदति—

अनाहुः—

'आत्मस्य परसस्यश्चेद्यस्य भेदद्वयं मृतम् ।

आत्मस्यो द्रष्टुरत्पत्रो विभावेशोभात्रत ॥'

हमन्तमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।

योऽसौ हास्वरमस्तज्जै, परस्य परिकीर्तित ॥

उत्तमाना मध्यमाना, नोचानामप्यसौ भवेत् ।

उदस्य कथितस्तस्य, पदभेदा नन्ति चापरे ॥

श्रीतातपादं श्रीमद्भिः पितृवरणं, विहिते विरचितं, निबन्ध घनानु-
शासनग्रन्थे, एषा शास्त्रप्रमुदोद्यमाना, नूतनाऽनाविहितपूर्वा युक्तिमूलकं निहृपिता
निर्धारिता, अहो आश्चर्यम्, (यदि) गवा भेदनाम् पूर्वमङ्ग पूर्ववाप पवित्र
भेद्यम् (तदा तुच्छन्यायान्) राससस्य गर्दभस्य, घमपल्या गर्दभ्या (पूर्वमङ्गम्)
कथं न वा पवित्रमस्तीति श्रेय । गवा परवार्धस्यैव घमनामनानुमते पवित्रत्वे,
पूर्वार्धस्य शक्तकथनं तत्तुल्यस्वरुदयया गर्दभ्या अपि पूर्वार्धस्य नवीनतकणं पवित्रत्वोप-
पादनं चात्र हास्यकरमवस्यम् ।

तात्किक उक्तात्पुनरुक्तं विन् । निशङ्कोक्तिः । रदनप्रवाशो रदनविदुनिलदा-
दिनुभाव । रुद्गादयो व्यभिचारिणः ।

यत्र हास्यरात्मन्वदविभावदर्शनात् स्वयमुत्पद्यते हास, स आत्मस्य । यत्र चापर
हसन्तं दृष्ट्वोत्पद्यते, स परस्य इति प्रकारद्वयं हास्वरसस्य । अस्य हास्वरसस्य
विभावस्य परकीपहास्यदर्शनाद्भूवति । आश्रयस्योत्तम-मध्यमा-घमवर्गहान्यापि

किमी कश्चित् या पुत्र काया ई—श्रीमान् पितामे मे रते गने निबन्ध मे दह एक नवीन युक्ति
लेख दर्श वि जव गयो का पूर्व अङ्ग पवित्र है, पर हास्य का घमनाम् का दह अङ्ग पवित्र नवी नही
माना जाय । अर्धव गी और गर्दभों एक समान है । घमनाम् में गी के पक्षार्थ भाग को ही पवित्र
कहा गया है, परन्तु दर्शो वमके पूर्वार्ध भाग को पवित्र व भिन्न किया गया है और तत्तुल्य रूप से
गर्दभों के वम भाग का ना पवित्र कहने को सहाय ही गई है—यही अर्थगत बात यहाँ
हास्यापद है ।

यहाँ तात्किक का पुत्र अलम्बन है, वमका निररुद्ध कथन दर्शित है, दर्श का निरोधना अनुभाव
है और रुद्गाद अदि सहायक है ।

अथ हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन कावियों को उक्ति का अनुवाद करते
हैं—'आत्मस्य' इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एक आत्मस्य, दूसरा परस्य । आत्मस्य वमको

स्मित च हसित प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधं ।
 भवेद् विहसित चोप-हसित मध्यमे नरे ॥
 नीचेऽपहसित चाति-हसित परिकीर्तितम् ।
 ईषत्फुल्लकपोलाभ्या, कटाक्षैरप्त्रनुत्त्रण ॥
 अदृश्यदशनो हासो मधुर स्मितमुच्यते ।
 वक्रनेत्रकपोलश्चेद्दृत्फुल्लम्पलक्षित ॥
 किञ्चिन्नलक्षितदन्तश्च, तदा हसितमिष्यते ।
 सशब्द मधुर कायगत वदनरागवत् ।
 आकुञ्चिताक्षिमन्द्र च, विदुर्विहसित बुधा ।
 निकुञ्चितासशीर्षश्च जिह्वादृष्टिविलोकन ॥
 उन्फुल्लानासिको हासो नाम्नोपहनित मतम् ।
 अस्थानज. साश्रुदृष्टिराकम्पस्वन्धमूषज ॥
 शाङ्गदेवेन गदितो-हासोऽपहसिताह्वय. ।
 स्थूलकणकटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षण. ॥
 करोपगूढपाश्वरश्च, हानोऽतिहसित मतम् । इति ।

ध्रुविष्य जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-हसित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसित-रूपा पद्भेदा । तेषु प्रथम द्विकमुत्तमं द्वितीय मध्यमे तृतीय चाद्यमे । अनुत्कर्णर-
 नुत्कटे कटाक्षैरपलक्षित इति शेष । कायगत सकलशरीरव्यापि । कालमनमिति
 पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुखलीहित्यविशिष्टम् । मन्द्र गम्भीरध्वनियुतम् । निकुञ्चि-
 तानि सद्भुक्चिदान्यसी स्क्न्वी शीर्ष शिरश्च यस्मिन्निति बहुश्रीर् । जिह्वया
 कुण्डिलया दृष्ट्या विलोकन यत्र तादृश । अस्थानेऽनुचितावसरे जात । आकम्पा
 अभिव्याप्तकम्पा स्क्न्वी मूर्धजा केशाश्च यत्र तादृश । शाङ्गदेव आचार्यं ।
 स्थूल प्रबल कर्णरटु कर्णात्तनुदो ध्वान शब्दो यत्र स । वाष्पपूरेणाश्रुसमूहेन
 प्लुते व्याप्ते ईक्षणो नेत्रे यत्र स । कराम्यामुपगूढे हास्यवेगधारणायावम्बिते पाश्वरे
 यत्र स ।

बहने हैं, जो विभाव (हास्य के विशय) के दर्शनमात्र से इन में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो
 साम्य-रस दूसरे को हँसना हुआ देखकर उत्पन्न होता है तथा निम्न कारण भी हास्य हो रहना है,
 लम्बो हास्य-रस के विशेषतः जन परस्थ बहने हैं । यह हास्यरस क्लम, मध्यम और अधम तीनों
 श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः हमारी तान अवस्थाओं कहलाता है । इनमें तरह हास्य के
 दूसरे छ भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं
 नीच पुरुष में अपहसित और अतिहसित होते हैं । जिसमें कपोल उत्पन्न विकसित हों, नेत्रकोण अधिक
 विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दान दृष्टि-गोचर न होने पावें और जो मधुर हो, वह साम्य स्मित
 कहलाता है । जिस हास्य में मुख, नदन और कपोल विकसित हो जायें और दान भी श्रेय दृष्टिगोचर
 हो जायें, वह हसित कहा जाता है । जिस हास्य में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार
 शरीर के सब अंगों में उत्पन्न हो जायें, जिसके हाने से मुख लाल हो जाय, और जो कुछ टप्टी हो वहाँ
 और गम्भार हो, उसको सुषण विहसित बहने है । जिसमें कन्ध और सिर सिक्क जायें, वक्र दृष्टि

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

श्वेनाद्भ्रीतस्य तावकस्य वृत्त वर्णयति—

‘श्वेनमम्बरतलादुपागत, शुष्यदाननविलो विलोकयन् ।

कम्पमानतनुराकुलेक्षण, स्पन्दितु नहि शशाक लाटकः ॥’

आसम्बनादि दर्शयति—

अत्र श्वेन आलम्बनम्, सवेगापतनमुद्दीपनम्, आननशोपादयोऽनुभान्-
दैन्यादयः सञ्चारिणः ।

अथ बीमत्सरसध्वनिमुदाहरति—

बीमत्सो यथा—

श्मशान वर्णयति—

‘नक्षैर्विदारितान्प्राणा, शवाना पूयशोणितम् ।

आननेष्वनुलिम्पन्ति, हृष्टा वेतालव्योषित ॥’

अम्बरतलादाकाशमण्डलान्, उपागत मज्जिहृष्टम् श्वेन पक्षिघातकपक्षिविशेषम्
विलोकयन् पायन्, शुष्यद मृत्योर्मयाच्छोष गच्छद् आनन मुखमेव द्विल गस्य,
तादृश, कम्पमाना वेपथमगो तनु शरीर यस्य, तादृश, तथा आकुले विह्वले ईक्षण
यस्य तादृश, तावको वर्तकजातीयो तावेति—प्रसिद्ध पक्षिविशेष, स्पन्दितुमीयच्छ-
वितुम् (अपि) न शशाक न चक्षम इत्यर्थं ।

सवेग वेगवदम्बरादापतन श्वेनस्यावसेयम् ।

हृष्टा अङ्गमा त्रिपुलमदयलाभान् प्रमत्ता, मृतविशेषान्विष, नक्षैर्विदारितानि
पाटितान्मन्त्राणि येषां ते विदारितान्प्राणान्तेषां, शवाना मृतशरीराणां, पूयाना
शोणितानां च समाहार पूयशोणितम्, (पीनत्वस्येवम्) जाननेषु स्वमुक्षेषु प्रिय
सहचरीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थं ।

से देलना पडे और नाक फेंक जाय, उम हास का मडा उपरमिन ह । जा हास अनवर बा हो
जिमसे आगे में आम् आ जाय और कन्ध तथा केश रूव कल्पमान हो उडे वसवा नाम शाईदेव
आचार्य ने अहमिन रमा है । जिममें कर्ण को बडु ठाने वाला बडुन जेर का शब्द हो, नेशों में
अश्रु की बाद सो आ जाय और हाथों से पाश्च-अगो व' पाइना पडे, उम हास को अहमिन
मानने है ।

अथ 'भयानकरस' का उदाहरण देने है—'भयानको यथा' इति । भयानकरस जैते—

किमी दर्शक का कान है कि विश्व लावक (एक प्रकार का पक्षी, जिसे बगरी कहते हैं) ने
जमी गणतल से झपटते हुये बाज को देखा तथा उमका गुण गुण म्पा, दह कराने लगी, आगे
आवुल हो गई, इन तरह वह हिठ भी न सका ।

यहां बाज अहमिन है, उमका बडुन वेग से शय्यना उरोशन है, गुण गुण आदि अनुभव है
और दैन्य आदि अनिचारीभाव है ।

अथ 'बीमत्सरस' का उदाहरण दियेला है—'बीमरको यथा' इति । 'बीमत्सरस' जैते—

हर्षुक्त वेतली को किरा मर्तो से मुरतो को अनधियों को पाइ कर मशद और श्चिर को मुर
पर लेव रहा है । यह श्मशान अथा रणक्षेत्र का वर्णन है ।

आलम्बनादि दर्शयति—

शवा इहालम्बनम्, अन्त्रविदारणाद्युद्दीपनम्, आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमी-
लनादयोऽनुभावाः, आवेगादयः सञ्चारिणः ।

बीमत्स-हास्यरसयोरालम्बनाश्रययो पृथग्प्रतीते रसान्तरंभ्यो वैषम्यमाशङ्कते—
ननु रति-क्रोचोत्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽ-
लम्बनाश्रययो सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्साया च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीते ।

पुनरावान्तरिकी शङ्कामुपन्यस्योन्मूलयन् पूर्वपक्ष समापयति—

पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् ।

समाधानमभिदधाति—

सत्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविज्ञेयस्य तत्राक्षेपत्वान् ।

इह बीमत्सरसे । आक्षिप्ता जुगुप्साकार्यतया वैयङ्गनिकप्रतीतिगोचरा ।

इह रत्यादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयो त्रमविषयमि मूल मृग्यम् । 'प्रागुदाहृतेषु'
इत्यत्र 'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचित पाठ सन्ध्यशनीलत्वदूषणप्राप्तान् । तत्र हास-
जुगुप्सयो ।

शृङ्गारादिरक्षेपु यथा रत्यादीनामालम्बनादाश्रय पृथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये
बीमत्से च । तत्र हासजुगुप्सयोरालम्बनाद् विवृताकारादिमत्सुर्यादे पृथक् तयोरा-
श्रयस्य हासादिमतोऽप्रतीते प्रागुक्तरससप्तकापेक्षया हास्य-बीमत्सयोर्वैषम्यमिति
शङ्कादनाशय ।

ननु हासप्रधानक जुगुप्साप्रधानक च पद्य शृण्वन् पुरस्य एव हास-जुगुप्सयोरश्रय
स्यादतो न रसान्तरंभ्यो वैषम्यमिति चेत्, उच्यते—लौकिकत्वेनालौकिकत्वेन च हास-
जुगुप्सयोरपि रत्यादिवद् द्वैविध्यम् । तत्र पद्यश्रोता काव्योपनिबद्धत्वादलौकिकत्व-
मापन्नयोरेव हास-जुगुप्सयोरश्रयो भवितुमर्हसि न तु लौकिकयोरपि, तस्माल्लौकिक-
योर्हान्जुगुप्सयो रत्यादिवन् पृथगाश्रयानुपलम्भान् वैषम्य स्थितमेवेति पूर्वपक्ष ।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य । तत्र हास्य-बीमत्सयोः । आक्षेप्य-
त्वादायेवानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वान् ।

यहाँ मुरदे अलम्बन है, अत्रदियो का फाटना उदीरन है, अक्षेप के द्वारा लम्ब रोमज, आँसो
का मूँदना आदि अनुभाव है और आवेग आदि मन्दारीभाव है ।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन
स्थादीभावों में जिन प्रकार अलम्बन और आश्रय दोनों का प्रतीति होती है, जैसे नल और दमयन्ती
में जो परस्पर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक अलम्बन और दूसरा आश्रय होता है
अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में वर्णित हो तो दमयन्ती अलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का
प्रेम नल में वर्णित हो तो नल ही अलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीति होती है । उस
प्रकार हान और जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल अलम्बन को ही प्रतीति होती है,
आश्रय का नहीं ।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्वरूपभावों में श्रोता हो आश्रय होते हैं, तो यह समुचित नहीं
क्योंकि वे तो रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस को पर्वना होनी है, वन वे अलौकिक
हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते ।

ननु तदाश्रयाक्षेपामावे का गतिरित्यत आह—

तदनापेक्षे तु, श्रोतु स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।
उपसहरति—

एव च सक्षेपेण निरूपिता रसा ।

अः रसध्वने रसबदलङ्कारस्य च स्वसम्मत विषयविभाग निर्दिशति—

एषा प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसालङ्कारत्वम् ।

उभयोर्विभागे परकीयमत प्रतिपादयति—

केचित्तु—‘प्राधान्य एवैषा रसत्वम्, अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव । रसालङ्कार-
उपदेशस्त्वल्कारध्वनिव्यपदेशवद्, ब्राह्मणश्रमणन्यायात् । एवममरक्यक्रम-
व्यङ्ग्यताप्रामेव, अथवा तु वरनुमात्रम् ।’ इत्याह ।

लौकिकयोर्हासजुष्मयोरपि कर्तृत्वादाश्रय कश्चित्लौकिक पुष्ट्य स्यादेव । स
एवानयोराश्रय कल्पनीय इति न वैषम्यमित्युत्तरपक्षामित्राय ।

तदनापेक्षे तु-आश्रयपुरुषविशेषकल्पनेऽपि । पुष्ट्य स्वकान्तावर्णनपद्य भृष्वन्
लौकिकरतेराश्रयोऽपि यथा शृङ्गारस्थापिभावस्यालौकिकतेरप्याश्रयो भवति, तदेव,
हासजुष्मयोरपि लौकिकालौकिकयोरेव एवाश्रय स्यात्, लौकिकभावस्याश्रयोऽ-
वस्थाभेदेनाप्यलौकिक भावस्याश्रयो न स्यादिति नियमस्याभावादिति सारम् ।

एवमुक्तप्रकारेण । आलम्बनाद्यनन्ततया रसानामनवधिप्रभेदाना निरूपयितुमन-
र्हत्वेन सक्षेपेणैव निरूपणमवसेयम् ।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनि, अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदी
रसबदलकार इत्युभयोर्विमन्तविषयव्यवस्थेत्यर्थे ।

एषा-रसाना प्राधान्ये सत्त्वेव रसध्वनित्वम्, अन्यथा-प्राधान्याभावे (प्रधानीभू-
तान्यस्य पोषकत्वे) तु पुनरलङ्कारत्व रसबदलङ्कारत्वमेव, नतु ध्वनित्व
भवति । रसाना वाप्यारमतया स्वयमतङ्कार्यत्वाद्बदलङ्कार (रसबदलङ्कार)
त्वस्य व्यवहारन्तु, ब्राह्मणश्रमणन्यायात् तथाहि--यथा पूर्वं ब्राह्मणे पद्माद् वीद-

उक्त शङ्का मत्त ई, परन्तु यथा उन दोनों भावों के आश्रय किया दर्शक पुरष-विशेष का आश्रय
कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उपको समझ लेना चाहिये ।

यदि उक्त आश्रय करना नहा चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये, जहाँ म्परतनी विपरीत
वर्णन वाले एषो को सुनकर पति को रस का उद्बोध होता है, वहाँ जैसे लौकिक प्रेम और अलौकिक
रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे यहाँ भी एक ही श्रोता को लौकिक हास-जुष्मा
और अलौकिक हास-रोमस रस दोनों का आश्रय मान लेने में कोई बाधा नहीं ।

इस तरह संक्षेप में रसों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अब रसध्वनि तथा रसवद् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करने हैं—‘एषाम्’ इत्यादि ।
जहाँ ये रस प्रधानतया व्याप्य होते हैं, वहाँ ‘रसध्वनि’ का व्यवहार होना है और जहाँ ये ‘रस’ व्या-
प्य से व्यप्य होते हैं, वहाँ ‘रसालङ्कार’ का व्यवहार होता है ।

कुछ लोगों का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गीत हो जाने
पर ही ये अलङ्कार-मात्र उन्हें आ मकते हैं अर्थात् उनमें तब रस विशेषण नहीं लगाया जा सकता ।

रसानामसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्व व्यवस्थापयति—

एते चासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या सहृदयेन रसव्यन्ती भगिति जायमानान्
विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शक्रमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवैवक्रमस्यै
वालक्षणात् ।

सन्धासिति (श्रमणे) 'साम्प्रतिकामावे भूतपूर्वस्यावगति इति सिद्धान्ततत्कालिक
ब्राह्मणत्वाभावेऽपि प्राचीनब्राह्मणत्वमादाय 'ब्राह्मणश्रमणोऽयम्' इति व्यवहार, यथा
वा प्राधान्येन व्यव्यमानतया ध्वनिरूपता भजत्यलङ्कारे स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कार
कत्वलक्षण तात्कालिकातङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वातङ्कारत्वमादाय 'अतङ्कारध्वनि
इति व्यवहार, तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्कारत्वव्यवहारी
बोधय । एवं-रसध्वनित्व रमयदतङ्कारत्व च, एषा रसानाम अतलङ्कारकनामामेव
अन्यथा सलक्ष्यक्रमताया तु तेषां व्यग्य वस्तुमात्र न तु रसा इति देविदाहरितयम् ।

केचिदित्यनन सूचिताएविवीजन्तु पूर्वोक्तरीयैव रसालङ्कारत्वोपपत्तौ, तदर्थं भूत
पूर्वगत्याद्याश्रयणमधिकमनुचितमिति व्याख्यातार ।

एत-निहृष्यमाणा रसा भावावमश्च अतलङ्कारकमन्यङ्ग्या न सम्पन्न लक्ष्य भानु
भावितया प्रत्येनू याग्यो वाच्ययङ्ग्याप्रनीयो - क्रमो वेपु नाङ्गा भवति रसव्यन्ती
कार्यत्वादा रस (प्रभृति) प्रतीती ध्वनि शीघ्रतर जायमानाया, कारणवन्त्य
वाच्यविनावादिविमलसम्प य क्रम पूवापरीभाव नस्य मना विद्यमानस्यापि मूल्या
शतपत्रमस्य कमलस्य पत्राणा ननस्य वेपे य क्रमस्येव मम्यक समीचीनतया ॥ १८ ॥

क्योंकि रस के तभी कल्पना मकर है जब तक अलङ्कार है और पद व रीति है जाने से स्वयं
अलङ्कार हो जान है, जब तक रस कल्पना की दोष्यता ही नहीं रह जा। फिर भी जो
रसों में केवल अलङ्कार का प्रयोग न का रसालङ्कार पद का प्रयोग जाने है, उनके अलङ्कार
ध्वनि पद का प्रयोग रसा मनमना चाहिये अथवा ध्वनि (व्यङ्ग्य) अर्थको अलङ्कार करने वाले
को अलङ्कार कहा जाता है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अलङ्कार्य । इन स्थिति में जो ध्वनि (व्यङ्ग्य)
हो गया, वह ध्वनि अलङ्कार नही कहा जाता, अब अलङ्कार ध्वनि ऐसा अलङ्कार ध्वनि नहीं,
तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धता को शिक्षा लेकर 'धर्मा' (बौद्ध भिक्षु) बन जाय, तब वह ब्राह्मण
नहीं रह जाता, फिर भी लोग उसे पदवा ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-धर्मा' कहा जान है,
जिसे अभिप्राय यह रहता है कि इसने ब्राह्मण-धर्म में अन्तर्गमन किया है जो कि
'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो पद अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है । अब रीति रसों
में जो 'रसालङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है, उसका भी आर्य मय हो गया अर्थात् जो कला रस था,
वह अभी अलङ्कार है यही तात्पर्य जहाँ भी गमना चाहिये । उन लोगों का एक सुझाव यह भी है कि
वे (स्यादोभाव) रस नहीं कहे जाते हैं, जब अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं, मन्थन हो
जाने पर तो वस्तु शब्द ही इनका व्यवहार होता है

वे रस अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि महद्यों को रस की प्रतीति बहुत शीघ्र होती है
अन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और रस की प्रतीति के मध्य में
को क्रम वस्तुन रहता है, वह लक्षित नही होता अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता । देखिये—व्यङ्ग्य
की अलक्ष्यक्रमता को दूर करने के लिये प्रत्यक्षार ने कितना उपयुक्त शब्दों पेश किया है, रस
कमल के सी पत्रों को टटाकर रखिये, फिर उन पर सूई चुभेइये, सी-वे-सी इति निमित्तमात्र में

ननु मा त्रम कल्पयतामित्याशङ्का निराकरोति—

न त्वक्रमव्यङ्ग्या च, व्यक्तेस्तद्धेतूना च हेतु-हेतुमद्भावात्सङ्गत्यापत्तेः ।

अथ भक्तेरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसा ? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रूपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभि परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्ततरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपह्लवत्वात् भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभाव ।

अवान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेज्जन्तर्भावमाशङ्क्य क्षण्यति—

न चासौ शान्तरसेज्जन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् ।

णादप्रत्ययादित्यर्थं । यथा सूच्या कमलदलगतवेध द्रुततर क्रियमाणं पूर्वापरक्रम जीवपत्तिकल्पेन कल्पमानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्य, तथैव वाच्यविभावादिप्रतीतिव्यङ्ग्यधरसादिप्रतीत्यो कार्यकारणरूपतया क्रम कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय इत्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशय ।

व्यक्तिवैयञ्जनिकप्रतीति । हेतुहेतुमद्भाव कार्यकारणभाव ।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्यो त्रभो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यम्, यतस्तयो क्रमामाये (यौगपद्ये) कार्यकारणभावस्यैवासम्भवं कार्योत्पत्त्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिचरणवर्जित एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यभिप्रेतम् ।

अथेति प्रश्नार्थकम् एत एव नद्वयं । हर्षादिमित्यभिचारिभावः । भगवद्भक्तं सहृदये । अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य । अनुराग प्रीति रतिरित्यन्यथान्तरम् । स्थायिभाव—रसरूपयोर्मन्त्रयोर्हृत्स्वयोरिव लौकिकालौकिकत्वाम्या भेदोऽवसेय ।

स्थायिभाव-विभावादिसमग्रसामग्रीसबलनान् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्तिरसस्यापि दशमस्यापलपितुमशक्यतया रसाना नवत्वभेदेति नियमो न सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षसाराश ।

विष जावेगे, अब आप सोचिये कि वे सब पत्ते एक ही बार विधे, या क्रमशः ? विवेक वहेगा कमरा, परन्तु मन मेरा नहीं समझता अर्थात् मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्ते विधे गये । वास्तविकता यह है कि पत्तों के शीघ्र विधे जाने से वेध के आगे पीछे का क्रम ज्ञान नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये ।

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहने से रमो को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये अर्थात् क्रम है ही नहीं ऐसा समझना गलत होगा, क्रम है अवश्य, केवल वह ज्ञान नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रम की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, वह अमङ्गत ही जगत्त कर्त्तव्ये कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में जो वरों (कार्योत्पत्ति देण में) नियमन सम्मिल रहे वही कारण नदृष्टाना है, फिर तो कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वाध्याद्भाव) का होना अनिवार्य है ।

अब भक्ति नामक दशम रम की उद्गा वरत है—'अध' इत्यादि । रस होने (नी) ही क्यों है ? क्योंकि भगवत्त अदि पुराणों के अर्था वरत समय भक्त लोग निम्नवा स्थत अनुभव वरते हैं, वह 'भक्ति' नामक दशम रम भी अलक्ष्य करने योग्य नहीं है । साक्षात् भगवान् उभ रम के अलम्बन है, भागवत-श्रवण अदि लक्ष्यन है, रोमाञ्च, अक्षयत आदि अनुभाव है और हर्ष आदि सारासीभाव है । तथा इमका स्वादीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप 'भक्ति' ।

समादधाति—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्त ।

‘रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथाञ्जित ।

भाव प्रोक्तरतदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिता ॥’

इति हि प्राचा सिद्धान्तात् ।

तत्रैव पुनश्च द्रुते—

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात् । अस्तु
या भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीना च भावत्वम्, विनिगमका-
भावादिति वाच्यम् ।

यसौ भक्तिरस ।

भक्तिरसस्यापिभावस्य भगवदनुरागरूपत्वाच्छान्तरसस्यापिनो निर्वेदस्य च वैरा-
ग्यरूपत्वाद् विरद्धस्वायिकस्य रसस्य विरद्धस्वायिके रसेऽन्तर्भाससम्भवान्न भक्ते
गान्तेऽन्तर्भाव इति भाव ।

उच्यते रामाधिरिति शेष ।

देव-गुह-पितृप्रभृतिविषयकरति, प्राधान्येन अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयोऽङ्गतो व्यभि-
चारिभावश्च भाव प्रोक्त । अनौचित्येन लौकिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिता काव्ये
व्यवहृता रसा भावाश्च तदाभासा रसाभास भावाभासाश्चेति कारिकायं । प्राचा
काव्यप्रकाशकाराणाम् ।

भक्तेर्देवादिविषयकरतिरूपाया काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्त-
नुमतत्वेन यतो भावत्वमेव, नतु रसत्वम् अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न
सम्भव इति समाधानपक्षामिप्राप ।

यथा कामिनीविषयकरती रतित्व, तथैव देवादिविषयकरतिष्वपीति तुल्यताया
कामिनीविषयकरतेरेव कथं स्थायित्वम् अपरास्ता च रतीना साधारणभावत्वमङ्गी-
क्रियते ? वैषम्ये बीजामावाचित्यक पूर्वपक्ष । अथवा विनिगमकाभावाद् भवदङ्गी-

यदि आप कहें कि ‘भक्ति-रस’ का अन्तर्भाव शान्-रस में ही हो जयगा, अतः वह अतिरिक्त
नहीं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ‘भक्ति-रस’ का स्थायमान अनुराग है, और ‘शान्-रस’ का
वैराग्य (निर्वेद), जो द लो परस्पर विरुद्ध है, फिर उन दोनों स्थायीभावों को अन्तर बनकर होने
वाले ‘भक्ति’ और ‘शान्’ रसों में से कोई एक दमर में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

उक्त रीति से दशम ‘भक्तिरस’ है, यह शब्दाभिर हो चुका, अब उसका समर्थन देने है—
‘उच्यते’ इत्यादि । अत्यंत यह है कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) रहता है, उसी को
भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि के विषय में होने वाला रति और
व्यथनाकुलि से शान्त रूपे व्यभिचारीभाव ‘भाव’ कहलाता है और अनुचित रीति से अतृप्त रस तथा
भाव क्रमशः ‘रसाभास’ और भावाभास’ कहलाता है यह प्रथम भाषाओं का सिद्धान्त है ।

अब कहेंगे—यदि ऐसा हो जान है, तो कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) रहता है उसको
भी भाव मानिये, क्योंकि देवतादिविषयक प्रेम और कामिनीविषयक प्रेम में कोई भेद नहीं है—

द्वयो पूर्वपक्षयोरेकमेव समाधानमाह—

भरतादिभुनिवचनानामेवात्र रसभावादिद्वयवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात् ।

उक्त समपयति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रते स्थायिभावत्व कुतो न स्यात् ? न स्याद्
वा कुत शुद्धभावत्व जुगुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात् ।

मन्वे रसत्वस्य स्वाकारे दोष दशपन् प्रसङ्गमुपसहरति—

रसाना मधत्वगणना च मुनिवचननियन्तिता भव्येत, इति यथाशास्त्रमेव
ज्याय ।

कृतिप्रतिकूल भगवद्विषयकरतेरेव स्थायित्वम् कामियादिविषयकरतीनामेव च भाव
त्वगङ्गोत्रियनामिति द्वितीय पूर्वपक्ष ।

अथ साहित्ये भरतप्रभृतिमुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तीना रसत्वस्य
भावत्वस्य च व्यवस्थ पने स्वातन्त्र्यायोग सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात्
स्वेच्छया विपरीतकल्पना नात्र कर्तुं शक्यत इत्याशय ।

'स्वातन्त्र्यायोगात् इति पाठ तु भरतादिभिन्नवचनाना रसभावव्यवस्थापन
स्वातन्त्र्याभावादित्यथ ।

अन्यथा—भरतादिवचनानामेव रसादिव्यवस्थापन स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे ।
पुत्रादिविषयत्व रतेरुपुष्ट्योपलक्षकम् । शुद्धभावत्व स्थायित्वामभूषणव्यभिचारिभाव
रसम् । अखिलदशानस्य ममस्तसाहित्यशास्त्रस्य वैयाकुली व्याकृतत्वमव्यवस्थित्यन्त
मिति यावत् ।

कस्यापि रसादिविषय व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विष्णवतकमम्पकानि सक्त
साहित्यशास्त्रमेवानियन्ति रसादिति भरतादिवचनाना रसादिव्यवस्थापनत्वाङ्गीकार
आवश्यक इति भाव ।

इति हेतौ । शास्त्र भरताद्यनुदात्मनमनतिक्रम्य यथाशास्त्रम् । ज्याय श्रेष्ठम् । यदि
भक्तिरसोऽपि दशमो भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्त्वदृष्ट्या निर्णयोक्तस्य रसाना

आगिर दोने प्रेम ही तो है, अथवा भगवद्भक्त को ही श्रद्धा वा स्थासभाव मान हीजिये और
कामिनीविषयक रति को ही मधारीभाव क्योंकि इनमें कोई रसम युक्त त है नहीं कि इन दोनों
में से अनुक को ही स्थायो भाव मानना चा हेये ।

उक्त श्रद्धा के वरर में प्रेम बंधन है कि साहित्य में रस भाव आदि का व्यवस्था भरत अपि
मुनिवो के बचनों के अनुसर को जाती है, अत इन विषय में मननना वा स्थान नहीं है अथवा
भरत अपि मुनिवो के देवता आगे विषयक रति को भाव और कामिनी विषयक रति को स्थान
भाव माना है, इनलेये हम लोगों को ही वेना ही मानना चाहिये ।

यदि रस भाव आदि के विषय न विमो को दामाणिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना रूप
अथवा केवल मर्क में बान लिया जाय, तब त सकल साहित्यशास्त्र ही उच्छेदकत जायगा, इसो वे
हम ने नि में पुत्र आदि के विषय में जो मान विना का प्रेम दया है, उनको भी एवहीभा और
जुगुप्सा तथा शोक का युक्त (रस का नहीं) मजरीभाव कवो नहीं मान दिया गया ।

इस तरह भरत आदि निवो के रस स्थापक मान देने पर दशम 'भक्ति-रस' का शीकर न

अथ प्रसङ्गाद् रसाना परस्परमविरोध विरोध च निर्दिशति—

एतेषा परस्पर कैरपि सहाविरोध, कैरपि विरोध । तत्र—वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः, वीराद्भुतया, वीररौद्रयोः, शृङ्गाराद्भुतयाञ्चान्विरोध । शृङ्गार—बीभत्सयो शृङ्गारकरणयो, वीरभयानकयो, शान्तरौद्रया शान्तशृङ्गारयोश्च विरोध ।

इत्थ रसानामविरोध च प्रदश्य प्रवन्धे मिया विरुद्धरसनिवशाभावमुपदिशति—

तत्र कविना प्रवृत्तरस पारपोष्टुकामेन, तदभिव्यक्तके वाच्य तद्विरुद्धरसाङ्गाना निवन्धन न कार्यम् 'तथाहि सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्ध प्रकृत वाधत । मुग्धोपमुग्धन्यायेन बोधयोरपहृति स्यात् ।

नवत्वसङ्घावाच्छिप्रत्वस्य भङ्ग प्रसज्यत, तस्माद् रसभावादिद्वयवस्या मरताद्यनुशासनानुसारिण्येव सर्वथा श्येयसीति सारम् ।

एतेषा रसानाम् । अविरोध उपकार्योपकारकभावो विरोधश्च वाध्यवाधकभाव । चकारेण शान्ताद्भुतयो, वीरबीभत्सयोश्च ताटस्थस्य सग्रह । तत्र रसाना विरोधमात्रप्रदर्शन दर्पणे यथा—

'आद्य कृष्ण-बीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकै ।

भयानकेन कृष्ण-नापि हास्यो विरोधभाक् ॥

कृष्णो हास्यशृङ्गार-रसाभ्यामपि तादृश ।

रौद्रस्तु हास्य-शृङ्गार-भयानकरसैरपि ॥

भयानकेन शान्तान तया वीररस स्मृत ।

शृङ्गार-वीर-रौद्राश्च-हास्य-शान्तैर्भयानक ॥

शान्तस्तुवीर शृङ्गार रौद्र हास्य भयानकै ।

शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याना विराधिता ॥ इति ।

तत्र-तेषु रसेषु, प्रकृत मूलत प्रस्युत रस परिपाटकामन प्रवर्तीकृतमिच्छता कविना, काव्ये विरच्यमानप्रवन्ध तद्विरुद्धरसाङ्गाना प्रकृतरस-विरोधिरसविभावादीना, निवन्धन निवेशन, न कार्यम् । हि यत, तथा प्रवृत्तरसविरोधिरसाङ्गमनिवन्धन सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धरसस्य स्वाङ्गै पोषितस्य प्रतीती विरोधी रस = दाक्षिण प्रबल प्रवृत्त रस वाप्रेत । उभया प्रवृत्तरस-विरोधिरसया समबलत्व वा मुग्ध-उपमुग्धन्यायेन परस्परमुपहृतिरपघात स्यादित्ययम् ।

करना हा उचित है, अन्यथा भरतमुन ने बहुत सीच समझकर ना रसों को मस्या नो बन्टाई है, यह अमङ्गल हो जायगी । तात्पर्य यह है कि इन नव विरोधों में शान्तों वा अनुसंग करके सत्तना हो सक्कर है ।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—'एतेषाम्'—इत्यादि । इन रसों वा अप्रस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध । जैसे—वीर और शृङ्गार में, शृङ्गार और हास्य में, वीर और अनुसंग में, वीर और रौद्र में एवं शृङ्गार और कृष्ण में वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और शृङ्गार में परस्पर विरोध है ।

प्रस्युत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की चाह यदि कवियों की हो अथवा यदि उनको इच्छा हो

प्रयोजनवशाद् विरुद्धरमयोरपि स्वप्न समावेशमनुशास्त् तस्य प्रका रमुपदिशति—
यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोगेकत्र समावेश इष्यते, तदा विरोध परिहृत्य
विधेय । तथाहि—विरोधरतावद् द्विविध, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च ।
आद्य—सर्वाधिकरणवृत्तिरूप । द्वितीय—तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्वश्रापणः ।
तत्राधिकरणान्तरे विरोधिन स्थापने प्रथमो निवसति । यथा—नायकगतत्वेन
वीररसे वर्णनीये, प्रतिनायके भयानकस्य ।

सोदरी सुन्दोपसुन्दनामानौ सैत्थी ताडकायाभेकत्रैव स्त्रियामासक्त्या विच्छा
तुल्यबलत्वात् परस्परमभिजघ्नतुरितिह पौराणिकमितिपुलम् ।

एकत्र प्रबन्धे । इष्यतेऽभिलष्यते क्विनेति शेष । आद्य स्थितिविरोध, स वैक-
स्मिन्नधिकरणेऽवृत्तिरूप । द्वितीयो—ज्ञानविरोध, स च तज्ज्ञानेन विरोधिरस-
ज्ञानेन प्रतिबध्य बाध्य ज्ञान यस्य, तत्त्वरूप । 'प्रतिबध्य' स्थाने 'प्रतिबद्ध' इति पाठे
तु प्रतिबद्ध वाधित ज्ञान यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थं । 'प्रतिबद्धज्ञानजनकत्वम्' दृश्य-
पाठ प्रत्यक्षातिरिक्तान प्रतिविषयस्य जनकत्वाभावात् । तत्र—तयोविरोधयोर्मध्ये
प्रथम स्थितिविरोधो विरोधिरमयोरधिवरणभेदेन स्थापने निवृत्तो भवति । यथा—
नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानकरसस्य यदि वर्णन कविना क्रियेत, तदैक-
स्मिन्नपि काव्यप्रबन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानकरसयो समावेशो विरोधनिवृत्त्या
न दोषाय कल्पत इति सारम् ।

कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णत्या हो, तब उमको चाहिये कि उस रस को अभिव्यक्त
करने वाले काव्य में उमते विरुद्ध रस के वर्णों का वर्णन न करे क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने
पर वह प्रस्तुत रस को बोधित करेगा अथवा 'सुन्दोपसुन्द' न्याय से दोनों रस नष्ट हो जायेंगे अर्थात्
एक का भी परिपाक न हो सकेगा । सुन्द और उपसुन्द की कथा महाभारत में आई है, दोनों सौंदर
आई थे, अज्ञानो के वरदान से दोनों ही अन्ध हो गये जेवल अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार
सकता था, जिनकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु भाजी को गति प्रबल होती है, किसी सुन्दरी
कपरा में दोनों आसक्त हुये, जिसमें दोनों में मर उल्लस हुआ और उसके लिये दोनों आपस में लड़
कर मर गिटे । इन तरह दोनों के समान बलशाली होने के कारण आपस में लड़ कर नष्ट हो जाने के
दर को 'सुन्दोपसुन्द' न्याय कहते हैं ।

अब विरुद्ध दो ना अनेक रसों का समावेश यदि एक काव्य में करना चाहे, तो कैसे यह किया
जा सकता है ? इसकी बतलाने है—'यदि तु' इत्यादि । यदि विरुद्ध रसों का एक जगह समावेश
करना हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये । विरोध-परिहार का प्रकार भी सूत्र-
जिने । विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा ज्ञान-विरोध । स्थिति-विरोध का
मसल्ला है—जिसी एक अधिकरण में दोनों का न रह सकना और ज्ञान-विरोध का मसल्ला है—एक
के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का एक जाना अर्थात् एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न
सके, तब ज्ञान-विरोध मसल्ला है । इनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को फिर अधिक-
करण में स्थापित करने से निवृत्त हो जाता है । जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो,
तो प्रतिनायक (धनुके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये ।

ननु नायकाद्यवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्नधिकरणे सनादेशो विरोधो वा न सम्भ्रवीत्यन जाह—

रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधि स्यायिभावो गृह्यते, रसन्य सानाजिकवृत्तित्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवात् ।

प्रथमविरोधपरिहारेण सनावेशमुदाहरति—

उदाहरणम्—

कञ्चन चाङ्कारो राजान स्तौति—

‘कुण्डलीकृतकोदण्ड—दोदण्डस्य पुरस्तव ।

मृगाशतेरिव मृगा, परे नैवावतस्यिरे ॥’

अत्र प्रकरणे विरोध—समावेशात्प्रस्तावे तदुपायो रसानां स्थिरो धर्म स्यायिभाव ।

वेदान्तरसपदाश्रुत्यानां सच्चिदानन्दलक्षमानामपरिच्छेद्यानां नायकाद्यधिकरणवृत्तीनां रसानामद्वितीयतया मिथा विरोधस्य समावेशस्य चासम्भव इति तु न विभाकनीयत यत् इत्यत्र रसपद रसोपाधे रसत्वसाम्यस्य वा स्यायिभावस्य बोधकम् । तस्य चापरिच्छिन्नत्वाभावात् विरोधो न वा समावेशोऽसम्भव । तथा चास्तु काव्यप्रकाशे—‘अथयैक्ये विदुषो य, स कारो मित्रमथ्रय । रसान्तरणान्तरितो नैरन्तर्यो यो रस ॥’ इति, रसपदेनात्र प्रकरणे स्यायिभाव उपलभ्यत । इति च ।

रे राजन् ! समराज्जणे, कुण्डलीकृतमत्पाकर्षणेन वर्तनीकृत कोदण्ड धनुषांश्या, तादृशी दोदण्डी भुजपरिधौ यस्य, स तयान्, तथाभूतस्य दूराङ्कटप्रयुग्मव पुरोऽग्रे, मृगाशतेरिव मृगा हरिणा इव, परे गत्रवा नैव अवतस्यिरे मीत्या द्रुत पतायाञ्चक्रि इत्ययं ।

इह नामके वर्तनीपतूने वीररसस्य, प्रतिनायकेषु प्रतीपतूनेषु च मयानकरसस्य समावेशो मया न बोधाय, तथाऽप्यत्रापि बोध्यम् । मृगशब्दस्य द्विरुपादान्तु किञ्चिद्व्यमर्त्तुति विच्छिनत्ति ।

इस प्रकार में रस—पर से हमके हृदयस्थ रस स्वयंभूतों का अलग मनस्कत करिसे स्वयंके रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काल के धारक) में रहता है—यसके अति में नहीं । दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय आनन्द—मय है अर्थात् ब्रह्मरूप है—जसके धारण होते समस्त अन्य स्थिति का धारण होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर विरोध का होना असम्भव है ।

मिथि—विरोध कैसे दूर किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये ।

कोई कवि राज की चारदली कला है—हे राजन् ! युद्ध में जब अपने कान तक लौच का कुम्हट के समान गोल किये हुये धनुष को हाथ में छिया, दर आसके आगे शत्रु हमने दर नहीं दर सके, जिस दर निर के आगे मृग नहीं दारते अर्थात् धनुष लेकर युद्ध में आसके जाने हैं मय के बारे शत्रु मय सजे हुये । यहाँ तथक में ‘दूर’ और प्रतिनन्द में ‘अन्यन्त’ का बोल किया गया है जो मिथ अधिकार में मिथि होने से दोषापन्न नहीं है ।

द्वितीयविरोधनिवृत्तनादेकत्र समावेशस्योपायमभिधाय तदुदाहरणं दर्शयति—

रसान्तरस्याविरोधिनः सन्धिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निवृत्तं । यथा मन्त्रिमत्तायामाख्यायिकाया कण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षे शान्तरसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—‘किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम् ?’ कोऽयमनिर्वाण्यो वचनरचनाया मधुरिमा ?’ इत्यद्भुतस्यान्तरवस्थापनेन ‘वरवर्णिनी’ प्रत्यनुरागवर्णने ।

द्वितीयविरोधनिवृत्तेरुदाहरणान्तरं दाक्षाय्यं प्रतिपादयति—

यथा वा—

सद्यः समरोत्मृष्टशरीर-वीरवृत्तं वर्णयति—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगा ।

विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरनारीभिरवृत्तान् ॥

सन्धिकर्ता विरुद्धव्यर्थभीकारक । अन्तराले द्वयोर्मध्ये । द्वितीयो ज्ञानविरोधः । कण्वा श्वेतकेतुश्च महर्षी । अनाकलितपूर्वमदृष्टाश्रुतपूर्वम् । वरवर्णिनी तदाख्याऽऽख्यायिकाया नायिका ।

अत्र प्रथमं शान्तस्तदनु शृङ्गारी रसश्च नियो विरहो रथापितां ध्रुव दोषस्य कल्पेताम्, यदि विरहयोस्तयोर्मध्ये, सन्धिकृदिवोमयाविरुद्ध ‘किमिदम्’ इत्यादि-वास्यद्वयव्यङ्ग्योऽद्भुतरसो न सञ्चिदेष्येत । तथा विहिते तूमयोर्नैरन्वयांमावाज्ज्ञान-कृतो विरोधो निवृत्त इति न कोऽपि दोषः ।

सुराङ्गनाभिरमरनारीभिः (अफरोमि) आश्लिष्टा वदाचिदपि प्रागनुपलब्धत्वाद् गाढ सप्रणयमातिङ्गिता, व्योम्नि गगने, विमानगा (सद्यः समरे हता स्वर्गं गन्तु) व्योमयानारुहा, वीरा शूरा, फेरनारीभिः, शोष्ठीभिः, आवृत्तान् मासतो-भेन वेष्टितान्, (रणभूमि निष्प्राणान्) निजान् स्वीयान्, देहान्, विलोकन्ते सोत्साहं पश्यन्तीत्यर्थः ।

अत्र द्वितीय ‘ज्ञान-विरोध’ को निवृत्त करने की विधि बतलाने है—‘रसान्तर’ इत्यादि । ज्ञान विरोध भी तब निवृत्त हो जाता है, जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में सन्धि (सुलझ) करने वाले को तरह किसी अपरिहृत (जो उन दोनों रसों का विभाजक न हो) रस को स्थापित कर दिया जाता है । जैसे—मेरी (पण्डितराज की) आस्थापिना में—जगन्नाथ में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्त रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर ‘यह कैसा अमनुभूत रूप है, यह कैसी अस्वर्णनीय वचन-परिच्छेदी को मधुरता है’, इन तरह अद्भुत रूप को मध्य में रख कर वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है । वहाँ शान्त और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन दोनों का ही अविरोधी अद्भुत आ गया, जिससे उन दोनों का भी विरोध मिट गया क्योंकि लगान्तर रहना ही विरोध का मूल था, वह अब नहीं रहा ।

अपना-कोई कवि युद्ध में मर कर स्वर्ग जाने वाले वीरों के वृत्तनों का वर्णन करता है—(युद्ध में मरे हुये) वीर अब देवाङ्गनाओं (अमराओं) से आलिंगित होकर, रिमानों में बैठे हुये, लक्ष्मण-मर्ग से (स्वर्ग) जाने रहते हैं, तब वे (रणभूमि में) निष्प्राण पड़े हुये जाने देहों को मादा-सिपारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुराङ्गना-मृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभा-
क्षिप्तो वीररसो निवेशित । अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्वाणकालान्तर्वर्तिकालान्त-
चर्वाणकत्वम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्धे एव शृङ्गारचर्वाणोत्तर वीरस्य चर्वाणोद-
नन्तर च द्वितीयार्धे बीभत्सस्येति स्फुटमेव ।

पूर्वक्रमव्यन्यासेनोदाहृणान्तर पुनर्दर्शयति—

'भूरेणुदिग्धान्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससाम-
ग्रीवशाद् बीभत्सचर्वाणोत्तर तत्सामग्रभाक्षिप्त-निरशङ्कप्राणव्यागादिरूपसामग्री-
कस्य वीरस्य चर्वाणे, शृङ्गारचर्वाणेति विवेक ।

अथास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, मृतशरीरश्च बीभत्सस्यालम्बनम् ।
अन्तर्मध्ये । स्वर्गलाभेन पृथ्वीप्रतिपादितेन, आसिप्त उत्साहस्यापिद्वारेण बोधितो
वीररसः शृङ्गारबीभत्सयोरविरोधी, निवेशितश्चर्वाणोचरता नीत । चस्त्वर्थे ।
तदुभयस्य विरुद्धरसद्वयस्य यौ चर्वाणया कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यगो यः कालः, तच्च
चर्वाणो यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेशः ।

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनकशृङ्गाररसचर्वाणया पश्चात् शवालम्बनकबीभ-
त्सरसचर्वाणयाश्च प्राक्, विरोधिनास्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभया-
विरुद्धस्य विलोकनोत्साहस्याधिकवीररसस्य सन्निवेशाददोष इत्याशयः ।

इयत् पुनरप्यविभादनीयम्— आद्य कदम्ब-बीभत्स-रीड-वीर-मयानकैः । इति
द्वयं योक्ते शृङ्गारस्य यथा बीभत्सो विरुद्ध, तथैव वीरोऽपि, तस्माद् विरुद्धयोः
शृङ्गार-बीभत्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशं सङ्गच्छते ?
नाटस्थ्याभावात् ।

'भूरेणुदिग्धान्' नवपारिजात-मालारजोवासितबाहुमव्या ।
गाढशिवाग्निपरिष्कन्ममाणान्, सुराङ्गनाश्लिष्टमुजान्तराला ॥
सशोणितं क्रय्यमुजस्फुरद्भिः, पक्षे स्रगानामुपवीज्यमानान् ।
सवीजिताश्चन्दनवारिमैर्क सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निपन्ना, कुनूहन्नाविष्टतया तदानोम् ।
निर्दिश्यमानान्मलननाग्नुनीमिर्धारा म्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥'

यहाँ देखाइनाओं को अलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को अलम्बन
मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के
मध्य में तदुभयाविरुद्धी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं
हैं, तथापि स्वर्ग लाभ की बात से उमरा आश्रय हो जाता है । अन्तर्निवेश-बोध में प्रवेश-का अर्थ
यह है कि परस्पर विरोधी रसों के सम्बन्धन का जो समय है, उसके मध्य के समय में एकका सम्बन्ध-
न होना । वह यहाँ स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का सम्बन्धन होने के बाद
वीर-रस का आस्वाद होता है और उसके बाद द्वितीयार्ध में बीभत्स-रस का ।

'भूरेणुदिग्धान्' " पतित्रानन्दनम् ॥'

यह सुद-भूमि का वर्णन है । सुद में मारे गये शीतों को विमानों पर सवे सजप पड़ों के अर वेश

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्ट—

अङ्गाङ्गिनो, अङ्गिन्यग्निमन्त्रङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिरसङ्गान् ।

तत्र प्रथम विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्तात्निपतिता गतजोविना प्रेयसी प्रियो ब्रवीति—

‘प्रत्युद्गता सविनय सहसा सखीभि,
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकै ।

मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले !,
हा लेशताऽपि न कथ वद सत्करोपि ॥’

प्रसङ्गमिदधाति—

इय च पुरो निपतिता प्रमीता नायिका प्रति नायकस्योक्ति ।

अङ्ग चाङ्गी च—अङ्गाङ्गिनो पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोर्यदि परस्पर विरोध स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नोपपद्येत, तथाऽग्न्यस्मिन् रमेर्अङ्गनि प्रघ्नाने, अङ्गयो पोषकत्व प्राप्तयो, मिथोविरुद्धयोरपि राजनि सेवकयोरिव, रसयोविरोधो नोपपद्येत, परकीयाङ्गतया स्वातन्त्र्यविरहेण विरोधासम्भवादिति रसद्वयविरोधनिवृत्ते प्रकारद्वयमित्यभिप्रायः ।

अयि बाले मुग्धे ! अथास्मिन् दिने सखीभिरासीमि, सह सहसा (मय्यागते) झटिति, सविनय विनयपुरस्मरम प्रत्युद्गता सत्करणाय प्रत्युपस्थिता स्मेरैरीपदा-सबलितै, स्मरस्य मदनन्य सचिवैः सूचकतया सहायै सरसावलोकै सानुराग-निरीक्षणं मञ्जुर्नगोरमा रचना विन्यासो येषां ते तपोस्तस्नादूर्ध्वरतिलितै, वचनैर्नापणैश्च (अन्यदिनवच) हा हन्त ! लेशतोऽपीपदपि मा कथ केन कारणेन न सत्करोपि नैव सम्मानयतीति वद कथयेत्यर्थः ।

प्रमीता मृता ।

अत्र अन्य प्रकार से विरोध इतने का युक्ति दिखलान है—‘अङ्गाङ्गिनो.’ इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गभाव अर्थात् पोष्य-पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग-अङ्गीभाव ही न बने । इसी तरह जहाँ कोई एक रस अङ्गी-मुख्य हो और वनके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी न हों, तो वहाँ भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उनी प्रकार नहीं होता, जिन प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में यह नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक हीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

जैसे—हा बाल ! नौलो, आज, तुम, सखियों के साथ शीघ्र मामने में विनयपूर्वक उपस्थित होकर अङ्गमान को उगाने वाली, विकसित तथा सरस पितवनों से और सुन्दर रचना बाल बचनों से, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों नहीं कर रही हो !

यदि आगे में स्त्री हुई मृत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावंरावेगविपादादिभिः सञ्चारिभिश्च व्यज्यमाना, नायकगता रतिस्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्तने प्रवृत्तत्वान् प्रधानीभूते तद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम् ।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् रतरथाप्रतीते कथं शोकाङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव प्रवृत्तत्वादित्या गृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः परिपिता नायिकाश्रया रतिरेव तदङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायिकशोकप्रकर्षहेतुना नाना मर्वंगमत्तत्वान् ।

नुच्यया सजानीयया सामग्र्या कारणकूटेनाभिव्यक्ते । प्रवृत्तत्वाग्ररणं वृत्ते प्रस्तुतत्वात् । तद्गतं नायकनिष्ठे । प्रकर्षकत्वादुपकारकत्वात् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम् अश्रुपातप्रभृतमोऽनुभावा, आवेगादयश्च व्यभिचारिण तैः सम्भूयामिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्याधिकृता नायकनिष्ठा रति नायिकाया निघनानालम्बनस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिपोषितस्य, कारणरसस्यामिनः शक्यस्य प्रकषकत्वादङ्गमिति परत्र विरोधिनोरपि शृङ्गारकल्पयोः प्रवृत्तेऽङ्गाङ्गि-
नावाद् विरोधनिवृत्तेरिदमुदाहरणम् । ध्वनिकारास्तु—

‘अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिति रसान्तरे ।

परिपोष न नेतव्यस्तथा स्यादविराधिता ॥’

इत्यङ्गरनपरिपोषाविधानादविरोषमाचक्षते ।

नायकरतिप्रत्ययस्यानुमयित्वादिह तुगा, जागृह्यन् इत्यनेन चारुचि नूच्यते । निरुक्तसामग्र्या रतिव्यञ्जकेन तेनैव कारणकूटेन । तदङ्गं शोकस्य प्रकर्षकम् । नायिके-
त्वादिना हेतूपन्यासः । अत्र नायिकायाः आलम्बनस्य विनाशादितरालम्बनायाः नायकनिष्ठया रते प्रतीतिर्न सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति यथाग्रहं (न तु वास्तविकविचारः) क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राचीना रति, तस्या एव शोकस्योपकारकत्वादङ्गत्वमाप्त्याम्, तावताऽपि रते शोकाङ्गत्वस्य सिद्धत्वात् तादृशरतिस्तच्छोकपोषकत्वत्त्वं विप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्वाभावादिति नारम् ।

यदा नायिकाऽऽलम्बनं नैव नायकस्य रतिः (शृङ्गार वा आवेगश्च) अश्रुपातादि अनुभावश्च आवेग, विरह आदि महतीभावो मे अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं भावप्रियों से अर्वाञ्च अश्रु-
पातादि से नायक का शोक (कल्प वा अलम्बन) भी व्यक्त होता है, परन्तु अश्रुपात यहाँ शोक का ही शब्दों के नायिका से नायक-दान से वही प्रस्तुत है, रति उसका पोषक है—अर्थात्, कारण ।
ऐसे शोक को बढ़ाना ही यह अनुभव सिद्ध है ।

यदि यहाँ यह आग्रह किया जाय कि—नायक की रति (प्रेम) यहाँ प्रतीत नहीं होती, परन्तु उस समयसे से उसका शोक ही यहाँ व्यक्त होता है, शब्दों के वही प्रस्तुत है अर्वाञ्च मूल नायिका को शोक से वही देखकर शोक का होना सम्भव तथा आभासिक ही है, तब तब नायिकानिष्ठ रति को ही शोक का होना सम्भव तथा आभासिक ही है, तब तब नायिकानिष्ठ रति को ही शोक का अर्थ सम-

ननु नायिकानिष्ठरतिरिदानीमविद्यमाना कथं शोकमुत्सुकुषादित्यत्राह—

न च नायिकाया नाशान् तद्गताया रतेरमतिधानान् कथमङ्गतेति वाच्यम्
सन्निधानस्याङ्गतायामतन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः ।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यद्यालम्बनविनाशाद्नायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाम्युप-
गम्यते, तदाऽऽश्रयविनाशाद्नायिकानिष्ठरते प्रतीति कथङ्कार स्यात्, उभयोर्वैषम्ये
दोषानुपलम्भान् । यदि तु वक्ष्यमाणरीत्या स्मर्यमाणाया नायिकानिष्ठया रते
गोकाङ्गत्व न्याय्यम्, तदा तादृश्या नायकनिष्ठरतेरपि तन्वे द्वाध्यम्भावान् ।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सच्चिदानन्दरूपतया देशान्तरस्पर्शानुपपत्त्येन च मिथो
वाच्यवाचकभावसङ्गस्य विरोधस्योपकार्योपकारक भावसङ्गस्याङ्गाङ्गीभावस्य
च कथं सम्भव इति चेत्, उच्यते—रमपदेनात्र प्रकरणे रत्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्व-
योग्यतत्त्वस्यापिभावपरत्वाम्युपगमेन दोषाम्भावान् । जन एव—‘भ्रतान्तरे तु रसाना
स्थायिनो भावा उपचारान् रमसन्देहोक्ता । इति ध्वनिवृत्तौऽप्यभिदृश्यते ।

सन्निधान सन्निकर्षं सत्त्वमिति यावत् । अतन्त्रत्व कारणत्वेनाविवक्षितत्वम् ।
नायिकाया विनाशात् तन्निष्ठरतेरविद्यमानत्वेन शोकस्योपकारकत्वासम्भव इति च न
वाच्यम्, नायिकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठ-
शोकोत्पत्तत्त्वसम्भवाद् अङ्गत्वस्योपपत्तत्वादित्यभिप्रायः ।

इना चाहिषे, निम्नका नायक आलम्बन है, सत्कार के लिये आगे आना अनुभाव है और हर्ष आदि
सद्गारीभाव है, क्योंकि यह बात नव आचार्यों को माय है कि नायिका का प्राप्तन प्रेमाचरण नायक
के शोक को बढाने वाछा होता है । यहा एक बात विचारणीय यह है कि—यदि आलम्बन (नायिका)
के नाश हो जाने से नायकनेष्ट रति की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानने हैं, तब अश्रय
(नायिका) को विनाश—दशा में नायिकानिष्ठ रति को प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि इन दोनों
प्रकारों में विषमता—संकोच करने का कोई अव्यक्त कारण नहीं है । यदि अश्रय के द्वारा आगे
प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को शोक का अङ्ग मानने हैं,
तब तो स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को भी शोक का अङ्ग मानने में लपसति नहीं होनी
चाहिए । मुझे तो अश्रयकार का अश्रय यह माध्यम पचना है कि नायिका की मृत्यु के बाद नायक को
नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अरना प्रेम नहीं, यही मनुष्य भी है । कारण ! प्राचीमात्र
स्वार्थ—प्राप्त में बद्ध है उसे हर समय में आना ही अभाव स्वतन्त्रता है, फिर एक स्थिति में नायक
अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे ? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है ।
हा, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उभयो यदि ऊरु आनी है और
मजाओं भी है क्योंकि वह उसे हम जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उसका
अभाव मरा स्वतन्त्रता हो रहेगा । अनुभव भी प्राय इसी तरह का है ।

यदि आर कहें कि नायिका जब नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम भी वर्तमान नहीं है, फिर वह
शोक का अङ्ग कैसे हो सकता ? हमका समाधान यह है कि अज्ञ होने में विद्यमान रहना यहाँ
अपेक्षित नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी शोक का अङ्ग हो सकता है । अतएव यह है कि
मूर्तपदार्थ का अङ्ग वर्तमान मूर्तपदार्थ ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् यहाँ
एक प्रकार को भावना का अङ्ग अन्य प्रकार की भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्त-
मान रहे या अतीत दोनों बराबर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान रहे या अतीत दोनों बराबर है
अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की जा सकती है, जैसे अतीत की भी ।

अन्यस्मिन्नङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—
अङ्गयोर्यथा—

राजान चाटुकार कश्चिदभिदधाति—

‘उत्क्षिपा कबरीभ्रं, विवलिता पार्श्वद्वयं, न्यवकृता,
पादान्भोजयुगं, रूपा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट—श्मापालवामभ्रुवा,
यान्तीना गहनेषु कण्टकचिता’ के के न भूमिरूहा ॥’

तदाचष्टे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्या तत्-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीवर्षादिग्रहण-
रूपाभ्या प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्या व्यक्तयो. करुण-शृङ्गारयो राजविषयकरति-
भावाङ्गत्वम् ।

हे राजन् ! गहनेषु काननेषु, भवद्भिर्या पत्तायमानाना ममतो ये प्रतिभटा
परिपन्थिन श्मापाता भूमिपा, तेषा या वामभ्रुवोऽङ्गना, तासाम्, कबरीभ्रं
केधापाशम्, उद्ध्वं क्षिप्ता उन्नीता सन्त, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलिता वर्षीकृता,
पादान्भोजयुगं चरणकमलद्वयं, न्यवकृता अथ कृता, चेलाञ्चलं शाटीवसनप्रान्तं, रूपा
श्लेषेन, दूरेणारात्, परिहृता दविता । कण्टकैस्तीक्ष्णावपदैश्चिता व्याप्ता, के न
अपितु सर्वे एव, भूमिरूहा वृक्षा गृह्णन्तीत्यर्थं ।

अत्र कण्टकपदस्य वृक्षतीक्ष्णावयवे रोमाञ्चेषु च शक्ति । तथा च प्रस्तुतेषु भूमि-
रूहकर्तृक-रिपु राजमहिषीकवरीग्रहणप्रभृतिव्यवहारेष्वप्रस्तुतहठकामुककर्तृकपदाद्यवहा-
राणां समारोपात् समासोक्तिरलङ्कार । तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमिरूहव्यवहारव्यङ्ग्य
करुणं, व्यङ्ग्याप्रस्तुतहठकामुकव्यवहारव्यङ्ग्यं शृङ्गारश्च रमो मिथो विरोधि-
नावपि, प्रधानोभूते वर्णनीयरजविषयक-वक्तृनिष्ठरतिभाविऽङ्गतावित्पुन्योर्विरोधनि-
वृत्त्या समावेशः ।

व्यवहारयो समासोक्तेरवयवत्रयं निरप्यादवत्वान् । व्यक्तयोर्व्यङ्ग्यतावगतयो ।
इतरत् । स्पष्टम् ।

द्वितीय रस के अङ्गों रहने पर उसके अङ्गभूत विरह की रसों का भविरोध, जैसे—

कोई कवि राजा को चाडुवारिना करता है कि—हे राजन् ! आपके शत्रुभूत राजाओं (जो आपके
मन से सपरिवार जङ्गल में भाग गये हैं) की जङ्गल में आती हुई भिड़ों की बड़ी दुर्गशा होती है,
कौन ऐसे कीर्तिते वृक्ष हैं जो उनमें छेप-छाए नहीं करते । सुनिये—उन भिड़ों के द्वारा कंचे किये जाने
पर वे वृक्ष केछ-वाछ को एकत्र लेते हैं, उंचे किये जाने पर दोनों बगलों को नीचे सेते हैं, नीचे
किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं, और दूर हवा देने पर भी मट से बरसों के छंर
को ही पकड़ लेते हैं ।

इस श्लोक में सामासिक अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंग होते हैं—एक प्रस्तुत का
व्यवहार और दूसरा व्यङ्ग्य का व्यवहार, जैसे यहाँ वृक्षों के द्वारा भिड़ों के केश मारि का प्रहण
प्रस्तुत का व्यवहार है और किनी कर्मी वृक्ष के द्वारा उनका प्रहण व्यङ्ग्य का व्यवहार है । इन

पुनः प्रकरान्तरेण विद्वदसप्तमावेश प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धनं कार्यमेव । तथाहि सति, वैरिविजयकृता बर्ष्यस्य काऽपि शोभा सम्पद्यते ।

रसस्य बाध्यत्व निवृत्ति—

बाध्यत्व च रसस्य प्रबलवैरोधिनो रसस्याङ्गविद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्तेः प्रतिबन्ध ।

व्यतिरेक दशमं व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्व निवृत्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्व तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभि व्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात् ।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुतरसविरोधिनोऽपि रसस्य अभिमवनीयत्वेन निवेश कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिन सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव भवति न तु बाध यथा विजितस्य वैरिण सत्तया वगनीयस्य महीपतेरत्कप एव सम्पद्यते न स्वपक्षे इति सारम् ।

स्वाङ्गेषु स्वकीयव्यञ्जनोपयोगिष्वालम्बनादिषु विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि प्रबलं परिपोषविशेषं प्राप्तं विरोधिनो रसस्य अङ्गैरालम्बनादिभिरुपकारकैः (कर्तृभिः) निष्पत्तं प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य प्रतिबन्धो विरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः । परिपुष्टिविरोधि रसाङ्गकर्तृकापुष्टाङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः ।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावपोष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तयास्वादाय प्रतिबन्धादेव न तु रसवन स्वकीयास्वादप्रतिबन्धानं तदास्वादे बाधकाभावादित्यर्थः ।

दोनों व्यवहारों में से प्रथम से कल्प-रस का और द्वितीय में शृङ्गार-रसको अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि बड़ा विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों हा यहाँ कर्तृ-निष्ठ-राज-विषयक-रसि-मय के अङ्ग हैं अर्थात् प्रथम यहाँ रस भाव हा है, वे दोनों रस उनके पोषकमात्र हैं अतः उनमें विरोध नही होता है ।

अब विरोध रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाने है—'किञ्च' इत्यादि । प्रस्तुत रस को अच्छा तरह पुनः करने की इच्छा रखने वाले धरियों को विरोधी रस का भा वाक्य से वर्णन करना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णीय (प्रस्तुत) रस को रोमा गैरी (विरोधी रस) का विषय बनाने के कारण अनिश्चयीय हो उठती है, अर्थात् बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि हो होती है, बाध नहीं । जैसे विविन शत्रु के वर्णन से वर्णीय विजेता राजा का वर्णन हो सिद्ध होता है, अक्षय नहीं ।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्णन रहने पर भी अपनी (बाध्य रस का) अभिव्यक्ति का स्वरूप नही । अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन आदि सामग्री के प्रबल (प्राप्त विरोध) होने के कारण, अपने अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना ।

व्यभिचारीभावों का बाध होना ही उनके द्वारा जिन रस को अभिव्यक्त होनी चाहिये को, उन्का स्वरूप जाना ही है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योंकि व्यभिचारी-

ननु 'विरोधिरन्वयि रसस्य यदा प्रकृतस्वभावस्य प्रतिबन्ध', तथैव व्यभिचारि-
भावस्यापि स्वपोष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावामिव्यक्त्याऽमिव्यक्तिप्रति-
बन्धं धृतो नेत्याशङ्कामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गामिव्यक्त्या प्रतिबन्धानामिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्वच-
उक्तञ्चद्वयार्थज्ञानममये विरोध्यङ्गामिव्यक्तशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानान् प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशक्त्या उच्छेदापत्तेश्च ।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादानाव, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु तत्पोष्यरसा-
स्वादानाव इत्युभयोर्बन्धनिरसोऽवसेय ।

विरोधिनो रसस्य पोषकत्वादङ्गाना व्यभिचारिणामिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रति-
बन्धाद् बाधाद्, नामिव्यक्त्यव्यभिचारिणामिति शेष ।

तद्वचञ्चको व्यभिचारिप्रत्यापको यो शब्दार्थो, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिवशे
ऽसन्निधानाद् विनष्टत्वान्, उभयो दन्दार्थज्ञानयो, प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य
कल्पनाया प्रमाणानावात् । किञ्च यदि भावज्ञानयो प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य
कल्पना स्यात् तदा भावज्ञाननाया उच्छेद आपद्येत, तत्रैवभावज्ञानस्यापरभावज्ञान-
प्रतिबन्धकत्वान् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गान् । तस्मान व्यभिचारिणाणां बाध्यत्व स्वनीया-
त्वादप्रतिबन्धान् अपि तु स्वपोष्यरसास्वादाभावादिति सारम् ।

अबो को अभिव्यक्ति में बाध डालने वाला कोई नहीं है । अर्थात् रस के बाध्य होने पर उन रस का
अन्वय नहीं होता और व्यभिचारी अर्थों के बाध्य होने पर भी उनका अन्वय होता ही है, परन्तु
उन व्यभिचारीअर्थों से परिचित होनेवाले रस का अन्वय नहीं होता, यही रस और व्यभिचारीअर्थों
का बाध्यता में भेद है ।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस को अभिव्यक्ति से प्रकृत रस को अभिव्यक्ति रूढ़ नहीं है,
उसी तरह विरोधी रस के अङ्गभूत व्यभिचारीअर्थों को अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध ही करने के कारण
प्रकृत रस के व्यभिचारीअर्थों को अभिव्यक्ति क्यों नहीं रूढ़ करती ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा
नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय बुद्धि से अतिरिक्त सर हाथ दो ही एग रहने हैं, अतः जिन व्यभि-
चारीअर्थों को अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध अङ्गनाय हो, उनके अभिव्यक्त शब्द और अर्थों का ज्ञान
जिन एग में होगा, उन एग में प्रतिबन्धक रूप से स्वातन्त्र्यीय व्यभिचारी अर्थों के अभिव्यक्त शब्द
और अर्थों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों अर्थों में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में
कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । अन्वय एक काल में रहने बाध दो अर्थों में ही एक दूसरे का प्रतिबन्ध
(रूढ़ने वाला) और प्रतिबन्धक (रूढ़ने वाला) हो सकता है । यहाँ ही दोनों ज्ञान एक काल में
रहते ही नहीं, अतः प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा । यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के नष्ट हो जाने
पर भी उनमें सम्बन्ध ही रहेगा ही, अतः उन सम्बन्धों में ही प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना
करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक ही उद्योग के रहने पर सम्बन्ध का प्रतिबन्ध अनुभव-
विम्व है अर्थात् वह नहीं सकता है । दूसरे बात यह कि सम्भव होने पर भी हम तरह प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धक-भाव का कल्पना नहीं करना चाहिये । अन्वय 'भाव-उच्छेदा' का उच्छेद ही हो जयगा
क्योंकि एक रूप में अनेक विरोधी अर्थों के लुटने का ही नाम है 'भावउच्छेदा' और अन्य प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक ही दूसरे का प्रतिबन्ध ही करने के कारण एक जगह अनेक विरोधी
भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेंगे ।

नन्वेवमेव रमेऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धो मा भूदित्याशङ्का निराकरोति—
रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति ता प्रत्येव विरोध्यङ्गानां बलव-
तामभिव्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं याव्यम् ।

पुन प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्तं प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिः, तत्रापि विराघो
निवर्तते ।

उदाहरति—

यथा—

कश्चिद् राजानं स्तौति—

‘नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ता सदाहवे ।

वसुन्धरा समालिङ्ग्य, शेरते वीर ! तेजय ॥’

स्वविरोधिरसाङ्गामिव्यक्त्या रसामिव्यक्तेः प्रतिबन्धस्तु महदयानुभवसिद्धत्वात्
प्रामाणिकं, तस्माद् बलवती विरोधिरसाङ्गामिव्यक्तिविरोधिरसास्वादस्यैव प्रति-
बन्धिका, न तु व्यभिचार्याद्यास्वावस्थेति भावः ।

मियोविरुद्धरसद्वयव्यञ्जकार्यद्वये, तुल्यानि साधारणानि यानि विशेषणानि, तेषां
महिम्ना प्रभावेण, परस्परं विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्रामिव्यक्तिः, तत्रापि
तयोर्विरोधो निवर्तते । अन्यथा तादृशस्थलेष्वेकतरप्रतीतिं मुनरामवद्वदा स्यादित्य-
मिसन्धिः ।

वीरं नृपत ! नितान्तमत्यन्तं, यौवनेन तारुण्येन, उन्मत्ता उद्वेगता सदा, आज्ञे
पुढे गाढ विभ्रताङ्गतया विपुल रक्त रश्मि रमेऽपि, तादृशा पक्षान्तरे गाढमत्यन्त-
रक्ता अनुरक्ता, वसुन्धरा समरभूमिम् मृतत्वात् पक्षान्तरे नादिका प्रणयान्
समालिङ्ग्य मम्यगुपगूह्य, तं तव, जयय शत्रव शेरत स्वपनीत्यर्थः ।

यदि कहें कि तब रसामिव्यक्ति वा भी प्रतिबन्ध क्यों मानन है ? तां इसका उत्तर यह है कि
विरोधि रस के प्रबल अङ्गों के रहने पर रसामिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रोक जाना) अनुभव न सिद्ध है
अर्थात् उस स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नष्टा होती यह बात सबका अनुभव है । अब रसामिव्यक्ति
के प्रति प्रबल-विरोधी रसाङ्गों की अभिव्यक्ति की प्रतिबन्धक मानन है और व्यभिचारीभावों की
अभिव्यक्ति के प्रति उनके प्रतिबन्धक नहीं मानने, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव में सिद्ध नष्टा है ।
अब विरोधवृत्ति का एक और उदाहरण बतलाने हैं—‘अपि च’ इत्यादि । जहाँ समान विशेषणों के
द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, यथा भी उनका विरोध निवृत्त हो जाता है ।

जैसे—‘दे ! वीर-राजन् !’ जवानों से अत्यन्त उन्मत्त बने हुये वीर युद्ध में सर्वदा अङ्गों के क्षण-
विभ्रत हो जाने के कारण अत्यधिक रश्मि-प्रवाह से युक्त, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनुरक्त जायके शत्रु
छोग, भर कर गिर जाने से समर-भूमि छोड़े, दूसरे पक्ष में प्रणय से नादिका को सन्धक् रूप से
आदिहन-बद्ध करके मो रहे हैं । यह किसी कवि से की गई राजा की स्तुति है । वहा ‘यौवने-मत्’
‘गाढरक्त’ इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यापक विशेषणों से पक्षे कर-रस की अभिव्यक्ति होती है, पक्षत्र
वन्हीं विशेषणों से शत्रु-रस की भी प्रतीति होती है । इस तरह अन्यत्र विरुद्ध कहे जानेवाले कल्प
और शत्रु में वहाँ विरोध इतकिये नहीं होता कि वे दोनों ही वहाँ एकविध विशेषणों के द्वारा ही
अभिव्यक्त हो जाते हैं ।

एव रसानामविरोधप्रकारानुत्त्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निवध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा
नाभिधातुमुचित, अनास्वाद्यताऽपत्ते । तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्यु-
क्तत्वात् ।

ननु रसाना व्यञ्जनया गम्यमानानामभिधया बोधने का क्षतिरित्याशङ्क्यामाह—
यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधान, तत्र को दोष इति
चेत्, व्यञ्ज्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

इह 'पीवनीन्मत्ता' 'शृङ्गार' इत्यादिविरोधणत्वात्स्मरणप्रतीति प्रथम
करणरसामिव्यक्ति पश्चाच्च शृङ्गाररसामिव्यक्तिरिति साधारणविरोधणत्वेन प्रतीय-
मानयोर्विच्छेदयोरपि कणशृङ्गाररसयोर्विरोधस्य निवृत्ति ।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषेण शृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधया बोधनमनुचित-
त्वाद्दोष, यतस्तथा सति रसशब्दमत्कारापवर्थादास्वादविधुर, स्यात् । केवलव्यञ्जना-
वृत्तिबोध्यन्व एव रसाना चमत्कारकत्वम् । यथा गुडस्य रसनेन्द्रियमात्रगन्धिकर्षण
प्रत्यक्षात्मक आस्वाद, तथैव रसाद्वैरपि व्यञ्जनयोपस्थापनेनैव । एतच्च 'कथमपि
वाच्यवृत्त्यमानिङ्गितस्यैव व्यञ्ज्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिके स्वीकारात् ।' इत्यने-
नात्रापि प्रागुपन्यस्तम् । व्यभिचारि—रसस्यापिमावागा शब्दवाच्यता ।' इत्यादिना
कव्यप्रकाशे रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम् ।

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' इत्यादिनाऽऽदौ शन्यवृत्ता कृता स्वकीयोदाहरण-
दातप्रतिज्ञा प्रायो दोषमिया परित्यक्तौहीह उदाहरणद्वयमन्यदोष क्रमेण दीयते—

'तामनङ्गजयमङ्गलश्रिय, किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।

नेत्रयो वृत्तवतोऽस्य गोरुरे, कोऽप्यजायत रसो निरन्तर ॥' इति ।

'तामुद्वीष्य कुरङ्गाक्षी, शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।' इति च ।

स्वशब्देन रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देन च । सामान्यतोऽविरोधात् । मुत्स्योद्भिरण-
मिव व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधाया बोधनमिति वमनतुल्यत्वात्तदाख्या दोषस्य ।
ग्रन्थोऽयमपूर्ण इत्यनेऽस्य दोषस्यानिरूपणम् ।

व्यञ्ज्यस्य रसस्याभिधाया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्व नोचितमिति
सारम् ।

अब हम दोषों का विवेचन करते हैं—'हरणम्' इत्यादि । इस प्रकार विरोध का परिहार कर
 देने के बाद भी वर्तनीय रसों का छन्दस 'रस' शब्द अथवा 'शृङ्गार' आदि शब्दों से नहीं करना
 चाहिये, क्योंकि अभिधावृत्ति के द्वारा बोधित होने पर इन रसों में अस्वाद्यता (धमत्कार) नहीं
 रह जाती । अतएव पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वादन करने योग्य होता है, जब
 व्यञ्जनावृत्ति से वनका बोध होता है ।

अब वाच्य विभावादिद्वारा अभिव्यक्त हुए रस का पुन रस अथवा शृङ्गार आदि शब्दों से वल्लेख
 कर दिया जब कहा करीन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यञ्ज्य को वाच्य बना देने
 पर 'वनन' नामक दोष होता है, जिसका वर्जन आगे किया जायगा । अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञान
 का अर्थ पुन अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान कान्ता, राग्ये हुए अत्र के उगठने जैसा है । अत एव इन दोष

अत्रैव सामान्यदोषमुक्त्वा विशेषदोष वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया, रसस्थले वाच्यवृत्तः कापेयक-
कल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च ।

रसदोषेष्वेव प्रथम निरूप्य, द्वितीय च निरूपयति—

एव स्यायि—व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्व दोष ,

रसस्य येन रूपेण आस्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदक रूप वैयङ्गनिकापरोक्ष-
ज्ञानविषयत्वम् । प्रत्ययाजनकतयाऽऽस्वादजनकत्वामावादेन । वाच्यवृत्तेरभिधाय ।
कापेयककल्पत्वेन ज्ञानरवेष्टिततुल्यत्वेन नैरर्थक्येन । दोषविशेषो नैरर्थक्य, तच्च 'न
कुर्यान्निष्पन्न कम' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम् ।

अभिधया रसादीना शब्दप्रतीतिमात्र न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद
इत्यभिधाय आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसाद्यास्वादजनकत्वामावाद् रसादीना
व्यङ्गयानामपि पुनरभिधया बोधनस्य कपिचेष्टेव विपत्तंवेति नैरर्थक्यरूपदोषविशेषोऽ-
पीह सम्भवतीत्याकृतम् ।

एव रसवन्, स्यायिना व्यभिचारिणा च भावाना, शब्दवाच्यत्व रत्वादिसम्बद्धं-
यादिसम्बद्धाभिव्येयत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थ । तथा चोक्त वर्णने—

'रसस्योक्ति स्वशब्देन, स्यायिसञ्चारिणोरपि ।' इति ।

तत्र स्यायिना स्वशब्दवाच्यत्व द्वितीय, व्यभिचारिणा तु स्वशब्दवाच्यत्व तृतीयो
दोष । इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादो न तु वाच्यत्वे । विशेषस्तु प्रदीपादवसेप ।

'सम्प्रहारे प्रहरणं प्रहाराणा परस्परम् ।

ठपत्कारं धृतितर्हस्ताहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥' इति पूर्वस्य ।

'सन्नोडा दयितानने सकरणा मातङ्गचमाम्बरं,

सभासा मुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रेऽभृतस्यन्दिनि ।

सेर्ष्या जह्नुमुताऽवलोकनविधौ, दीना कपालोदरे,

पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु व ॥'

का 'वमन' यह नामकरण हुआ । तब ही कि अनूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इन दोष की चर्चा आगे नहीं
हो सकी । अलिप्त व्यङ्ग्यों में होने वाला यह दोष सामान्य है ।

रस-पदवादि पदों से रसों की वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता है
क्योंकि आम्नायतावच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-रस्य में अभिधा-वृत्ति का
प्रयोग रसदोषों की चेष्टा के लिये निरर्थक है । अभिधाय यह है कि रस आम्नायतावच्छेदक रूप से
प्रतीयमान होकर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अनरोक्ष ज्ञान का
विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उनको प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर
तो उस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति कराने का प्रयास व्यर्थ होगा ही । आम्नायतावच्छेदक पद का
रस अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आम्नाय होता है अतः आस्वाद्यता सममें रहती है और
रस में रहने वाला कोई हास (अन्वयार्ण) धर्म उस आस्वाद्यता का अवच्छेदक (परिचायक) होता
है, जो यहाँ वैदिक-अनरोक्षज्ञान विषयत्व अभिप्रेत है ।

इसी तरह स्यायोभावों और व्यभिचारोभावों का भी नामो-रन्ध्रपूर्वक वर्णन करना दोष है अर्थात्
अभिधा वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् यह

चतुर्यं पञ्चम च रसदोष निरूपयति—

एव विभावानुभावाप्रोरसम्यक् प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्वाद इति ततोदोषत्वम् ।

षष्ठ रसदोष निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिहूलरसाङ्गाना निबन्धनन्तु प्रकृतरसापोपप्राप्तोपिकमिति दोष ।

सप्तम रसदोष निरूपयति—

प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गातरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकाना न सामग्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपन दोष ।

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वत्रोत्साहस्य स्यायिन, अपरत्र श्रीडादीना व्यभिचारिणा च स्वराब्देनोपादानात् ।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीति । विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयस्योपादो प्रतीति । तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययो । तदुक्त मट्ट मम्मटेन—'षष्ठकल्पनया व्यतिरनुभाव-विभावयो ।' इति । तत्र विभावामस्यक् प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोरक एव चतुर्यं, अनुभावामस्यक्प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययो-स्त्वपर पञ्चमो रसदोष ।

परिहरति रतिं मतिं लुनीन, रत्नलतितरा परिवन्तत च भूय ।

इति वन विषमा दत्ताज्य देह परिभवति प्रमम विमन कमं ॥' इत्येकस्य,

'वर्षूरूलिधवलद्युतिपूरघीन-दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यून ।

नीताशिरोऽशुक्निवेशविशेषलुति-ज्यस्तननोत्रतिरभून्मयावनी मा ॥'

इति चापरस्योदाहरणम् ।

समबलाना प्रबलाना वा प्रतिफलस्य प्रकृतरसविरोधिनी रन्म्याङ्गाना विनादा-दीना निबन्धन निवेशनम् प्रकृतरसस्य य पाप पुंस्तस्य मुन्दापमुन्दन्यादन मस्त्व-न्यायेन वा प्रातोपिक प्रतीप शत्रुस्तत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतुदोष इत्यथ ।

विरोधिरसाङ्गाना दुर्वनाना वाध्यतया निबन्धनन्तु न दोष, सिन्धु गुण एव—'विवक्षिते रसे लच्छप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् । वाध्यानामङ्गनाव वा प्रातानामुत्ति रच्छला ॥ इति धर्म्यामोने, 'सञ्चायदिविद्यदस्य वाध्यत्वेन वचोगुण' । इति दर्पणे च दर्शनात् । उदाहरणन्तु—

'मान मा कुरु तन्वद्भिः । ज्ञात्वा योवनमस्तिरम ।' इति ज्ञेयम् ।

प्रकार का वैतुर्य हो श्रेता अथवा द्रवाओं को उत्पन्न हो जाता है अतः वैसा नहीं करना चाहिये ।

दूसरे प्रकार विभवों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीति न दाना अथवा विलम्ब से प्रतीति होना दोष है, क्योंकि कि देना होने से रस का आस्वादन नहीं होता ।

जसा जिन रस का वर्णन करना कठि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के अर्थों को अपेक्षा समान बटवाने) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के अर्थों को अपेक्षा अधिक बल बन) अर्थों (विभव-दिवों) का वर्णन करना दोष है, क्योंकि वे प्रस्तुत रस के परिष्क में बाधक ह ते है ।

अष्टम नवम च रसदोष निरूपयति —

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्होऽवसरे प्रस्ताव , विच्छेदानर्हो च विच्छेद ।

तद्दोषद्वय क्रमेणोदाहरति—

यथा—

रन्ध्रावन्दन—देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसवते, कयाऽपि नामिन्या सह कस्यचित् कामुवस्यानुरागवर्णने ।

प्रबन्ध सङ्घटितनानावाक्यसमुदाय , स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपरचति प्रदीपप्रतिपादिते सन्दर्भविशेषे, स्वसामग्रीवलेन परिपोष प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरेणावान्तरिकाभ्रविपप्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावस्थास्वादप्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दोषने भूयोभूय प्रसङ्गान्ते सामाजिकाना सधेतसा, सामग्र्येण साकल्पन रसास्वाद्यो न भवतीति हतो-विच्छिन्नस्य रसस्य पुनर्दोषन दोष । तथा हि—'परिपोष यत्स्वापि शौन—पुन्येन दीपनम् ॥ रसस्य स्याद् विरोधाय इति ध्वन्यालोके, 'उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमान उपभुक्तुमुपपरिमल इव सहृदयानामास्वादापकर्षक इति प्रदीपोद् तयोश्च प्रतिपादितम् ।

उदाहरणन्तु—कुमारसम्मवचतुर्यसर्गे रतिविलासप्रकरणे 'जय मोह्यरायणा सती, विदशा कामवद्विविधोषिता । इत्यादिसन्दर्भणाशो दीपितस्य, 'अथ मा पुनरेव विह्वला वमुवाऽऽतिङ्गनधूसरस्तनी । इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वमन्तःशानप्रस्तावे-नावान्तरे विच्छिन्नप्रवाहस्य करणस्य कस्याविप्रलभ्यस्य वा रमस्य 'तमवेक्ष्य ररोद सा धृशम्' इत्यादिना पुनर्दीपन दोष । अङ्गरसानामेव सश्वदीपने दोष, अङ्गरसस्य तु शान्तस्य महानारतादी, करणस्य रामायणादौ च पुन—पुनर्दोषने नास्वादापक्य, प्रत्युत परिपोष एवेति प्रदीपकृतसम्मत्तम् ।

'अकाण्डे प्रयतच्छेदौ' इति दर्पणोक्ते सहृदयानुभववाच्य रताना प्रस्तावाद्योग्ये-वसरे प्रस्तावोऽनुचितत्वाद्दोष, तथा विच्छेदाद्योग्येऽवसरे विच्छेदश्च धमेणाष्टमो नवमश्च रसदोषः ।

प्रसक्त औचित्यात् प्राप्ते । महाहवदुर्मदेयु विवटयुद्धोद्धनयु । प्रतिभटेयु प्रतिमृ-पोषेयु । मर्ममिन्द्रि मर्मस्पृत्तया हृदयविदारकाणि ।

किना भा प्रबन्ध (परस्पर अन्विन वाक्यमनुहात्मक ग्रन्थ लक्ष्णा वस्तुका अवान्तर प्रकरणा) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुन. आगे उसका दीपन करने से—विच्छिन्न कथा को दुबारा उठाने से—'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद हो जाने से प्रस्तुत रस का अस्वादन सङ्घर्षों को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता । वहाँ अक्षरप्रकार का मन है कि अक्षभूत रसों का ही पुन पुन दीपन सत्र है, अक्षी रसों का नहीं, क्योंकि अक्षररसों का पुन पुन दीपन करने से ही अस्वादि में किन्ने तरह की कमी नहीं होती, वरन् परिदृष्टि ही होती है अन पत्र महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण आदि में कथा रस का पुन पुन दीपन किना गया है ।

इसो तरह जहाँ किन रस का प्रस्ताव नशा करना चाहिए, वहाँ हम रस का प्रस्ताव काना और जहाँ किन रस का विच्छेद नहीं करना चाहिए, वहाँ रस रस का विच्छेद कर देना दोष है ।

उभे—मन्वा-वदन, देव-पूजन आदि धर्म-वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभृतेषु, मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु, नाय-
कस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचिन्तम् ।

दशम रसदोष निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधानां चरितानामनेकविधायाम्ब्र सम्पदो
नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः ।

ननु तथा वर्णने का हानिरित्यन बाह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्धयेत् ।

तावता का क्षतिरित्याद्यद्वायामभिदधाति—

तत्प्रयुक्तो रसप्रापश्च न स्यात् ।

पुनश्चाहुते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावक—नायकोत्कर्षाङ्गत्वान् कथमवर्ण-
नीयत्वमिति वाच्यम् ।

सन्ध्यावन्दनस्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेष्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्यो-
दाहरणं दत्तम् । पूर्वं शृंगारस्यानवमरे प्रस्ताव । उत्तरं तु वीरस्य रौद्रस्य
वास्तवमरे विच्छेदः ।

नायकस्य प्रतिभूत प्रतिनायक तेष्यञ्चरितादिभ्यः ।

नायकचरितादि—सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि—सम्बद्धजन्तमधिकं न विवेकम्,
तेषामद्भुतत्वान्दतिरिस्तृणनिषिद्धत्वान् । तदुक्तं षट्मध्मटेन—'जङ्गस्याप्यतिवि-
स्तृतिः' इति ।

नायकचरिताद्यपक्षया प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते मति, नायकस्याप-
वर्षं, प्रतिनायकस्य चोत्कर्षं सिद्धयेदिति सारम् ।

तत्रयुक्तं प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तम् ।

प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य प्रकृतसंज्ञादविच्छेदकत्वाद्दोषवदिति तात्पर्यम् ।

तदभिभावकस्य प्रतिनायकपराभवकारकस्य ।

किसी कानुक का प्रेम-वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, न वह दोष होगा । और
मर्मभेदी बर्णनों को बोलने हुए विकृत-सुन्द-मद-मल, उजु-बेबाओ की वरमिति में नायक के
सम्बन्ध-वर्णन आदि का वर्णन भी अनुचित होने में दोष है । यहाँ प्रथम उदाहरण में शृंगार का अन-
वमर में प्रस्ताव हुआ है । द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवमर में विच्छेद कर दिया गया है ।

इसी प्रकार धिक्का प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं रहना, वय प्रतिनायक आदि के लता
प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की, नायक (प्रधान नायक) के चरित्र और
सम्पत्तियों से, अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिए ।

वेना कहने पर नायक का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसका वर्णन करना इष्ट है । सर्वत्र
प्रतिनायक का ही उत्कर्ष सिद्ध होगा, जो अभीष्ट नहीं है ।

और प्रतिनायक-वर्णन-उत्कर्ष की प्रतीति होनेपर भी तत्रयुक्त रस की पुष्टि नहीं होगी ।

इदि अत्र कर्तुं कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विशेष) का वर्णन करने पर अत्र फलप्राप्ति (विशेष)

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदाभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पादकत्वं तादृशस्येष्टत्वात् । तद्विरोधिन एव निषेधत्वात् ।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य सर्वस्य विजेतरि सङ्क्रमान् को दोष इत्याद्यङ्कते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्ण्यमानोऽप्युत्कर्षं स्वाश्रयहन्तृतामात्रादेव प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषावह इति वाच्यम् ।

निराकरोति—

एवं हि सति महाराज कमपि त्रिपशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्येव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षं स्यादिति ।

विजयोत्कर्षो हि वर्णितो विजेतुत्कर्षमेव प्रत्याययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनमपि प्रकृतोऽङ्गमेव, ततस्य कथनवर्णनीयत्वमिति शङ्कापक्षाभिप्रायः ।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतुनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वादङ्गमेव, तावत्त निषिध्यते, किन्तु ह्यश्रीवक्ष्ये—प्रतिनायकस्य ह्यश्रीवस्य जलक्रीडादिवर्णनमिव यनायकोत्कर्षानुपकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम् ।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य । प्रकृतो वर्ण्यमानो नायकः । स्वम्, उत्कर्षं, तस्याश्रयोऽस्य प्रतिनायकस्य हन्तृतामात्रात् तत्कर्मकहननकर्तृत्वादेव । मात्राभेदेन प्रस्तुतवैषम्यव्यावृत्तिः । अनिश्चाययेदतिशायिनं कुर्याद् वधयेदित्यनर्थान्तरम् ।

प्रतिनायकस्य वर्ण्यमानं सर्वोऽप्युत्कर्षं केवलं तस्याय हन्नेनिहेनोर्नायकस्यैवोत्कर्षं यतो वर्णयति, तस्मान्न तस्य द्रूपकतेति शङ्कितुराकूनम् ।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य । शबरस्य पुलिन्दजातीयस्य 'मुसहर' इति प्रसिद्धस्य वनेचरस्य । इति शब्दो हेत्वर्थकः ।

यदि हननादेव सकलो वध्योत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विपाक्तवाणक्षेपेण विक्रान्तं नृपं हतवत् शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा तस्मात् वैषम्यमस्त्येवेति तान्यर्थम् ।

नायक के उत्कर्ष का अर्थ (पोषक) हा होना * अर्थात् विजय के उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष की ही प्रतीति कारण है—फिर आप प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन को क्यों अनुचित कहते हैं ?

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का वैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष का उपकारक अर्थात्-पोषक हो सके, वैसा वर्णन हमें दृष्ट है—स्माज्जुत है—निषेध तो उसी प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोध है ।

'यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'दादृश तादृश'—'जैम' वैम'—निषेध किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजेता) का उत्कर्ष विना भां तरह अधिक से अधिक को वर्णित क्यों न हो, वह उत्कर्ष अर्थात् प्रतिनायक की मारने वाले नायक के उत्कर्ष की ही बटावेगा, अर्थात् उत्कर्ष को मारने वाला—घातनेवाला—और अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अब वैसा सम्भव वर्णन दोषाधिक नहीं होना यही कहना चाहिए ।

उक्त शब्दा का उत्तर देते हैं—'एवं हि सति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किमी प्रकार से मार देने वाला उसने (नृप से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, यह बात ठीक नहीं अच्छी

एकादश रसदोष निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराऽन्तरा न चेद्, दोषः ।

अङ्गघननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात् ।

द्वादश रसदोष निरूपयति—

एव प्रकृततरसानुपकारकस्य वस्तुनोवर्णनमपि, प्रकृततरसविरामहेतुत्वादोष एव ।

त्रयोदश रसदोष निरूपयति—

अनौचित्य तु रसभङ्गहेतुत्वान् परिहरणीयम् ।

रसस्य यदात्मन्वन यश्चाश्रय, तयोरत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तरान्तरा मध्य मध्ये, अनुसन्धानमन्वेपणलक्षण स्मारकमुपादान, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद् दूषणमित्यर्थे ।

तदुक्तम्—'अङ्गिनोऽनुसन्धानम्' इति ।

इह पूर्वपाठपधटको यद्यप्येकशब्देच्छब्द उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादान बलवत्पक्षत इत्यनुसन्धेयम् ।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽश्वाद्यप्रवाह, हि यत्, तदनुसन्धानाधीनाऽऽलम्बनाश्रयानुसन्धानप्रयोज्या, अतस्तयोरगनुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषण रसस्येभ्यम् ।

प्रकृततरसविरामहेतुत्वादिति दूषकतावीजनिर्देश । विरामो विच्छेदः ।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारक तद्गणनेन प्रस्तुतरसास्त्रादधाराया विच्छेदात् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थे । तदुक्तम्—'अनङ्गस्य च कीर्तनम्' इति ।

अनौचित्य रसास्वादोपयोगिपदार्थसामंनिष्ठम् । तुल्यदोऽस्य प्रकारान्तर्मात्रव्यवच्छिनति । रसेत्यादिना दूषकतावीजनिर्देश । रसास्वादव्याघातकारणत्वादनौचित्य दोष इति सारम् ।

क्योंकि यदि देवी बाल हो तब ता किमा बार महान् राजा का एक जहराल बाण ने मार देने वाला साधारण भीठ भी उस महाराज से उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, परन्तु देमा होना नहीं । उमी तरह यदि नायककोर्ण-वर्णन को अपेक्षा प्रतिनायककोर्ण वर्णन बहुत बग-बग कर दिया जाय और अन्त में यह भी कह दिया जाय कि उत्कृष्ट प्रतिनायक को नायक ने मार दिया, तथापि उनसे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा ।

अब आरहवें रस दोष का उल्लेख करते हैं—'तथा' इत्यादि । इसी प्रकार रस के अलम्बन और आश्रय का यदि मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है ।

उक्त दोष के होने में तुल्य के बतलाने हैं—'तदनु' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि रसास्वाद धारा अलम्बन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अतः यदि उनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रसास्वाद-धाराविच्छिन्न हो जायगी ।

अब आरहवें दोष का उल्लेख करते हैं—'एवम्' इत्यादि । इसी तरह जिन रसु का वर्णन प्रस्तुत रस का उपकारक न हो, उनका वर्णन भी एक रस-दोष है, क्योंकि उन तरह का वर्णन भी प्रस्तुत-रसास्वाद धारा को समाप्त कर डालता है ।

रसस्य मूर्तत्वाच्चावादासम्भवाद् भङ्गपदार्थमाचष्टे—
भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिक्तादि-निपातजनितेवास्नुदता ।

बनौचित्य विवृणोति—

तच्च जाति-देश-काल-वर्णा-श्रम-वयो-ऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादे प्रपञ्च-
जातस्य तस्य तस्य, यन्लोक शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-क्रियादि, तद्भेद ।

बनौचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचित यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि, पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च
साधुभावादीनि । स्वर्गे जराध्याध्यादि, भूलोके मुधासेवनादि । शिशिरे जल-
सिंहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य
निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणो यतेश्चताम्बूलचर्चणम्, दारोपसग्रहः । बाल-
वृद्धयो स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः । दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्याना च
दरिद्राचारः ।

निकता बालुका । अस्नुदता मर्मच्छेदिनाऽप्रियतेति यावत् ।

यथा पानकरसास्वादस्य बालुकापातो विघातकृत्, तथैवानौचित्यमत्रापीति
रसस्यास्वादविघात एव भङ्ग इत्याशयः ।

तदनौचित्यम् । चस्तव्यं । वयोऽवस्थयोर्मदं प्रागेव निगदित । व्यवहार, समुदा-
चार । प्रपञ्चजातस्य सांसारिकवस्तुव्यूहस्य (जात्यादिरूपस्य) ।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-त्रिादि लोकत शास्त्रतश्च तिष्ठत्याहु-
चिन्, यद्भिन्नन्वमनौचित्यमित्यर्थः ।

जात्यारनुचित गवादिर्त्यादिना देशानुचित स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचित
शिशिरइत्यादिना, वर्णानुचित ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचित ब्रह्मचारीत्यादिना,
वयानुचित बालेत्यादिना, अवस्थानुचित च दरिद्रेत्यादिना विवृतम् ।

साधुभावो गवादिवदाजं वम् । मृगया पशुपक्षिर्हिंसाऽऽश्लेषः । बाहुज क्षत्रिय ।
निगमो वेदः । मति सन्नासी । दारोपसग्रहः पत्नीपरिणयः । आक्यो धनी, तदाचरण
विपुलध्यादि । अत्र सर्वत्र तत्तदनौचित्य रमभङ्गकारणतया रूपणम् ।

जो बाने अनुचित है, उनका वर्णन रमभङ्ग का कारण होता है, जो यह सर्वथा स्पष्ट है ।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उसका भङ्ग क्या ? इस सन्देह को निवृत्ति के लिये 'भङ्ग'
पर की व्याख्या करने हैं—'भङ्गश्च' इत्यादि । जिस तरह शरबत आदि तरल वस्तु में बालुका आदि
के पड़ जाने से वह सटकने लगता है, वही तरह रस के आस्वादन में सटकने को रस का भङ्ग
कहते हैं ।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव
और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से भिन्न तथा वचिन् द्रव्य,
गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होता ।

भद जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण दिएजाने हैं—'जात्यादेः' इत्यादि ।
अग्नि-विरुद्ध जैसे—बैल, गाय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि एवं सिंह आदि का
सोषापन आदि । देश-विरुद्ध जैसे—स्वर्ग में वृद्धत्व, रोग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति ।

प्रकृत्यनुचित विकृष्वन् प्रकृतिभेदानाह—

प्रकृतयो दिव्या, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च । धीरोदात्त-धीरोद्धत-धोर-
ललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामनोरति-निर्वेदप्रधाना उत्तम-मध्यमा-
धमाश्च ।

प्रकृत्यनोचित्ये प्रथम रत्यनोचित्य प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीना भयातिरिक्तस्थायिभावाना सर्वत्र समत्वेऽपि, रते सभोग-
रूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतामु स्फुटीकृतमकलानुभाव वर्णनमनुचितम् ।

प्रकृतयो नायकप्रभृतय —'निता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियवद । रक्तलोक
शुचिर्वाग्मी रुद्रवरा त्विरो युवा ॥ बुद्धयु त्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वित ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥' इति दशरूपकोत्कलधना दिवि स्वर्ग
मवा दिव्यादेवैकरूपा इन्द्रादय, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादय दिव्या-
दिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथम त्रिविधा ।
ते च—'महासत्त्वोऽगम्भीर क्षमावानविकथ्यन । स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो
दृढव्रत ॥' मायापर प्रधण्डअपलोऽहङ्काररूपंभूयिष्ठ । स्थेरान् निगूढमानो धीरर्धा-
रोद्धत कथित ॥ निश्चिन्तो धीरननित क्लामक सुखी मृदु । सामान्यगुण-
भूयान् द्विजादिको धीरशान्त स्यात् ॥' इति लक्षिना उत्साहप्रधानधीरोदात्त-क्रोध-
प्रधानधीरोद्धत-वाग्मीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीरशान्ता इति प्रत्येक
चतुर्धा, पुनस्तम-मध्यमा-धमत्वेतित्रिविधा इति सङ्कलनया पटत्रिंशत्प्रकृतयो
बोध्या । शृङ्गाररसे त्वनुकूल-दक्षिण-घृष्ट-शठत्वं प्रकृतीना चतुर्विधत्वमावतनी-
यम् । नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जरोमुरभेरवसेया ।

तत्र तामु प्रकृतिपु, रत्यादीना भयातिरिक्तस्थायिमाना भगमिभानामाशाना रति-
प्रभृतीना, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिपु समत्व एकविधत्वे साधारणतया सत्यपि मनुष्येषु

काल-विरुद्ध जैसे—शीतराज में जल-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन प्रभृति ।
वर्ण-विरुद्ध जैसे—ब्राह्मणों का शिकार लेटना, क्षत्रियों का दानटना और शूद्रों का वेद पढ़ना ।
आश्रम-विरुद्ध जैसे—ब्रह्मचारी और सवासियों का ताम्बूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना ।
अवस्था-विरुद्ध जैसे—बच्चे तथा बूढ़ों का स्त्री सेवन और युवकों का वैरागी होना । इसी तरह दरिद्रों
का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सा आचरण ।

अब प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध का उदाहरण प्रियलाने के क्रम में एक प्रकृति का विभाग बहने
है—'प्रकृतयो' इत्यादि । अलङ्कार शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतियों (नायक को) होती
है—बुद्ध दिव्य (देवत्वरूप इन्द्र आदि), बुद्ध अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और बुद्ध दिव्या-
दिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि) होने हैं । इसी तरह उन
प्रकृतियों के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उत्साह की प्रधानता रहती है,
धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धारललित नायक, जिनमें स्वाश्रित्य प्रेम की
प्रधानता होती है, रति धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है । इन प्रकार नायक के
बारह भेद बुद्ध, विर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान देने में उक्त बारह भेद
सर्वोत्तम हो जाते हैं ।

इन सभी प्रकृतियों (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्वाधीनता वरुधि प्रधानरूप से

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्य प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटो—दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्रयंकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु ।

तत्र हेतुमभिपत्ते—

आलम्बनगता रात्र्यत्वस्यानुभावगत-मिव्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्ला-
सापत्तेः ।

इव उत्तमदेवतासु गौरी-गिरिशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रते स्फुटीकृता स्पष्टमा-
ख्याता सकलानुभावा सर्वे व्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचि-
तमित्यर्थं ।

पित्रारिवोक्तृष्टदेवतयो सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव ।
उत्तमेत्युक्त्या मन्त्रमादिषु कामचार । भयस्याश्रयभेदेन वैषम्याद् भयातिरिक्ता-
नामित्युक्तम् । वस्तुतस्तु रति—क्रोधादीनामप्याश्रयभेदाद् वैषम्यमानुभविकमेवेति तदुपा-
दानमकिञ्चित्करमिति विभावनीयम् ।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादनाचरणीयमित्यनुपपन्नम् ।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, भस्मीकरणे, पटो कुशलस्य तथा दिन च रात्रिश्च
दिनरात्री, तयोर्व्यत्ययो दिनस्थाने रात्रि, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यास तदा-
दीनामनेकाश्रयिणा कारण, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद् जदिव्येषु मानवेषु,
वर्णनमनुचितमिति नाचरणीयमित्यर्थं ।

यतस्तथावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्गतस्य तत्रिष्टम्य आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य
प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभावगतस्य पूर्वोक्तलोकभस्मीकरणादिलोकोत्तरक्रोध
व्यापारनिष्ठस्य, मिथ्यात्वस्यासम्भाव्यतयाऽस्त्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लासस्य
रौद्ररसास्वादानुद्गमस्य आपत्ति स्यात् तस्मात्तथा न वर्णनीयमित्यर्थं ।

होते है, तथापि सम्भोगस्य रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, वही तरह भव अनु-
भावों (अग्निहन-बुम्बन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनु-
चित है ।

अगर् को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध आश्चर्यजनक
कार्यों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया जाता है, उसी तरह अदिव्य
नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

एक प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं) में
पूज्यताबुद्धि है, यदि उनमें साधारण नायकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा खोलेतर रति का वर्णन
करेंगे, तो हमको सुनकर सद्दर्यों के हृदय में रस का विकास नहीं होगा, वरन् एक प्रकार का सद्गोच
ही होगा । इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस प्रकार के क्रोध का वर्णन किया
जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णन किया जाता है, तो उसमें श्रोताओं को श्रुतेपन का
ज्ञान होगा । अतः उस वर्णन से रस का विकसित होना सम्भव नहीं है ।

ननु प्राग्मदृश्यायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्नासितस्य भावनाविशेषरूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरण प्रतिपादित, तेन प्रतिबद्ध-मालम्बनविषयकमाराध्यत्वप्रकारक ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणोदात्तत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् ।

समादधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्बोध प्रमाणसिद्ध, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।

साधारणीकरणकल्पनाया मातृत्रिकत्वाभ्युपगमे दोष दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक-स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः ।

क्वाचित्क विपरीत दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो गद्योन्मत्त-मत्तज्जर्जरिच भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितु साम्प्रतम् ।

ननु प्राग्मदृश्यायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्नासितस्य भाव-नाविशेषरूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरण प्रतिपादित, तेन प्रतिबद्धमालम्ब-नविषयकमाराध्यत्वप्रकारक ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

विशेषधर्मावच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषधर्मावच्छिन्न-प्रकारताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिनि भाव ।

न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसा रसास्वादोऽनुभू-वसायसिद्ध सामग्रीविरहाभ्युपपद्यते, तत्रैव तदुपपत्तयेऽनायत्वा तन् कल्प्यत इति कानानुरोधान् तत्कल्पनाया प्रकृतेऽसम्भव इत्यभिसन्धि ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनाया सम्भवादित्याशय ।

तुनाऽहचि सूचयते । अयमुक्तः समयः सिद्धान्त सद्भूतो वा । मन्तृर्जदन्ता-वले । मत्तहस्तिदू-मत्त समयभेदेने निदानमुन्माद, न तूपपत्तिविवेक सूचयति । निदन्तान् दृष्टान्त । इदानीन्तननायुनिकेन कविना । साम्प्रतं युक्तम् ।

यदि आप वहाँ हि रसान्नाद मे पूर्व, भट्टनायक मत के अनुसार भावकत्व व्यापार से और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभाजितियों का साधारणीकरण हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-बुद्धि उत्पन्न हो नहीं हो सकती ?

उक्त श्लोक का मन्नाथान यह है कि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहता है, वहाँ साधारणीकरण का कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं, तात्पर्य यह है कि उक्त स्थान में सहृदयों का एतन्मुमा प्रमाण-भिन्न नहीं है, अतः वहाँ साधारणीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती ।

यदि सा जगह साधारणीकरण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बन्ध से अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसान्नाद होने लगेगा ।

यदि अपने-प्रकृति कुछ कवियों ने गीतगोविन्द आदि निबन्धों में उक्त देवता विषयक सम्भोग-

चरम व्यवहारानौचित्य प्रतिपादयति—

तथा विद्या-वयो-वर्णा-श्रम-तपोभिरत्कृष्टं स्वतांप्रवृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम् ।

यत्र तद्व्यवहारौचित्य तदाह—

व्यवहर्तव्यं चापहृष्टैरत्कृष्टेषु ।

उत्कृष्टेष्वपि विशेषमभिदधानि—

तत्रापि 'तत्रभवन्' 'भवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जात्योत्तमं द्विजैरेव, नाधर्मं शूद्रादिभिः परमं चर' इत्यादि सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतय, सम्बोध्या ।

अनुमत्तौ च योन्मादिव्यवहारो नानुक्रियते, तद्वैशाधुमिनेन वदिना देपाक्षिण प्राचा समयोन्लङ्घन नानुकरणीयम्, प्राचामनीचित्यस्य तन्नहिमानिरेकादिभिरपि तिरोघापयितुं सान्यत्वादिति सारम् ।

विद्यादय उक्तयो हेतव । सबहुमानेन वचसा विपुत्रादरसूचकेन वचनेन । वचसे- निव्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम् । 'सम्बहुमानेनेति' क्वाचित्पपाठे त सम्यग बहुमान यत्रेति विग्रह ।

विद्यादिभिरत्कृष्टैः तत्रापसयाऽपहृष्टेषु विधीयमानो बहुमानोऽनुचितत्वाद् रमा- पक्यक इति सारम् ।

विद्यादिभिरत्कृष्टैस्तु कृष्टेषु सबहुमानेन वचसा व्यवहरणीयमित्यय ।

तत्राप्यत्कृष्टेष्वपि । तत्रभवन्च्छब्द पूज्यार्पक ! सम्वाजनैरभिमुखीकरणसद्वै । देवाऽप्येकयाऽपि गुरोर्भ्याहितत्वाद् गुरुशब्दस्य पूर्वं निर्देश । द्विजैर्ब्राह्मण-क्षत्रिय- वरैः । चक्रवर्तिन सम्राज ।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदाद् व्यवहर्तुं भेदाच्चव्यवहारयोचितानुचितत्वे बोधो इष्याय ।

वर्गे अनुभावों के स्पष्टीकरण के माथ विद्या है, परतु उन्होंने महत्तम हाथियों को तरह, मगूर्ण महदय मनन से अत उक्त मर्माद को लोड लाया है, अत उनके वृमान मे अधुनिक यंत्रों को बना नहीं बना चाहिये ।

अथ व्यवहार-विरुद्ध वा उदात्तान् दिग्गलान् हे—'तथा' इत्यदि । इमी प्रकार जो विद्या, अस्त्य, व, यशम और तपस्या प्रभृति के कारण उत्कृष्ट हो, उन्हें अपने से अरुष्ट लोगों के साथ अत्यन्त मानमत्तुक बचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

उन्होंने के लिये आर्यों के द्वारा इशोग करने योग्य सम्मानयुक्त सम्बोधनों का ध्यानभेद से विभाग दिखलाते हैं— तत्रापि' इत्यादि । 'तत्र भवन्' 'भवन्' इत्यादि सब धनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं । वह ना जो जाति से उत्तम-श्रेष्ठ वाह्या, क्षत्रिय अथवा वैश्य हो, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं । इनके प्रकार 'परमेश्वर' आदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि आदि के प्रति नहीं ।

अनौचित्यस्य रसभङ्गकारणत्व प्रमाणमति—

तथा चाहुः—

आनन्दवर्धनाचार्या ध्वन्यालोककृतीयोद्योत इति शेष ।

‘अनौचित्यादृते नान्यद्, रसभङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्वीपनिघटपरा ॥’ इति ।

तत्र विशेषमाह—

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिरतावत् तु न वायते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात् ।

उक्तमर्थमुदाहरणदर्शनेन द्रव्यति—

अत एव—

रसाविरोध्यनौचित्यस्य मर्पणीयत्वादेव । इक्षाननहारि समुपस्थितान् ब्रह्मादीन् दीवारिको वदति —

‘ब्रह्मन्नध्वननस्य नैप समयस्तूष्णी बहि स्थीयता,

स्वल्प जल्प बृहस्पते जडमते । नैपा सभा वञ्चिण ॥

वीणा सहर नारद । स्तुतिकयालापरल तुम्बुरो ।

सीताऽऽरल्लक-भल्ल-भिन्नहृदयः रवस्थो न लङ्केश्वरः ॥’

अनौचित्यादृतेऽनौचित्य विना, रसभङ्गस्य, अग्नन् कारण नास्तीति शेष यत् प्रसिद्धस्य लोकाशास्त्रानुसिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धोपबन्ध, तु पुन, रसस्य, परोत्कृष्टा, उपनिषत् प्रकाशनोपाय इत्यर्थं

अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य प्रधान कारण, तेन महद्वयैर्मुख्यसम्पादनात् । औचित्य पुनस्तथैव रस प्रकाशयति, यमोपनिषत् परब्रह्म, तस्मादनौचित्य सर्वथा परिहरणीयमित्यभिप्राय ।

वाच्यप्रमाणे तु—‘औचित्योपनिबन्धस्तु’ इति वाडो दृश्यते ।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिषोप एव स्यात् (न तु बाध), तत्परिमाण-मनौचित्य तु न निषेध्यते, यतो रसविरोधिन् एवानौचित्यस्य निषेध्यत्वमित्यर्थं ।

यही मत्र मोच समग्र कर आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में लिखा है—

अनौचित्य म अतिरिक्त रस भङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही सब से बड़ी रस को उपनिषत् अर्थात् प्रकाशनोपाय है । अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस भङ्ग का प्रधान कारण है, क्योंकि—उमो मे सर्वाधिक वैमुख्य महद्वयो में होना है, अत उमका (अनौचित्य का) परिहार अररस करना चाहिये और औचित्य उमी तरह रस को प्रकाशित करना है, त्रिम तरह उपनिषत् परब्रह्म का, अत उमकी रक्षा करना अररस करिषो को करनी चाहिये ।

अनौचित्य—परिहार में भी यह विशेष समग्रता चाहिये कि त्रिने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उमके अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रतिकूल हो, उमी का निःशंभुचि है ।

इमो छिये—

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गारोभूत-वीररसाक्षेपकपरमै-
श्वर्यपरिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधिकोपपरस्थानीचित्य न
दोषः ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—

एवमेव—‘अले ले सद् समुप्पाडिअ-हरिय-कुमग्गधिमयाच्छमालापड,
वित्ति-विस्मभिअ-वालविहवद कअणा वम्हणा’ इत्यादिविदूषकवचनेऽपि
रेशब्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, हान्यानुगुणत्वात् ।

हे ब्रह्मन् ! अप्ययनस्य वेदपाठस्य, एष समयोऽज्ञसरो नास्ति, तत् तूष्णीं ज्ञेय
बहिर्गते बाह्यस्थले (तस्या) स्वीयताम् । हे जडमते ! याचापलत्यादयसरानबद्धोपाच्च
विवेकशून्यबुद्धे ! बृहस्पते ! स्वल्पमतिस्तोक (न त्वच्छिक) जल्प वद, यत एषा
वर्ज्यण इन्द्रस्य (त्वच्छिष्यस्य) सभा नास्ति । हे नारद ! वीणा महती, महार
वादनादिरनस्य । हे तुम्पुरो ! देवगायक गन्धर्व ! (तत्र) स्तुतिकथनात्पै प्रसंगा-
वाक्यप्रापणं, अल न किमपि फल स्यात्, यत सीताया ज्ञानवया आरत्लक (‘शिर-
स्मिन्दूरमरणि स्त्रीणामारत्लक स्मृतम्’ इति हृत्पापुषीकने) सीमतस्मिन्दूरलेखव
मत्त्व ‘माला’ इति प्रसिद्ध कुल, तेन भिन्न विदीर्ण हृदय मनो गाय, स सङ्क्षुब्धरो
रावण, स्वस्यो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः ।

इत्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृंगारस्य,
अज्ञोभूत पोषकतयाऽङ्गता प्राप्ते यो रावणनिष्ठो वीररस, तस्याक्षेपक व्यञ्जक म्
(तदीय) परमैश्वर्यं लोकोत्तरप्रभुत्व तस्य परिपोषकतया (हेतुभूततया) स्थितो रावण-
द्वारि विद्यमानो यो दौवारिको द्वारपाल तस्य ‘ब्रह्म-बृहस्पति-नारद-तुम्बुकि-
रस्कारमूचक यदिह वचन तस्य ब्रह्मादीना तिरस्कारानहंवाद् यदनौचित्य, तत्र
दोष -प्रवृत्तरसोपस्कारकत्वादित्यर्थः ।

एवमौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव । ‘अरे रे सद्य समुत्पाटितहरितकुशाद्यधि-
मयाक्षमाला-परिवृत्तिविसम्मिश्रजालविधवाऽन्न-करणा ब्राह्मणा ?’ इति प्राकृत-
च्छाया । ‘अरे रे इति नीचमम्बोद्यनम् । तदनौचित्यम् । तथा न दोषः ।

सद्यस्तत्काल, समुत्पाटिता उत्सृता अतएव हरिता ये कुशाद्यनयो दर्शयन्वाङ्गि,

प्रहन् ! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, चुपचाप बाहर बेंड़ी । मूर्ख ! बृहस्पते ! यह इन्द्र जी
सभा नहीं है, कि जब तक मन करे, तब तक अन्दर-न्द बकते रहो, जो कुछ कहना हो, सञ्जेर में वह
कहो । नारद ! अपनी वीणा को बंद करो । हे तुम्पुरे ! इस समय स्तुतिकथने—चादनी को
बाने व्यर्थ है, क्योंकि सीता को सीमन्तसिन्दूर को देखा के भाए से लव-शर-महाराज रावण का
हृदय घादल हो गया है, वे स्वतः नहीं हैं ।

किमी नारद के इस वच में, ब्रह्मा आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल के वचन
का अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य तिरस्कार-वचन में रावण के परम देशर्व को दुष्टि होती है,
जिसे वीर-रस का आक्षेप होता है, जो विप्रलम्भद्वार (रसाभय) का अह होता है ।

इसी तरह ‘अरे ओ ! तत्काल उखाड़े हुए हरित कुशों की पार्श्वों से बनी हुई बरनालामों के

उपरि परिगणिता एते त्रयोदशैव न रसदोषा, किन्तु 'रसे दोषा स्मुरीदृशा' इति मम्मटोक्ते, सहृदयानुभववाच्यान्येऽपि सम्भवन्ति, तस्मादनया रीत्याऽन्येऽपीदृशा रसदोषा स्वयं सुधीभिरह्या इति प्रतिपादयन् दोषनिरूपणमुपमहरति—

एषा हि दिगुपदेशिना, अनया सुधीभिरन्यदप्युह्यम् ।

अथ प्रसङ्गसङ्ख्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चतेषु निगदितेषु माधुर्योज्ज्वलप्रसादाख्यालीन् गुणानाहुः ।

तेषु माधुर्यं कुत्र रसे कियन् निष्ठनीति जिज्ञासाया मनप्रथमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे मयोगालये यन्माधुर्यं, ततोऽतिशयित करुणे, ताभ्या विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शास्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जनान्' इति केचित् ।

'मयोगशृङ्गारान् करुण-शान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे ।

'मयोगशृङ्गारान् करुण-विप्रलम्भ-शान्तैष्वतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि ताग्नम्यम्' इत्यन्ये ।

तन्मयी तद्रूपा याऽजमाला, तस्या परिवृन्त्या (परिवर्तनेन) जपविदम्बतया विप्रलम्भे विख्यातितम् (वञ्चितम्) बालविधवानामन्तोऽकरण यैस्तादृशा अरे रे नीचा ब्राह्मणा ?' इत्यादिविद्वेषकवाक्ये रेणुदादीना पूजनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य यदनीचित्वं तन् प्रवृत्तस्य हास्परसस्य, यतो नापकथंयम्, प्रदुतोत्कथंयमेव, तस्मात्प्र दोष इत्यर्थं ।

अथदिनि सामान्ये तपुमुकम् ।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाश्रितत्वान्माधुर्यमोज्ज्वलप्रसादश्चेति त्रीन् गुणान् प्रतिपादयन्ति प्राञ्च इत्यर्थं ।

अतिशयितमधिकमात्रम् । तत्र मयोगशृङ्गारान् । ताभ्या मयोगशृङ्गारकरुणाभ्याम् । तेभ्य मयोगशृङ्गार-करण-विप्रलम्भेभ्यः । वित्तस्य द्रुतेर्विदशणाशीमावाय । ताभ्या करुण-शान्ताभ्याम् ।

चित्तद्रुतेर्माधुर्यस्य च तादात्म्याच्चित्तद्रुतितारतम्यमेवानुसरति रसेषु माधुर्यस्य तारतम्यमिति सम्भोगादाधिक्यं करुणे, सम्भोग-करुणाभ्यामनप्यधिक्यं विप्रलम्भे, सम्भोग-करण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिक्यं माधुर्यं शान्ते रसे निष्ठनीति प्रथमं मतम् ।

परमे से वाञ्छविषयाभे के अन्तरणों की विश्वमनुक बनाने वाले ब्राह्मणे । ' इत्यादि विद्वेषक के कथन में भी ब्राह्मणों के प्रति रेणु का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्योंकि वह हास्य-रस के अनुकूल है ।

इस तरह अतीशयित हास्य के शिष्टे वर दिव्यार्थन काट दिया गया है, इसी रीति से कुद्विमानों को और और अनौचित्यों का भी म्याम् कह कर रना करिये ।

अथ प्रसङ्ग-प्रसङ्गों का निम्नान् करते हैं—'रसेषु' इत्यादि । इन पूर्वों को रसों में माधुर्य, भोज और प्रसाद तानक हीन गुण रहते हैं—देसा प्राचीनों का कथन है ।

एन गुणों के विरुद्ध में इतिरस पण्डितों का कथन है कि—सम्भोग-शृङ्गार में मित्रता भावों

मतस्य परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्मतयो — 'कहणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चानिशायान्दितम् इति प्राचा सूत्रमनुकूलम्, तस्योत्तरमूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षानप-
वर्षान्या व्याख्याद्वयस्य सम्भवान् ।

मध्यस्थे तु मते कहण-शान्ताभ्या विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृद
यानामनुभवोऽस्ति तदा स प्रमाणम् ।

सम्मोगादधिक (मिथस्तु तुल्यमेव) कहण-शान्तरसयो करण-शान्ताभ्यामप्यधिक
माधुर्यं विप्रलम्भे तिष्ठतीति द्वितीय मतम् । सम्मोगशृङ्गारादधिक (मिथस्तु तुल्य
मेव) कहण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीय मतम् ।

मयोगापेक्षया क्रमेण करण-विप्रलम्भ-शान्तत्वधिक माधुर्यमितिप्रथममते सन्ने
गापेक्षयाधिक मिथस्तु तुल्य करण-विप्रलम्भ-शान्तसु माधुर्यमित्यन्तिममन च प्राचा
सम्मटभट्टाना- कहण विप्रलम्भे तच्छान्त चानिशायान्दितम् इति सूत्रमनुकूलत्वात्
प्रमाणम् । तथाहि-तस्य कारिकावरूपस्य सूत्रस्य दीप्तवारमविस्तृतहृत्तुरोजो वीररत्
स्त्विति । बीमत्सरीद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ॥ इत्युत्तर यत्र कारिकात्मक सू-
त्रत 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षेण प्रथमा व्याख्या तदनपकर्षेण चान्तिमा याख्या
सम्भवतीति ते मते प्राचीनानुमते प्रामाणिके । मयोगापेक्षयाधिक मिथस्तु समप्रम
णक माधुर्यं करण-शान्तयो ततोऽर्थाधिक विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय)
मते तु यत्र करण-शान्तापेक्षयाधिक विप्रलम्भे माधुर्यमुच्यते तत्र प्रमाणांतरानुप-
लम्भान सहृदयानामनुभवा यदि भवेत् तदा स एवानुभव प्रमाणम् अथवा चप्र-
माण तन्मतमनादेयमित्यर्थः ।

होता है हमसे अधिक करण-रस में और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार रस में एवम् इन
मतेसे अधिक शान्त-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अन्तःकरण-रस में पित्त अधिक
हुता होता है । अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्मोग-शृङ्गार में अधिक माधुर्य कहा और शान्त
रसों में होता है और इन दोनों में अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में होता है । कुछ विद्वानों का कहना है
कि—सम्मोग-शृङ्गार से करण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता
है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता, अर्थात् वे सब समान ही
सुख होते हैं ।

पूर्वोक्त तीन रसों में से प्रथम और तृतीय मत में 'कहणे विप्रलम्भे' अर्थात् मूलोक्त मन्त्र
का यह प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में अग्रिम 'शान्ताभ्यान्दितम्' का अर्थ है—
बीमत्सरीद्र-रसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ।' इस सूत्र में कथित 'क्रमेण' पद का अर्थ उक्त सूत्र-
मान होने पर प्रथम मन्त्रानुच्छेद व्याख्या और उपर्युक्त वाच्यार्थ 'वही नहीं' मानने पर तृतीय
मन्त्रानुच्छेद व्याख्या ही सही है । परन्तु मध्यम मत में उक्त सूत्र किना भी तरह प्रमाण नहीं है
सबका, अतः यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव हो कि कहा और शान्त रसों का अर्थ-विप्रलम्भ-
शृङ्गार में अधिक माधुर्य होता है, तब हम सहृदयानुभव की ही प्रमाण मान कर मध्यम मत में उक्त
है अन्यथा अनात्मिक होने के कारण यह मत अस्वीकार्य है ।

इत्य शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यस्य स्थिति प्रतिपाद्य, वीर्यादिरसत्रय बीजस्य स्थिति प्रतिपादयति—

वीर-बीभत्स-रौद्रेष्वोजसो ययोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयिताया शिवत्तदीप्तेजननात् ।

अथावशिष्टाद्भुतादिरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सङ्घोषामिसङ्घोषा च स्थिति प्रतिपादयति—

अद्भुत-हास्य-भयानकाना गुणद्वययोगित्व केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम् ।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

यतो वीर्यापेक्षया बीजत्वे, तदपेक्षयाऽपि रौद्रेऽपि चित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद् वीररसादधिक बीजत्वे ततोऽप्यधिक रौद्ररस ओजसिष्ठनीत्यर्थः ।

अद्भुत हास्ये भयानके च रसे प्रसाद ओजस्य गुणो तिष्ठत इत्येक मतम् । प्रसाद एव केवल तिष्ठनीत्यपर मतम् ।

माधुर्यमोजस्य प्रतिनियतरसत्रयवृत्ति नियतरचनाव्यङ्ग्यं च, प्रसादस्तु तादभुतादिरसत्रय एव तिष्ठति, किंतु सर्वेषु न वा नियतरचनयैव व्यञ्जन, किन्तु सवला-मिरेव रचनाभिरिति माधुर्योपेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमस्तीत्यादाय ।

इदमिहाकननाम—वाटिकादिदोषापगमाहित शृङ्गारादिरसत्रयचर्वणाजन-भ्रित्तस्वादीनावरूप आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो द्रुतिरेव माधुर्यं गुण, न तु द्रुते कारण माधुर्यं द्रुतेरास्वादाभिन्नतया माधुर्यं त्ववैशुर्थात् । न चैव माधुर्यस्य रसाभेदापत्ति कारणभेदान तथाहि—रसस्य विभावादिमन्वघो द्रुतेस्तु शृङ्गारादिरसत्रयाद् कारणम् ।

मग्न—प्रतिनियमो कर्षदसंवादाहितो वीर्यादिरसत्रयचर्वणाजपरिचितस्य विलास-स्यो वृत्तिविशेषो दीप्तिरेवौजोगुण न तु दीप्ते कारणम्, दीप्तिकारणतया वीर्यादि-रसास्वादिष्टवान् ।

एव सरलाब्दायंज्ञानाहिरोद्भुतादिरसत्रयचर्वणाजन्यवृत्तस्य विकाररूपो वृत्ति-विशेष प्रसादा गुण, नतु विकासस्य कारणम प्रागुक्तयुक्ते । स हि शृङ्गारादिर-सत्रये माधुर्यतेजामिश्रित वीर्यादिरसत्रय औजोतेजामिश्रित, अद्भुतादिरसत्रये तु निस्मपत्नस्तिष्ठतीति रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्सङ्गच्छते ।

ओज गुण वीर-रस में साधारण, बीभत्स-रस में वज्र में अधिक और रौद्र-रस में सबसे अधिक होता है, क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः दृढ में अधिक होते (ओज) वर्धमान करते हैं ।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, पर कुछ विद्वानों का मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहता है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य विद्वानों का है ।

प्रसाद गुण सब रसों में तब सब तरह का रसनामों में रहता है तबतब यह है कि माधुर्य तथा ओज गुण उन्-न-नीति निम्न रसों में ही रहते हैं, परन्तु इन दोनों गुणों को अभिव्यक्त करने

द्रुत्वादित्तद्वृत्तीना गुणवद्भास्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्व, नतु गुणजन्यत्व-
मित्याह—

गुणाना चैषा द्रुति-दीप्ति-विकामात्नास्तिस्रश्चित्तवृत्तय क्रमेण प्रयोज्या,
तत्तद्गुणविशष्टरमचर्चणाजन्य इति यावत् ।

नन्वेव गुणाना रसमात्रवृत्तित्वस्याम्पुपगमे गुणविशिष्टरचनाबोधका 'मधुरा
रचना' इत्यादिव्यवहारा गुणाना रचनावृत्तित्वस्य विरहात् कथमुपपद्येरनित्याद्यङ्का
ममादधत्प्राचीनमतमुपसहरति—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु, व्यवसितेषु 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः
इत्यादयो व्यवहारा 'आकारोऽस्य शूर' इत्यादिव्यवहारवदौषचारिकाः' इति
मम्मटभट्टादयः ।

संज्ञनाय प्राचीनमते प्रत्यक्षप्रमाणाभावे दर्शयति—

'येऽग्नी माधुर्यौज-प्रमादा रसमात्रधर्मतयोक्ता', तेषा रसमात्रधर्मत्वे कि
मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादे कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा

द्रुत्वादित्तद्वृत्तीना माधुर्यादिगुणविशिष्टशृङ्गारादिरमास्वादेन साक्षाज्जन्यत्वाद्
गुणप्रयोज्यत्व न तु साक्षाद्गुणाजन्यत्वमिति सारम् ।

एतेषु त्रिषु । व्यवसितेषु निर्णतेषु । औषचारिका लाक्षणिका । मम्मटभट्टादय
आहुरिति शेष ।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तिन्वेनावयवसत्वानविशेषरूपाकारवृत्तिवानादेऽपि 'आकारो-
ऽस्य शूर' इत्यादिव्यवहार स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपाद्यते, तथैव गुणाना
रसमात्रवृत्तित्वे निर्णते 'मधुरा रचना ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा स्वाश्र-
यव्यञ्जकत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपादनीया इति मम्मटभट्टादीना मनमित्यथ ।

कदा रचना का मित्रा हो है । परन्तु प्रसाद गुण के विषय में किसी बात नहीं है, वरन् मन्व रसों में
होना है और मन्व प्रकार की रचनाओं से व्यक्त होगा है, वही अर्थ गुणों की अन्तः प्रसाद गुण में
विशेषता है ।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओज दीप्ति का और प्रमाद विक्राम का प्रयोजक है—जनक नहीं ।
जनक तो इनके वन गुणों से युक्त रसों के अन्वय ही है । अर्थात्-द्रुति, दीप्ति और विक्राम ने
तीनों चित्तवृत्तियों तक तीनों गुणों से सञ्चार व्यक्त नहीं होतीं, अपितु इन गुणों में विशिष्ट रसों के
अन्वयन से सञ्चार व्यक्त होता है । स्पष्ट यह है कि मन्व रसात्काद से चित्त पिण्ड लगा है,
ओजस्वी रसों के अन्वयन से चित्त में एक प्रकार का अशंका होता है और प्रमाद गुणयुक्त रस
के अन्वयन से चित्त विक्रमिण्ण हो जाता है ।

इस प्रकार इन गुणों के वेदन्त रस धर्म (उन्हीं में रहने वाले) मित्र होने पर, लोगों का जो-
'रचना मन्व है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'इनका आकार रस है' इस
अन्वयन के समान लक्षणिक है—सुरत नहीं । अर्थात् शौर्य आरणा में रहनेवाला धर्म है, अथवा
के गहन विवेक-रस अन्वयन में रह नहीं सकता, फिर इनका आकार रस है' इस व्यवहार को उपास
करते व लिये जैसे लक्षण की शरण लनी पत्नी है, वसी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों की रचना
और बन्ध में रहने के लिये शरण का आश्रय करना चाहिये । यह मम्मटभट्टादि प्राचीन विद्वानों
का मत है ।

भिन्नतयाऽनुभव, तथा द्रव्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽप्येवा रसगत-
गुणानामनुभवात् ।

तत्रानुमान प्रमाणमप्युपन्यस्य निरस्यति—

सादृशगुणविशिष्टरसानां द्रव्यादि-कारणत्वात् कारणताऽप्यच्छेदकतया
गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ
गुणकल्पने गौरवात् ।

पेडमी इत्यारभ्य मादृशा इति यावत् सन्दर्भेण परमतखण्डतपूषक स्वमतमुप-
क्षिप्तम् । गुणानां रसमाधुवृत्तित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्ष प्रमाणमस्तीति
वक्तुं न शक्यम् यतो यथाऽग्नेर्दाहारिरूपात् कार्यात् पृथग्गुणस्योष्णस्पर्शादि प्रत्यक्ष
आयते न तथा रसानां कार्येभ्यो द्रव्यादिचित्तवृत्तिभ्य पृथग् रसगतानां रसनिष्ठानां
माधुर्यादीनां गुणानां द्रव्यादिचित्ततादात्म्यात्प्रत्यक्षज्ञायत इत्यर्थः ।

अने कायस्य दाहादेगुणस्य चोष्णस्पर्शादिभिन्नतया पृथग्गुणत्व, रसानां तु
कायस्य द्रव्यादेर्गुणस्य च माधुपदिरभिन्नतया न पृथग्गुणत्व इति गुणानां रसवृत्तित्वे
प्रत्यक्षप्रमाणान्नामो बोध्य इत्यभिप्रेक्षितम् ।

तादृशमाधुर्यादिभिन्नगुणविशिष्टानां रसानाम् । आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्ग्रहणम् ।
'द्रव्यादिनिष्ठकार्यतानिरूपिता रसनिष्ठा कारणता किञ्चिद्भ्रमावच्छिन्ना कारणता-
त्वात् इत्याकारकानुमित्यन्तर परिशेषानुमितिविगणसाधिका । प्रकोष्ठस्यो नकारो मूले
ऽगुणोऽपि नागोभट्टानुमत सन्दर्भमङ्गतये स्थापितम् । प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारत्वादि
विशेषधर्मैः । गौरव वक्तव्यानां शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदक-रूपकल्पनेनैव
निवाहेऽस्मत्प्रसङ्गात् गुणानां तत्त्वकल्पनाय बोध्यम् । नल्पनमनुमानम् ।

द्रुतित्वादिधर्मावच्छिन्नकायतानिरूपितगुणवद्रसनिष्ठकारणताऽप्यच्छेदकत्वेन गुणा-
नामनुमान प्रमाणमस्तीति न वाच्यम् गौरवेण गुणानुमानासम्भवात् । तथाहि—
द्रुतिं प्रति शृङ्गार कारणमिति विशेषण यद्यपि न च वाच्यकारणभावात् द्रुतिं प्रति
माधुपवद्रस कारणमिति सामान्येन तु तत्र एव वाच्यकारणभावात् स्वीकरणीया

अथ वणितरात्र गुण के विषय में एक प्राचीनों के मत का उल्लेख करने हैं—'पेडमी' इत्यादि ।
जाना नहीं है कि प्राचीनों ने जो गुणों की बचत एवं का धम बालाग है—अर्थात् उन्होंने जो
वह कहा है कि गुण रस में ही रहते हैं—यत्ना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है ? आप यदि
कहें कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उष्णता में उन उन रसों के आम्बु, मैं हमारे उन विष-
वृत्तियों का उत्पत्ति का अनुभव होता है तब हम कहते हैं—नहीं जैसे अग्नि का कार्य ताप
(ज्वलाना) है और जल में तपस्सा (अग्नि जल) गुण है, इन दोनों का अनुभव हमें अलग-अलग
होता है अर्थात् हम जब आग से उबने नहीं तर भी हमें उसके गुण-गुण अर्थात् (गरमी) का अनुभव
होता है, उन्हीं तरह रसों के वदना द्रव्ये-आदि चित्तवृत्तियों हैं, उनके अनिश्चित रसों का हमें
पृथक् अनुभव नहीं होता ।

इति अत्र कहे कि गुणों का प्रमाण नहीं होता तो न मही, माधुर्य आदि गुणों में युक्त होकर
हा रस तत्र न-अपि न प्रमाण है—अर्थात् गुण न रसों से द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति
नहीं है । तब प्रमाण न-न-प्रमाण के अभाव कारण में रहने का एक धर्म-विशेष के रूप में

साधवमाशङ्क्य निराकरोति—

शृङ्गार-करण शान्ताना माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम् परेण मधुरतरादिगुणाना पृथग् द्रुततरत्वादिकायतारतम्यप्रयोजकताप्राप्त्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारण-ताया गडुभूतत्वात् ।

भवन्ति किन्तु कल्पाना शृङ्गारत्वादीनामवच्छेदकवक्ष्यतापेक्षयाऽन्यताना माधुर्या-दीनामवच्छेदकवक्ष्यता एव गौरव भवति । तस्मात् सामान्येन कार्यकारणभावा न चानुमान गुणानामित्यभिप्रेत्येव ।

परेण मन्मथनद्रादिना । गडु 'घेघ इति प्रसिद्धो गलघञिच । शृङ्गारादिरमा द्रव्यादीना कारणानि माधुर्यादिगुणास्तु प्रयोजका इति प्रागावेदिनम् ।

ननु शृङ्गारो द्रवे कारणम् 'बध्णो द्रुने कारणम्' शान्तो द्रुने कारणम् इति विशेषरूपेण कारणताप्राप्त्युपगमे षय दीतिविकासयोग्य प्रत्येक षय इति सद्गुणतया नव कार्यकारणभावा कल्पनीया भवन्ति 'द्रुति प्रति शृङ्गार-करण-शान्ता माधुर्य-वत्त्वेन कारणानि दीप्ति प्रति वीर-बीमत्स-रोद्धा ओजोवत्त्वेन कारणानि विजास प्रति चादभुत-हास्य-मयानका प्रवादवत्त्वेन कारणानि इति सामान्यरूपेण कारण-ताप्राप्त्युपगमे षय एव कार्यकारणभावा कल्पनीया भवन्तीति सामान्येन कारणत्वान्मा-पगमे साधव गुणसिद्धिष्व भवतीति पूर्वपक्षाय ।

उनका अनुमान हो सकता है । तात्पर्य यह है कि 'सभी कारणों किमी न किमी धर्म में अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती है' इस तरह की व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर द्रुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में रहने वाली कारणता किमी धर्म में अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे घट में रहने वाली कार्यता से निरूपित घट में रहने वाली कारणता (घण्टा में अवच्छिन्न है), रस तरह की अनुमिति के हो जाने पर परिशयानुमान में सर्वत्र 'रस में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक, गुण हैं क्योंकि वे हा उमके (रस के) समन्वित (न अधिक में रहने वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान में गुणों की सिद्धि होगी और धर्मिणाहक मान (जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी) से गुणों को रस-अर्थात् भी सिद्ध हो जाएगा । पन्तु यह कथन भी अगका ठीक नहीं क्योंकि गुणविशिष्ट रसों में ही द्रुति-आदि होते हैं ऐसा मान लेने पर भी द्रुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव कल्पित होगा, उनमें गुणों की बुझने से क्या छाम ? अर्थात्—'द्रुति के प्रति शृङ्गार कारण है' इस तरह से प्रत्येक रस वा नाम रखर ही कार्यकारणभाव बनाया जायगा, फिर तो शृङ्गार आदि कल्पित (अनिर्धार) धर्मों को ही कारण-वच्छेदक मान लेने से निराह हो जायगा, अल्प गुणों की कथना से होने वरु गौरव का स्थापन नहीं करे ।

यदि आप कहेंगे कि एक कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पडगा, क्योंकि अलग अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'श्रेष्ठ द्रुति का कारण है' 'कहा द्रुति का कारण है' 'शान्त द्रुति का कारण है' वे तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'बीमत्स दीप्ति का कारण है' 'रौद्र दीप्ति का कारण है' वे भी तीन, एवम् 'अद्भुत विज्ञान का कारण है' 'हृन्म विज्ञान का कारण है' 'मयानक विज्ञान का कारण है' वे भी तीन, फलतः ही कार्यकारणभाव मानने पर ही द्रुति के प्रति मधुर्य

निगमयति—

इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लघवन् ।

ननु मम्मटादिरीत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणा
सिध्यन्त्येवेत्याशङ्क्यामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरमगुणत्व माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

प्राग्प्रतिपादितमम्मटादिमतेन मधुरत्वेन सम्भोगस्य, मधुरतरत्वेन कदम्बस्य,
(शान्तस्य च) मधुरतमत्वेन विप्रलम्भस्य च कारणस्य, द्रुते, अतिद्रुते, अतितमा
द्रुतेषु कार्यस्य त्रैविध्यात् 'द्रुति प्रति माधुर्यवान् सम्भोग कारणम्' अतिद्रुति प्रति
नितरा माधुर्यवान् कदम्ब (शान्तश्च) कारणम्, 'अतितमा द्रुति प्रति नितरा
माधुर्यवान् विप्रलम्भ कारणम्' इति त्रय सङ्कलनया नव कार्यकारणभावा विशेष-
रूपेण, शयश्च भवदभिमतता सामान्यरूपेणैति सङ्कलनया द्वादशानां कार्यकारण-
भावाणां कल्पनीयत्वाद् भवतां लाघवस्थाने गौरवमेवापेतित्युत्तरपक्षायाः ।

सामान्यकार्यकारणभावत्रयाकल्पनादिति शेषः ।

सच्चिदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तं काव्यात्मभूतानां रसा-
नामपि निर्गुणत्वस्योचित्यात् माधुर्यादिभिर्द्विरित्याशयः ।

गुणयुक्त रस कारण है 'दीप्ति के प्रति श्रेष्ठ गुण युक्त रस कारण है' 'विवास के प्रति प्रसाद गुण युक्त
रस कारण है' इस तरह से गुणद्वारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होत है,
क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण शृङ्गार, करुण और शान्त का, द्वितीय में श्रेष्ठ युक्त
होने के कारण वीर, रोमन्स और रौद्र का, तृतीय में प्रसाद गुण होने के कारण अद्भुत, हास्य और
भवानुक का संग्रह हो जाता है। इस स्थिति में एतद्वारा गुणद्वारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे,
किन्तु यह तर्क भी सद्वत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने शृङ्गारादिविक में कर्मज्ञ माधुर्य का, वीरादि
विक में प्रथम श्रेष्ठ का और अद्भुतादिविक में कर्मज्ञ प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार
पार्य में भा द्रुति, अतिद्रुति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से शारतन्त्र्य माना है। अतः अलग-अलग
नौ विशेष कार्यकारणभाव मानने ही श्रेष्ठ और साथ-साथ आर्य के कल्पनानुसार उक्त तीन सामान्य
कार्यकारणभाव भी होंगे, जो वही तरह व्यर्थ है, जिस तरह गणु (श्रेष्ठ-गुणयुक्त)। सारांश यह
हृद्य कि गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, अतः अनुमान प्रमाण से गुणों की
सिद्धि किंवा रस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

गुणद्वारक कार्यकारणभाव वाले पक्ष में सामान्य और विशेष ही योग से कार्यकारणभावों को
संख्या द्वारा ही जाती है, जिसकी प्रतिष्ठा उपा बनाई जा चुकी है और प्रत्येक रस का नाम लेकर
(गुण को द्वार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्थापित करने पर उक्त रीति से उनकी संख्या नौ ही
रहती है, अतः इस पक्ष में ही लाघव भी है।

रसुत्पन्न रस दलीलो से गुणों की रसधर्मताप्राप्ति मानीनी का कुछ विरोध नहीं, क्योंकि प्राति-
स्विकरूपेण (गुण को द्वार न बनाकर अलग-अलग) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का
धर्म है' पर सिद्ध होगा ही। उक्तार्थ यह है कि शृङ्गार अथवा वीर किंवा हास्य रस होने के नाते
द्रुति अथवा दीप्ति किंवा विज्ञान के कारण नहीं हो सकते, कारण है ऐसा मानने पर सभी रस
द्रुपादि तीनों चित्तवृत्तियों के कारण हो जायेंगे, क्योंकि सभी रस ब्रह्मरूप हैं, एक हैं, अतः अगत्या
परी मानना पड़ेगा कि शृङ्गार इतिदिवे द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर हृद्य दिवे

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वमावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्यापिमावगुणत्वमे-
वास्तु, तावताऽपि गुणमिदं स्यादेवेत्याशङ्क्यामस्मिदधानि—

एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावान्, पररीत्या गुणे गुणान्तर-
स्यानीचित्याच्च ।

ननु शृंगारादिरसेषु माधुर्यादिगुणानङ्गीकारे 'शृङ्गारो मधुर' 'वीर ओजस्वी
इत्यादयो व्यवहारो कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्क्यामाह—

अथ 'शृङ्गारो मधुर' इत्यादिव्यवहार कथमिति चेत्, एव तर्हि द्रव्यादि-
चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रव्यादिकमेव वा माधुर्यादिक-
मस्तु । व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवदक्षत ।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते ।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्व युक्तिप्रमाणाभावादनुपपन्नम्, एवं तदुपाद्यथो रस-
स्यापिभावा ये रत्यादयः, तेषां गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावान्, पररीत्या मम्मटा-
द्युक्तीत्या रत्यादीनां सुखरूपत्वाङ्गीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां
गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्तेनासत्त्वाच्चानुपपन्नमित्यर्थः ।

द्रव्यादीनां शृंगारादिवृत्तितया रसादिवृत्तितयाश्चास्योकारे शृंगारे माधुर्या-
सम्भवात् 'शृंगारो मधुर' इत्यादिव्यवहार प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्क्यामह—द्रव्यादि-
प्रयोजकत्वम्, अथवा ससर्गकुक्षिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेणैव माननियमात्लाघवाय
प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रव्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्त्वित्यङ्गीकृत्य माधुर्यादीनां निर्वचनम्,
वाजिगन्ध्याया 'अमगन्ध' इति प्रसिद्धाया अमगन्धोपधेस्तत्कालमुष्णत्वस्यानुपलभ्येऽपि
पारिणामिक तदादाय, यथा 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव शृंगारादि-
रमाना मयो द्रव्याद्यभावेऽपि पार्यन्तिकास्वादकालिक—द्रव्यादिकमादाय 'शृङ्गारो
मधुर' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं च समाधानं बोध्यम् ।

सोमि का कारण है कि वह ओज गुण से ओत प्रोत है, हाथ दुमलिये विकसल का कारण है कि वह
प्रसन्न गुण से प्रसादित है और जब शैमा मान लिया गया, तब तो उक्त प्रातिशिक रूप वाँके कार्य
कारण भाव से भी कारणत्वच्छेदक रूप में गुणों की रसधर्मता सिद्ध होगी ही, इसी अवनरण को
हृदय में रत्नकर धन्यकार मण्डनराज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाने हैं—'किञ्च' इत्यादि । गुण, रस-
धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस आत्मरूप है और आत्मा निर्गुण
है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वैशम्पयो का सिद्धान्त है ।

यदि अब कहें कि 'गुण रस के धर्म है' इस उक्ति का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत रति आदि
स्वाधीभावों के धर्म गुण है, तो यह भी सत्य नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो हममें कुछ प्रमाण नहीं
और दूसरे काव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मन से रति आदि सुख रूप हैं, मन वे स्वयं गुण है,
दिर उनमें अन्य गुणों का होना सम्भव नहीं, कारण ! गुण में गुण नहीं रहने, यह दार्शनिकों का
सिद्धान्त है ।

अब यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब आप के विचार से गुण न रस के धर्म हो सके, और
न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सका, तब 'शृंगार रस मधुर
होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ! इसका उत्तर यह है कि द्रव्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व
(उन चित्तवृत्तियों का परम्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण है, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से

ननु द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽद्रुह-कालेभ्यरेच्छादीनां चार्थ-
मानप्रयोजकत्वात् तत्रापि माधुर्यादिव्यवहार प्रसज्येतत्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्व चाट्टादिविज्ञाने शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो
न व्यवहारातिप्रसक्तिः ।

तथाऽङ्गोकारे फल दर्शन स्वयन्मुपसृहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादिरीदृशस्य मत्त्वाद्रूपचारो नैव कल्प्यः,
इति तु माहृशा ।

माधुर्यादीनां द्रव्य-दिप्रयोजकत्वस्य द्रव्यादिद्रव्यस्य बाऽङ्गीकृती सहृदयानुभवस्य
प्रमाणस्य सत्त्वात् मत्तान्तवदप्रमाणत्वमित्यापूतम् ।

चकारो हेत्वर्थकः । अद्रुगादिविलक्षणमद्रुहाद्यवृत्तिः । शब्दार्थांश्च रसांश्च रचनाश्वेति
द्वन्द्वः । अतिप्रसक्तिरत्रिव्याप्तिः ।

अतोऽद्रुहाद्यवृत्ति-शब्द-तदर्थ-रस-रचनामात्रवृत्ति-द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव माधु-
र्यादि गृह्यते, तस्मान्नाद्रुहादिषु माधुर्यादिव्यवहारानिव्याप्तिरिति सारम् ।

ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपस्य । तुना मम्मटादिव्यवच्छेदः ।

तथा च माधुर्यादीनां द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपताऽभ्युपगमे च ईदृशस्य द्रव्यादि-

वृत्ति आदि चिह्नवृत्तियों ही गुण हैं अर्थात् वस्तु चिह्नवृत्तियों पर रस आदि के लक्ष्य बनाने का
(प्रयोजकता) सम्बन्ध एतनी है, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहल है । इस द्वितीय बय में प्रयो-
जकता को सम्बन्ध छोड़ि में से जाने से यह लक्षण होता है कि उसका मान स्वरूप ही शब्दका
आ-प्रयोजकता के लक्ष्य प्रयोजकतात आदि की चरना नहीं करनी बल्की और प्रथम बय में उक्त
मान स्वरूप नहीं होगा जिससे प्रयोजकत्व आदि की चरना करती होगी, मत गौत्व होगा ।
यदि आप कहें कि इस प्रकार में वृत्तियों का निर्वचन मने ही कर लिया जाय, परन्तु इसके 'असार
मयुर है' इत्यादि व्यवहार तो उचित नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रयोजकता वृत्तिवर्तिनामक सम्बन्ध
नहीं है—असार उस सम्बन्ध से कोई पदार्थ नहीं रहने वाला नहीं कहला सक्ता, अत एव कोई
दमरा दृष्टान्तभूत ऐसा व्यवहार भी इतिगोपर नहीं होता । इसका समाधान यह है कि यदि प्रयो-
जकता को वृत्तिवर्तिनामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'अमर' (मौष) वस्तु (गरम) है' यह व्यव-
हार कैसे होगा ? क्योंकि असम्यक् में उक्तता नहीं है, बरन् यह उक्तता का प्रयोजक है । अत प्रयो-
जकता सम्बन्ध में अमर' को उक्तता का अर्थक मान का 'अमर' वस्तु है' यह व्यवहार कैसे होगा
है, वैसे वस्तु व्यवहार भी होगा ।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध में द्रव्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अद्रुह
(धर्म-अधर्म) कल आदि में भा रह सकत है, क्योंकि अत्र काल, ईश्वर आदि अर्थमात्र के
प्रयोजक है, उनकी प्रेरणा के बिना मंगल का कोई भी कार्य नहीं होता—एक पत्ता भी नहीं शिला,
अत एव आदि की प्रयोजकता या उक्तता अत्र ही स्वीकृत होगी, फिर ता मय के विचार से 'अद्रुह
मयुर है' इत्यादि व्यवहार भा होने लगेंगे । इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रव्यादि-
जका अन्वयण ही अद्रुहादि में रहने वाली मायरा है, अत वहाँ अद्रुह आदि में व्यवृत्त (उनमें
नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना इन मयों में हा रहने वाली प्रयोजकतामय के रूप में
मयुर है, अत वक्त दोष नहीं होगा ।

इस तरह माधुर्य आदि वृत्तियों का निर्वचन करने पर एक बय लगत यह होता है कि 'यह रचना
मयुर है' 'यह पत्रपत्ती मयुर है' यह शब्द अजम्बा है' इत्यादि व्यवहारों को सिद्ध मानने के लिये

इत्य स्वमतेन गुणान् प्रनिपाद्य, निराधिकीयं वा मनादिमत प्रतिपादयति—
जरतरास्तु—

‘श्लेष प्रसाद’ ममता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थशक्ति—रुदारत्व—मोज—कान्ति—समाधय ॥’

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति । नामानि पुनस्तान्येव,
लक्षण तु भिन्नम् ।

अथ प्रथम बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नाद्य लक्षणति—

तथा हि—

**शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयव-
र्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।**

प्रयोजकत्वरूपस्य माधुर्येति शब्देऽप्ये च सत्त्वात्, ‘मधुरा रचना’ ‘ओजस्वी वज्र’
इत्यादिष्ववहारोपपत्तये, उपचार ‘गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता’ इत्युक्ते-
र्लक्षणा, मम्मटादिमतवदसम्मते, न कन्व्यो भवति नुब्यापान्वयबाधवैधुर्पादिति फल
भवतीति नादत्ता विवेचका धदन्तीति शेष ।

इदमिहाकलनीयम्—गुणानां शब्दाद्यंगत्व, विशतित्व, काव्यशोभाकारित्वेन
तदधिकारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्त्यतम् । माधुर्योज—प्रसादात्मकत्वेन
श्रित्व, क्रमेण द्रुति—दोषि—विकासकारणत्वं, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्य-
लङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च गुणानां मम्मटेनानुगिष्टम् । विश्वनाथेन तु माधुर्यादीनां
द्रुत्पादितादात्म्यमात्रमभिनव स्वोक्त्य मम्मटपथमेवानुसृतम् । जगन्नाथेन पुनर्द्रुत्पादीनां
जनकत्वस्य रसास्वादमात्रवृत्तिनया गुणानां तत्प्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्व
चानिहितम् । तत्र परीक्षाया विश्वनाथमतमेव सर्वथा निर्दूषण प्रतिभाति । न च
गुणानामानन्दविशेषात्मकद्रुत्पादिहृत्परत्वे रनाभेदापत्ति, कारणभेदेनोभयोर्भेदस्य प्रागेव
निवेदितत्वात् । अत एव रसगुणयोराघातारोपभावोऽपि नानुपपन्न । न च गुणानां
रसमात्रवृत्तित्वाङ्गीकारे ‘मधुरा रचना’ इत्यादिषु लक्षणास्वीकाराद् गौरवम्,
उपायान्तराभावेन गौरवस्येष्टत्वात् । इतरथा ‘आकारोऽस्य सूर’ ‘कलिङ्ग साहसिक’
इत्यादिष्वपि लक्षणामयादाकारे शीर्यस्य, देशे साहसिकत्वस्य च स्वाकारेण, रुडिनूत-
कलक्षणया उच्छेद एव कृत स्यात् ।

जरतरा अतिप्राचीना वामनदय इत्याहुरित्यर्थः ।

लक्षणमित्येववचन तु प्रत्येकार्थप्रयोजेण योजनीयम् ।

श्लेषादीनि यान्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणानामपीति नामसाम्येऽपि
तेषां स्वरूपभेदाल्लक्षणभेद इत्याशयः ।

लक्षण ‘य आक्षय्यं नही करता एका, क्योंकि उत्कृष्टकारक माधुर्येति शून्य शब्द, अर्थ और रचना
आदि म भी रह ही सकते हैं—रह ही हैं । ये हैं हमारे (पण्डितराज) जैसे—विद्वानों के विचार ।

अत्यन्त प्राचीन आक्षय्य वामन आदि तो —श्लेष, प्रसाद, समया, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-
व्यक्ति, रुदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस शब्दों के गुण और दस ही अर्थों के गुण मानते
हैं । नाम दोनों एक ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं ।

तत्र प्राचीनसम्भति दशयति—

यदाह — 'श्लिष्टमस्यहृशोयित्यम्' इति ।

स्नेहमवाहरति—

यथा —

कश्चिन्चाटुकारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविह्वदुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्याद् द्विपोद्दामदपौषविद्रावणप्रौढप-
ज्ञाननः इति ।

द्वितीय प्रसाद लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ।

मिश्रानां विरूपणाम् । एकत्वेनाभेदेन प्रतिमानस्य ज्ञानस्य प्रयोजक । संहिताया पर्याप्तिकर्षेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सद्रूपानां वर्णानां विन्यासविशेषो विलक्षण-रचना । गाढत्वमप्युपर्याप्तो नामान्तर यस्य स ।

मिश्रानामपि शब्दानां व्याकरणानुसिद्धसन्निकर्षविशेषप्रमुक्तानिबन्धत्वप्रकारक-प्रतीतिप्रयोजको गाढत्वनामा श्लेष शब्दगुण इत्यर्थः ।

श्लिष्ट श्लेष इति भावे क्त । अस्पष्ट न स्फुट शैथिल्य पदानां भेदो यत्र, तन्, 'बहुनामपि पदानामैकपदवद्भ्रान्तनात्मा श्लेष' इत्यन्यत्र दर्शनात् ।

अनवरत सतत विद्वांस एव परार्थगीवित्वात् कन्योरुपगतत्वाद्वा इमान्तेषां द्रोहि षोढाकरत्वाद्दर्शित्वात्, यद्दार्द्रियं निर्घनत्व, तदेवानिवारणीयत्वान्माघन्मुमतीमबन् द्विपो हृत्ती, तस्य य उद्दामदपौष उत्कटमदरासि, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढ प्रगल्भ पञ्चामल सिहस्त्वमसीत्यर्थः । इह मिश्रानामपि शब्दानां सन्धिवशेनाभिन्न-पत्रप्रतिमान स्पष्टम् ।

मिश्रानामभिन्नतया मान गाढत्वम्, मिश्रतया भागन्तु शैथिल्यम्, तयो क्रमेण

एवं शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'श्लेष' का लक्षण दिखलाने है—'तथाहि' इत्यादि । भिन्न-भिन्न रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'श्लेष' कहते हैं, जो एकजातीय वर्णों से युक्त हो और व्यपन्न सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में रहना) से एक ही तरह के सम्बन्धों से बना हुआ सा प्रतीत हो । उस योजना-विशेष का दूतरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जात है ।

श्लेष के एक लक्षण में भाषीनों को भी सम्मति है—उन्होंने लिखा है कि—श्लेष उस रचना-विशेष को कहते हैं, जिसमें शिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो ।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि—हे राजन् ! तुम, विद्वत्सामान्य गुणों (दूतारों के लिये जीने वाले) के सर्वथा दोष करने वाले दारिद्र्य रूप मद्-मत्त हाथों के उत्कट गर्भ-समूह (मद) को नष्ट करने में महान् सिद्ध हो—अर्थात् तुम्हारे दर्शन से विद्वानों को दारिद्र्यता उगी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह सिंह के दर्शन से मद्-मत्त गजों के दानवर्ति रूप जाते हैं । वही सन्धि करने के कारण भिन्न-भिन्न पद भी एक पद के समान प्रतीत होते हैं, भा यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है ।

एवं 'प्रसाद' गुण का लक्षण देखिये—रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा लगना) और

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजान चाट्टकारो ब्रवीति—

किं ब्रूमस्व वीरता वयममी, यस्मिन् घराखण्डल ।
 क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डल पश्यति ।
 माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरंभूपासहस्रोत्करं-
 विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुत्प्रासिता ॥

उपपादयति—

अत्र 'यस्मिन्'त्यन्त शैथिल्यम्, 'भ्रु' शब्दान्त गाढत्वम्, पुन'नयने'त्यन्त प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

तृतीया समता लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

आदौ गाढत्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, मन्निवेशस्तु वक्ष्यमाणे, समाधिगुणे, अत्र तु व्युत्क्रमेण विपरीतक्रमेण आदौ शैथिल्यमन्ते गाढत्वमिति रीत्या मन्निवेश इति समाधि प्रसादयोर्भेदः ।

हे घराखण्डल घरणीन्द्र ! तस्मिंस्त्वयि, क्रीडया क्रीडया वा कुण्डलिते बतुली इते भ्रुवौ यत्र, तद्यथा स्यात्, तथा साणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डल बाहुबलय पश्यति सति, विन्ध्यारण्यगुहावनिरुहा विन्ध्याचलकाननकन्दरायननसन्निकृष्टवृक्षा, तत्काल तस्मिन्नेव समये (मिया पताय्य गताना त्वद्वैरिनुपाणा) माणिक्यावलिकान्तिमि शोणमणिश्रेणी द्युतिमि दन्तुरतरंरत्न्युन्तै, भूपासहस्रोत्करं पाषावतम्बितभूषण-सहस्रसमुदायै, उल्लामिता अतितरा शोमिता भवन्ति, तस्य तव वीरता पराक्रमम्, अमी वराका, वय किं ब्रूम किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

प्रथम शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्य विभागप्रत्यवभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रुशब्द यावद्गाढत्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

शिथिलता (पदों का भिन्न जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से भिन्न अर्थात् रचना का पढ़ने शिथिल और नाद में गाढ होना—'प्रसाद गुण' कहलाता है ।

जैसे—किसी चाटुकार (शुश्रूषकी) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे पत्नी के इन्द्र ! जिन आपके हेल में भ्रुगुण्ड को गोल और नेत्रों को लाल करके मुझ-भण्ड को देखने पर उत्काउ ही विन्ध्य पर्वत के बनों के कन्दारूप घरों में रहने बाल वृक्ष, माणिक्यावलि को कान्तिमों से अत्यन्त उन्नत हजारों आभूषणों के समूहों से चमकते लग गये, उन अङ्गों की वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें । श्लोक का सारांश यह है कि जिन राजा की वक्त चित्रमों से धरत्र कर शत्रुभूत राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में जा छिपे, उनको वीरता का वर्णन सभ्यारण्यन क्या कर सकते हैं !

इस श्लोक में 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता है, फिर 'भ्रु' शब्दसँग गठना है और पुन 'नयने' पर पर्यन्त शिथिलता है, अत्र 'प्रसाद-गुण' का उदाहरण होता है इत्यादि समझना चाहिये ।

उदाहरण—

यथा—वक्ष्यमाण-माधुर्वोदाहरणे ।

उपपादमनि—

तत्र ह्युपनागरिक्यैवोपत्रभोपनहारौ ।

चतुर्थ माधुय लक्ष्यनि—

सयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।

उदाहरण—

यथा—

चाटुकुहयित प्रथमिनी वदति—

‘नितरा परया मरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।

यदि कोमलता तवाङ्गकाना-मथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥’

उपपत्त्यादाग्भ्यां जा समाप्तरवसान पावन, रीतरूपनागरिकादिवृत्तिलिङ्गाया
वदन्मदि अभेद एकरूपता समता नाम गुण इत्यर्थ ।

नितरा परया इत्यादौ ।

तत्र नितरा मित्युदाहरण मत आदेरन्त यावदेकैर्वीपनागरिका बुद्धिरन सन्ते-
त्यर्थ ।

सयोगो हृदयानन्तर्यं परा यम्यस्तादृशा य ह्रस्ववर्णा एवमात्रिकाक्षराणि, तस्यो-
न्तिरिवतैवर्णघटितत्वे सति, पृथक्पदत्वमश्लेषपदत्व माधुय गुण इत्यर्थ । सयोगे
पर यथा ह्रस्वाक्षराणां गुस्त्र, तद्भिन्नत्वस्य लक्षण विवक्ष, सयोगश्चात्र परसवर्ण-
नानिष्पन्नेह्रस्वगैरघटितो गृह्यत, तेन तत्पय पल्लवाना मित्यत्र परायेत्तरह्रस्वाका-
रस्य लकारद्वयमयागपरकत्वेन गुस्त्रेन गुस्त्रेऽपि न क्षति, लकारद्वयमयागत्य पर-
सत्त्वानिष्पन्नत्वात् । पदाना सहितयाश्लेषत्वामाव प्रथक्पदत्वम् ।

ह प्रिय । यदि तव जङ्गवाना मृदुत्वातिशयतागुक्पन्नीयावमवाना कोमलता
विभाव्यत तदा सराजाना सराजन्त्यत्वेन मृदुमाना कमलाना, माता सक्, नितरा-

अर समता का लक्षण करण है—‘उपपत्त्यात्’ इत्यादि । अरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की
रीति होने का समता कहते हैं पर पर भा समझना चाहिये कि—अनागरिका, तथा और
काष्ठता य तान रीतिदो हाना है । इन्हीं को वेदनी, गीटी और वाझाटा भा कहते हैं ।

जस कि आग-माधुय ५ उदाहरण नितरा परया ... इत्यादि श्लोक में है

वरी अनागरिका य च स हा अरम्भ और अना स समति का गई है ।

अर माधुय गुण का लक्षण दान है—‘सयोग’ इत्यादि । संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यञ्जन)
वर्णों का आग ५ रहने से पूरक अन्त ह्रस्व स्त्री को पुरु संज्ञा होता है, पर हस्त स्त्री से अशारेक
वर्णों का सहायता से शेष हाना अर पदों का अलग अलग रहने—अर्थात् साभ्य और समास से
रहित हाना, इन दोन हीन का सम्मिलन रूप माधुयुग कहते हैं ।

अर—नापक नापिका से सुशुभमरुता कात वदता है—ह प्रिय । अब जब मैं तुम्हारे इन कामठ
झरो के विषय में सानवा हूँ, तब-तब तुम कहलुओ की माल्य अल्पत कप्रर माधुयन पडा है,

पञ्चमी सुकुमारता लक्षयति—

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता ।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति परामृशति वा—

‘स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि—कपोलपालिदोलाघितश्रवणकुण्डिलवन्दनीया ।

आनन्दमङ्कुरयति—स्मरणेन काञ्चि, रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणयाः ॥’

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे । उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि ।

मत्स्यन्त, परया कर्कशा, प्रतिभाति । मृगालानि विसानि च विचारे, नवाङ्गानि मृगालानि काञ्चिक कोमलानीति विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिभान्ति । अथ तदुभयातुन्यत्वनिर्णये पल्लवाना विसलयाना तथा त्वदङ्गसाम्य-चर्चाञ्चि का नाम ? न काञ्चीत्यर्थः ।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णनिष्पन्नसयोगनिमित्तकगुर्वङ्गराघटितानि चेति माधुर्यं गुणः । तच्च प्रागुक्तया समतया, वक्ष्यमाणयाऽप्यव्यक्तया च सङ्कीर्णम् ।

केवलकोमलवर्णघटितत्व बन्धस्य न सुकुमारत्व गुण इत्यर्थः ।

स्वेदाम्बुना घर्मजलस्य, सान्द्रैर्निविड कर्णबिन्दुमि, शालिन्या शोभमानाया, कपोलपाली गण्डत्वले, दोलाघिताम्बामितरतनभ्रलङ्घ्या, श्रवणस्थिताभ्या कुण्ड-साम्या, वन्दनीया श्लाघनीया, काञ्च्यनिर्वचनीया, मदिरेक्षणया सञ्जनाशया (प्रेयस्या.) रम्या मनोरमा, दशाऽवस्था, स्मरणेन (हृदि) आनन्दम्, अङ्कुरय-त्युत्पादयतीत्यर्थः ।

अत्र श्लोके पूर्वार्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः कोमलवर्णघटितत्वान् सुकुमारता शुद्धा । उत्तरार्धे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्कीर्णाः । क्षकारस्य कर्कश्येऽप्येवाकितया न

मृगाल तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखने कि—ये तेरे अङ्गों के समान कोमल हैं—कि वा नश, रह पल्लव तो अब कमल और मृगालों को वह दशा है, तब उनकी द्रो चर्चा भी तुम्हारे अङ्गों के सामने व्यर्थ है । यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो लकारों का देसा संयोग है जिसके परे प्कारोत्तर अकार को युक्त सञ्ज्ञा जाती है, तथापि दोष इसलिये नहीं होता कि—उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे देसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की व्याकरण-मुशिल सन्धि) के द्वारा अनिषत्त इत्त्वर्णों से युक्त न हो और वहाँ का लकारस्य संयोग परसवर्ण द्वारा निषत्त नहीं हुआ है, अतः वैसे इत्त्वर्णों से युक्त ही हुआ ।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिवे—कठार वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम ‘सुकुमारता’ है ।

असे—नायक किसी से कहता है कि—पत्नी के जल के सपन विन्दुओं से शोभित कोमल—स्थल पर झूलत हुये कानों के कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नयन वाली नायिका का रमणीय अवस्था, यदि आत ही, हृदय में आनन्द को अङ्कुरित कर देती है ।

षष्ठोमर्थव्यक्तिं ज्ञपयति—

ज्ञगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः ।

उदाहरति—

यथा—‘नितराम्’ इत्यादी ।

सप्तमीमुदारता लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटन्वलक्षणोदारता ।

उदाहरति—

यथा—

शिवस्य ताण्डव भक्तो वर्णयति—

‘प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-

विनोदिनि विनायके टमरुडिण्डिमध्वानिनि ।

ललाटतटविस्फुटप्रवृषीटयोनिच्छटा-

हठोद्धतजटोद्भूटो गतपटो नटो नृत्यति ॥’

मगना । ध्रुवणतुच्छने यत्र धीनरक्तत्वम्, ध्रुवणस्थितत्वबोधकत्वेन परिहारस्तु ‘स्थिते-
ध्वेन सगंधनम्’ इत्यनुसामनात् प्राचीनतमोक्तिध्वेन युक्तम् ।

ज्ञगिति शीघ्रमाहात्म्यादिसामग्रीमवधानात् प्रतीयमानोऽर्थानामन्वय सम्बन्धो
यत्र, तत्त्वम्, अविलम्बेनशब्दबोधजनकत्वं पदानामर्थव्यक्तिरित्ययम् ।

माधुर्योदाहरणे ।

टवगांदिक्ठोरवर्णपटितरव वग्धस्योदारता गुण इत्ययम् ।

प्रमोदभरेण तुन्दिलैरानन्दतिशयनोत्फुल्लैः, प्रमथं नन्दुरपारिपदं दत्तामिनिविहि-
तामि, तालावलीमि कालक्रियामानबोधककरध्वनिपरम्परामि, विनोदिनि वीनूहल-
धुनि, विनायके गणेशे, टमरु डिण्डिम च वाद्यविशेष ध्वनयति वादयतीति तच्छीते
सति, ललाटनटान् नेपालस्थलान्, विस्फुटनी प्रवटोभवन्ती षुषीटयोनेरग्नेच्छटा प्रमा
यस्य तादृश, हठेन नृत्यामिनिवेशेन, उद्धतानिरुध्वं विकीर्णामि, उद्भूटो विकट,
गतपटो दिग्म्बरत्वाग्निर्वसन नटो नलंक शिवो नृत्यतीत्यर्थम् ।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध (प्रथम-द्वितीय चरणों) में झुजुमारता है । उत्तरार्ध (तृतीय-चतुर्थ चरणों)
में माधुर्य और झुजुमारता दोनों का मिश्रण है ।

अथ ‘अर्थव्यक्तिगुण’ का उल्लाह देसिये—अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान जाना अर्थात् शीघ्र ज्ञान-
बोध के होने को—‘अर्थ-व्यक्तिगुण’ कहते हैं ।

जैसे कि ‘नितराम्’ पदका सरोजमाला ’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य आदि में ।

अथ ‘टगरता गुण’ का उल्लाह देसिये—रचना का टगरां अर्थात् कठोर वर्णों से युक्त होना—जिसे
विकटत्व भी कहते हैं—‘टगरता गुण’ कहलाता है ।

जैसे—कोई मक शिवजी के ताण्डव-भूत्व का वर्णन करता है—मल्लदेश से फूटकर निकलती
हुई ज्वालिका नवीन-छटा से युक्त और हठ से (नृत्यामिनिवेश से) ऊपर उठल्लरी हुई अथ के कारण
विकट लगने वाले रंग नटराज (शिव) नाच रहे हैं, अग्नि अग्नन्द से फूटे हुये प्रथम छेगों के द्वारा
दो गर्द ताटियों में विनोद-मन्त्र गौणगौ टमरु और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बजा रहे हैं ।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदाना नृत्यत्प्रायत्व विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नेतकीना, झटिति रणितमासीत्' इत्यादि । तत्र तेषामेतादृशो विकटत्वलक्षणामुदारताभोजस्यन्तर्भावियन् काव्य-प्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति ।

तामेवानमिति प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति । 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतं—' इत्यत्र सन्न-
प्योजसो लवो न चमत्कारी । नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्व वर्णानामनुभवन्ति सह-
दया । अशान्तरे तु माधुर्यमेव ।

झटिति स्थानेऽनुकरणार्थको झणितीति, स्वचरणस्थान सुचरणेति पाठश्च
साधीयान् । तत्र तस्मिन् विषये । तेषा टीकाकाराणाम् ।

काव्यप्रकाशव्याख्यातृमियत् 'पदाना नृत्यत्प्रायत्व विकटता' इत्युदारताया लक्षण
कृत्वा 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणं दर्शितम्, तत्र समीचीनम्, उदारवाया भोजस्यन्तर्भाव
कुर्वत काव्यप्रकाशात्मकमूलग्रन्थकृतोऽभिमतैर्विद्वत्त्वादित्याशयः ।

हि यत् अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे भोजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभान
प्रतीतिर्नास्ति, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतं—' इत्येतादृशे समुक्तपकारटकाररेफघटितत्वात्
तन् विद्यमानोऽपि, भोजसो लवो लेश, वैपुल्याभावाद् बीराद्योऽस्विरसाभावाच्च
चमत्कारी न भवति, वर्णानां नृत्यत्प्रायत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति,
अशान्तरे 'स्वचरणे'—त्याद्ये बहुत्र तु पुनर्माधुर्यमेवास्ति, तस्मान्नात्रौजो गुण
इत्यर्थः ।

अत्रौजसो लेशतो माधुर्यस्य तु बाहुल्येन सद्भावात् पदनृत्यत्प्रायत्वानुभवोऽपि
टीकाकर्तुर्दशस्ताया लक्षणोदाहरणे न समीचीने इति सारम् ।

यहां कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मन है, जिनका अब सफ़टन करने हैं = 'पदानाम्'
इत्यादि । काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करने हैं कि 'पदों के नाचने से प्रतीति होने का नाम
विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टे' इत्यादि । इस विषय में सफ़टनराज
का कथन है कि—टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अभिन्न उदारता का, भोजगुण में
अन्वर्भाव करने वाले मूलकार (मर्मट) उनके अनुकूल कैसे दुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में
एकरास्नना कैसे हुई—दुये ने ही जानें ।

अब उस मूलकार और टीकाकार में होने वाला विरोध का स्वरूप तथा उसमें युक्ति बनाने हैं—
'न ह्यत्र' इत्यादि । 'स्वचरण' " ' इत्यादि पद्य में प्रचुर रूप से भोजगुण भागित नहीं होता ।
यद्यपि 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतं' इस अंश में कुछ भोज है, पर वह चमत्कारी नहीं और उस पद्य में सहृदयों
को नाचने से पदों का अनुभव भी नहीं होता । अन्य अंशों में माधुर्य का ही अनुभव होता है । कदने
का माराज यह है कि—उक्त पद्य में भोज अगर है भी तो अशत और माधुर्य प्रचुर—मात्रा में है और
नाचने हुए से पर भा नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दितलिये हैं,
वे ठीक नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं ।

अष्टममोजो लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृत् क्षितिपति स्तोत्रि—

'साहङ्कारसुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर—

क्षुभ्रक्षीरघिवल्गुवीचिवल्यश्रीगवंसर्वङ्गुपा ।

तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलं, सानन्दमालोकिता

भूमिभूषण । भूपयन्ति भुवनाभोग भवत्कोत्तयः ॥

उदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—'अथ पततु निर्दनम्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

नवमी कान्ति लक्षयति—

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु
पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः ।

संयोग परो येष्वस्तादृशानां ह्रस्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूप यस्य, तद्गाढत्व वर्णानामोजो गुण इत्यर्थः ।

हे भूमिभूषण घरालङ्कार नृप । साहङ्काराया सबलामिमानाया, सुरासुरावले-
देवदानवपद्मते करैराहृष्टेन, अत एव भ्रमता घूर्णमानेन, मन्दुरेण मन्यानदश्वीभूत-
पवंतेन, क्षुभ्रतो विलोडनाव् मञ्जलत, क्षीरधेर्दुग्धसमुद्रस्य, नल्गूना सुन्दराणां, वीचि-
वलयानां तरङ्गमण्डलानां, धिय शोभाया, गवस्य श्वेनिमामिमानस्य, सर्वङ्गुपा
सवापहारकारिका, तृष्णमा विपासया प्रेम्सया वा, ताम्बुद्वल्यंश्रीमवद्भिः, अमन्द-
रन्वृष्टं, तापसकुलंरमरत्नलामनिमित्तकतपस्यापराधणगर्भं, सानन्द रूपतादृश्याद-
मृतभ्रमेण साह्लादम्, आलोकिता दृष्टा, भवत कीर्तय, भुवनानाम्, आमोग विस्तार,
भूपयन्त्वतदुत्तुवन्तीत्यर्थः ।

अप्राक्तमयोगानिमित्तवगुरन्वप्रातह्रस्ववर्णप्राचुर्यादोजोगुणः ।

प्रागुरीद्वरसनिरूपणे । 'नवोच्छ्रितित-' इत्यादिपद्ये ।

अथ 'ओजोगुण' का लक्षण मुनिवे—गाढता को 'ओजोगुण' कहते हैं और गाढता करते हैं—आगे
में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुए ह्रस्व स्वरों की बहुलता को ।

जैसे—कोई चाटुकार राजा को स्तुति करता है—हे धराद्वार ! अत्यधिक अभिमानशाली देवों
और दानवों की पत्नियों से विने हुए, अत एव घूमते हुए, मन्दराचल से धुम्ब बने हुए क्षीर—सागर की
मनोहर तरंगों के समूह का शोभा के गर्व को सर्वत्र गष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल
पशुवियों के झुण्डों से (तथा—शान्ति का साधन समझ कर) आनन्दपूर्ण देती गई भयंकी कीर्तियाँ
सम्पूर्ण संसार को शोभित करती हैं । यहाँ अभिमत संवागानिमित्तक गुरुरा को प्राप्त करने वाल ह्रस्व
स्वरों की अभिज्ञता है, अतः 'ओजोगुण' का एक लक्षण मर्यादित हुआ

अथ 'रीद-रम्' के निरूपण—असह मे वल्लिखित 'अथ पततु' ...' इत्यादि पद्य को 'ओजो-
गुण' का उदाहरण समझना चाहिए ।

यथा—'नितराम्' इत्यादिप्राग्गुदाहृते ।

दशम शब्दगुण समाधि नक्षयति—

बन्धगाढत्व—शिक्षितत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।

स्वोक्ति प्राचीनसम्मत्या द्रढपति—

अनयोरेव प्राचीनेरारोहावरोहव्यपदेश. कृत ।

प्रसादात् समाधेर्दन्तिरेक दर्शयति —

क्रम एव हि तयो , प्रसादादस्य भेदकं, तत्र हि तयोर्ध्रुत्वमेण वृत्ते ।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

असहृदयाना वैदिकप्रभृतीना प्रयोगोचितानि यानि पदानि तानि विहाय, पद-
दपै कविभि प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याज्ञौविकी शोभा, संबोज्ज्वलत्व-
रूपा कान्तिरिति मारम ।

अत्र विदग्धभावप्रयोज्यपदवाहृत्यात् कान्ति, पूर्वोक्तमाधुर्पर्यव्यक्तिस्या सङ्कीर्णा ।

बन्धस्य प्राग्गाढत्व पञ्चान्तिशिलत्वमेव क्रमेण न तु प्रसादवद्भ्युत्क्रमेण, अव-
स्थापन विन्मसन समाधिरित्यर्थं ।

अनयोर्वन्धस्य गाढत्वशिक्षितत्वयोरेव, प्राचीनैर्वाचनादिभि, आरोहावरोहयो,
व्यपदेशो व्यवहार वृत्त इत्यर्थं ।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्य बन्धस्य क्रमेण प्राचीनं चन्द्रभुजभ्रमित-
चण्डादाभिघातसञ्चुषितोत्पुगलस्य सुयोगनयम् । स्थानावबद्धयनशोपितनोपपाणि-
रत्तसगिष्यति कचास्तव देवि । मीम ॥ इत्यत्रोदाजह्ये ।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययो क्रम पूर्वापरोभाव एवास्य समाधे प्रसादाद् भेदकं, हि
यतस्तत्र प्रसादे तयोर्ध्रुत्वमेण वृत्ति, इह तु क्रमेणैतुस्तमेव प्रसादनिरूपणे प्राक् ।

अत्र 'कान्तिगुण' का लक्षण देखिये—महदयत्नास्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य
पदों को छेड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होता है—जिसको
उज्वलता भी कहते हैं—उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं ।

जैसे कि—'नितरां' परमा ' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद में । इस पद में सहृदयों के प्रयोग
करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्बन्धव्यक्ति गुण' भी
हैं, जिन तीन गुणों का संकर यहाँ माना जायगा ।

इन्हीं—गाढता और शिक्षितता का प्रानान वाचन आदि अर्थात् आरोह और अवरोह शब्द ने
कहते हैं ।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाने हैं—'क्रम पद्य' इत्यादि । गाढता और
शिक्षितता का भिन्न क्रम में रचना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर भिन्न बनाता है,
क्योंकि प्रसाद गुण में ये दोनों (गाढता और शिक्षितता) विपरीत क्रम से रहती हैं । ताल्पर्यं यह है
कि प्रसाद गुण में पहले शिक्षितता और पश्चात् गाढता तथा समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चात्
शिक्षितता रहती है ।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि काश्चिद् वर्णयति—

'स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गा-तुङ्गमहुरतरङ्गसखानाम् ।

केवलामृतमुचा वचनाना, यस्य आस्यगृहमास्यमरोजम् ॥'

उपपादयति—

अवारोहः प्रथमेऽर्थे, तृतीयचरणे त्ववारोहः ।

भावे पूर्वाधे माधुर्यसाङ्घर्षे निरावृत्तोत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गात्पादौ माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सस्त्वपि, दीर्घसमासान्त-पातितपा
न तस्य प्ररोहः । उत्तरार्धे तु सोऽपि ।

शब्दगुणनिरूपणमुपसहरति —

एते दश शब्दगुणाः ।

अपार्श्वगुणेषु प्रथम श्लेष निरूपयेंत्वक्षयति —

एवं क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपा-
दकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः ।

स्वर्गोत्प्रेरिताया निरर्गलाया निरर्गलान्याया, गङ्गाया मन्दा-
विन्या तुङ्गा उच्चा, महगुणा महशालिनश्च ये तरङ्गा, तत्तुल्याना, तमखाना,
केवलामृतमुचा पीयूषमात्र प्रवाहयता वचनाना आस्यगृह नृत्पायतनमुक्तासास्पद
यस्य, आस्य मुक्तमेव सरोज नमलमरतीत्यर्थः ।

अत्र स्वर्गोत्प्रेरित्यर्थे प्रथमऽर्थे प्रथमद्वितीयचरणयो, आवारोहो गाढत्वम्, तृतीय-
चरणे त्ववरोहः दीर्घत्वमिति समाधिः, गाढत्व-दीर्घत्वयोः श्रमेण मनिवेद्यात् । इह
'तृतीयचरणे इत्यत्र बहुव्रीहिरिति चेपाश्चिद् विवरण निम्नतम बहुव्रीहिणा तस्योत्त-
रार्धपर-माधुर्यगम तदुपपन्नतुल्यचरणे बन्धुप्रीतियाप्रतीवर्षेक्षणसमन्ययासम्भवात् ।

उक्तादाहरण प्रार्थं गङ्गात्पादिवदपटकवणात् माधुर्य-वञ्जना सस्त्वपि, तेषां
दीर्घसमासान्तकत्वेन वृत्तव्यवहिरदहाय माधुर्यस्य प्ररोह (दाढर्षम्), उत्तरार्धे तु
दीर्घसमासान्तकत्वेन माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसङ्घर्षे समाधिस्त्यक्त्यर्थः ।

एते श्लेषदशो दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः ।

कवि विना ना वंति वरणा इ—अमित्रो मृत-कमल, स्वर्ग से निरुद्धी दुई, अल एव निर्विज
होकर प्रगति न होने वाली मन्दाविनी को कौन्सीनीको अर्थात् लक्ष्मणा दुई छारो के मित्र (अर्थात्
उन्हे समान) तथा नैकल अणु बरसाने पान् बचनों का नाट्य गृह है अर्थात् अमित्रो मृत से सर्वदा
दोसे बचने निराजमान रहन है ।

एक श्लेष के पूर्वाधे में अरोह (गाढता) और तृतीय चरण में अवारोह (शिथिलता) है ।

यद्यपि यहाँ गङ्गा आदि चरो के माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे चर श्लेषे समास के अर्थ
में पण गद हैं, मत्र माधुर्य गुण कुछ नहीं हो सकता, हाँ, उत्तरार्धे में यह (माधुर्य) भी आस्य दे,
क्योंकि अत्र श्लेष समास नहीं है । इस तरह यहाँ समाधि और माधुर्य का सङ्घर्ष है, ऐसा समझना
चाहिये ।

वे ही दश शब्द गुण हैं ।

एव सादृश्यात्, विदग्धचेष्टितस्य चतुराचेष्टाया तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया ज्येष्ठत्वस्य, तदुपरादिकायास्तद्वधापारसाधिक्याया युक्तेस्पायस्य च यत् सामानाधिकरण्यात् एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वापरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्) वृत्तित्वम्, तद्रूपो य ससर्गं स श्लेष इत्यर्थः ।

ज्ञातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्गोपनस्य तत्साधकोपायस्य चार्थस्य त्रिमिकानकक्रियानिरेकत्रैव मिथस्त्वन्वयकरणपूर्विका घटना श्लेषनामाऽर्थगुण इति सारम् ।

'क्रियापरम्पराया' इति पक्षपन्तपाठे तु क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टिनादीना सामानाधिकरण्या बोध्यम् ।

एतदुदाहरणन्तवमरककवेर्यथा—

'दृष्ट्वैकामनसस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयन पिधाय विहितश्रीडानुबन्धच्छल ।

ईषद्वक्तिकन्धर सपुलक प्रेमोत्तलसन्मानसा-

मन्तर्हसिलसत्कपोलफलका ध्रुनोऽपरा चुम्बति' ॥ इति ।

वृत्तंश्चतुरो नायक, एकासनसस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठाकनिष्ठे प्रेयस्यो, दृष्ट्वा निभृत दूरादवलोक्य, तद्दृष्टिपथ परिहरन् पश्चात् पृष्ठेन, आदरादतकितालिङ्गनकौतुकात्, उपेक्ष्योपगत्य, विहित वृत्त श्रीडानुबन्धस्याक्षिप्तमीलनरूपलीलानुष्ठानस्य छलम् उच्यते तुल्यप्रेमानावाद् ध्याज वेत्, तादृश, एकस्या वनिष्ठया, नयने पिधाय, कराम्या निमीय, ईषद्वक्तिकन्धरो शीवाधिकतमने कदाचित् वनिष्ठा रहस्य जानीयादिनि मिया किञ्चिद्विब वुटिलितश्रीव, सपुलक स्वामीष्टमिद्धिसान्निध्यसम्भूतत्वात् सरोगाश्च प्रेम्णा सपत्न्योभयाऽऽज्यानि पतिप्रणयाधिकयावधारणादुद्भूतया प्रीत्या, उल्लसदामोदमान मानस यस्याम्नाऽश्रीम, अन्तर्हसित रहस्यभेदमिया स्मितरूपाव्यक्तहसितान, लसच्छोभमान कपोलफलक मन्त्रिकृष्टकण्ठतल यस्यास्यतपाभूताम अपरा ज्येष्ठा चुम्बतीत्यर्थः ।

अत्रैकस्या वञ्चनेनापारस्याश्चुम्बन विदग्धचेष्टितम् तस्यास्फुटत्वपरयाज्ञातत्वान, तदुपरादवयुक्तिश्चतुरागनिमीलनपूर्वक श्रीडानुष्ठानम्, तेषा पश्चादागमन-नयननिमीलनलीलाविधान-चुम्बतरूप-शमिक्रियाणा च सामानाधिकरण्यात् निबन्धत श्लेषः ।

अत्र अर्थगुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम रूप का लक्षण करने हैं—'पृथम्' इत्यारि । इनी तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको मिद्ध करने वाली युक्ति, इनका क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार बॉन करना कि परम्पर का भ्रमन्व निश्चेद नहीं होने पावे रूप कहलाता है । वैसा कि जदरुक कवि का 'दृष्ट्वैकामनसस्थिते' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृत टीका में उद्धृत है । इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—मूर्त्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमार्थ (ज्येष्ठा और वनिष्ठा) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं । ऐसे पद्य उमने पीछे से, उसके सभोष में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, झेल करने के छल से, बन्द कर दिया, इनके बाद ही सादृशक वह नायक अपनी गारदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके उस दूसरी नायिक को चूम रहा है, जिसका मन सपत्नी को अपेक्षा अपने में प्रति का अधिक आराग देखकर प्रेम में प्रगल्भ हो रहा है और (सपत्नी न जान आप, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से निमिके कपाल शोभित हो रहे हैं । यहाँ 'दृष्ट्वैकामनस' को छोड़कर दूसरी नायिका को चूमना चतुरता से काम करना

द्वितीय प्रसादं लक्षयति—

यापदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।

उदाहरति—

यथा—

नायको दूती वा वदति—

‘कमलानुकारि वदन किल तस्या’ इत्यादि ।

स्पष्टप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणन्तु यथा—‘कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्’ इत्यादि ।

शृनीया ममता लक्षयति—

प्रक्रमामङ्गेनार्थघटनात्मकमर्थवैमल्यं समता ।

यावदर्थकान्यथायूनाधिकानि पदानि यत्र, तद्रूपमर्थस्य वैमल्यस्पष्टप्रतीयमानता-
लक्षणा स्वच्छता प्रसाद इत्यर्थः ।

यत्रैवमपि पद निरर्थकं विलम्बेनाप्योपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽयं गुण इति
सारम् ।

इह वदननिष्ठ-कमलसादृश्यदाहर्षबोधनान् विधेत्स्यस्यापि सार्थक्यात् प्रसादः ।

अत्र ‘अनन्यत्वम्यो हि शब्दार्थं’ इति मिथ्यात्वेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राग्बत-
दर्शयितव्यमस्मत्प्राशयैवमयम् ।

प्रथमं आरम्भत्रमलास्यामङ्गेनान्वयाकरणेन सार्थक्यं घटना, तद्रूपम् अर्थवैमल्यं
विषमताऽनाव समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन सस्यार्थस्योपादानं क्रियेत, तेनैव न तु तत्त्वपविण, अन्तं यावन्नि-
र्वाहा यत्र विधीयेत तत्र समतेत्याशयः ।

हे, वह प्रकट हो न हो मका क्योंकि इसकी भायिका हमकी नहीं समझ सकी और हमको सिद्ध करने
वाली युक्ति है आँवभित्तीनी का छल । इन सब बातों का पीछे में आना, आँव मूढ़ना और खेड
मरना आदि क्रियाओं के साथ-साथ होने रहना वर्णित किया गया है ।

अत्र ‘प्रसाद गुण’ का उल्लेख देखिये—जिनके अर्थ ही करने ही परों का होना अर्थात् परों का अर्थ
से अन्त आकर अधिक न होना ‘प्रसाद गुण’ कहलाना है’ अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं ।

अन्ते—नन्दक किमी भायिका के विरह में कहना है—हमका मुख कमल का अनुकरण निश्चित
रूप में करता है । यहाँ शब्द और अर्थ दोनों नये तुले हैं, ‘निष्ठ’ पर मुख में कमल-गाहल को इद
करना है, इसलिये वह भी सार्थक है, अत्र प्रसाद गुण का उक्त उल्लेख यहाँ समन्वित हुआ है ।

एतकों का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये प्रत्युदाहरण का भी निर्देश करते हैं—‘प्रत्युदाहरणं तु’
इत्यादि । अर्थ-तु उक्त पद्यों को ही यदि ‘(हमका) मुख कमल की कान्ति का अनुकरण करता है’
इन रूप में परिचित कर दिया जाय तो प्रसाद गुण का प्रत्युदाहरण ही जायगा, क्योंकि ‘कान्ति’
पद बलव्य अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है ।

अत्र ‘समता गुण’ का उल्लेख देखिये—विषमता के अभाव को ‘समता गुण’ कहते हैं और
विषमता का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम निश्चित अन्त न होने पावे, इस तरह ही अर्थवैमल्यता
का अर्थ-आरम्भ में निष्ठ तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, अन्त तक उक्त क्रम का निर्वाह
करना ही ‘समता’ है ।

उवाहरति—

यथा—

मदकद्रुलौ वक्ति—

हरि पिता हरिमाता हरिभ्राता हरि नृहृत् ।

हरि सवन पश्यामि, हररन्वत भानि मे ॥

उपनादयति—

अत्र विष्णुभ्राता इत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मक वैषम्यम् ।

ननुय मायुः तथयति —

एकस्या एवोक्तेर्भङ्गयन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं मायुर्यम् ।

उवाहरति—

यथा—

मनो भागीरथो मापने—

‘विद्यता निष्कङ्कु निरवप्रिममाधि विप्रिरहो,

सुख शेषे शेता हरिरविरत नृपतु हर ।

कृत प्रायश्चित्तैरुभय तपोदानवर्जने

मवित्री कामाना यदि जाति जाति भवती ॥’

मानि राचन मे महम् । अन्त स्तुभव ।

र मोक्षिन् प्रत्यगो लोक य दब्दानुगमादुते ।

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन नामत ॥

इत्यनियुक्तोक्ते शब्दस्यापि शाब्दिकतय भावबोधवियमत्वादिह हरिश्चन्द्रस्य विष्णुश्चन्दन परिवृत्ती प्रकान्तरिपशनावाद् वैषम्यानुदाहरणव स्थासिति तान्पर्यम् ।

एकस्मैवायस्य मङ्गलपतरण मिनम प्रकारण पुनरुपादानमुक्तिवैचित्र्य यत् तदेव माधुर्यमित्यर्थं । इत्येकस्मैवपि विवरणानु त्पार्य इत्यभिमतवृत्तिप्रधानुराजिते विहितम् ।

मापने गच्छे । कामाना स्वगादिविषयकमकलाभिजायाणा मवित्री पुरनित्री,

वैषे—कौट्ट मक कान्ता ई—(मेने) हरि ही पिता ई, हरि ही माता ई, हरि ही भ्राता ई और हरि ही सखा ई मैं सब स्थानों में हरि को ही देना है, सुख करो भी हरि से निश्चय इति-गोचर नही होगी

यथा यदि ‘हरि नृहृत् ई’ की तरह ‘विष्णु नृहृत् ई’ ऐसा कर दिया जय तो प्रक्रम मरकट विषम हो जयगी, यद्यपि हरि और ‘विष्णु’ पर क अर्थ में कोई भेद नहा है, तथापि शब्द और अर्थ में एक ऐसा लक्षण है कि एक अर्थ की दो तरह के शब्दों के द्वारा उल्लिखित होने का दो जैसे लगने लगता है, अब हरि शब्द में आरम्भ करने का उसी शब्द में सम्पत्ति का कारण बहिर्भवे, तभी अन्त की रक्षा होगी अन्यथा विषमता दुबल है

अब ‘मायुः पुनः’ (यथा) का लक्षण करत है—एक ही अर्थ को विभिन्न शब्दों (प्रकार) से पुनः पुनः कहना वा जो उल्लेख की विचिता है, उसे ‘मायुः-पुनः’ कहत है ।

वैषे—कौट्ट मक कान्ता भागीरथो से कदा ई-इन्द्र (कुछ ही अर्थय नहीं रहने के कारण)

उपपादयति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येवोऽथ, समाविधिधानादि-
प्रेरणारूपेणाक्तिवैचित्र्येणाभिहित, अन्यथाऽन-नितृत्वत्वापत्तेः ।

पञ्चमी मुकुमारता लक्षयति—

अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपाठ्यं मुकुमारता ।

उदाहरति—

यथा—'त्वरया याति पान्थोऽथ प्रियाविरहकातरः ।'

उपपादयति—

'प्रियामरणकातरः' इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य मत्त्वाम् पारुष्यम् ।
इदञ्चाश्लीलतादोषव्याप्यम् ।

मदती, यदि अहो ! जगति भूलोके, जागति सावधाना निष्ठति, अथ तदा, विधिब्रह्मा,
निश्चिन्ना कर्तव्यामावाप्तिस्सन्देह, निरवधि निस्सीम समाधि विघ्नताम्, हरिविष्णु
मुख सनिवृत्ति शेषेऽनन्तभोगशम्याया, शेता स्वपितु हर चित्र, अविरत सतत नृत्यतु,
प्रायश्चित्ते पापनाशकानुष्ठानविशेषं, कृगमलम्, अन्यथैव तत्ताद्यमिदं, तपोदानय-
जनैस्तपसा दानेन यज्ञेन चाल न किमपि प्रयोजनमित्यर्थं ।

अत्रोदाहरणे भवत्यां सत्यां विधिहरिप्रभृतीनां किंप्रयोजनमित्येतादृश एव एवाप्यं
समाधिविधान—सुखशयनादिप्रवर्तनास्वरूपेण नवनवेन प्रकारेणोक्त इति माधुर्यम् ।
अन्यथा कथनप्रकारनवनवत्वामात्रे 'सदा चरति खे नानु सदा बहति मास्त ।'
इत्यादाविधाप्राप्यनवीकृतत्वदोषस्यापात इत्यादित्यर्थः ।

अकाण्डेऽनन्तभरे शोकदायित्वं शोकजनकत्वं पारुष्यं कठोरता, तदभावनम्
मुकुमारतेत्यर्थः ।

प्रियाया विरहात् कातरस्तस्त पान्थ पयिकोऽथ त्वरया चीघ्न याति गृह
गच्छतीत्यर्थः ।

त्वरयेत्माद्युदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परितर्जने च, विरहस्य दुःख-

सन्देह रहित होकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् देवराज्या पर सुखपूर्वक
सोने रहें और शिवजी भी मदा ताण्डव-नृत्य में भंगन रहा करें, सुख उन सत्रों में कुछ प्रयोजन
नहीं । अब मेरे हिये प्रायश्चित्तों (कण-नारण अनुष्ठान विष्णु) की भां कोई आरक्षण नहीं और
एव, दाग त । यह वे सब भी अब मेरी दृष्टि में अर्थ हैं, जब कि इ जग माता ' सब मन-गो को
पूर्ण करने बहता नू संसार में (मेरे हिये) सावधान होकर यहीं है ।

यहाँ 'जगत्-अदि स सुख भी प्रयोजन नहीं है' इत्यादि अर्थ को 'समाधि में बने रहें इत्यादि
प्रेरणारूपक कति-नै-अथ न कहा गया है, अन्यथा 'अतरोत्तमा' ताम्र नय मा जग ।

अब 'मुकुमारता-युग' का उद्देश्य दिखाने हैं—अप्राप्य (कान्ता में अभाव) का 'मुकु-
मारता' बहने हैं और कठोरता का अभाव कहने हैं—दिना राम अरुणर-क-रोर न देने को ।

वैये कि—यह पत्रिक दिनामा के विशेष से टरता हुआ ज्ञानता में जा रहा है । यह पत्र की
का दिना दूरी का के प्रति वक्ति है ।

यही यदि 'प्रियता के मरण से टरता हुआ दिना कहें कि जग, न जग-मुक्ता 'मग' ००

पश्यामर्थव्यक्ति लक्षयति—

वस्तुना वर्णनीयस्यामाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः ।

उदाहरति—

यथा—

नायक सज्जाम ब्रवीति—

‘गुणमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तकाम माम् ।’

रदयन्त्रितरमनाय, तरलिततयन निवारव्याञ्चके ॥’

अर्थव्यक्ते स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतामाचष्टे—

अयमेवेदानीन्तनं स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते ।

सतमीमुशरता लक्षयति—

‘सुखनं देहि मे भार्ये ! कामचाण्डालवृत्तये’ इत्यादिग्राम्यार्थ-
परिहार उदागता ।

जनकवैदिकी शोकजनकत्वामावाशपाठ्यम्, मरणस्य स्वान्धननाशरूपतया शोकजन-
कत्वेन पादभ्रमिति क्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटे । इदं पारस्य च व्रीडा-जुगुप्सा
प्रसङ्गलक्षणत्वेन विविधम्याशनीरनादाशय व्याप्य नृनीयप्रकारतया जनगंनमि-मर्थ ।
वर्णनीयस्य वस्तुन पदार्थस्य तदेवजातिमाप्रवृत्तिनामाभाषाणो इतरव्यावृत्ते, ये
त्रिरारुपे व्यापारावयवसम्भाने तपार्थगंनमर्थे यक्तिरित्यर्थः ।

गुणा श्वश्रुप्रभृतीना मर्षे मियता कमलाक्षी नलिननपना प्रिया, कमलाक्षेण
पद्यवीजेन प्रहर्तुकोम ताडयितुमिच्छु, माम्, रदयन्त्रितरमनाय निपीडित रतनाया
त्रिह्वारा अय यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिते चञ्चलीकृते नयने च दन, तद्यथा
समाप्तया मैत्र कार्णीरिति निवारव्याञ्चके निवृत्तितरमनायार्थः ।

इहै कमलघटोर्धनदनरूपस्य रूपस्य त्रिह्वारादन्तनिपीडित-लोचनचञ्चलीकरणरूप-
योरनुविताचरणनिवारणमूचकक्रियामोक्ष लननाजनमानवृत्तीना वर्णनादर्थव्यक्ति ।

अपमर्थव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्विद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यप-
दिश्यते व्यवहियते स्वभावोक्तिस्तु रिम्मादे र्वक्रिया-रूपवर्णनम् इत्यादिभिरित्यर्थः ।

को अ जाने से क्या मैं कहूँगा भा जबगी । यह कहूँगा अनकल व्ययक ‘अलीलता’-मानक से
के अन्वय है ।

अथ ‘अर्थव्यक्ति गुण’ का लक्ष्य कहने है—यिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके अर्थव्यक्ति-
(गुण) वर्णन और का वर्णन करना ‘अर्थ-व्यक्ति’ गुण कहलाता है ।

जैसे—नायक आने नित्र से काना है—माम-ननद आदि मुख्यों के बीच में बैठा हुई तुम्हरी
मे नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल के बीजों से आने अर प्रहार करने के लिये दण मुझको-दति
मे जोभ के अग्रमण को दता कर तथा नेत्रों को चञ्चल बना कर (नचाकर) रोक रि.अ—सूचित
कर दिया, कि ऐसा न कीजियेना, अन्यथा बुरी होगी । वहाँ नायिका के कमलघट-दाय-नयन-
रूपरूप और जोभ के अग्रमण को दहाने तथा नेत्रों के चञ्चल करने-रूप कर्त्तव्य का वर्णन किया
गया है, अथ ‘अर्थव्यक्ति गुण’ का लक्ष्य स्पष्टित हुआ ।

इसा को अधुनिक विद्वान् ‘स्वभावोक्ति’ अलङ्कार कहने दे ।

ऋष्टममोजो सज्ञयति—

एकस्य पदाथस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहुनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु—

‘पदायै वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिषा ।

प्रौढिर्व्यास-समाप्तौ च, साभिप्रायत्वमस्य च ॥’ इति ।

विवृणोति—

पूर्वाधंप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास—समाप्तौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढि, साभिप्रायत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

त्रिविधा हि शब्दा — नागरिका औपनागरिका ग्राम्याश्च । तत्रोत्तमप्रकृतौ वर्यटि मार्यादितृतीयशब्दाधंप्रधानीचित्येन यद्ग्राम्यत्व दोष, तदभावे उदारतेत्यर्थः ।

ग्राम्यमिह सर्वमेवोदारताया उदाहरण सम्भवतीति वृषह् न प्रतिपादितम् ।

एकपद-प्रतिपाद्यस्याधंप्रधानेकै पदै प्रतिपादन प्रथम प्रकार अनेकपदप्रतिपाद्य-स्याधंप्रधानेन प्रतिपादनं द्वितीय प्रकार एकवाक्यप्रतिपाद्यस्याधंप्रधानेकैर्वाक्यै प्रतिपादनं तृतीय प्रकार, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यस्याधंप्रधानेन वाक्येन प्रतिपादन चतुर्थ प्रकार, साधर्मकविशेषणकत्व च पञ्चम प्रकार इति प्रकारपञ्चकाम्यतमत्वमोज इत्यर्थः ।

पदाधंप्रधानेन वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम् एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यै प्रतिपादनं व्यास, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समाप्तश्चेति प्रकारचतुष्टय-रूपा प्रौढि, अस्य विशेषणसाभिप्रायत्व साधर्मकत्व चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

इह वाक्यपद योग्यतादिमतस्तद्ग्रहितस्य च पदममूहस्य बोधनं बोध्यम् । इतर-वाश्रुपद वक्ष्यमाणे ‘सरसिजे—’त्याद्युदाहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्व न स्यात् ।

अत्र ‘उदारता गुण’ वा लक्षण दिखलाने है—‘सुम्भनं देहि मे भार्ये ! कामवाण्डालतुष्टये’ अर्थात् ‘मरी मेहरिया ! तू काम-रूप वाण्डाल को सुस्त करने के लिये मुझे अपना एक चुम्बन दे’ इत्यादि वाक्य (गमैवत्) शब्दों का परिस्पाग करना ही ‘उदारता’ कहलाना है । तात्पर्य यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियों मानी गई हैं, जिनमें भाषां अदि शब्द तुल्य श्रेणी में रखे जाते हैं, अत्र उत्तम श्रेणी के वस्तुओं को उदारता प्रयोग नहीं करना चाहिये । इन गुण वा उदाहरण अलग बरदे इत्यादि नहीं दिखलाना गया कि एक तृतीय श्रेणी के शब्दों से अतिरिक्त सब शब्दों का प्रयोग होने पर एक-चतुष्प्रकार उदाहरण सम्भव है, जिनका भ्रमशून्य साक्ष्य है ।

अत्र ‘जोशुण’ (सर्वगत) वा लक्षण दिखलाने है—‘ओज्याग’ के पाँच भेद हैं—१. एक पद से बहने योग्य शब्दों का अनेक पदों के द्वारा छंदन । २ अनेक पदों से बहने योग्य शब्दों का एक पद से छंदन । ३. एक वाक्य से बहने योग्य शब्दों का अनेक वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन । ४ अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य शब्दों का एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादन । ५. विशेषणों का सप्रयोजन होना-निरर्थक नहीं होता ।

श्लोक के अन्तर्गत भेदों के विषय में प्राचीन भाषाकारों को भी सम्मति है, उन्होंने लिखा है—

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारत्वभ्रमनिवारणाधमभिधत्ते—

प्रौढि प्रतिपादनवैचित्र्यम् ।

ओजस प्रथम प्रकार पदार्थ वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रभात वर्णवति—

‘सरसिजवनबन्धु—श्रीसमारम्भकाले,

रत्ननिरमणराज्ये नाशमागु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्राद्दुग्गताना नराणा

उपपादयति—

अत्रोपसोत्थेकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरण ।

अग्नेऽप्येवमूहितुमुपदिशति—

इत्याद्यग्नेऽपि बोध्यम् ।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारचतुष्टयवैधिका प्रौढिनं प्रकारान्तरमित्याशय ।

सरसिजवनबन्धु मूर्धस्य, श्रिय कान्ते समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रभात-समये, रत्ननिरमणराज्ये चन्द्रसुषमारम्भवे, आगु, नाश लोप प्रयाति तति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्रान्मुखाद्दुग्गतानामुत्पन्नाना नराणा ब्राह्मणाना, मधुरगिरा विनोद शौद्रमधुरश्रीतमन्त्रोच्चारणकौतुक प्रादुरासीदमवदित्यर्थ ।

अधोदाहरणे, उपसोत्थेकपदेन प्रतिपाद्यस्य प्रभातस्य बोधनाय सरसिजस्यादिरा-द्यचरण समस्तैकपदरूप उपात्त इत्यर्थ ।

अग्नेऽप्येवमुपपादनमूहनीयमित्यर्थ ।

एक पद के अर्थ में वक्त्र की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार का प्रौढि—अर्थात् वाचन करने की विचित्र निपुणता और विशेषणों का समबोधन होना—इस प्रकार से अर्थ के पाँच भेद होने हैं ।

प्राचीनों वा कारिका में ‘प्रौढि’ से ओज वा कोई खास छटा भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये ।

जैसे कि—ओज से प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य रचना) का उदाहरण—जिम समय कर्मल-वानन के बान्धव (अन्धकार हितैषी) भगवान् सुष का शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रह थे, और भिक्षु-नाथ चन्द्र का राज्य शोभता से नष्ट हो रहा था—मर्वाँव चन्द्र अन्ध हो रहें थे, उन समय पुरुष (जगदीश ब्रह्मा) के मुख से बल्लभ हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मनु के समाज मधुर बच्चों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ । यह प्रभात का वर्णन है, जिसका सारार्थ है कि प्रतफ़ल में ब्राह्मणों ने वेद-वाङ् करना प्रारम्भ किया ।

यहाँ ‘प्रातकाल में’ इस एक पद के अर्थ में पूर्वार्थ के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बलये गये हैं ।

और ‘ब्राह्मणों’ तथा ‘वेदों’ इन एक-एक पदों के अर्थ में आगे के द्वेद चरण की रचना की गई है, अतः यह ‘पद के अर्थ में पद की रचना’ का उदाहरण हुआ ।

द्वितीय प्रकारमुदाहरति—

‘खण्डितानेत्रकञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिता ।

मण्डिताविलदिकप्रान्ताश्चण्डाशोभन्ति भानव ॥’

उपपादयति—

अत्र ‘यस्या’ पराङ्गनागेहात् पति प्रातर्गृहेऽञ्जति’ इति वाक्यार्थं खण्डिता-
पदाभिधानम् ।

तृतीय प्रकारमुदाहरति—

‘अवाचितं सुखं दत्ते, माचितंश्च न यच्छति ।

सर्वंस्व चापि हरते, विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥’

उपपादयति—

अत्र देवाधीन सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-
वाच्यो विस्तरः ।

चतुर्थं प्रकारमुदाहरति—

‘तपस्यतो मुनेर्वंशत्राद् वेदायमधिगत्य स ।

वासुदेवनिविष्टात्मा, विवेश परम पदम् ॥’

खण्डिताया इतरखलनालयनीतरानिक-प्रातरूपतपतिप्रतिकूलाचरेणावगमोदित-
दुःखताविषयाया नभ्रकञ्जालिनंयननलिनथेग्गा, मञ्जुनि सुन्दरे रञ्जने शोणिससम्पा-
दने, पण्डिता निपुणा, मण्डिता प्रमया प्रकाशेन भूषिता अखिला दिक्प्रान्ता
आगान्ता यस्तादृशा, चण्डाशो सूर्यस्य, भानव किरणा, भान्ति शोभन्त इत्यर्थः ।

यस्या’ इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनादशौचो
द्वितीय प्रकार उच्यते ।

उच्छृङ्खल स्वतिभ्यादुन्मुक्तवन्धन नृणा विधिर्देवम्, अवाचितोऽप्रापित, सुख
दत्तं विनरति, माचितंश्च पुन सुखं न यच्छति न ददाति, अपि तु सर्वंस्व, पूर्वसञ्चित-
सखलघनमपि हरते नागयतीत्यर्थः ।

एवंवाक्यार्थस्य चतुर्निर्वाचैरनिघानादिह व्यासरूप ओजसन्तृतीय प्रकारः ।

तपस्यतस्तप मुनेः वंशत्राद् मुने, वक्रान्मुखात्, स, वेदाधर्मम्, अधिगत्य, शास्त्रा,

अत्र वाक्य में अर्थ में पद वा रचना का उदाहरण मुनिये—खण्डिता नायिकाओं के नेत्र-कमलों
की पंक्तियों को छुट्टकरना (रंगने में निपुण तथा दिग्भागों की भूषित करने वाली सूर्य की किरणों
शोभित ही रही है ।

यहाँ ‘जिनका पति दूसरी नायिका के घर से प्रातःकाल में अपने घर आकर’ इन वाक्यार्थ के स्थान
में केवल ‘मण्डिता’ पद का प्रयोग किया गया है ।

अब ‘एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का कथन’ का उदाहरण देगिये—जोई दीन व्यक्ति
कमने मान्य को छोड़ता है । कहना है—जोईदल देव (भाग्य) बिना मांगे मुग देत है और
मांगने पर नहीं देता, बरन् हमका सर्वस्व भी लूट लेता है ।

यहाँ ‘मर कुछ भाग्य के अज्ञान है’ इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य का कथन हुआ है,
अब यह विस्तर है, जिसको प्राचीन आचार्य ‘व्यास’ कहते हैं ।

‘अब अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना’ का उदाहरण देगिये—जोई किसी भक्त के

उपपादयति—

अत्र 'भुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रान् न वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वामुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाम्नायककलाप शतृ-वत्त्वा-बहुवीहिभिस्तिडन्तेन चानुवाद्यविधेयभावेनकवाक्यार्थोक्तम् ।

विशेषणस्य सामिप्रायत्व विवृणाति—

सामिप्रायत्व प्रकृताथपोपकता ।

पञ्चम प्रकारमुदाहरति—

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रायेमते—

'गणिकाऽजामिलमुस्थानवता भवता बताहमपि ।

सीदन् भवमरुगतं, करुणमूर्ते ! न सवयोपेक्ष्य ॥'

वामुदेवे भगवति परब्रह्मणि निविष्ट प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, तादृश परम पद मुक्तिपदयो विशेषेण्यय । 'आत्मा कलेषरे, यत्ने, स्वभावे परमात्मनि । चित्ते, धृती च, बुद्धी च परव्यावृत्ततन्पि च ॥' इति अरणिशोशादात्मपदमिह मनोवाचकमवययम् ।

वाच्यार्थकत्वाप उल्लिखितवाक्यचतुष्टयार्थसम्ह । तपस्यत इत्यत्र शतृप्रत्यय । अधिपत्येन्यत्र क्त्वाप्रत्यय । तृतीयचरणे बहुव्रीहि । विशेषेति च तिङन्तम् । अनुवाद्य-गुदेशरम । वाक्यचतुष्टयप्रतियोगाचार्यानामुद्देशविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्य-प्रतिपाद्यतासम्पादनात्, समाप्त ओजसञ्चयुषं प्रकारोऽत्र बोध्य ।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य पोषकचमुपस्कारत्वे विशेषणस्य सामिप्रायमित्यर्थं ।

हे करुणामूर्ते प्रत्यक्षकाम्प्यरूप भगवन् ! गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलामिना बेस्या, अजामिलमन्त्रज्ञामा काव्यदुःखदेशोद्भूतो दासीपतिद्विजस्ती मुखी येषा, तान् पणितान्, अवता नरकाद् रक्षता, भवता, भव समाप्त एव कलेत्तकरत्वान्मरगतो निर्जलदेशावटस्तत्र सीदन् यातनामनुभवन्, वत हन्त ! अहमपि सर्वथा नितरा न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थं । पिङ्गलाजामिनयो कथा श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा ।

विषय में कहा है कि—उमने तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद के अर्थ समझ कर वामुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया ।

यहाँ (१) मुनि तपस्या करते हैं । (२) उनके मुख से उमने वेद के अर्थ समझा । (३) हमने वामुदेव भगवान् में मन लगाया और (४) उनसे मोक्ष को प्राप्त किया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यन्), क्त्वा-प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समाप्त (वामुदेवनिविष्टरमा) के द्वारा अनुवाद्य रूप से और तिङन्त (किया विशेष) के द्वारा विशेष रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है ।

विशेषण की सामिप्रायता से यहाँ यह तात्पर्य है कि जो वान पक्ष रहा है, इनको पुष्ट करना अर्थात् उसमें सहायता पहुँचाना ।

जैसे कि—हे करुणमूर्ते ! गणिका (विद्वता नाम की एक बेस्या) और अजामिल (एक दानी-पति द्विज) अर्थात् (पाणिनों में) मुख्य अर्थों की रक्षा करने वाले आर संसार रूप नरस्यल (निर्जल) गर्ह में जो मैं सीदित हो रहा हूँ उसको वंश नहीं कौजियेगा । पर एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है ।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाभावे कर्मणामूर्तत्वं पोषकम् । पापिदुत्वात् करणाय अभावे,
प्रकृतेऽप्या मग्नादनाय गणितेत्यादि मीरक्षति च ।

नवमी कान्ति लक्षयति—

दीप्तमत्वं कान्तिः ।

दीप्तरमत्वं विवृणानि

तच्च स्फुटप्रतीयमानरमत्वं ।

उदाहरणादर्थान्मूनना परिहरति -

उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च ।

दशम समाधि लक्षयति

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छाया वेति कवेरालोचनं समाधिः ।

यद्यस्मोऽपि कर्मणामूर्तत्वं दमनीयं न कदाचिदुपेक्षते तदा साक्षात्कर्मणामूर्ति कथमुपे-
क्षितुमर्हतीति कर्मणामूर्तत्वं भगवतो विशेषणमनुपक्षया साधकम्, पापानिश्चयात्करणान्
स्वस्मिन् कर्मणामा अनु पतिसम्भवे पतितत्वादि भगवता दयायुताया वाचकत्वाद्
गणिकेत्यादिविशेषण कर्मणात्यादन साधकम् दु खिनोऽनुपेक्षणीयत्वात् मीरक्षति
निजविशेषण स्थानुपक्षया माधकमिहास्मीति विशेषणमाश्लिष्यायत् ।

दीप्त स्फुटप्रतीयमानतयोऽव्यवत्वात् एता यथ, तत्त्वं कान्तिरित्यर्थः ।

रसप्रतीती स्फुटताऽऽविनम्बतीत्यसि ।

प्राग् रसनिष्पन्नं नयिता इत्यादिना वर्णितम्, अग्रे वर्णयिष्यते चालङ्कारप्रग-
ङ्गेन तदुदाहरणमितीह नाप्यव्यवत्तमित्याशयः ।

अयं बन्धमानाऽऽव कनापि पूर्व न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वाऽर्थातिरिक्तमव प्रसिद्धं,
अथवा पूर्व कनापि वर्णितस्यैवावस्थे छाया (सादृश्यं) यस्मिन्सादृशोऽप्यच्छायाऽनिरि-
तिप्रसिद्धोऽस्तीति कवे कविदृष्टं यदालोचनं विभावनं, तत् समाधिः । तथावर्णितपूर्व-
त्वाल्लोचनं प्रथमं, पूर्ववर्णितच्छायात्वाल्लोचनन्तु द्वितीयं प्रकारं समाप्रेरिति सारम् ।

— दश 'उपेक्षा न माविद्या' इत्यं अर्थं का पुत्र करने के लिए भगवत् न म 'कर्मणामूर्ते' विशेषण
लगाया गया है, जिनमें यह मिट्ट होता है कि वह साधारण वाग्विद मी किसी दोन का उपेक्षा नहीं
करता, नर अप कर्मणामूर्ते उ का भेगी उपेक्षा नैम करेगी—नहीं कर सकते । पर यदि महान् पापों
समस्त कर कर्मा न करे, तं यह भा अंतर स्वभाव के अनुपल नष्ट है, इसा वाग को प्रमाणित
करने के लिए गणिका आदि का दृष्टान्त दिया गया है और अपना विशेषण 'मीरक्षति' होता हुआ लिखा
है । इस तरह महा एक भा पर निर-लोजन महा है, सब प्र कुल न कुल अभिप्राय है ।

अत्र 'कान्ति गुण' का लक्षण शिष्ये—शब्द-रसायन का 'कान्ति' करण है ।

मदन्त्या रस क प्रतीत होने की दीक्षमत्त्व कहन है । शब्द व्यत्यन्त होना ही रस-प्रतीति की
सूचना यहाँ विशिष्ट है, यह भा समझना चाहिये ।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'श' देना मरिच' इत्यादि पद के द्वारा दिखलाया जा चुका है और
भाग को दिखलाया जाया, अत यहाँ नहीं दिखलाया गया ।

अत्र 'मनाविद्या' का लक्षण शिष्ये—कवि जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है, तब वह

आलोचनस्य ज्ञानविशेषरूपतयाऽऽत्मगुणत्वेनाद्यं गुणत्वसम्पादनायाह—
ज्ञानस्य विषयवामन्वयेनार्थनिस्तृत्वादर्थगुणता ।

तयो प्रथम प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा— तनयमनाकगवेपण—' इत्यादी ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्यं दमयन् वामनमनमुपमहरति—

द्वितीयस्तु प्रायश सर्वत्रव' इत्याहु- ।

अथ परममखण्डितमभ्युपगतं भवतीति प्राचीनतरमन निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैतिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावालङ्कार-
श्च गतार्थवन्तः, काश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया क्वचिद् दोषतया च मन्यमाना न
तावत् स्वीकृतवन्ति ।

ज्ञान समवायेनात्मनि विषयतया तु सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेष-
रूपालोचनस्याद्यं गुणत्वमुपपद्यते इत्याशयः ।

नाभ्यन्तरीयप्रकारनिष्पत्तेः प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम् । इह भगवत्या भागीरथ्या
हिमाचलमुजापमानात्कृत्वा वनेनापि उ वशितमिति सद्योमुण्डितमत्तद्वृणुदुर्विदुःकप्रत्यधि-
नारङ्गजम्' इत्यादीनिव चरित्वा केवल प्रतिभयेव कश्चिन्नम ।

प्रायशा बाहुल्येन कविरनुहरति 'च्छायाम्' इत्युक्ते । केवल सर्वत्रवेत्युक्ती तु
प्रथमप्रकारविनापप्रसङ्गः । उदाहरणान्वेषण तु नायिकानयनततिनया साक्ष्यस्य
कवित्तमयप्रसिद्धत्वं, निजनयनप्रतिबिम्बैरभ्युजि बहूना प्रनारिना काशपि । नीलोत्प-
लैरपि विमृशान्, करमपंथितु कुसुमनादी ॥' इत्येव ज्ञेयम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन
'जरतरास्तु इयनेनान्वयः ।

संज्ञा इ कि इमं वस्तु का वान पर- किमा ने नहा किया ह ? अथवा किमा के द्वारा पूर्व-वर्णित
वस्तु का दह (भेद) कर्त्तव्य वस्तु) छ'य मात्र है ? इन तरह का कवि को व्यञ्जना का 'समाधि
गुण' कहते हैं । तात्पर्य यह निकला कि समाधि के दो भेद हैं, एक 'यह अर्थ पूर्व-वर्णित नहीं है' इन
तरह का आलोचन और दूसरा 'यह पूर्व वर्णित का छ'य ह' इस प्रकार का आलोचन ।

अथ 'आलोचन ज्ञान-विशय-रूप ह, अथ यह आत्मा न रहेगा—अर्थ में नहीं, फिर वह अर्थ-
गुण कैसा होगा ?' इस शङ्का का समाधान करने ह—'ज्ञानस्य' इत्यादि । सम्बन्धन का आशय यह
है कि शास्त्रात्मक आलोचन यद्यपि समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहेगा, तथापि विषयनाम्बन्ध से ज्ञान
के विषय रूप में भा रहता हा है, अथ उसे अर्थ-गुण मानने में कोई आशय नहीं आती ।

अथ समाधि गुण के प्रथम भेद का उदाहरण दत्त ह—जैसे कि 'तनयमनाक ' इत्यादि
पद्य में । इस पद्य का पूर्वरूप काव्य के वृत्ताय भेद के उदाहरण के रूप में हिमालय दिखलाया जा
सुका है, इसकी व्याख्या भा बदा की जा चुकी है । इस पद्य में हिमालय की उजा के रूप में गङ्गा
की उपस्था को गई है, जो सर्वथा नवीन कल्पना है, पहले किसी ने इस तरह की कल्पना नहीं की,
अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ ।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्यच्छवायोनि अर्थ का उदाहरण तो प्रायः सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात्
अधिकतर बर्तते इसा तरह का होता है, जिससे पूर्व-वर्णित को छ'या रहती है । दर है कवि प्राचीन
भूचार्य वामन आदि का निश्चयन ।

तत्र प्रथम कचिदतन्वत्स्यु वापत्यागत पर धिता । अन्ये मञ्जलि दोगव
कुञ्चिन्न ततो दम ॥ इति समामेन शब्दगुणाना दशत्वध्वन्यनुपादयति—

तथाहि—श्लेषादारता-प्रसाद-समाधीनामाजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भाव ।

तत्रासङ्गस्य समादधानि—

न च श्लेषोदारतया सधाशि गाडवन्धात्मनोरोजाव्यञ्जकघटनाञ्जतर्भावो-
ऽन्तु, प्रसादसमाध्यान्तु गाडशियिलात्मनोरशेनोजाव्यञ्जकान्तर्भावोऽप्यशान्तरेण
कुञ्चान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति नुव-
चत्वात् ।

अपर वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादयस्तु । त्रिभिन्माधुर्यैश्च प्रसादं । वक्ष्यमाणा
य दोषानावा अलङ्काराश्च तं । सनाथयन्ना निष्प्रयाजनीकुञ्चत । तावतो दरशब्द-
गुणान् दनाधुगुणाश्च न स्वाकुञ्चति । इतरदनुपद स्पटीनविष्यति ।

वामनाका इतपादारताप्रसादसमाधयो न शब्दगुणा मम्मटोस्तीजागुणव्यञ्जक-
वरचनारूपत्वादित्याभूतम् ।

वामनातया इतपादारतया सवस्तिमन्तन गाडवन्धस्वरूपत्वात् आताम्यञ्जक-
चनायामन्तभावस्य मम्मदवर्षि प्रसादसमाधयो किञ्चिदशावच्छेदन गाडवन्धस्वरूपत्वात्
विश्विदशावच्छेदन च शिथिलबन्धस्वरूपत्वाद्यौजाव्यञ्जकवरचनाया गाडमात्रवन्धस्वरू-
पायामन्तभावस्यामम्मद इति न वाच्यम् तथा शिथिलबन्धात्स्य माधुर्यव्यञ्जक-
चनाया प्रसादव्यञ्जकवरचनाया वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशयः ।

अत्र गुण ० शिथिल म सामान्य आदि स नवीन मम्मट आदि शब्दों के मूल वा उच्छेद करने हैं—
‘अपरे तु’ इत्यादि सामान्य आदि विशद्वृत्तौ ० गुण नहीं मानने हैं, क्योंकि न इन २० गुणों में से
कुछ को पूर्वोक्त स्वामन्त माधुर्य, अन्त और प्रसाद इन तीन गुणों में गणना कर देना है, कुछ को
व्यञ्जक होने के कारणों के अन्तर्भव मान लेना है और कुछ को अलङ्कारमय कहना उचित
है इसी तरह कुछ को विशिष्टता मान लेने हैं तथा कुछ को गुण को अलङ्कार ही कहना उचित
है । इस प्रकार वे सब ३ गुण मानते हैं, ० नहीं ।

अच्छेद अब ० गुण नहीं मानने का युक्तिओं का सुनिवेश । वे कहते हैं—पूर्वोक्त दम शब्द-गुणों
में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का अन्तगुण का अभिव्यक्त बनने वाली
रचना में अन्तर्भाव ही जाता है

यहां यदि आप सच्चा करें कि—श्लेष और उदारता सब अन्तों में गाड रचनात्मक है । अन्त
अथ अन्तभाव अन्त को अभिव्यक्त करने वाली रचना में मान ही हो सके, परन्तु प्रसाद और
समाधि का गाड और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होता है, अतः वह (गाड)
अथ अन्तभाव रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (शिथिल) अथ का अन्तर्भाव किन्तु
होगा । तो हमारे उतर में मूल से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अथ प्रसाद का अन्तर्भाव रचना
में । अर्थात् शिथिल अथ भावों माधुर्य गुणव्यञ्जक रचना में और कहा प्रसाद गुणव्यञ्जक रचना में
समाधि हो जाना, न कि वे चार अन्तगुणों का ही संघटन ।

माधुर्यं गुण निराकरोति —

माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यं व्यञ्जकमेव ।

पर्यवसितमाह—

एव च सर्वत्र व्यञ्जके व्यञ्ज्यश्चशब्दप्रयोगो भाक्त ।

ममताया गुणत्व निरस्वति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपाद्योद्भटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये माग
भेदस्यैष्टत्वात् ।

तदुदाहरण दर्शयति—

यथा—

सुकवित्त्वामिमानाध्मातद्ददम कश्चित् वर विपश्चित् ब्रूते—

'निर्माणे यदि मामिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-

मृद्रीकामधुमाधुरी-मदपरीहारेद्दधुराणा गिराम् ।

काव्य तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्व मम्मूखे मादृशा,

नो चेद् दुःकृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्गहिर्मा कृथा ॥'

मम्मटाद्युक्त-रसनिष्ठ व्यञ्ज्यमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनैव वामनादिसम्मत माधुर्य
गुण इति तस्यापि गुणत्व निरस्तमिति भाव ।

एवमुक्तरीत्या, सर्वत्र प्राकृतिपादितवामनोक्तश्लेषादिगुणपदुष्टये, व्यञ्जके तदाद्-
गुणव्यञ्जकरचनाविशेषे व्यञ्ज्यश्लेषादिगुणवाचकस्य श्लेषादिशब्दस्य प्रयोगो भाक्तो
लाक्षणिको ज्ञेय इति सारम् ।

सर्वत्रेति समताव्यपि । उद्भटत्वमुद्धतरवम् ।

यत क्वचिदेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्राज्ञे वाच्यमुद्धतम् तत्रोद्धता रचनेष्टा, यत्र त्वज्ञे
वाच्यमुद्धतम्, तत्र कोमलैव रचनष्टा, तस्मान् तद्वेषु पद्येषु सर्वांशे रचनाया एकनिध-
त्वमनौचित्याद्दोष इति भागभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्राय ।

हे सखे ! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपक्वतया, द्रवन्त्या सरसीमवन्त्या,
मृद्रीकाया द्राक्षाया, मधुनो मधुररसस्य माधुर्या मिष्टताया, मदस्याभिमानस्य, परी-
हारे निराकरणे, उद्दधुराणामुद्युक्ताना वाक्ताना वा, गिरा काव्यवाचा, निर्माणे रचने,
मामिको ममज्ञ (कुषल) अस्ति, तर्हि मादृशा मन्नुन्यानामनुष्कृष्टकाव्यरचनाकुश-

प्राचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मट के) माधुर्य को अभिव्यक्ति करने वाली रचना है ।
इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मन में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यञ्ज्य
(माधुर्य आदि) का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है । अब एव आज गुण का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्त-
र्भाव समाप्त केना चाहिये ।

अब समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि वक्तव्य
अर्थ के उद्गत होने से उद्गत और सतते अनुद्गत होने से अनुद्गत रचना का एक ही दशोक में होना
है ।

जैसे—हैं सखे ! यदि तुम अत्यन्त पक्व होने के कारण चुने हुए दाढ़ के मधुर रस की मधुरता
के मद को हटा देने में सपर्य वचनों की रचना में कुदृष्ट हो, तब अपने कान्य को मेरे जैसे लोगों
के सामने सुवपूँक करो । परन्तु यदि रेभा (मृद्रीका-मधुर-नागो-निगुण) न २ ३ तो निष्ठ

प्रसादेऽन्तर्भावार्थव्यक्ति निराकरोति—

प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति ।

व्यार्थगुणानामपि दधाना निरखनमारप्रते—

अर्थगुणेष्वपि— श्लेषः, ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च, र्वचिन्ममात्ररूपा न गुणात्तर्भावमर्हन्ति ।

वैचिन्ममात्रस्य गुणात्वाङ्गीकारे दोषमाह—

अभ्यया प्रतिश्लोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः ।

प्रसादेन गुणेन स्पष्टप्रतीतिजनकत्वरूपाया अर्थव्यक्तौश्च गुतार्थनेति शेष । इयं च वामनेन 'पदव्यासत्य गादत्व पदत्वयोज कवीश्वरा । श्लपत्वमोजमा मिश्र प्रसाध च प्रचराते ॥ यत्रैकपदवद्भाव' पदानां भूयसामपि । अनालक्षितसन्धीना स श्लेष परमो गुण ॥

प्रतिपाद प्रतिश्लोकभेकमार्यपरिग्रह । दुर्बन्धो दुर्विभावश्च ममतेति गुणो मत ॥ सारोहृत्पद्यतोहन्ति क्रमेण यतमो हि यन् । समाधिनां स गुणस्तेन पूजया सरस्वती ॥ इत्ये पृथक्पदत्व च माधुर्यं कथितं दुर्गं । बन्धन्याजरठत्व च योक्तुमार्यंमदाहृतम् ॥ विरुद्धत्वं च बन्धस्य कथयन्ति छन्दारताम् । पञ्चादवगतित्वं च पुरस्तादिव वस्तुतः ॥ यनार्यव्यक्तिहेतुरावात्, सोऽर्थव्यक्ति स्मृती गुण । औजस्वत्वा कान्तिरिस्वाहुर्गुण गुण-विधारदाः ॥'

इति प्रतिपादप्रतानां दधानामपि शब्दगुणानामन्तर्भावार्थव्यक्तिनिराकरण समाप्त-मिति सूचयतीतिविशद ।

वामनोक्तस्य श्लेषमौजससामान्तरप्रकारचतुष्टयस्य च क्षोद्विष्टचमन्तुविजनकरत्वेन हृत्पादिविचित्रवृत्तिरूपत्वासम्भवाच्च गुणत्वमिति तात्पर्यम् ।

यदौदारायवैचिन्मस्यापि गुणत्वमभ्युपगम्येत तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु यत्किञ्चदर्थवैचि-
न्मस्य दत्त्वात् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारबाहुल्यमापद्येतेत्यभिसन्धिः ।

प्राचीनो नै सुदुर्भारता का लक्षणा 'अपरव्यव्यक्तित्व' म्हा है, अत्र देखिये—कि सुकुमारता, कल्प के अन्वयका मित्र होया है या नहीं ? करना पड़ेगा कि अर्थव्य, फिर जो भागेश ने अन्वये मन से लक्षणों की रूपना करके मूल की अन्वयति दितल्यार्थ है, वह किनी तरह मूल अन्वय करने का उगणन करने का हुआह भाग है ।

अब देखें 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अवधिात रह जाता है, परन्तु प्रमाद गुण के मान लेने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही पर भी गतार्थ हो जाना है । इस प्रकार कति प्राचीन व्याचारों का अभिमत, गुणों की विधानि संख्या अत्यन्त है, यह बान सिद्ध हो गई ।

अब वामन भादि अति प्राचीन व्याचारों से स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का उगणन आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणेष्वपि' इत्यादि । अर्थ-गुणों में भी श्लेष और ओज-गुण के परले चार भेद ती विचित्रता मात्र हैं, अतः उन्हें गुणों के अन्वयन मात्रमा समुचित नहीं है ।

अन्वया (विचित्रतामात्र को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता जरूर रहनी है, वे सब विचित्रताओं गुण कहलाने लगेंगी, जिनकी गणना भी अत्यन्त ही बढ़ेगी ।

ओज पञ्चमप्रकारसहित वामनोक्तार्थगणसप्तक दोषाभावहृत्पदावर्तनेन निरस्यति—
अनधिकपदत्वात्मा प्रसाद', उक्तवैविध्यवपुर्माधुर्यम्, अपास्व्यशरीरं
सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपोदारता, वैपम्याभावलक्षणा समता, सामिप्रायत्वा-
त्मकः पञ्चम ओजस' प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वास्मिन्काव्यव्यक्तिः, स्फुटरमत्वहृत्पा-
कान्तिश्च, अचिकपदत्वा—नवीकृतत्वा—मङ्गलरूपारलील—ग्राम्य—भग्नप्रक्रम-
गुणार्थरूपाणा दोषाणा निराकरणेन, स्वभावोक्तत्वलङ्कारस्य, रसध्वनि—रसवद-
लङ्कारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि ।

समाधि निराकरोति—

समाधिस्तु कविगत काव्यस्य कारणं न गुणः ।

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधे कुतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः ।

यद्यमाधमन्वयः ।

अधिकपदत्वरूपदोषाभावहृत्पदात् प्रसाद अनवीकृतत्वदोषाभावहृत्पदात्माधुर्यम्,
अमङ्गलरूपशरीरत्वदोषाभावहृत्पदात् सुकुमारता, ग्राम्यत्वदोषाभावहृत्पदात्पुदारता,
भग्नप्रक्रमत्वदोषाभावहृत्पदात् समता, अपुणार्थत्वदोषाभावरूपतया सामिप्रायविशेषण-
त्वात्मकस्य ओजस पञ्चमप्रकार स्वभावोक्तत्वलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्ति, रमप्राधम्ये
रसध्वनिरूपतया रसाप्राधान्ये तु रसवदलङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणत्वेन गणमा-
महतीति सारम् ।

आलोचनत्वमज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्ति कविनिष्ठ समाधिस्तु न गुणः,
किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः ।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुणः स्यात्, तर्हि प्रागुक्ता प्रतिभाऽपि काव्यस्य
कारणत्वाद् गुणः स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यमित्यन्वि ।

दश अर्थगुण मानने वाले वामन आदि ने मन के अनुसार पद का अधिक न होना प्रसाद है,
अधिकी विचित्रता माधुर्य है, कठोरता का न होना सुकुमारता है, ग्राम्यता का न होना पुदारता
है और विपमता का न होना समता है, एवं परों का सामिप्राय होना ओज-गुण का शक्ति भेद
है । ये सब क्रमशः अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलत्व, अष्टीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता
और अपुणार्थता रूप दोषों के निवारण देने में गताय हो जाते हैं । अतः ये दोषों के अभावमात्र
है, गुण नहीं । इत्यादि तरह विमो वस्तु के स्वभाव का अस्पष्ट वर्ण करना जो अर्थ-शक्ति गुण है, वह
रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्वेषण रसवत् अलङ्कार में गतार्थ है ।

अब बचा केशल समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि तु काव्य का वा कारण है, क्योंकि उक्तका
स्वरूप अलोचन प्रक माना गया है और आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है, अतः वह कवि की
आत्मा में रहेगा, रस किता अर्थ में नहीं फिर उसे अर्थगुण कैसे कहा जा सकता ? यदि हमें विचित्रता
मङ्गल्य में अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय तब तो—

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि अलोचन और प्रीति दोनों ही एक प्रकार के
ज्ञान हैं और ज्ञान में रहते हैं तब विचित्रता मन्वय से अर्थ में भी एक गुण है है, फिर यदि प्रतिभा
काव्य का गुण माना जाय है, तब अलोचन को ही गुण क्यों मानें ?

तत्रापि विशेषमभिधत्ते—

नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः ।

अत्रैव परकीय मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्थाना पञ्चानामविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः ।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदाहरति—

उदाहरणम्—

मगवद्भूक्त स्वाम्त बोधयति—

‘तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीं, किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विपम् ।

स्वान्त ! मे कलय शान्तये चिर, नैचिकीनयवचुम्बिता श्रियम् ॥’

पुनश्चदाहरति—

यथा वा—

स्वेदाम्बुसान्द्रवणशालिकपोलपालि-

र-त स्मितालसविलोकनवन्दनीया ।

यदि तदायत्तन्तदधीनोऽनुप्रासो भवति तर्हि नैकट्येन सामीप्येन सन्निवेशितान्ते द्वितीयादिवर्णां माधुर्यं प्रतिकूला अपि न तूदासीना भवन्तीत्यर्थः ।

एवर्णातिरिक्तवर्गपठकानां पञ्चानामपि (न तु द्वितीयचतुर्भिन्नानां) वर्णानाम् अविशेषेण मुमुक्षयता नैवद्यानिवेशादिविचाररहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामप्ये वदन्तीत्यर्थः ।

वर्गद्वितीयचतुर्भेदवर्णानां नैकट्येन प्रयुक्तानामोऽनुप्रासव्यञ्जकत्वस्यानुपद कक्षमाश-
स्वात्तत्र विचाररमणीयमिति बोध्यम् ।

हे स्वान्त मानस ! तमालतरुस्तापिच्छद्रुमस्य, कान्ते श्यामपुत्रे, सङ्घिनीमति-
शायिनीं किङ्करीकृता विजितत्वादासीकृता नवाम्बुदस्य नवीनमेघस्य त्विच्छद्वियंया
तादुसीम्, नैचिकीना धेनुता नयनैश्चुम्बिता प्रेम्णा विलोकिता, श्रिय श्रोहृत्पणसोभा,
मे मम शान्तयेऽन्तस्मुखाय, चिर चिन्तय मावयेत्यर्थः ।

इह स्वाम्नेत्यस्यामन्त्रितमञ्जोत्तरम्—‘आमन्त्रितमविद्यमानवन्’ इत्यनेनाविद्यमान-
नवद्भावे पदारूपरत्वाभावात्ममेत्यस्य म आदेशाभिन्तनीय ।

यदि समीप-समीप में उनका प्रयोग हुआ हो और उनसे अनुप्रास भी बन जाये हों, तब प्रति-
बुद्ध भी हो जाते हैं ।

एवर्ग में भिन्न वर्णों के वर्णों अक्षर समान रूप में माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ
पिदानों का मत है ।

अब माधुर्यव्यञ्जक रचना का उदाहरण देरिये—कोई भक्त अपने भक्त-काण से बचना है—हे
मेरे मन ! तू, शक्ति के लिये निरखल तक बम थी-शोभा की भावना का, जो तमाल तरु की
कान्ति (स्वामपुत्रि) को छीप गई है—अर्थात् हमने भी अधिक स्वामलता-मनोहर है, और जिनके
नवीन अक्षर का प्रति को दाम बना दिया है—सर्वात् हमने परमिण का दिया है—अपने सामने
गुच्छ बना डाला है, एवं भी गायों के नेत्रों से चुम्बित (इच्छक देरी गई) है । माराग है कि
नरामुद-स्वामन्त भावन् शोभा की शोभा का स्वरूप मरा करण रहे ।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन कार्ष्णि,
रम्यां दशा मनसि मे मदिरेक्षणाया ॥'

पद्यद्वयोदाहरणतामुपपादयति—

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्विधानोत्सुक्यस्य भगवद्विषयक-
रत्नेर्वा ध्वन्यमानाया शान्त एव पर्यवसानात् तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका रच-
नेयम् । द्वितीये तु स्मृत्युपपद्यशृङ्गाररसस्य ।

ओजोव्यञ्जकरचना निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्ग-जिह्वामूलीयोपाध्मानीय-विसर्ग-
सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो ऋपूरेफान्यतरघटितसयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तरा-
लिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः ।

यद्यपि यप्रसङ्गनिर्देश प्राग्बिभ्रुतमेवेनीह केवल टवर्गपरिहाणाय परिवर्तितपद-
मात्र व्याख्यायते—अन्त स्मिनेनाभ्यन्तरस्थतयाऽव्यक्तहासेन, अलक्षविलोकनेन मयध-
मादिप्रयुक्तानभ्ययुक्तनिरीक्षणेन, यद्वाऽन्त स्मित यत्र, तादृशेनालसविलोकनेन, वन्द-
नीयेत्यर्थः ।

प्रथमे 'ताम्' इत्यादिपद्ये गोविन्द्रश्रियस्तमास्तकान्तिलहून-नवाम्बुदन्विद्वा-
सीकरणसम्पन्नकल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्विधानोत्सुक्यरूपव्यभिचारि-
भावस्य, विनिगमनात्रिरहाद् भगवद्विषयकरतिभावस्य वा व्यज्यमानस्य प्रधानध्व-
ञ्जघ-शान्तरसोपस्कारकतया शान्तरसवृत्तिमाधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति ।
द्वितीये 'स्वेदाम्बु-' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानेन मदिरेक्षणादशास्मृतिरूपव्यभिचारिभा-
वेन पोषित शृङ्गाररसे वर्तमानस्य माधुर्यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः ।

इह 'रत्नेर्वा' इत्यत्र रतिभावस्य वा' इति मुपठम् ।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयवर्णै, टवर्गण, जिह्वामूलीयेनोपध्मानीयेन,
विसर्गण, सकारेण च बहुलैर्मिच्छै, सामीप्येन प्रयुक्त्वैर्वर्णै, घटित, पञ्चमवर्णान्तिरि-
क्तवर्गपञ्चवर्णपरिगणेन इत्यप्रत्याहारेण रेफण वा घटितो य सयोग, स परो येभ्य-

अथा, जने—जिनका कोठ-पलक सपने धर्म-जल-विन्दुओं से शोभित है और जो जानर
(अणकट) मन्द शाम एवं अलसाई हुई चित्रनों से प्रशंसा करने योग्य है, हम मद्रमय मयन वाली
नादिका का रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करन ही मेरे मन में आनन्द को
पनसा देता है ।

यथा प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सन्बन्ध, तमाञ्ज-तर कान्ति-रूपन से और नव जलद-
वान्ति-शामाङ्गण से दिखलाया गया है, अत अतिशयोक्ति अलकार है, जिनमे वह भगवान् के ध्यान
की उत्कृष्टता (व्यभिचारीभाव) अथवा भगवान् के विषय में मेम (स्वाधीभाव) अलङ्कन होता है, जो
अप्यत्र ह, परन्तु वे दोनों भाव कहा अपनी स्वनभ्र स ता नहीं रखते, वरुन धरम व्यक्त्वा ज्ञान रम
के पोषक है, उन यथा की रचना शान्तरम-गत माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है । द्वितीय श्लोक
में नादिका की दशा के स्मरण (व्यभिचारीभाव) से पुष्ट होकर अनिर्वच्य होने वाले शृङ्गार-रस के
माधुर्य की रचना ध्वनित करता है ।

अब ओजो व्यञ्जन रचना का निरूपण करते हैं—'नैकट्येन' इत्यादि । वह गुण-रचना-
विशेष) ओज गुण का व्यञ्जक होता है, जो मभीप-मभीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्णों के द्वितीय

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिता प्रथम-तृतीयवर्ग्यां गुणम्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूला.
स योगघटकाश्चेत् । तद्वटकास्त्वनुकूला एव । एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि ।

उदाहरति—

यथा—‘अथ पततु निर्दय दलिनः’ इत्यादी प्रागुदाहृते ।

प्रसादव्यञ्जकरचना निरूपयति—

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलवदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रगारस्य ।

अत्र विशेषमाह—

अथ च सर्वेषां मारणो गुणः ।

स्तादृशीहंस्ववर्णैश्च नैकटयेन प्रनुक्त्वाप्युक्तं, दीर्घतमासहस्रञ्च गुम्फो रचनाविशेष
ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः ।

अस्मिन् गुम्फे, पतिता गुम्फरत्ना प्रथमे काद्या, तृतीया पाद्याश्च ये वर्गा वर्गं
चतुष्टयघटका वर्णा भे माधुपञ्चकत्वादस्यौजोगुणस्य अनुकूला न भवन्ति, यदि
सयोगस्याघटकास्य प्रतिकूला अपि न किन्तुदासीना भवन्ति । त एव पुनस्सयोग-
घटका ओजसा व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति । इत्यमनुस्वार-परसवर्णा अपि
सयोगघटका उदासीना सयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः ।

‘न बोद्धवित्तं—इत्यादिनाऽऽरम्भोक्त्य पद्यस्य । गुम्फोऽथ स्य-सयोगादिपठित-
त्वादोजसो व्यञ्जक इति टवर्गशून्य ।

या घटना वगविशेषनिवमरहिता ध्वनेनेव सद्य करतलस्थित वदरमिव सर्वा-
शैवाक्यायं निवेदयन्ती वाक्यार्थबोधिता भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकाऽस्तीत्यर्थः ।

और चतुर्षु अर्थान् ए-व आदि वर्गों वर्गों के वर्गों अक्षरों और जिनमें निष्काम्प्रीय, उपपत्तीय,
विमर्ष तथा मरण ये अक्षर अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्गों के आदि पार-पार अक्षर-
रूप रूप प्रत्याहार अक्षरों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हों ऐसे गमाप-समोष में प्रयुक्त
एक स्वरों में युक्त, एवं बड़े-बड़े समान वाला होता है ।

इस ओजोगुण व्यक्त रचना-विशेष के मध्य में आगत वर्गों के प्रथम और तृतीय-अर्थों क-न
आदि वर्गों यदि संयुक्त न हों, तब ओजोगुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, और यदि संयुक्त
हो तब तो अनुकूल ही हो जाते हैं । इसी तरह अनुस्वार और परस्वराओं से भी समझना चाहिये
अर्थों व भी अर्थों के अनुकूल, प्रतिकूल कुछ नहीं होते ।

अने—अर्थ पद्य निर्णय इत्यादि श्लोक में । इस पद्य का आरम्भ ‘निशेचछलितः’
इत्यादि वाक्यों से है, और पद्य रीढ़-रस आदि के उदाहरणों में टिप्पणी जा चुके हैं । यद्यपि इस पद्य
में वर्गों के वर्ग नहीं आते, तथापि स्य प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने से कारण वह पद्य
ओजोगुण-व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है । (हिन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की
अभिन्विष्टिका है)

अत्र प्रसादगुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं ‘श्रुतमात्रा’ इत्यादि । जिनके सुनते ही
वाक्य का अर्थ हाथ के बरत ही तरह दोसने लगे—जमके समझने में कुछ भी अथास नहीं करना पड़े-
वही रचना प्रसादगुण-व्यञ्जिका कहलती है ।

अत्रोजोव्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाद्यङ्गुप निरस्यति—

नन्वत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलास्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गे यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नायिवामानो-पशान्तये कृतान्तिकयत्नायास्तदीय हितमुपदिशन्त्या, सग्या सक्रोधत्वस्य व्यञ्जनीयतया तयाविन्यासम्य साध्वत्यात् ।

उत्तररस समर्थयति—

किं बहुना—रसस्योजस्विनोऽम्यदिर्भावस्य चाविवक्षाग्रामपि, वक्तरि क्रुद्ध-तया प्रसिद्धे वाच्ये वा क्रूरतरे, आग्यायिकादौ प्रवन्धे वा परपवर्णवदनेऽप्यते ।

सख्य इत्यादायके बीजोव्यञ्जकरनाया दसनादसतो माधुर्यांजाव्यसकव्यसपि, सर्वरसैर्ज्ञ-दित्यर्थं—समर्थनात् सवातो प्रसादाभिव्यञ्जकरवभेवेति मारम् ।

शृङ्गार आश्रयो यत्येति विग्रह । तदनुकूला माधुर्यव्यञ्जिता । न प्रसङ्गो वीरादिरसाप्रतीते । तथा विन्यासस्य—ओजोव्यञ्जकरवर्णरचनाया । माधुर्यात् साध्वत्वात् ।

इह वीरादिरभाव्यञ्जनादोजोव्यञ्जनादोजोव्यञ्जकरचनाया निगन्धेकत्व न शङ्कनीयम्, व्यञ्जपसधीशोघोपहितरीदरमप्रतीत्या तद्दृष्ट्यात्रागुणव्यञ्जकरचनाया गाधकव्यम्य स्पृष्ट सत्त्वादिति मारम् ।

यतो ह्योजोव्यञ्जकरचनाया रौद्रादिरसामर्षादिभावव्यञ्जनम्यत एव नैव नियतत्वम्, अत्रो यत्र रौद्रादिरसस्य, अमर्षादिभावस्य च न निरक्षया, तत्रानि काचित्प्रवेत प्रख्याते वक्तरि, अनिकर्षणे (दारणतरे वा) वाच्य, 'ममामाचिताहयायिकादौ प्रवन्धे च 'वसतुवाच्य-प्रवन्धानामोचितेन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्णनाम-न्यायात्ममपोष्यते । इति सम्मटाक्तवंकृ-वाच्य-प्रवन्धानुरोधनांजाव्यञ्जकरचना दृश्यते, तस्मादुत्तररस एव सम्मगित्वाकृतम् ।

के अर्थे को समझने में कई गठितना नहीं होती । हों ' इय इत्येक वा कई-बोई जस रमा नी है, जे माधुप और ओज को भी अभिव्यक्त करणा है, जैसे- 'धिन-ज्ञानि-मानसो अन्मिज्ञ' और 'मा बुक मानमानमिदम्' वे दोनों अर्थ माधुर्य को अभिव्यक्त करण है, तथा 'मत्य' 'विहीन प्रम' इत्यादि भाग आज को धरित करणा है ।

यदि वहा वहा शङ्का को ज्ञय कि वहाँ शङ्कार-रस को स्थानना है, अत उत रस में रसने कल्पे माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना किया है, परन्तु ओज या त वहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) वीर रस वा गुण है और वहा रस है शृङ्गार, फिर ओजगुण के अनुकूल रचना कौी को कई ' इत्येक समाधान यह है कि मरिचो न मरिचि व मन व शान्त करने के लिये अनेक प्रदत्त किये पर नादिका ने अपने हृदय वहाँ शङ्का, अब नी हमर दिन का ही कदेश सधिया कर रही थी, किन्तु नायिका उमका प्रहण नहीं कर रहा थी, हम विधि में मरिचो का प्रयोग ही घटना स्वभाविक है, उमो को धरुल्ला को अभिव्यक्त करने के लिये अनेगुण के अनुकूल वर्णविन्यास भी अर्थ विशेष में दिया गया है वर सफल है ।

अधिक कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं, अहाँ ओजर्षा रस (वर अदि) और अमर्ष प्रकृति भाव (जो ओज गुण के भाव के रूप में प्रकृत है) नहीं भी वर्णनीय हों, वहाँ मा यदि वर

पूर्वोदाहरणे माधुर्यमाङ्गनादमङ्गीगमुदाहरणमाह—

यथा वा—

भक्तो भगवन् मापते—

‘वाचा निर्मलया मुधामधुरया या नाथ । शिक्षामदा-

स्तां स्वप्नेऽपि न मस्पृशाम्यहमहम्भावावृतो निसप ॥

इत्यागशतशालिन पुनरपि स्वीयेषु मा विभ्रत-

स्त्वत्तो नाग्नि दयानिधिर्यदुपते । भक्तो न मत्त पर ॥’

उपपादयति—

अन गुणान्तरासमानाविकरण प्रसाद ।

अयोत्तरचनासु सामान्येन विशेषेण च श्रवणोद्वेजकत्वाद्दर्शनीयाना निरूपण-
मवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मिते परिचयाय, सामान्यो विशेषतश्च
वर्जनीय किञ्चिद्विस्तृत्यते—

वर्णानां स्वान्तर्गतं सङ्घट्टप्येकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

हे नाथ ! यदुपने ! निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, मुधामधुरयाऽमृतमिष्टया,
वाचा, मह्यमादौ, या कर्तव्यशिक्षा त्वमदा व्यतार्थी, अहम्भावोऽभिमानस्तेनावृत
आच्छन्न, निस्रप, कर्तव्यव्यवहारोचितलज्जासून्य, अह स्वप्नेऽपि का कथा जागर-
णस्य, ता शिक्षा, न सम्पृशामि नानुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागशतशालिन-
मेवम्भावापराधशतविश्रायिन मा, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वात्मीयजनमध्ये, विभ्रतो
गणयन गुण्यतो वा त्वनम्बलकाशान्, परोऽन्यो दयानिधि काहणिकतमो भक्तो
मत्सराणात् परो मत्त क्षीबोऽज्ञानोपहतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थं ।

जन माधुर्योपाजमा वा न प्रसाद मङ्गीर्ण, किन्तु स्वतन्त्र इत्यर्थं ।

निमित्ते रचनाया ।

किञ्चिदित्यनेन कवचित्तरय क्षम्यता सूच्यते ।

स्वान्तर्गतं स्वाव्यवहितोत्तरत्व, वर्णानां, किञ्चिदीयन्, अथव्य श्रवणोऽप्रियत्वादनर्हं
तदा भवति, यदि एकपदगतमेकस्मिन्नेव पदे तद्वर्णद्वय तिष्ठेन्नित्यर्थं ।

अर्थो हे रूप में शक्ति है, अथवा—कर्तव्य अर्ण करणाय है, यदा ऐतानीय निवन्ध व्याख्यादिका
आदि हो, वो कश्चेर वर्गों का विन्यास इष्ट है ।

अच्छा, यदि माधुर्य और अजोगुण से सङ्गीर्ण प्रसाद के उदाहरण में आरति ठठतो है, तो, जाने
दोऽपि उसको अब सुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण हीजिये—हे नाथ ! आपने अमृत मुष्य मधुर
और निर्मल वाणी के द्वारा, मेें शिक्षा दी, उमे अहङ्कार से अन्तः तथा निर्लज्ज मैं अपने में भी नही
छुना—भरण करा। हे ददुपने ! इस तरह सैकड़ों अर्थों से युक्त होने पर भी सुक्तको आत्मीय जगने
में गिरने वाले अपने अधिक कोई दयालु नहीं है, और मुन से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है ।

यहाँ अन्य गुणों से अभिधिन अर्थात् केवल—प्रसाद गुण है ।

अब उक्त गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय कराने के लिये,
साधारणतया—अर्थात् गिनकी सब रसों में छोड़ना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् दिनको किमी—

उदाहरति—

यथा—‘ककुभसुरभि, विततगात्र, पल्लमिवाभाति इत्यादी ।

विशेषमाचष्टे—

असकृच्चेदधिकम् ।

उदाहरति—

यथा—‘वितततरस्तदरेष भाति भूमौ’ ।

स्वानन्तयस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एव भित्तपदगतत्वेऽपि ।

उदाहरति—

यथा—‘शुक्लं करोषि कथं विजने रुचिम्’ इत्यादी ।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृतं स्वानन्तयस्यातिव्यञ्ज्यत्वमभिदधाति—

असकृच्चैतन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम् ।

बुबुन बुटज । पतल मासम । अत्र ककारद्वयस्य तकारद्वयस्य तकारद्वयस्य चैतन्नपदघटकस्य सकृदव्यवधानं किञ्चिदश्रव्यत्वाद् वज्जनीयमिति भावः ।

एकपदघटकानां वर्णानामसकृदनेकवारं यदि स्वानन्तयं तर्हि तदधिकं नितरामथ्र्यत्वाद्बज्जनीयमित्याशयः ।

यत्रैकपदघटकस्य तकारस्य द्विं स्वानन्तयमिति मथ्र्यत्वम् । अतो न मथ्र्यमित्याशयः ।

एवमेकपदघटः ।

अत्र पृथक्पदघटकयोः ककारयोः सकृदानन्तयमीषदश्रव्यमिति ज्ञेयम् ।

ततः पूर्वपिभयाऽप्यधिकमश्रव्यम् ।

किमो स्वाम् एम मे ही छेदना चाहिये, मर मे नहीं, स्वाज्ये वा बुट निरूपण किया जाता है एक बार भा यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो बार आतुक हा ता वह सुनने में कुछ भा भा लगता है, अतः ऐसा नहीं करता चाहिये ।

जैसे—ककुभसुरभि (कुभ पुष्य के मतान सुगन्धि) विततगात्र (विन्तुन अद्र वाला) और पल्लमिवाभाति (मान सा दीपता है), इत्यादि स्थलों में । तात्पर्य यह है कि यहाँ कक क-क, त-त और ल-ल के अक्षर एक ही पद में लगातार दो बार आतुक द न प वाग म अथ हा गये हैं ।

इति एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार आतुक हो गये हैं । फिर ये अक्षर दोष का जाता है ।

जैसे—‘वितततर’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में यहाँ एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर दो बार-बार आतुक म भा कुछ प्रतीत होता है ।

जैसे—‘शुक्लं करोषि’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में । यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में ककार का एक बार प्रयोग हुआ ।

भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक अक्षर-तीक्ष्ण-गणन होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्’ ।

इत्य स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वे प्रतिपाद्य, स्ववर्णान्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—
एव स्ववर्णान्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

उदाहरति—

यथा—‘वितथस्ते मनोरथ’ ।

विशेषमाह—

असकृच्चेदधिकम् ।

उदाहरति—

यथा—‘वितथतर वचन तव प्रतीम’ ।

भिन्नपदघटकवर्णाना सहित स्ववर्णान्तर्यस्य किञ्चिदश्रव्यत्वमभिधत्ते—
एव भिन्नपदगतत्वे ।

उदाहरति—

यथा—‘अथ तस्य वच ध्रुत्वा’ इत्यादौ ।

ककुभो िक । इह भिन्नपदघटककारासकृदान्तयमधिकमश्रव्यम् ।

एव स्वानन्तर्यवत् ।

वितथो निष्पत्त ।

अत्र तकार-धकारयोरेकवर्णघटकयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यम् ।

असकृत स्ववर्णान्तर्यं वर्णाना यदि स्यात् तदा नितरा तदश्रव्यमित्यथ ।

प्रतीमो जानीम ।

इह तकार-यकार-तकाराणामेकपदस्थानामसकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम् ।

एवमेकपदघटकत्ववत् ।

अत्र भिन्नपदघटकयोस्वकार-तकारयो मकृदानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यमवमेयम् ।

जैने—‘पिक ! ककुभो ’ इत्यादि मूल के पदों में । वहाँ भिन्न-भिन्न पद न त्कार का बार बार प्रयोग हुआ है । वाक्य का अर्थ यह है कि ‘रे कौकिल ! तू, दिशाओं को दशेच्छ करनी गून् से मर दे ।’

इसी प्रकार जिन वर्णों का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ वही वर्णों के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार हुआ जाना है, तो वह भी वानों में कुछ अश्रव्य है ।

जैने—‘वितथस्ते मनोरथ’ (तुम्हारा मनोरथ निष्पन्न है) इस वाक्य में ‘त’ और ‘थ’ का । एक पद में एक वान के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अश्रव्य होता है ।

जैने—‘वितथतरम् ’ इत्यादि मूल के वाक्य में । वहाँ त-य-त का प्रयोग । वाक्य का अर्थ यह है कि ‘तरे वचन को हम अत्यन्त मिथ्या समझते हैं’ ।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एकवर्णीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है ।

जैने—‘अथ तस्य ’ इत्यादि मूलवाक्य में । वहाँ भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्ण ‘थ’ और ‘त’ का प्रयोग ।

मिन्नपदषट्कस्ववर्णासृदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—
असृष्ट्वा मिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम् ।

उदाहरति—

‘अथ तथा कुरु, येन सुख लभे’ ।

विशेषमाह—

एतच्च वर्णाणां प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोरानन्तर्यम् ।

तदतिरिक्तानामोपदश्रव्यत्वमावष्टे—

प्रथमतृतीययो-द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नाश्राव्यम्, किन्त्वीयत्,
निर्माणमामिन्नैववेद्यम् ।

असृष्टदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

एतवप्यसकृच्चेत, ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

श्रमणोदाहरति—

यथा—‘मग्’ कलानिधिरेव विजृम्भते ।’ ‘इति वदति द्विवानिषा स धन्यः ।’

तत एकवारारेषायाऽपि ।

इह मिन्नपदषट्कानां धकार-तकार धकाराणामसृदानन्तर्यं नितरामश्रव्यम् ।

वर्णाणां प्रथमद्वितीययो, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोयंत् सकृदसकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव
नितरामश्रव्यमित्यर्थं ।

सकृदिति शेष ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईषत्वस्य विवरणं निर्माणेत्यादि ।

यथा प्रथमद्वितीययो सकृदानन्तर्यमश्रव्यं यथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽ-
ऽनन्तर्यं नाधिकमश्रव्यम्, किन्तु निर्माणे काव्यरचनाया ये मात्मिका (निपुणतमा)
तन्मात्रवेद्यमत्यल्पमित्यर्थं । उदाहरणन्तु ‘जिगदति छग शुकोऽयम्’ इत्यादि शेषम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीययोरानन्तर्यमपि, यद्यसृष्ट्वा स्नात्, तर्हि तत्राश्रव्यत्व-
म्याधिकत्वात् साधारणनिर्माणमामिन्नैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थं ।

इह पूर्वमेव भवार-गवार-ककाराणां वर्णद्वितीय-तृतीयप्रथमाणामसृदानन्तर्यात्,
परम च दवार-तवार-दकाराणां वर्णतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसृदानन्तर्यादपिका-
श्रव्यत्वम् ।

भिन्न परीं मे भी बार-बार देना होने पर और अधिक अश्रव्य हो जाता है ।

उदे-इत्यादि ‘अथ तथा’ इत्यादि मूल यो शीतो मे । वहाँ ‘य-न-य’ का प्रयोग ।

यह एक वर्ण के वर्णों का सह-प्रयोग प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो,
तभी अश्रव्य होता है ।

एकाकीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय व्यंजनों का सह-प्रयोग तो करना अश्रव्य नहीं
होता—बहुव कम होता है, जिसको रचना-भ्रमैव बन ही लगना सकते हैं ।

यह (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सह-प्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण
शिक्षित भी समझ सकते हैं ।

उदे-‘सरा !’ कडा . . .’ इत्यादि और ‘इति वदति दिवा . . .’ इत्यादि मूलस्तिविर

वगपञ्चमवगानन्तयविपये विरोपमाह—
पञ्चमाना मधुरत्वेन स्ववर्णानन्तर्यं न तथा ।

उदाहरणि—

यथा—‘तनुत तनुता तनौ ।

विशेषमभिदधाति—

स्वानन्तर्यं त्वश्रयमेव ।

उदाहरणि—

यथा—‘मम महती मनसि व्यथाविरासीत् ।’

प्रागुक्तामपवादमाह—

एतानि चाश्रयत्वानि गुरुव्यवायेनापाद्यन्ते ।

उदाहरणि—

‘सञ्जायता कथङ्कार काके केका-कलम्बन ।’

वगपञ्चमस्य ये पञ्चमा प्रकारादयो वणा तथा स्ववर्ण सहानन्तय मधुरत्वान
तथाश्रय्य न भवतीत्यय ।

अप नकारस्य लकारेण सहामहृदानन्तय नैवाश्रय्य मधुरत्वान ।

वगनञ्चमानामपि भवान्-यमश्रय्यभव न तु मधुरत्वं स्ववगघटकस्वान्यान्तनय
स्यैव मधुरत्वान ।

इह मकारस्य मकारेणैवासहृदानन्तयमश्रय्यम ।

गुरुव्यवायेन गुरुवण्यवधानन । अपोदान्त वाध्यन्त ।

प्राग्मानन्तयश्रय्यत्वानि कथितानि तत्र सवत्र यदि गुरुवज्जा व्यवधान भवेत्
तदाश्रय्यत्वबोधोपम्य बाध स्यात् ।

इह गुरुभिरानारंकाराकारैर्व्यवधानान् कवारण्यासकृत् स्वानन्तयमपि नाश्रय्यम ।

वाक्यो मे । दशौ प्रथम वाक्य मे र-त-क ह्य वाँ के दिना-न्तीय और प्रथम अर्णों का अनेक
बार मधुरयोग द, एत दिर्णय वाक्य मे द-न-द' रूप वय मे वृत्तक प्रथम और फिर वृतीय का अनेक
बार मधुरयोग हुआ है ।

पानी वनों के पड़ने अर्थात् जमझगल मधुर है, अत वनन से किमी भा वाँ का अने-अने
वा से किमी भी मित्र अथर के साथ प्रयोग व्यथक्य महा होता

‘ते-‘तनुते तनुता तनौ’ अर्थात् ‘र-त-क ह्य वाँ के दिना-न्तीय का विचार करता है’ इस वाक्य में
नकार का उच्चार के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रय्यता नहीं हुई ।

‘अम-तान’ इन पदम वनों में भा किमी एक हा व' का साथ ही साथ बार बार प्रयोग तो
अश्रय्य होता ही है ।

द्वैते—‘मम महती मनसि व्यथाविरासीत्’ अर्थात् ‘मे मन म वदी व्यथा उ-द हुई’ इस
वाक्य में मकार का प्रयोग ।

पूर्व में कितनी व्यथ्यताये कही गयी है, ये सब तब दूर हो जाती हैं, अब दो अथक्य व्यथनों के
बीच में गुरु स्वर रख दिया जाता है ।

द्वैते—‘सञ्जायता कथङ्कार काके केकाकलम्बन’—अर्थात् ‘हीने में मधुर-वणी सा मधुर

दाह्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नापक परामृशति—

‘यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मया सराग नितरा निषेविता ।

तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो, विवृष्य मामेकरसं चकार सा ॥’

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्याये ।

येषा पुनर्लघूनामपि मयोगपरकत्वेनानिदेशिक गुणत्व तद्वधवधानमुदाहरति—

सयोगपरव्याये तु—

‘सश जयानुषङ्गाणामङ्गाना सङ्गरस्थलम् ।

रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डव ॥’

काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, त्वेत्यध्याहार । यत्तु टीकाया सप्तम्यन्तपाठस्यैव युक्तत्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति बर्णसमुदायावृत्त्या यमकस्य सामान् पछीनत्युरयाङ्गीकारे तवे यध्याहारानपेक्षणात् ।

सा शतशोऽनुभूता प्रसिद्धा वा तामरसायतेक्षणा सरोजदीपनयना, मया, सराग सप्रणय नितरात्मन्त, यथा यथा येन येन प्रकारेण, निषेविता परिस्वारिता भावितोप-
शुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा मुग्धतन्त्रहोपदेशमणितिरिच, माम् सर्वत सर्वेभ्यो विषयेभ्य, विवृष्यावृत्त्य, एकरस स्वमात्रसलभनाश्चित चकारेत्ययं ।

अत्र ‘था-ता’ ‘या त’ इत्यशेषु धकारस्य स्ववर्ण्येण तकारेणानन्तर्ण दीर्घाकार-
गुह्यवधानान्नाश्रब्धम् । एव ‘मा मे’ इत्यशेषे स्वानन्तर्णसि दीर्घव्यायावश्रब्धत्वा-
मावो बोध्य ।

दीपत्वाद् येषा मुग्धत्व तद्वधवधानस्यैवमुदाहरणम् ।

यदा मयत्न, ज्येऽनुषङ्ग सम्बन्धो येषा, यदा जय एवानुषङ्ग जानुषङ्गकस्य
येषा, तथानूतानाम्, अङ्गाना गङ्गादक्षिणतटस्यदशविशेषाणा तद्वामिना पा,

शब्द वैभे हो’ इस वाक्य में यद्यपि उकार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रब्ध नहीं लगता, क्यों कि शब्ध-बोध में अकार आदि गुरु शब्द आ गये हैं ।

अथवा जेमे—‘यथा यथा’ इत्यादि पद्य में । इसका अर्थ है—नादर भदने मिय से रहता है अथवा हरय मोचना है कि—जैने उव चमटनवनी नापिकर वा प्रेमपूर्वक ज्यो—ज्यो पू—या ऐवन विद्या, स्वो-स्यो बनवे मुहे, तराकथा (गुरुभदर अहो परेस) की तरह सब अर म नी—र, एकर रस कर दिया—अर्थात् जैने ब्रह्मज्ञानी का सर्वत्र ज्ञान ही वेकठ दीव पटना है, वैभे मुहे भी सब जगत् वही नापिकर दिगर्द देते स्यो है । यहाँ ‘य-या’ ‘था-ता’ इत्यशेषो के अकार का नरन्तर्ण्य उकार के साथ अन्वयधनेन प्रयोग, दीर्घ आकार-स्वर के साथ में रख देने से अश्रब्ध नहीं हुआ ।

शुभ स्वर ही प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके अग में संयुक्त व्यन्क होता है । उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के नाते शुभ स्वरों के साथ में आ जाने के कारण अश्रब्धता निवृत्त हो गई—यह दिखिया गया है ।

अब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर अग में संयुक्त व्यन्क के रहने से शुभ हो गये हैं, वसके साथ

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु बोध्यम्—गुर्त्ययोर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यकृतमश्रव्यत्व-
मप्यदति, तेनात्र [थकारस्तकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि] तत्कारथकारान्तर्य-
कृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव ।

अश्रव्यान्तर वदति—

एव आदीना सयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्य ।

सङ्गस्थानगुह्यमानम् तत्तत्तुरगताण्डवैस्तेषा तेषा तुरगाणामध्वाना ताण्डवैर्भुक्तमण्डला-
कारसञ्चारणरूपोद्धतनृत्यं रङ्गाङ्गणमिव नृत्यशालाप्रस्थलमिव आभ्राति शोभन
रूपं ।

अत्र चतुर्धरणे ह्रस्वस्य सयोगपरकत्वप्राप्तगुरुत्वस्यावर्णस्य व्यवसाते स्वानन्तर्य
तकारस्य नाश्रव्यम् ।

अप्यदति वाचते । अत्र 'यथा यथा' इत्यादिपद्ये । अनपनोदितमनिरस्त विद्यमान-
मेवेति यावत् ।

ययोर्वर्णशोभघषपाती गुरु, तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्व व्यपोहति, न तु
तदुत्तरस्यस्यापि, तस्माच्चथेत्यादिपद्ये गुर्वाकारव्यवहितयोस्थातेति यातेति थकारा
कारयोरेवानन्तर्यस्याश्रव्यत्व व्यपोहनं नतु तथेति तथेति तत्कारथकारयोपि, ततस्त
दशेऽश्रव्यताप्रत्येवेत्याशयः ।

एवमुक्तस्यलवत् आदीना निप्रभृतीना (यथाणा चतुर्णां वा) वर्णाना, सयोगोऽपि
प्रायेण बहुधाश्रव्यो भवतीत्यर्थः । प्रायेणेति क्वचित् 'यादिमयोगस्यापि श्रव्यत्व
मूचयति ।

मैं आ जाने से अक्षरव्या को निश्चित का उदाहरण देखिये—'सदा जयासु ' इत्यादि । क्वचि अत्र
देश के राजभों का वर्णन करता है कि—जय जिनका मन्त्र आनुषङ्गिक-सा नाविक पठ रहा-अर्थात्
जो मन्त्र बिजय को वा पाण रह-कभी पराजित नहीं हुये, वन अत्रदेश-कानियों का गुरु-स्वत उन्-
वन (विष्णु) अर्थों के नृत्यों (गति-विशेषों) से नाटक-पर के भाग्य मा भासिन होता है । यथा
चतुर्थ धरण में तकार वा कार वार लगातार प्रयोग हुआ है, फिर भी अक्षरव्या नहीं, क्योंकि सगुरु
व्यजन के आगे में रहने से गुरु बना दृश्य आकार बीच में आ गया है ।

यद्यप्येक शत और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु स्वर आता है,
उन दोनों वर्णों के सामीप्य (एक के नाद एक की स्थिति) से उत्पन्न अश्रव्यता की ही वह गुरु दूर
करता है, अत्र 'यथा-यथा सामग्रा ' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'या-त' 'या-न' इन अर्थ में जो
ध्वार के जलनर तकार आया है, वनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद ध्वार के आगे से
जो अक्षरव्या उत्पन्न होती है, वह बनी ही रहो-जसकी निश्चिति नहीं हुई, क्योंकि उससे मध्य में कोई
गुरु स्वर नहीं, अपि तु ह्रस्व आकार है ।

इसी प्रकार तीन अक्षर तीन से भी अधिक वर्णों का सयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है । यथा
प्राय-यद् इन बात को सूचित करता है कि कहीं कहीं तीन-चार वर्णों का सयोग भी अश्रव्य
नहीं होता ।

उदाहरणुपमहरति—

‘गङ्गे तवोद्गमः परितश्चरन्ति’ इत्येवमादय धृतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनु-
भवानुसारेण बोध्या ।

पुनरश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ दीर्घानन्तरं मयोगस्य निन्नपदगतस्य सङ्घट्टव्यश्रवणम्, असङ्घट्टं तु
नूतराम् ।

उदाहरति—

‘हरिणीप्रेक्षणं यत्र गृहिणी न विलोक्यते ।

मेधितं सर्वमभ्यङ्गिषु तद्भूवनवनम् ॥’

अभिप्रायद्वयत्वे दीर्घानन्तरं मयोगस्य नाश्रव्यमित्याह—

एकपदगतस्य नु तथा नाश्रव्यम् ।

धृतिकाटव धृतिकटवम् ।

राष्ट्र इत्यत्र प्रकार-टकार-रेषाणां प्रयाणाम्, उच्छ्रय इत्यत्र च प्रकारमङ्गितानां
नगा चतुर्णां मयोग । अन्येऽपि धृतिकटवप्रकारा एवमूहनीया इति नारम् ।

पृषक् पदघटकस्य मयोगस्य सङ्घट्टपि दीर्घदिव्यवर्हितोत्तरत्वमश्रव्यमभवति, असङ्घट्टं
पुन मुनिरामश्रव्यं भवतीत्यर्थम् ।

यत्र भवते, हरिणीप्रेक्षणं मृगोविवोचना, गृहिणी, न विलोक्यते, नयमभ्यङ्गि
मेधितमपि तद्भूवनवनमित्यर्थम् । अत्र हरिणीपदघटकदीर्घकारानन्तरं प्रेक्षणपदावय-
वस्य प्रेतिमयोगस्य सङ्घट्टव्यश्रव्यम् । समासादिहैकपदत्वेऽपि निन्नपदत्व प्रागुक्तयुक्त्या-
क्येयम् । ईदृशन्त्वश्रव्यत्वं पण्डितराजस्यापि पद्येषु—ब्रह्मविद्या-प्रपञ्च ‘रम्या
भृशुरिति बहुविधा’ वा प्रयागान् इत्यादियु बहूना उपलभ्यन्ते । असङ्घट्टदीर्घदिव्यवर्हितो-
त्तरमयोगोदाहरणं मृग्यम् ।

किञ्चिदश्रव्यं तु भवत्येवेति तथा वाक्येन सूच्यते ।

वैभे—‘राष्ट्रे तवोद्गमः परितश्चरन्ति’-अथात् ‘ने गङ्गे मे उद्गमो जागे और चरती—
पिती है’ इत्यवयव मे एक उदा प्रकार-टकार-रेषी का और दूसरी उदा प्रकार-टकार-रेष-
दकारों का संयोग है । इसी प्रकार धृति-वृत्ता के अन्य अन्य नेदों का भी अनुभव के अनुसार ममता
रना चाहिये ।

पूर्व-पर के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके ऊपर दूसरे वद में संयोग हो, तो उक्त एक बार
भी संयोग मश्राव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक मश्राव्य होता है । यहाँ
एक बार यह संयोग लेनी चाहिये कि—यह दोष संमूल में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि यहाँ
निन्न-पर में संयोग के रखने पर भी पूर्व-पर के स्वर का गुह जैसा उच्चारण करने की रीति प्रायः
नहीं है ।

वैभे—‘हरिणीप्रेक्षणं यत्र -’ इत्यादि । अर्थात्—यहाँ मृगी को खोज और पिटाउ नदनों
वाली गृहिणी (घर की माटिकिन) इशियोंवर नहीं होती, वह गृह सब सम्पत्तियों में भरा पूरा
होने पर भी बन है—निर्जन बन के पञ्चानुवास जैसा ही यहाँ का वास मनहूँ होता है । यहाँ पूर्व-
पर ‘हरिणी’ शब्द के आगे टकार और रेफ का संयोग है ।

यदि दीर्घस्वर और उसके ऊपर का संयोग एक ही वद में हो, तब वैसी मश्राव्यता नहीं होती ।

उदाहरति—

यथा—‘जाग्रता विचित्त’ पन्था, शात्रवाणा वृथोद्यमः ।

सयागान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु सयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावात्प्रथमधुर-
त्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम् ।

उदाहरति—

यथा—‘तान्तमानतश्कान्ति-’ इत्यादिपद्ये ।

इह ‘तान्ते ति नोङ्कामिति सयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावात्प्राश्रव्य-
मित्याह—

अत्र ‘ता’मित्यत्र ‘नो’मित्यत्र च परसवर्णस्थ पूर्वपदभक्तत्वात् न मयोगो-
भिन्नपद’त ।

ननु ‘हलोऽनन्तरा सयाग’ इति सूत्रमाप्ये प्रत्येक हत्वपात्ता सयोगसज्ञया अपि
व्यवस्थापनात्तत्पक्षे तान्ते’त्यादौ सयोगस्य भिन्नपदघटकत्वमस्त्येवेति चेत्, उच्यते—
तथा सति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वाभावात् तेन व्यवहितस्य मयोगस्य न दीर्घाव्यव-
हितपरत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येक मयोगसज्जति पक्षेऽपि भिन्नपदगत सयोगो न दीर्घाव्यवहितपर ।

वृथा व्यव उद्यमो यत्र, तादृश शात्रवाणा शत्रूणा पन्था, जाग्रता विचिताऽन्विष्ट
इत्यर्थः । इह जाग्रतेत्यत्र पदघटकत्व दीधानन्तर्यं प्रतिसयोगस्य तु तथा नाश्रव्यम् ।

परमवर्णनिष्पन्नो हि सयाग पूर्वपदावयवत्वान् सर्वथा भिन्नपदघटक एकपदाघटका
न, मधुर सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीधानन्तर्यं नेपदप्यश्रव्य भवतीत्यर्थः ।

पूर्वमुदाहृत ।

भक्तत्वमवयवत्वम् ।

जैने—‘जाग्रता *’ इत्यादि—अथर्-व्यर्थ सयोग वात् शत्रुभो के मार्ग को जैने सावधानता-
पूर्वक न अ निश्चला । यहाँ ‘जाग्रता’ इस एक पद में ‘जा’ के आगे ‘ग-र’ का मयोग उठना अश्रव्य
नहीं होता ।

पर-मवर्ण से बने हुए मयोग का दीर्घ स्वर के अनन्तर विद्यमान होना, नाममात्र भी अश्रव्य नहीं
होगा, क्योंकि वह सभ्यो सर्वथा भिन्न पद-गत नहीं होता और मधुर भी होता है ।

जैने—‘ताम्रमाल तह काम्बि-र्याद्वनीम् *’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में ।

उक्त श्लोक के ‘तान्त और नोङ्क’ इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्व-पद का अक्षर
है, अतः यह मयाग भिन्न-पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता है ।

यदि आप कहें कि व्याकरा-भाष्य के कर्त्तृ पत्राड्डि ने प्रत्येक मयोगान्त-अथर्-मपूक
व्यञ्जनो न प्रत्येक व्यञ्जन से पृथक् पृथक् मयोग कहना चाहिये’ यह पक्ष भी माना है, परन्तु तब तो
उक्त स्थान में ‘न’ और ‘त’ आदि दोनों अलग अलग मयोग कहे जायेंगे, फिर ‘त’ रूप सयोग पदान्त
कहना पड़ेगा, इसका उत्तर यह है कि उक्त श्लोक से ‘न’ रूप मयोग भिन्न पदगत अवश्य हुआ, परन्तु वह
दायं स्वर से अव्यवहित अधिम वर्ण हा नहीं हुआ, क्योंकि मय में ‘नकार’ व्यवहित है । माराश यह
निरूपण कि समुदाय को मयोगनन्दन मानिये, यह प्रत्येक को, यहाँ अप्र-व्यव नहीं हो सकती ।

नन्वेवमपि 'नव-अम्बुद-' इत्यत्र दीर्घादेशस्य पूर्वापरपदद्वयावयवत्वे निर्णयि, परपदगतस्य म्बु इति सयोगस्य, पूर्वपदावयवदीर्घाकारादानन्तरं भिन्नपदघटकत्व चास्त्यवेत्यश्रव्यत्व दुष्परिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्वीकणदाघटकत्वपरत्वात्, प्रकृते दीर्घादेशस्य पूर्वपदस्याप्यवयवत्वेन सयोगघटितपरपदघटकत्वादेकपदाघटकत्वस्यानावात शेष इत्याह—

'नवाम्बुदे-' इत्यत्र त्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वे मत्स्यव्यवहितोत्तरत्व यद्यपि परसवर्णकृतसयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्वमेकपदगतभिन्नत्व विवक्षितमित्यदोषः ।

इत्य दीघादनन्तरस्य परसवर्णानिष्पन्नस्य भिन्नादघटकस्य सयोगस्य महदपि प्रयोगेश्रव्यत्व चेत्, तदा किमुतासकृत्प्रयोग इत्याख्याति—

असकृत्तु सुतराम् ।

उदाहरति—

यथा—'एषा प्रिया मे क्व गता त्रपाकुल' ।

नन्वेवनाश्रव्यत्वेन वाच्यस्य वा क्षतिरित्याकाङ्क्षायाभिमिदधानि—

इय चाश्रव्यत्व वाच्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते ।

अश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरण सकृदप्यश्रव्यम् ।

अश्रव्यमिति शेषः ।

इत् 'प्रति चेति सयोगयोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तरान्त दोषः ।

पङ्गुत्व खड्गता ।

पङ्गुत्व शरीरस्यवाश्रव्यत्व वाच्यस्यापकर्षमित्येव क्षतिरित्याशयः ।

स्वेच्छयत्यनेन प्रकृतिभाष्यवच्छेदः । सन्धि सन्धिराये यथादि ।

इति 'एषा क्व' 'नवाम्बुद' पद मे 'नव' शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' और 'म्' शब्द 'र' आदि स्वर 'अ' के स्थान पर 'आ' दीर्घ हुआ है, उन व्याकरण के नियमानुसार एकादेश न, उन वह व्याकरण अन्तर्निश्चय यत्र वे बल से दोनों पदों का अर्थय माना जाता है, दुर्गलिय जब वह पूर्व पद का अर्थय माना जायगा, तब 'म्बु' में अे सयोग है, वह दमपि भिन्न-पद-गत है, तापं मे अयोग है, तथा वमने बीच में कोई व्यवधान भी नहीं है, अत एव यहाँ अश्रव्यता दोष हो सकता था । तथापि यहाँ 'भिन्न-पद-गत' संबन्ध उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तगत न हो, अत कुछ दोष नहीं होता । माराश यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समान हो जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूप एक पद हो गया है, अत अश्रव्यता का अन्तर नहीं रहा ।

परोक्ष भिन्न-पद-गत संबन्ध यदि बार-बार अत्रि, नर और अत्रिद बन्धु हो जायग है ।

ने—'एषा प्रिया मे क्व गता त्रपाकुल'—अर्थात्—'यह मेरी प्रियी लज्जा से व्याकुल होकर कहीं कहीं दुःख वाक्य में । यहाँ एक प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् 'अ' और 'म्' इन दो स्थानों पर है ।

एक अश्रव्यतायें वाच्य को पङ्गुता (लैंगम्यान) जैसी लगनी है—अर्थात् इन अश्रव्यताओं के कारण वाच्य की सरस धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अत इनका परिहार करना निम्नान् आवश्यक है ।

उदाहरति—

यथा—'रम्याणि इन्दुमुखि । ते विकिञ्चितानि ।'

प्रगृह्यसज्ञाया प्रकृतिभावे सङ्घत् सन्धिकार्याकरण नाश्रयत्वम्, असकृत्वश्रव्यत्व-
भवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्त त्वसङ्घदत्त ।

उदाहरति—

'अहो अमी इन्दुमुखीविलासा ।'

एव 'लोप तावत्यस्य इति सूत्रेण य-वयोलोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विश्लेष-
रूप सन्धिकार्यानिनुष्ठानमप्यश्रव्यमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम् ।

उदाहरति—

'अपर इषव एते कामिनीना दृगन्ता ।'

स्वकीयकाव्य एतदोपमास दूष्य परिहरति—

कथं तर्हि—

सूत्रोपेक्षया सङ्घदपि यदि सन्धिकार्यं न क्रियेत, तदप्यश्रव्यं स्यादित्यर्थः ।

विकिञ्चितं 'स्मितशुभ्ररदित-हसित-यास-शेष-थमादीनाम् । साङ्ख्यं विकि-
किञ्चित्तममीषनसङ्घमादिजाडयान् ॥ इत्युक्तनक्षणम् । अनेकारदयस्य सूत्रप्राप्तोऽपि
सर्वणदीर्घं उपेक्षित इत्यश्रव्यता ।

सङ्घन सन्धिकारणस्य दुष्टत्वे तु विधायकनास्त्वर्थपर्य्य प्रगज्यत ।

अत्र द्विरवादेनदीर्घरूपसन्धिकार्याकरणं प्रगृह्यसज्ञाप्रकृतिभावेप्रयुक्तमित्य इत्यता ।

अत्रासङ्घलपोपस्यामिडत्वाद् गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्यानिनुष्ठानादश्रव्यत्वम् । वस्तुत-
स्त्वेन सन्धिकार्याविश्लेषतादोषः । 'इषव इत्यत्र 'इव त' इति पाठान्तरम् ।

अब सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिये । अपनी इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से
एक बार भी सन्धि का नहीं करना अवश्य होगा है ।

जैसे—'रम्याणि ' इत्यादि-अर्थात् 'हे चन्द्रवदने ! तुम्हारे ये विकिञ्चित्तन (अमीठ जन
मगम आदि हतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषव-श्रास्य, शुष्क-रोदन, क्रोध, मय और अन्य
आदि भावों का मिश्रण) बड़े रमणीय हैं' । यहाँ 'रम्याणि' पद का अन्तिम और 'इन्दुमुखि' पद का
आदिम इकार का ऐकिक सन्धि-विरह अवश्य है ।

प्रगृह्यसज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह बार-बार आवे, तथा अवश्य होती है, केवल
एक बार आने से नहीं ।

जैसे—'अहो अमी ' इत्यादि-अर्थात् 'चन्द्रमुखी नन्दिका के ये विलास आश्चर्यजनक हैं ।'
यहाँ ओ + अ और ई + इ में ।

इसी तरह 'य' और 'व' के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह या यदि बार-
बार आवे तो कर्त्तव्य प्रतीत होती है, जन्म—'अपर इषव ' ' इत्यादि—अर्थात् 'कामिनीयों के
ये कल्प दूमेरे बाल हैं' अ + इ और अ + य में ।

नाटुकारो नृपमाचष्टे—

‘भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ।

तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवत ॥’

इति भवदीय काव्यमिति चेद्, अकृत्वैव यलोप पाठात्त दोष ।

अथव्यान्तराणि सङ्गृह्य वक्ति—

एव रोहत्वम्य, हलि लोपस्य, ‘गण्-गुणवृद्धि-मवर्णदीर्घ-पूर्वरूपादीना
नैव टर्घेन बाहुल्यमश्रव्यताहेतु’ ।

उपमहरति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदा काव्यसामान्ये दर्जनीया ।

हृ अवनीरमण ! भूपत ! मवनी मन्त्रिणोऽगात्मा गरुडदेवताका गारुडा मन्त्रा
इव भुजगाना सपात्त निवारकत्वादहिता प्रकृति स्वभावो येषा तादृशा, पक्षे भुज-
गाना विद्याना निरोधकत्वादहिता प्रकृतियेषा यदा—भुजैर्गाहिता अधिष्ठिता प्रकृतय
प्रजा यैस्तादृगा सन्ति । तथा तारा उडव इव, तुरगा अश्वा इव च, गोमते वे
नमसि लीना पक्ष मुष्टु खनीत मविष्ण येषा तादृशा, मन्त्रपक्ष सुप्त सीट्ये लीना
निमग्ना णीति श्लोकार्यं ।

इह दोषमिम जानताऽपि भवता स्वकाव्य मन्त्रा इव ‘तुरगा इव इत्यत्र भिद्यो-
पप्रयुक्ता विश्लेष वय कृत इति दाङ्गाया—यलोपस्य वैकल्पिकत्वत मन्त्रा विवेक्यादि-
यकारणटितपाठे विश्लेषविरहान् दाप इति समाधानम् ।

इत्य धीरो वरो नरो याति इत्यादी रोहत्वम्य, इमा निशा गता व्यथम
इत्यादी हलिमलोपस्य तवयिरप्रपदमवेश्य इत्यादी यण रमणामणोरणा
इत्यादी गुणस्य, प्रौढमूर्धापतीत्रोजा इत्यादी वृद्ध, ‘अचाद्रीर्द्रिषूदय इत्यादी
सवर्णदीर्घस्य, परत्र पूर्वरूपपररूपप्रभृतीना निवृत्तमा प्रयागप्राच्यमश्रव्यताया
कारणमित्यथ । एतान्येव लुताहृतमिमगतादिदोषरूपणान्यत्र निरूपितानि ।

इत्यमिमे प्रागुक्ता सर्वेऽपि वर्णस्वानन्तप्रभृतयोऽश्रव्यत्वरूपप्रकारा काव्य
सामान्ये न तु श्रुतिकटुत्वादिवन् काव्यविशेष एव, वजनीया नित्यदोषत्वान् परिहर-
णीया इत्यथ ।

एक प्रसङ्ग पर यदि कोई पूरे—‘भुजगाहित’, इत्यादि काव्य, जिम्का अर्थात् इ—ह
राज्य, आये मन्त्री गाण्य मन्त्री की तरह’ ‘भुजगाहित—प्रकृति इ—अथवा गाण्य मन्त्री व मन्त्र
मिमे भुजगो—मन्त्री के लिये अहित दात है । वीम भुजगो—पूर्व’ के लिये मन्त्रिणो व मन्त्रा अहित
है, अथवा भुजो—बाहुओं के गाहित—अधिष्ठा प्रकृति—आत्मन व व है और आरत मन्त्रा त
कदा व नी के जैसे सुखलीन है—अथवा नाम सुखन्दर र—अकृश म एतान् ह, धीरे सु—सुन्दर
एतान्-एतान् व है है और मन्त्री सुप्त—अनन्द व लीन—मग्न ह—वेम वना ट,या अण न—दर्श
तो दलोप—असुक्त संधिवा अभाव कर—कार हुआ ह । इमवा एता दह है कि एवर का ल व न
करव वन सु दोष नहीं व ग, अथवा—‘मन्त्रा पित’ ‘तय पित’ ‘तुरगा पित’ इमा प्रकार वना
वर्णिय ।

इमा प्रकार ‘र’ के ‘उ’ हन्तर ‘हन व’ के लोप, गण्, गुण, वृद्धि, मन्त्र-दीर्घ और पूर्वस्वार्थिकों
का समाप्त—मम व मे अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता का कारण होता है ।

अथ रसविशेषानुसार काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः । तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपद वक्ष्यन्ते त एवौजस्विष्वन्तुकूला, ये चानुकूलतयोक्ता, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निणयः ।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् वण्यन्नादावसकृत्प्रयोग एव रूपकान् ब्रवीन्—
मधुररसेषु दीर्घसमास भ्रूयधटितसयोगपरह्रस्वस्य, विस्रजनीयादशसकार-
जिह्वामूलीयो-पञ्चमानीयाना टवर्ग—झया, रेफ—हकारान्यतरघटितमयागम्य,
ह्ला ल-म-न मिथाना स्वारमना सयोगस्य, भ्रूयधटितसयागस्य चासकृत्
प्रयोग नैकटचेन वर्जयेत् ।

इदमिहावगन्त्यम्—श्रुतिकटुत्व कठोरवणघटितत्वेन श्रवणोद्भक्तत्वं मधुररस-
प्रतिकूलमोजस्विरसानुकूलमित्यनित्यदोष काव्यविशेष एव परिहारमर्हति । अथव्यत्वं
त्वनेकविद्य कोमलवणघटितत्वेनापि वणस्वानन्तर्यादिमूलक श्रवणानहृत्वरूप सवरस-
प्रतिकूलतया नित्यदोषता विभ्रत काव्यसामान्य परिहरणायमित्युभयोर्वैजात्यम् ।

तत्र तेषा मध्ये । मधुररसेषु माधुयगुणाश्रयषु शृंगार-वर्ण-शान्तरसषु । अनुपद
'दीर्घसमास मित्यादिना वक्ष्यन्ते । ओजस्विष्वजाओगुणाश्रयषु वीर-बामत्म-रीद्वरसषु ।
अनुकूला उपकारकत्वादवर्जनीया । अनुकूलतयाक्ता मधुररसविनि शप र्वगवर्जिन
त्यादिना पूव कथिता । प्रतिकूला विरोधिन् ओजस्विरसोर्ध्वनि शप ।

मधुररसापकारका ओजस्विरसोपकारका, ओजस्विरसापकारकाश्च मधुररसोप
कारका भवन्तीति साधारणतया निणयोऽस्तीत्यर्थः ।

मधुरेषु न त्वोजस्विषु रसेषु व्यग्येषु दीर्घसमास पयादिना इप्रतिपाद्याना नैकटये

ये ऊपर कह गये अश्रव्यों के सभा भेद सभा काव्यों में वर्जनीय है, चाहे किन्ना रस का वर्जन हो,
इन अश्रव्याओं का परिहार करना ही समुचित है । यहाँ यह विचार नमनना चाहिये कि 'श्रुति
कटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष हैं, एक नहीं, क्योंकि श्रुतिकटुत्व का अर्थ है 'कठोर-वर्ण-
युक्त रचना का काम में उद्देश्य पैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रतिकूल और ओजस्वी रसों का
अनुकूल है, अन् अन्वित्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस का काव्य) में ही ल्याय है ।
परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों
के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कामल वर्णों से ही
क्यों न बना हो' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल ही है, अतएव नित्य ही और सभी प्रकार के काव्यों
में ल्याय है ।

अथ विशेषतया वर्जनीयो (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में ही ल्याय है, सब
काव्यों में नहीं) का निश्चय किया जाता है । उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रूप से निषिद्ध
हैं और जिनका प्रतिपादन सभी किया जाता है, वे ओजस्वी रसों में अनुकूल होते हैं—अर्थात् वहाँ
उनका रहना उचित नहीं आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों के अनुकूल न रहे गये हैं, वे
ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उन दोषों से उन रसों को बचना चाहिये । यह एक साधारण
नियम है ।

अब मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाने हैं—'मधुर' इत्यादि । उन्हे सामान्य, जिनके
१८ २० ग०

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो ययोर्वर्जनीयो, तावाह—
सवर्णंशय्द्वघटितसयोगस्य, शभिघ्नमहाप्राणघटितसयोगस्य सकृदपीति
सक्षेपः ।

अथ वर्जनीयानुदाहरन्नुद्देशक्रमेण प्रथम दीर्घसमासमुदाहरति—
दीर्घसमासा यथा—

अभिसारिका वर्णंशति—

'लोलालकावलि बलघ्नयनारविन्द—

लीलावर्णंश्वदितलोकविलोचनायाः ।

सायाह्वान प्रणयिनो भवन व्रजन्त्या—

श्चेतो न कस्य हस्ते गतिरङ्गनायाः ॥'

नासकृत्प्रयोग च वर्जयेदित्यन्वयः । पश्चमवर्णातिरिक्ता वर्णपश्चकघटका विशतिवर्णा
सप्तसञ्ज्ञका, तद्घटित सयोग परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो
विसर्गस्तत्स्यानिवादेशभूतसकारस्य, अच—परस्य कषाम्या पूर्वस्वार्धविसर्गाकारस्य
त्रिह्रामूलीयस्य, अच—परस्य पक्षाम्या पूर्वस्वार्धविसर्गाकारस्योपध्मानीयस्य च
विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, सय (असप्तुक्तस्य), रेफहृत्कारयोरेव्यनरेण घटितस्य
सयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्ताना हला व्यञ्जनवर्गाना स्वात्मना घटितस्य
सयोगस्य च नैकट्येनासकृत् प्रयोग दीर्घसमास च वर्जयेदित्यर्थः ।

सवर्णं प्राप्तसवर्णसञ्ज्ञका यज्ज्यप्रत्याहारघटक वर्णद्वय तेन घटितस्य सयोगस्य,
तथा शभिघ्नं शयसातिरिक्तेर्महाप्राणप्रयत्नवद्भिर्वागपश्चकघटकद्वितीय वतुयं वर्णं घटितस्य
सयोगस्य नैकट्येन, सकृदपि किमुतासकृत्, प्रयोग मधुररसेषु वर्जयेदित्यर्थः ।

सोताया पतिवशाच्चपलाया अलकायतेरपूर्वदुःखतलश्रेण्या, वनतीरशङ्कया
चञ्चतीभवतोर्नयनारविन्दयोश्च लीलया विलासेन, यदा लोलालकावल्या बलनो
समृज्यमानयोर्नयनारविन्दयोर्लीलाया, वर्णंश्वदितानि स्वाधीनीकृतानि लोकाना दर्शक-

भागे सप्त प्रत्याहार के वर्णों—अर्थात् वर्णों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों—के संयोग
हों—ऐसे ह्रस्वकार, विसर्ग, विभक्त के स्थान में आदेश-द्रावा आदि हुए मकार, त्रिह्रामूलीय, उपध्मा-
नीय, टवर्ग के वर्णों, प्रत्येक वर्णों के आष चार अक्षर, रेफ अथवा हृत्-द्रावा बने हुए संयोग, छ, म
और न के अनिश्चित अन्य व्यञ्जनों के वर्णों के साथ संयोग—अर्थात् इनके द्वितीय और तृतीय के प्रथम
से लेकर चतुर्थ पर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन वर्णों के मनीष-मनीष में आ-
वार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये ।

सवर्ण—अर्थात् जिनके स्थान पर प्रत्येक एक से हो—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों
से बने हुए संयोग और उपध्म-नीय के अनिश्चित किसी महाप्राण अक्षर के द्रावा बने हुए संयोग का
एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये । यह संदेश मधुर-रसों में वर्जनीयों का
विरण दिया गया है ।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिये । छान्दास प्रथम अक्षर—'लोलालकावलि ...' इत्यादि ।
अभिसारिका का वर्ण है कि—अक्षर वेग-अक्षर और घटित नेत्र-अक्षरों को छोड़ कर दर्शक जन

द्वितीयमुदाहरण—

भयघटितयोगपर-ह्रस्वाना प्राचुर्यं नैकटघेन गया—

ललनाजन विलोकयन् वीर्यं विमृशति—

'हीर-स्फुरद्रदनशुभ्रिमशीभि किञ्च,

सान्द्रामृत वदनमणविलोचनायाः ।

वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुविम्ब,

दूरीकरोति न कय विदुषा वरेण्य ॥'

उपपादयति—

अत्र त्रिशब्दपर्यन्त शृङ्गाराननुगुणम्, शिष्टन्तु रमणीयम् । उत्तरार्धे ककार-तकाररूपभयद्वयसयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावात्त दोषः । यदि तु 'दन्ताशुकान्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रामृतम्' इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम् ।

युवजनाना विलाचनानि गया, गादृश्या, प्रणयितो बल्लभस्य भवन सायाहनि सायसन्ध्यासमय व्रजत्या, अङ्गनाया वरवर्णिन्या, गति, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वार्धे दोषममासस्य प्रयोग शृङ्गाररमप्रतिकूलत्वाद् वर्जनीय ।

हीरा वक्ष्यमाणश्च शुक्लतया स्फुरन्त शोभमाना य रदना दन्तास्तेषा शुभ्रिण्या स्वच्छतया शोभि शोभनशीलम्, किञ्च सान्द्र धनममृत (मण्डलेऽधरे च) यत्र तादृशम्, एणविलोचनाया मृगतयनाया, वदन मुख विधाय विरचय्य, विदुषां वरेण्य श्रेयान्, (न त्वनमिह) वेधा ब्रह्मा, पुनरुक्तमिव पुनरुच्चारितपदेष्विति प्रयोजन, चन्द्रविम्बमिन्दुमण्डल, कय न दूरीकरोति कुतो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यदा नञ्काववा दूरीकरोत्येत्यर्थः ।

इह क्रमो फ-द मरुपकमाचक्षयप्रगितात् स्फु-द्र-भि- रूपमयोगप्रयात् पूर्व-वतिना मकारयोस्कारस्य च ह्रस्वाना प्राचुर्यं शृङ्गाररमस्यानुपकारकम् । शिष्टं तदनिरिक्त तु दोषराहित्यान मुन्दरम् । उत्तरार्धे क्वैतिककारतकारयो सन्नपि

के नयनों को दरीभूत कर देने वाले, सच मन्य में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की चाल किमकर चित नहीं चुगानी ? इस श्लोक में शृङ्गार-रम के प्रतिकूल लम्बा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है ।

जिनके आगे इय् प्रत्याहार के वा के मन्त्रो हों—पेते ह्यस्व स्वरों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग, जैसे—'हीर-स्फुरद्रदन' • इत्यादि । नायिक के मुख को देखना हुआ कोई अपने मन में मोचना है कि—हीरो के समान चञ्चल हुए दाँवों की स्वच्छता में शोभित और मयन अमृत (अथर-विम्बरन) से युक्त मृग-नदनी लदिका के मुख को बनाकर विशालों में श्रेष्ठ विशाखा पुनरुक्त के समान (गिरार्थक) चन्द्र-विम्ब को क्यों नहीं हरा देल—अब भी गगन में उसे क्यों उगा रहा है !

पूर्वोक्त पद्य में 'भि' शब्द पर्यन्त को रचना शृङ्गार-रम के प्रतिकूल है, क्योंकि यहाँ क्रम से

विपोगिनी सखी बने—

'कलितकुलिशघाता—केऽपि खेलन्ति वाता—
कुशलमिह कथं वा जायता जीविते मे ।
अयमपि वत ! गुञ्जन्नालि ! माकन्दमौलौ,
चतुक्वति मदीया चेतना चञ्चरीव ॥'

उपपद्यति—

यत्र त्रितीयजिह्वात्प्राचीयपञ्चमननुगुण माधुर्यस्य । यदि च—'कथय कथ-
मिनाशा जायता जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाता' कृतान्तः ।' इति
निधीयते, तदा नाप दोष ।

त्रिमगस्थानिकोपध्मानोयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपमानोयप्राचुर्यं यथा—

निर्दिष्टं परामृगति—

'जलका—फणिशावतुल्यशीला—नयनान्ता—परिपुङ्खितेषु लीला ।
चपलापमिना खलु स्वप्न या, वत ! लोके गुलमाधन कथं सा ॥'

ह आति ! कथय, यत क्वचित् कुरिताम्य वक्ष्यम्य घात इव घातो यैस्ते सद्य—
प्राणहारका, केऽपि विजयेण वर्णयितुमशक्या, वाता मलयानिला, खेलन्ति सतानि
श्रृङ्खल इव वदन्ति । अपि च—अयं पुरम्य, माकन्दमौली रमालसिद्धरे, गुञ्जन्
निम्बनन, चञ्चरीको मधुकर मदीया चेतना सजा वत ! चतुक्वति चतुक्वत्यस्य-
निलमिव निशाचीकराति तस्मान्मम जीविते जीवन कुशल कल्याण कथमिह वा
जायताम न कथमपीत्यथ ।

इह प्रथमचरण जिह्वाभावात्प्रथम द्विम्पात्तस्य प्राचुर्यं शृणुारस्य प्रतिबलत्वाद्भ्रंजी-
यम् । मन्दाफलम्बमर्षमुपनिम्नना विरहिणामन्तका वाता घान्तीरपर्यकपाठान्तरकरणे
तु जिह्वामूलीयाभावाद्दोषाभाव । वानपदस्य साक्षणिकत्वाच्च नाश्लीलता ।

यस्या स्त्रिया अलकाशब्दकुन्तदा फणिशावतुल्यशीला सर्पेदिगुमदुपकुरित

विहिता लयिका मयी म प्रती है—वज्र के समान अग्रान करने वाले न जाने कौन से वायु
(मलयानिला) का यह है—आओं व साथ रखने से बगु है, विग, भया ! मेरे जीवन में
क्या कौन उद्योग है स्वप्न और है मरिच । मयमे कभी मरने को बात न दूँ है कि अम के शिखरों
पर गुजना हुआ पर भ्रमर न मेरी चम्पा (वान-शक्ति) को चुन कर रहा है—जब काना
जा रहा है

उक्त श्लोक में त्रितीय जिह्वाभावात्प्राचीयपञ्चमननुगुण माधुर्य के अनुकूल नगा है । यदि यहाँ पर
'कथय कथमिवाशा' शब्दादि नूतन के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को परिवर्तित
कर दिया जाय तब यह दोष नहीं रहना । परिवर्तित पाठ का अर्थ (= पूर्व पाठ में नहीं था) यह
होगा कि 'मलयानिला पर रहने वाले मयी मे वान (उनके मुख में निकलने हुए) विरहिणियों के
दिने इतने रूप वायु बहते हैं' ।

उपमानोय का अधिकार, जैसे —

कोई दुःखी जन अपने मन में सोचता है कि—शिवके केश सर्पके बन्धों के द्वारा खम्बर

रेफघटितसयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—
रेफघटितसयोग यासकृत् प्रयोगो यथा—

अनुपममन्वामन्याऽभिघृते—

‘तुलामनालोक्य निजामखर्वं, गौराङ्गि । गर्वं न कदापि कुर्या ।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो—लता कियत्यो गहनान्तरेषु ॥’

पाठपरिवर्तनेन दोष परिहरति—

यदि तु ‘तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्’ इति निर्मायते, तदा साधु ।

लकार-मकार नकारभिः नाना व्यञ्जनवर्णानां स्वेनैव संयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—
हला ल-म-न-भिः नाना स्वात्मना संयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

घण्डिता नायकमुपालभने—

‘विगणय्य मे निकाय, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।’

तत्स्थाने कटुत्वादीनामुपसम्मादित्यर्थकोत्तराखं पाठपरिवर्तने तु टवर्गादिभावाद्गो-
षामाव ।

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेशिमुखतीषु निजा तुला स्वकीयोपमाम्, अनालोक्य, अखर्वं
विपुल गर्वंमनुपमत्वाभिमान, कदापि न कुर्या यतो गहनान्तरेषु काननप्रवेशेषु,
नानाफलानां भारोऽस्त्यास्विति नानाफलभारवत्य कियत्यो भूयस्य, लता
(साक्षर) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थ ।

अत्र रेफघटितसयोगप्राचुर्यं शृगाररसप्रतिकूलम् ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफसयोगस्याभावात्तत्र दोष इत्याक्षय । किन्तु तथापि रेफ-
घटितसयोगस्य तादवस्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारघटित-
सयोगप्राचुर्योदाहरणमुत्प्रेक्षितस्तु—‘चिरमिलितावुपगुह्यं प्रणयिजनौ गुह्यमक्रम वदत’
इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

हे शठ ! मे मम निकाय्य भवन, विगणय्य विहाय, तामन्या प्रियसीम्, यत त्वम्

बदल दिया जाय, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृंगार के अनुकूल ही जायगा । बदले हुये पाठ के अनुसार
अर्थ यह होगा कि ‘हे स्त्री ! अब जहाँ दोनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों इच्छितोचर होती है ।’
रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे :-

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—‘हे गोरे
अन्नो बली ! अपनी तुलना न देख कर तुझे अत्यधिक गर्वं नहीं करना चाहिये । वनों के मध्य में
विशेष पत्तों के मार से झुकी हुई कितनी लतायें शोभित हो रही हैं । यहाँ रेफों के द्वारा बने हुये
सयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, ये शृंगार-रस के प्रतिकूल हैं ।

इस पद्य के प्रथम चरण की नगद में ‘तुलामनालोक्य’ इत्यादि मूलेच्छ रीति से पाठ-
परिवर्तन कर दिया जाय, तब ठीक हो जाय । परिवर्तित अंश का अर्थ यह होगा, कि—‘इस पृथ्वी
पर समानता न देख कर

तु, म और न से ल व्यञ्जनों का उन्हीं व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—
घण्डिता नायिका घण्डित से कहती है कि—‘मेरे घर को अवहेलना करके (तु) वस (सपत्नी)

नकारादिवर्णत्रयव्यञ्जेदकारण भणति—

ल-म-नाना त्वात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यभावहति ।

उदाहरति—

यथा—

नलिना नायिकामालि पृच्छति—

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्ल तयनाम्बुजद्वयं ते ।

जलदालिभय जगद् वितम्बन्, कलित् क्षापि किमालि । नीलमेघ ॥'

यमद्वयसंयोगमुदाहरति—

भ्रूधटितसंयोगस्य यथा—

नायिकी मानिनी ब्रवीति—

'आसाय सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादर तपसा ।

अधुनाञ्जनेन मनाक् तव मानिनि । तुलना मुखस्याप्ता ॥'

अनुयातोऽनुगतोऽसि तन्नेव न्याय्यमुचितमस्तीत्यर्थं । अत्र प्रकारस्यासकृत् स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः ।

आवहति जनयति । ल-म-नमिद्वाना हला स्वात्मना 'संयोगो यथाऽभ्यव्यता जनयति तथा ल-म-नाना नेति तद्विप्रलम्भत्वात् हला निवेशितमिति भावः ।

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा श्रीः, उल्लसिता नितरामुञ्जम्भिता यदस्ति, यच्च ते तयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तथा, जलदालिभयं वपुः-प्रमया नीरदश्रेणीमयं जगद्विश्वं वितम्बन् नीलमेघस्तत्त्वेनाध्यवसितं—वृष्णचन्द्रं, किं न्वापि कलितो विसोक्तो मिलितो वाऽभूत् ? । अन्वयेदुद्योलासासम्भवादित्यर्थं ।

अत्र सकारद्वयसंयोगस्य द्वि प्रयोगेऽपि नाश्रयत्वम् । एव प्रकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि श्रेयम् । तदुदाहरणान्तु मृग्यमेव ।

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलनयाऽभ्यव्यत्वमिति शेषः ।

अपि मानिनि ! आसाय सायमभ्यासयेन्त सलिलभरे, वारिपूरे, सवितारं सूर्यं सादरमुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तद्रूपतपस्यया, अञ्जनेन कमलेन, अपुना तद्विदितोप-दिने मानावसरे षड् मुखस्य तुलना समता, मनागीयन्, आसाय सव्येत्यर्थः ।

के शीटे लगा पिरता, यह न्यायोचित नहीं है । यहाँ प्रकार का बार-बार संयोग, विप्रलम्भ अत्रार ने प्रतिष्ठित होने से दोष है ।

ल म और न का जो अने भाव के साथ संयोग होता है, वह इतना कठोर नहीं होता ।

जैसे—सुनो छिल्लापीपी से कह रही है कि—हे मणि ! तेरे मुख को यह शोभा उल्लास मुक्त हा रही है और नर दोनों नेत्र-कमल पूरे चिख रहे हैं, व क्यों ? क्या, कहीं, सम्पूर्ण मंगार को मध मन्टा मय बनाने वाला नील मेघ (मगवान् वृष्ण) गिळ गया था ! यहाँ उच्छर-लकार का संयोग दो बार आया है' फिर भी अश्रयणा प्रयोग नहीं होना ।

इव प्रत्याहारान्गणं वगैः क्व बार-बार संयोग, जैसे —

दूरी अथवा एली किं वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनी ! सख्यां शाल

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्थमरम्यम् ।

तत्परिहाराय पाठ परिवर्तयति—

'सरसिजकुलेन सम्प्रति, भामिनि । ते मुखतुलाऽधिगता ।' इति तु साधु ।

अप्यद्वयसयोगस्त्वसंज्ञदुष्टु सवर्णअप्यद्वयमयोगस्तु सवृदपि दुष्ट इत्युदाहरणात्—

सवर्णअप्यद्वयघटितसयोगस्य सकृत्प्रयोगस्य यथा—

नायको मानिनीमनूनयन् वृत्ते—

'अयि ! मन्दस्मिन्मधुर वदनं तन्वद्भि । यदि मनाक्कुरपे ।

अधुनैव कल्प्य शमित, राकारमणस्य हन्त । सात्राज्यम् ॥

सवर्णअप्यद्वयघटितसयोगनिषेधस्य निषेधान्तरैरुक्तार्थं नमागच्छुष्य निरस्यति—

नन्वत्र ककारद्वयसयोगस्य हन्धटितस्वात्मस्य वनैव निषेधान्, क ख सयोगस्य महाप्राणस्यगतिषेधविषयत्वात् तृतीयमयागस्य चामम्भवात् सव

अप्यद्वयसयोगाभावादिनि तु साधु मध्यक । इह पुरीयचरणाद्यस्य भामिनीति मम्बोधतपदस्याविद्यमानवद्भावात् तवेत्यस्य न जादेशो दुर्लभ इति तवेत्येव तन्म्याने पठनीयम्, अन्यथा च्युतसम्भारता म्यात् ।

अयि तन्वद्भि कोमलादवव । त्व यदि वदनं मन्दस्मिन्नाव्यक्तहृमिनेन मधुर मनोहर, मनागीपदपि कुरपे तर्हि अधुनैव न तु कालान्तर राकारमणस्य पूर्णिमा चन्द्रस्य, सात्राज्यं सुपमैकाधिपत्यं हन्त । (हर्षे) शमितं निवर्तितं कल्पय जानीहीत्यर्थं ।

इह 'मनाक्कुरपे' इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसयोगस्य सकृदपि मत्वाटोप ।

तक गहरे जन में रहकर आदर-पूर्वक सूत्र्य भगवान् का उपासना करने के बाद उमी तदस्या के मल ने अब कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है ।

यद्य उत्तरार्थ रमणीयं नहा है, क्योंकि बनार-जकार और पकार-नकार-रूप अय् वा मयोग दो बार आ गया है, जो दोष है

यदि 'सरसिजकुलेन' । इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्थ की परिवर्तित कर देया जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय । परिवर्तित पाठ का यह अर्थ होगा कि—'ह मानिनि । अब जाकर कामन्-कुल ने तेरे मुख की सुन्दरता प्राप्त की है । यहाँ परिवर्तित पाठ में 'न' का प्रयोग ठीक नहा है, क्योंकि हमने पूर्व 'मानिनि' कह सम्बोधन पद है, जिसको व्यकरण के अनुसार अत्रि-यमानवद्भाव ही जायगा, फिर पद में पर नहा होने के कारण 'न' आदेश होगा ही नहीं, अथ 'नव' ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा च्युतसम्भारता नामक अन्धकार दोष ही जायगा ।

सवर्ण अय् से बने हुये मयोग का एक बार प्रयोग जैसे —

नायक मानिनी नायिका से अनुनयभरी बात कहना है कि—'ह ऊरुगि । यदि तू अपने मुख की, धीन भी मन्द-हाम से मनोहर बना ल, तब हर्ष की बात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का माताज्य (शोभा के विषय में एकाधित्य) अभी-अभी शान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चिन्त भगवत । यहाँ 'मनाक्कुरपे' हम अश में दो सवर्ण अय् रूप ककार का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने से अशय्य हो गया है ।

र्णभ्रूयद्भयसयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न सकृत्प्रयोगविधयत्वेनास्य पार्थक्यात् । अन्यथा 'मनाक्कुक्षये' इति निर्दोष स्यात् ।

महाप्राणप्रप्लवत्तद्वर्णघटितसयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसयोगो यथा—

'अथि मृगमद्विन्दु चैद्भाले बाले समातनुपे । उत्तरार्धे तु प्राचीनमेव ।

इह ककारद्वय, क खसयोगश्चेति द्वावेव स्वर्णंभ्रूयत्तिसयोग सम्भवति, न तु तृतीय कश्चिन्, तथा च—ककारद्वयसयोगस्य हल्स्वात्मसयोगनिषेधेनैव, क—खसयोगस्य तु महाप्राणघटितसयोगनिषेधेनैव निषिद्धत्वात् स्वर्णंभ्रूयत्सयोगनिषेधो यदत्र विशिष्य विधीयते तन्निरर्थंभवेति पूर्वपक्षे—

हल्स्वात्मसयोग—महाप्राणघटितसयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेध, स्वर्णं-भ्रूयत्सयोगस्य तु नकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेध पृथगपक्षित एव, न तु ततो गतार्थ । पृथगेनक्षिपेधानुपादाने तु 'मनाक्कुक्षये' इत्यन्तगतत्वं सयोगाभावाद् दोषाभाव प्रसज्येतेत्युत्तरम् । क—खसयोगस्तु 'सम्यक् खेनसि 'मनाक् पितृयते' इत्यादावहनीय ।

अत्र महाप्राणप्रप्लवता भकारण घटित सयोगो दुष्ट । माशापूर्तावपि, चेच्छ-ब्दस्य प्राडिनवेशन सम्भवन्ती छन्द—कलत्रुद्धि प्रायो महाप्राणसयोगदत्तान्नायंभेषो-पेक्षिता । अधुनेव महाप्राणसयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयता व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदशनं कथं सङ्गच्छत इति चिन्त्यम् । इह पक्षे चरणद्वय-मुपात प्राचीनस्य 'अथि मन्दस्मितमधुर मित्यादिपद्यस्य पूर्वार्धे विधाय श्लोकपूर्ति-विधेया ।

स्वर्णं शब्द का संयोग दो हा प्रकार का हो सकता है, एक प्रकार—बकार का, दूसरा प्रकार—बकार का, तृतीय प्रकार का स्वर्णं शब्द का संयोग सम्भव हो नहीं है, अतः यह शक्य हो सकती है कि स्वर्णं दो शब्दों का संयोग जो पथक् करके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं व्यवहार हो नहीं रह जाय, क्योंकि बकारद्वय संयोग (जो एक पद्य में आया है) का निषेध तो—व्यवहारों का ज्ञ अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उनी से हो जाना है और जहाँ क-ख संयोग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उसी से वह गतार्थ हो जायगा । इसका उत्तर यह है कि व्यक्तियों का अपने अपने साथ संयोग कबला महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः इसका निषेध भी वर्गी कृति में किया गया है और स्वर्णं शब्द का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः उसका निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग इनका निषेध करना भी आवश्यक ही है । यदि स्वर्णं शब्द का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक् कुक्षये' यह निर्दोष हो हो जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ एक संयोग नहीं है ।

महाप्राण प्रप्लव वाले वर्णों से बने हुये संयोग का प्रयोग जैसे—पूर्वोक्त 'अथि मन्दस्मित' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अथि मृगमद्विन्दुम्' इस मूलोक्त के रूप में परिवर्तित कर देने पर । परा महाप्राण भकार के साथ दकार का संयोग दापयुक्त है । अर्थ इस परिवर्तित श्लोक का यह है कि 'हे बाने' यदि छटार पर क्षन्त्री बिन्दी लगा लीगी, तब . . . । उत्तरार्ध को बरी रहेगा, त्रिफला कर्ष परसे छिन्न जा चुका है । यहाँ एक बात विचारने की यह है कि जब मन्वन्तर ने पूर्व में यह सिद्धान्त बर दिया है कि महाप्राण वर्णों से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब

अथ मधुररसेषु व्यञ्जनीयेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयन्—

एव त्वप्रत्यय, यदन्तानि, यद्गुणान्तान्यन्तानि च शाब्दिकप्रियाप्यपि मधुररसे न प्रयुञ्जीत ।

अथ ध्वनिकायानुमतानि मधुररसेषु वर्जनीयान्ताह—

एव व्यञ्जयचर्वणातिरिक्तयाजनाविशपापेक्षा-नापातताजिकचम कारिणा-
ऽनुप्रा-प्रवन्धान् यमकादीश्च सम्भवतोऽपि क्विर्न निवध्नीयात् ।

तथा वर्जनीया निमित्तमनिदृष्टे—

यथा हि ते रसचर्वणाग्रामनन्भवंन्त सहृदयहृदय स्वाभिमुख विदधाना
रसपराङ्मुख विदधीरन् ।

एवमस्तमयोक्तव्यं कविभाषायक त्वप्रत्यय यदन्तमङ्गुलानि पराणि चक्षुषानि
वृत्तद्विधानानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीतत्यय । अथ निषेधो विबुधलक्ष्यानुरोधात्
सङ्घनयोर्विषयक एव, सङ्घप्रयोगो तथा दुष्प्रत्याभावात् । अत एव 'अलमानवपत्-
त्वात् स्वप्नयापीपमत्वात्' इत्याद्यवगम्यतु युरप्रवन्चेनाशङ्क्यम् । त्वादीनामसङ्घनयो
क्वंचित्त्व स्तुमेव ।

य व्यञ्जयचर्वणाया अतिरिक्त यत्नविशयस्य योजनाविगमपश्यन् तान्
आपातनन्प्रत्यात् एव (न तु परिणामे) चमत्कारिण परिणविषयकारनुच्छान्त
अनुप्रासयमक-सङ्घरलेप-चित्तप्रभेदानतिदुष्प्रयत्न वाचकाभङ्गुरान प्रथिमाप्रभावेण
नपञ्चन सम्भवितोऽपि, रमाद्यास्वादस्य पृथग्यत्ननिर्गन्तवेन प्रतिपादयान् क्विन्नु-
रसव्यञ्जन प्रस्तुते, न प्रयुञ्जीतत्यय । अत एवाक्यं ध्वनिकृता— रमाक्षिप्तया यस्य
वच रस्यश्रियो भवेत् । अपृथग्यत्ननिवय मोक्षनङ्कारो ध्वनो मत ॥ इति ।

अनुप्रासादीना प्रतीते स्वर्गविन्यविशयण रमाद्यास्वादान्तावाभावात् सदा
रमास्वादीरुपरायणस्य सहृदयस्य स्वाभिमुखाकरान रमाद्यास्वादपराङ्मुखीरगम्य
क्वचित् सम्भवान्, त मधुररसेषु वर्जनीया इत्यय ।

विर भगवन्मतेऽपि मयोग का 'अयि मृगमद् ' इत्यादि 'दाहा' कैमे विना कर्त्तुं
दा मशा-मतेऽपि मयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, वरन् नही

जैने उक्त अश्रवणों का मधुररस प्रधान शब्दों में तथा कान्ता अवश्यक है उना प्रका 'त्व'
प्रत्यय, दन्त, यद्गुणान् तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग (कृत्, तद्विधान आदि) दक्षिण वैदाक्यण
शैली के द्विय छात्रे हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

शब्दों के अन्वयन काल के लिये जो दान करना पता है, उनमें फल्य दन्त उनके समबन्ध
में बदलते हो जाय, ऐसे, ऊपर तौर से (न कि गहरी इष्टि न दिखार करने पर) अधिक चमत्कार-
वन्क भी प्रतीत होने का अनुप्रास के समूहों तथा दन्तशिक्षों का, दक्षिण वै
कवि के माय ही, तथापि मनबोध न कालो चाहिये, यह कवि के लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है ।

रस-प्रधान शब्दों में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करते का राज यह है कि यदि वे अधिक
और प्रधान हो जायेंगे, तो उनका समबोध रस के अन्वयन में न हो सके और वे सहृदय जन के
हृदय को अन्त और हीन छोड़े, इस कारण रस से विद्विष कर देंगे—अर्थात् सहृदय जन उनके
चमत्कार के चक्कर में पकर रमास्वाद से वञ्चित हो रह जायेंगे ।

'विप्रलम्भे विशेषतः' इत्युक्तं विप्रलम्भशृङ्गारध्वनी विशेषेण तन्निषेधमाह—
विप्रलम्भे तु सुतराम् ।

तत्र हेतु प्रतिपादयति—

यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्यैव, तन्नोयानपि
स्वातन्त्र्यमावहन् पदार्थं, सहृदयहृदयास्तुदतया न सर्वथैव सामानाधि-
करण्यमहंति ।

एतत्प्रघट्टकोक्तमर्थं प्रमापयति—

यदाह —

ध्वनिकारा इति शेष —

'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिवेशनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्व, विप्रलम्भे विशेषतः ॥'

निषेधप्रतिप्रमवमाह्वयति—

ये तु पुनरविलुप्तयाऽनुन्नतस्वन्धतया च न पृथग्भावनागपेक्षन्ते, किन्तु
रमचर्चणायामेव सुमुलं गौचरीकर्तुं शक्या, न तेषामनुप्रासादीना त्यागो युक्तः ।

ते वर्जनीया इति शेषः ।

सामानाधिकरण्यमेकत्र वृत्तिः ।

यतोऽप्य विप्रलम्भस्य सम्मोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानक-
रमात्वाद् इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्तवन्तरस्य लक्षणोऽपि सम्पकं सर्वथा सहृदय-
हृदयोद्वेजव स्यात्, तस्मादनेन सहानुप्रासादीना समावेशो न विधेय इत्याशयः ।

इत् शृङ्गारपद मधुररममाप्रपरम् । आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयत्नापेक्षलङ्घान्तरप-
रिग्रहः । नतो प्रतिपाद्या सत्यामपि प्रमादित्व कवेरनवघ्रातना शेषः । विप्रलम्भस्य
मधुरतमत्वान्न विशेषेण तेषा निषेधः ।

अविलुप्तयाऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता । अनुन्नतस्वन्धत्वमनुत्कटत्वम् । सुमुलमनि-
मुपेतानायासमिति यावत् ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में तो रामकी अनुप्रास आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में अनुप्रास आदि के प्रयास नहीं करने के सम्बन्ध में अधिक मात्रापर रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ-शृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है और हमी वाग्य, उमे सुन्दरीनों के बनावे दुबे शासन का उपमा दी गई है, उनमें यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी थोड़ा निल जाय, जिमका स्वाद अपनी स्वभाव मत्ता रचना हो, तो वह सहृदयनों के हृदय में बड़ी मार्मिक पोषा पहुँचानी है, विप्रलम्भ-शृङ्गार में अनुप्रास आदि शोक वैसी ही चीजें हैं, अतः उनमें साथ टन्त्र रहना सर्वथा अनुचित है ।

जैसा कि ध्वनिकार भानन्दधनाचार्य ने भी कहा है—'ध्वन्यात्मभूते ... " इत्यादि—
अर्थात् यदि कवि में ऐसी शक्ति हो कि ध्वनि-काव्य में अनावाम यमक आदि को रचना कर सके,
तब भी जैसा ध्वनि-काव्य को अपना शृङ्गार रस है, उनमें यदि कवि वैसा (यमक आदि का निवेश)
कर तो रहना चाहिये कि उसका अभावधानता ही जो उसमें लगे (यमकादिकों को) शृङ्गार प्रान-
काव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ-शृङ्गार प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये,
तब तो विशेष-रूप से कवि की अभावधानता समझी जायगी ।

मधुररमानुकूलमनुप्रासमुदाहरति—

यथा

सखी नायिका व्याहरति—

कस्तूरिकातिलकमालि । विधाय साय,
स्मेरानना मपदि शील्य मौवमौलिम् ।

प्रौढि भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा—
मुक्तासयन्तु परितो हरितो मृग्वानि ॥'

भाष्यगुणाथयरमव्यञ्जकरचन।दोगप्रदसंनमुपसहरति—

इत्यमेने प्रसङ्गतो मधुररमाभिव्यञ्जिकाया रचनाया मक्षेपेण निरूपिता दोषः

ये पुनरनुप्रासादोऽप्यपृथग्यत्ननिष्पाद्या अपृथग्भावनाविषयीभावयोग्याश्च, रम प्रतिबन्धनाभावात्तेषा नैव निषेध इति तात्पर्यम् ।

हे जालि ! ताय कस्तूरिकातिलक माले विधाय, स्मेराननेपद्मपत्रमुखी, रम मौवस्य मुधा (शुक्तिचूर्णलेपे) धवलप्रासादस्य, मौलि शिखर, सपदि शीज, नायाध्याम्ब, तथा च तेन कुमुदानि मुदामुदारा प्रौढिमतिनायितोल्लाम भजन्तु प्राप्नुवन्तु, हरितो विशश्च परितो विष्वक् मुखान्यप्रभागाम् उन्नासयन्तुद्भागान् निरूपय ।

अत्र वृत्तपुत्रास शृङ्गाररसापृथग्यत्ननिष्पन्नत्वादनून एवेति न निषिद्ध ।

इहीजस्वि-प्रमत्-रमानिन्यञ्जकरचनयावर्जनीयानामनभिधानान्मूना न रानीया, 'मधुररमेषु येनूकूला त एवीजस्विरनेषु प्रतिकूला इति प्रागेवो-न्वि-प्रतिकूलाता सामान्येनाभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसरचनासाधारण्येन तद्व्यञ्जक रचनाया वर्जनीयत्वाभावात् ।

जो अनुप्रास आदि किञ्चित् और विन्मृत न होने के कारण पृथक् (रमनिवेश प्रवृत्त न) बन जा कनेसा नहीं रहते और न रसान्तर से पृथक् अन्वय का ही अर्थ उक्तता रहते, किन्तु रम-प-के-के-लिने जो प्रवृत्त किया जाय, उनी में बन जा सकने है, उन अनुप्रासिकों को ही देना भी उचित नहीं ।

जैसे—'कस्तूरिकातिलक' इत्यादि । सखी नायिका में कहती है—हे मालि । मानवान में कस्तूरी का तिलक लगाकर शाय मन्त्र मन्त्र ठमठी हुई अंगी पर बाजा, किन्ने कुन्द मंग हर्ष को प्राप्त कर लें—अथर्व शस्त्र में विक्रिन्ति हो लठ और दिशयें अने दुर्गे का पूर्णता उल्लिखित बना लें—जन्ने प्रारम्भिक भाग कस्तूरी तरह प्रकाशमय हो जाई । यहाँ अनुप्रास न, परन्तु कचे उन्ने लिने पद्व प्रवृत्त किया है, देना प्रवृत्त नही होता, बल्कि देना ही प्रवृत्त है । नि-प्रवृत्तय के लिने जो कचे का यत्न हुआ है, उनी में अनुप्रासों का भाव नहीं है । इ-प्र-अनुप्रासों का अन्वयन भा रम के अन्वयन के मा ही हो जाना, अ-जैसे अनुप्रास को-रमों में भी प्राय है ।

इस तरह प्रसंग आ जाने के कारण मधुर-रमों के अनिबन्धन करने वाली रचना में इने व-इन दोषों का निरुपा मक्षेप में बर दिया गया है ।

प्रमङ्गाद् वैदर्भी रीति निरूपयति—

‘एभिर्विशेषविषयै, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता ।
माधुर्यंभारभङ्गुर—मुन्दर—पद—वर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्दिगरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता ।
ता विद्युषा वैदर्भी, वदन्ति वृत्ति गृहीतपरिपाकाम् ॥’

अस्या प्रसिद्धि दर्शयति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि ।

तथापि सहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

माग्निनीमालि प्रेषान् वा बोधयति—

‘आयानैव निशा, निशापतिकरै कीर्णं दिशामन्तर
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरल्लामयन्ति श्रियम् ।
वामे ! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा ॥ वास्मृणालतोऽप्यतितमा तन्वी तनुस्ताम्यति ॥’

एभिर्वचनं मामान्यैर्विशेषैश्च दूषणै रहिता, माधुर्यंभारेण भङ्गुराणामग्निमधुरा-
णामग एष मुन्दराणा पदाना वर्णना च विन्यासो मत्र, सा, वा निर्मानु क्वे
व्युत्पत्ति काव्यशास्त्रादिनिपुणतामुद्दिगरन्ती सूचयन्ती प्रसादेन गुणेन व्यञ्जकतया
युता, ता गृहीत परिपाको रसान्वादपरिनिष्ठा यस्या, तादृशी वैदर्भी वृत्ति रीति,
विद्युषा वाव्यायंभावनाकुशलता वदन्तीत्यर्थं । अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति
नामान्तर बोध्यम् ।

अस्या वैदर्भी रीति, उदाहृतानि शृंगाररस—माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि,
कियन्त्यनल्पानि पद्यान्येवोदाहरणानीति तदपेक्षेत्वागम्य ।

हे वामे मानग्रहिते ! निशा आभाता प्राप्तेव (न तु निशासम्भे विलम्ब)
दिशामन्तर मध्य निशासूरस्य करं निरणं कीर्णं व्याप्तमुद्गासितमिति यावत्,
भामिन्योऽपरामानवत्यश्च, विलामोचितकालमालोच्य, भवनेषु नोगावासेषु, भूषणगणै
परिहितालङ्कारनिकरै, धिय शोभामुल्लसन्नि वक्ष्यन्ति, त्व पुनरद्यापीदानीमपि

अत्र प्रमङ्गा—शाम वैदर्भी रीति का निरूपण करने हैं—‘पुमि’ इत्यादि विदग्धन सम रचना-
विशेष को ‘वैदर्भीरीति’ कहने हैं, जे एक विशेष और साधारण-शैली प्रकार के दोषों में रहित हो,
जिमें माधुर्य—पुन के अर में अरे हुए अनप्य सुन्दर वर्णों और वर्णों का विन्यास हो, जिमें बनाने
वाले (कवि) की व्युत्पत्ति प्रकटित होगी हो, जे प्रसाद गुण में युक्त हो और जिमें रस का पूर्ण
परिपक्व हुआ हो । इसी रीति को कुछ लोग उपनागरिका वृत्ति के नाम से पुकारते हैं ।

इस गति के उदाहरण ही मकले वाक्य जिनके ही पद्य पूर्व में कहे जा चुके हैं ।

नदक नदिवा से बह रहा है—प्रेमसे ! अब रात आधी गई, उनके आने में धोखा भी प्रिय
नहीं है, विश्वास न हो तो देव निरन्धर—नन्ददेव को निरणों से दिशाओं के अन्तर्गत व्याप्त हो
चुके हैं और मान्जिनी गिर्या मान छोड़कर आभूषणों से क्रीडा—मदिरों में शोभा को बना रही है ।
हे वामे ! शृंगार भर से विस्तीर्ण हो आचरण करने वाली ! तू अब भी मान की विशिष्ट भी कम नहीं

एतद्रचनाया स्खलनपरिहाराम कवेरवधानातिशयस्यापेक्षा प्रतिपादयति—
अस्याश्च रोतेनिमणि कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परि-
पाकभङ्गं स्यात् ।

अमरककवेरवधाननोपहित परिपाकभङ्गमुदाहरति—

यथाऽमरकवाविपद्ये—

मुग्धावृत्त वगंयति—

‘शून्य वासगृह विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

निद्राव्याजमुपागतस्य मुचिर निर्वर्ण्यं पत्युर्मुलम् ।

विस्रब्ध परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली

लज्जानम्रमुखी प्रियेण ह्यमता बाला चिर चुम्बिता ॥’

मान न अपाकरोषि न त्यजसि, तेन रावेण बालान्मृणालादपि, बतितमा नितमा
तन्वी कोमला, ते तनुस्ताम्यति क्लाम्यतीत्यर्थे । अत्रोत्तलक्षणा वैदर्भी रीतिः ।
बतितमामित्यत्र तकारस्य स्वानन्तर्यादथव्यत्व विभावनीयम् ।

अन्यथाऽवधानामावे ।

वामगृह क्रीडागार, शून्य प्रियानिरिक्तलोकरहित विनोक्त्य निनीनसहचरी-
सङ्कावसन्देहाद् विनोपेण दृष्ट्वा शयनान् तन्पात, किञ्चिदीपदेव (तावत् पार्श्वपरि-
वर्तनोपन्यासेनाप्यपलपितु शक्यत्वात्) शनैर्दंषा भूषणक्षणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्,
अपरकायेनैवोत्थाय, निद्राव्याजमनुरागजिज्ञासया कृतवनिद्राविडम्बनम् उपागतस्य
नत्थगत, पत्यु स्वामिनो न तु परिचयप्राचुर्यविरहात् बहलमस्य, मुख मुचिर
जागरणशङ्कया सुदीर्घकाल, निर्वर्ण्यं निद्रानिर्णयान् निशेषमवेक्ष्य, विम्रब्ध सविश्वासं
यथा स्यात् तथा गण्ड, परिचुम्ब्य परित कपोल-नयनादियु चुम्बित्वा, तेन जानपुल-
कामुद्भिन्नरोमाश्चा, गण्डस्थली कपोलयातिम, आलोक्य, लज्जा सापत्रपा, अत एव
नम्रमुखी ननानना, बाला षोडशवर्षिकी (मुग्धा), हसता स्वामीघानादासनामहेतु-
कहासभृता, प्रियेण, चिर लज्जाऽपगमपर्यन्त चुम्बिताऽभूदित्यर्थे ।

कर रही है । हाय ! हाय ! देख तो नवीन मृणाल में भी अत्यन्त दुर्बल यह तेरा शरीर तेरे ही रोष
के कारण झलान हो रहा है । जाने मैं यदि तेरे ऊपर दया नहीं करती, तो मनकर, परन्तु अपने इस
सुकोमल शरीर पर तो दयाकर । यहा वैदर्भीरीति के एक सभी लक्षण पश्य है ।

इस रीति के निर्माण करने में कवि को अत्यन्त सावधानी से इतरना चाहिये, अन्यथा परिपाक
का भङ्ग हो जायगा—रस में जिनका भावुरी आनी चाहिये, उनकी नहीं आ भवेगी ।

ऐसा कि अमरक कवि के पद्य में हुआ है —

कोई मुग्धा नायिका के अचरणों का कान्त करना है कि—बाला (मुग्धा नायिका) क्रीडागृह
को जगों से शून्य देखकर—अभिप्राय—मन को बर्ण पाकर धीरे-धीरे शून्या से कुछ उठो और निद्रा
का व्याज धिये हुए (न कि वस्तुतः सोये हुये) पति के मुख को चित्कण्ठ तक निहार कर (पति के
निद्रा-नयन हो जाने के विश्वास से) हाथी उसके मुख को बच्छी तरह चुम्बने, पर चुम्बने के बाद जब
उभने देगा कि पति के कपोल-प्रदेश रोमाञ्जुक हो उठे हैं, हा लज्जा के मारे उसका मुख नीचा

उपपादयति—

अत्र 'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र सवर्णभ्यद्वयसयोगः, तत्रापि नैकदशेन सुतरामश्रवणः। एव भ्यघटितसयोगपरह्रस्वस्यापि। तथा 'शनैर्निद्रा' इत्यत्र 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इत्यत्र च रेफघटितसयोगस्य, भ्यघटितसयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुरम्। 'विस्मयम्' इत्यत्र महाप्राणघटितस्य, 'लज्जा' इत्यत्र स्वात्मसवर्ण भ्यद्वयघटितस्य, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घान्तरस्य सयोगस्य, तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्व, लोकतेश्च द्वि-प्रयोग' कवेनिर्माणशामग्रादारिद्र्य प्रकाशयति।

'महीयसा दोषोद्धोषणमात्मन एव दूषण भवतीत्यभियुक्तौक्ति स्मरस्तता विरमति—

इत्थल परकीयकाव्यविमर्शनेन।

समानकर्तृक-प्राक्कालिकक्रियामा क्तो विधानात्तदर्थमिह पचाद्यन्तात्पञ्चापद-
पार्थक्यमवहेपम्।

'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र तययोश्चच्छयोश्च सवर्णस्यो सामीप्येन सयोग एक, भ्यद्वयघटितसयोगद्वयान् पूर्वमोह्रस्वोकारेकारयो सत्त्वादपरश्च दोष, 'निद्रा' इत्यत्र पत्यु इत्यत्र च शमस्य दकार-तकाररूपभ्यघटितसयोगत्वं पूर्ववतिन इकारोकाररूप-
ह्रस्वस्य प्राचुर्यं, 'शनैर्निद्रा' 'निर्वर्ण्य' पत्युर्मुखम् इत्यत्र रेफघटितसयोगस्य प्राचुर्यं च दोष, 'विस्मयम्' इत्यत्र घञकाररूपमहाप्राणघटितसयोगस्य प्रयोगो दोष 'लज्जा' इत्यत्र झया जकारस्य स्वात्मना सवर्णण्या सयोगस्य प्रयोगो दोष मुखी प्रियेण इत्यत्र घृष्ण-पदघटकस्य दीर्घकारानन्तर-पकाररेफसयोगस्य प्रयोगो दोष, विलोक्य उत्थाय निर्वर्ण्य' परिचुम्ब्य आमोक्य इति पञ्चवारान् क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोष, विलोक्य' आलोक्य' इति द्विनोदृष्टाता प्रयोगो दोषश्च कवे रषयितु निर्माणशामग्रादारिद्र्य काव्यरचनावारणीभूताया व्युत्पत्त्युद्भावितप्रतिभाया साहित्य-
मत्पत्व या प्रकाशयति बोधयतीति कविभिर्वेदमोरीतिनिर्माणे साधधानैर्भाव्य-
मिति भावः।

हो गया, पति के सामने उसका दृष्टि टिक न सकी। फिर क्या था! पतिमहाशय ठठ बैठ और हैम-
हैम कर पायीं मुग्धा कर्ती की न्यूनने रहे।

उक्त वच में 'उत्थाय' और 'किञ्चिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दो-दो सवर्ण सवर्णों (त्कार ध्वार और चकार-छकार) का संयोग है और वह भा समीप समीप में, अथ अनिश्य अभव्य है। इसी तरह इसी स्थान पर एक हावों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके अंग हैं, उन ह्रस्वों (उकार और इकार) का भा प्रयोग हुआ है। तथा 'शनैर्निद्रा' और 'पत्युर्मुखम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बने हुए मध्य का और झणों के द्वारा बने हुए मध्य जिनके अंग हैं, उन ह्रस्वों की भविता है। वचन 'विस्मयम्' इस जगह महा प्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण हावों का आन का भा संयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न पदगामा दीर्घ के बाद का संयोग है। इसी प्रकार क्त्वा-प्रत्यय का पाँच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्य, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन चारों में) और 'लोक्य' भातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) प्रयोग किया गया है, जिसमें कवि के मन रचना को सामग्री की कमी सूचित होती है।

प्रकान्त सविशेषपरसन्निरूपणमुपसहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसा ।

रसध्वनितिरूपणानन्तर प्राप्तावसरतया भावध्वनि निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिनिरूप्यते—

प्रथम भावस्य ज्ञानाय लक्षणं पृष्ट्वा परोक्तं तत् खण्डयति—

अथ किं 'भावत्वम्?' विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रमव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः ।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहान् कुतोऽतिव्याप्तिरत आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् ।

परकीयकाव्यदोषाद्यालोचनेनालम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रसत्तेषु गृह्येत् इति भगवद्वादरायणोक्तेरित्यर्थः ।

रसाना प्रकारानन्त्याद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम् ।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावभिन्नत्वस्य रमव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावलक्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यमित्यन्वि ।

साक्षादव्यञ्जकत्वेऽर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् । तदुक्तम्—
'शब्दबोध्या ध्यानकथ्यं । शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥' इति । इत्य सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशयः ।
वस्तुतस्तु गीतवाद्यादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायनत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादि-
भिन्निर्णयनेन न शब्दस्यार्थद्वारैव व्यञ्जकत्वम् । तथा च नाग्रिमतिवेशस्यावसरः ।

पर, आने दीजिये, दूसरों के काव्यों की आलोचना करना व्यर्थ है ।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ भाव-ध्वनि का निरूपण करते हैं —

यहाँ सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किसको कहते हैं ? उनका लक्षण क्या है ? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों—जिनसे रम व्यक्त हों, जहाँ की 'भाव' कहते हैं, तो यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है—अर्थात् रस-प्रतिपादक काव्य के वाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हैं और रस-व्यञ्जक भी हैं, अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा ।

यदि वारो कहे कि रस को व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रूप वाक्य में एक लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो इसका उत्तर यह है कि साक्षात् रस व्यञ्जक अर्थ ही अर्थ हों पर धन अर्थों के द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं, अतएव विद्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोध्या ध्यानकथ्यं शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता'—अर्थात् 'अर्थ' शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है, और शब्द भी अर्थों का आश्रय-वाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है, अतः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है । वस्तुतः तो ध्वनिकार आदि ने शब्दों की भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तदनुसार अर्थद्वारा वाक्य को व्यञ्जक मानने का आवश्यकता भी नहीं है ।

शब्दस्य साक्षाद्भवञ्जकत्वमबुद्ध्वा दोषवारणाय लक्षणे निवेश विषय निरस्यति-
द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि
भावनाद्वारव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्यापत्तेः ।

ननु कान्यवानपेक्षितव्याप्तिं वारयितुं शब्दनिष्ठत्वे सतीत्यपि लक्षणे प्रवेश्यतानि-
त्युक्तिं निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावभिन्नत्वस्येव] शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे
न निस्तारः । प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जनताऽभावादभ्याप्यापत्तेः ।

भावध्वनावध्यामिमात्रवारणमाद्यङ्गुयं शब्दयति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोप-
प्रसङ्गात् ।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वमिति लक्षणे तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य
पुनः—पुनरनुमन्धानत्प्राया भावनाया एव साक्षाद्भवञ्जकत्व भावस्य तु भावनाद्वारव
रसव्यञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भव एकः, साक्षाद्रस-
व्यञ्जिकाया भावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्यतनिवेशोऽभ्यङ्गत इत्यभिप्रायः ।

निस्तारो निर्वाहः ।

अत एव—भावनाया साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वाच्छब्दभिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणाति-
व्याप्तौरेव, एव भावध्वनौ भावस्य प्राधान्येन व्यज्यमानतया रसव्यञ्जकत्वानावाद्
भावलक्षणाव्याप्तेश्च शब्दभिन्नत्वनिवेशेनापि न निर्वाह इति सारम् ।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वनमानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जनं भवत्येव,
ततश्च भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वात्प्राव्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम यतो भावध्वनावपि
यदि पर्यन्ते रसप्रतीतिं स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव

बादी कह सके है कि इसी लक्ष्ण में 'जो किसी को द्वार न बना कर रसों का व्यञ्जक हो'
इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषण और लगा देंगे, तब तो वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि
वह सर्व को द्वार बना कर व्यञ्जक है, परन्तु ऐसा करने पर लक्ष्ण में अलग्गद दोष ही ला आया—
अर्थात् वह सब का लक्ष्ण बादी भी संघटित नहीं हो सकेगा, क्योंकि विशेषो सर लोग भाव मानते
हैं, वे भी भावना (वार-द्वार अनुमन्धान) के द्वार ही व्यञ्जक मानते हैं । दूसरे, भावना में अति-
व्याप्ति भी हो गयीगी, क्योंकि बिना किसी के द्वार बनाये वही रसों को व्यञ्जित करेगा है । वस्तुतः
तो उक्त रीति से शब्द भी बिना किसी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होगा ही है, अतः यहाँ तब भावना
में एक लक्ष्ण की अतिव्याप्ति ही होगी—अलग्गद नहीं ।

इसी लिये शब्द में 'शब्दभिन्न' विशेषण डालने पर भी बदल नहीं हो सकेगा—अर्थात् यदि
'विभावों और अनुभावों से अनिश्चित नया शब्द से भिन्न जे रसों का व्यञ्जक है, वह 'भाव' है'
ऐसा भी लक्ष्ण बनायें, तब भी लक्ष्ण नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति
रहगी ही । एवम भाव-ध्वनि-रस-रस में जे भाव प्रधानता अभिव्यक्त जान है, वह रसों का व्यञ्जक
नहीं होता, अतः उनमें लक्ष्ण की व्याप्ति भी होगी—अर्थात् उक्त भाव में लक्ष्ण संघटित नहीं होगा ।

यदि बादी यह सर्व संघटित करें कि जहाँ भावकी ध्वनि प्रधान होती है, वहाँ भी भाव-ध्वनि
के बाद अन्त में रस की ध्वनि होगी ही है, अतः उस तरह के भावों में रस-व्यञ्जकता है ही । इत्यत्र

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचम-
स्कारित्वात् ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यापि न शक्य वदितुम्, चमत्काररहितरस-
व्यक्ती मानाभावात् ।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिप्राहकमानेनानग्दाशाविनाभावस्य प्रागेवावेदतात् ।

इदानीं भावध्वनी पार्यन्तिकी रसाभिव्यक्तिमभ्युपगत्यापि तद्भावलक्षणं द्रूपयति—
अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्,
तथापि देश-काल-वयोऽवस्थादिनानापदार्थघटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यति-
व्याप्तिः, तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात् ।

स्यात्तु भावध्वनित्वमिति भावध्वनेर्विलोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रती-
तिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम् ।

ननु भावध्वनिस्थले प्रथमं भावप्रतीति, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र
रसप्रतीतिश्चमत्कारकत्वाभावात् रसध्वनिव्यवहार, अपि तु भावप्रतीतिश्चमत्कारितया
भावध्वनिव्यवहार एव स्यादिति चेत्, न 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' 'रसे सारश्चम-
त्कार सर्वत्राप्यनुभूयते' इत्याद्युक्तेरनुभवाच्च चमत्कृतिरहिताया रसप्रतीतिरङ्गीकृती
मानाभावादिति भावः ।

येन सहृदयसमवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणी रसस्य ग्रहणं ज्ञान साधनं वा
भवति तद्धर्मिप्राहकं मानम्, तेन यत् सच्चिदानन्दमयो ब्रह्मसनामिरेव रसो ज्ञापितः ।
तस्मात् तस्य रसस्य चमत्कारनिघ्नानन्दं विनाऽभावाद् रसाभिव्यक्तिश्चमत्कारिण्येव,
न तु कदापि तद्रहिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रसनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः ।

तथापि भावध्वनाव्याप्त्यापत्तिवारणेऽपि । तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति,

समाधानं यह है कि यदि भावध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहाँ
भी रस की ही प्रधानता ही आने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने छेगा, फलतः 'भाव-ध्वनि'
का साहित्य जगत् में कच्छेद ही हो जायगा, अतः भाव-ध्वनि-स्थल में रस को ध्वनि नहीं माननी
चाहिये ।

यदि इस पर भी वादी यह कहे कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त
में रस की अभिव्यक्ति यत्रपि अवश्य होती है, तथापि वहाँ 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इसलिये नहीं
होता कि रसाभिव्यक्ति में वहाँ कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार
रहना है अतः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होना है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठोक नहीं, क्योंकि
चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होगा ही नहीं ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस पदार्थ की सिद्धि
होनी है, उमी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) भंग का अविनाभाव
(उपके विना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब चमत्कार-रहित रस की
सत्ता कैसे हो सकती है ।

अब यदि वादी कहे कि रस की अणुभावाभाव के गौण होने पर भी वाच्य की अवेद्या प्रधान होने

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्यति—

नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयवित्तवृत्तित्व तत्त्वम्, भावादिवर्चवर्णायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

‘कालागुरुद्रव सा, हालाहलवद् विजानती नितराम् ।

अपि नीलोत्पलमाला, वाला व्यालवल् किलामनुते ॥’

इत्यत्र हालाहलसदृशप्रकारकज्ञानेऽतिव्याप्त, तस्य निप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च ।

शब्दभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वमिति नयनेऽपि । इत्थ तथापि द्वयसमावस्य वापनम् विभावानुभावभिन्नत्वे सतीति शब्दभिन्नत्वे सतीत्यस्याप्युपनक्षणम् ।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशाया रसाभिव्यक्तिरस्तु तथापि न तवष्टमिद्धि, यतो ध्वन्यमानभावस्य रसाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तन्नोत्पूर्वाया भावलक्षणाध्याप्तवार्थेऽपि, काव्यवाक्यायस्य देशकालाद्यनेकपदाथप्रतिरस्य विभावानुभावभिन्नत्वतः शब्दभिन्नत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्याप्तैर्जागृत्कत्वादित्याद्य । इह न ‘भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवञ्जित इत्यभियुक्तोक्तवर्नाध्यनावपि विवाह-प्रवृत्तभृत्यानुगतराजवद् रसस्य प्रतीतिरल्पव्यक्तकारा भवन्ती राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद् भावस्य प्रतीनेत्रमत्कारोत्पत्तिवर्धन प्राद्या प न विनानुमहतीत्यवाम्नुपगमपक्षस्य निदानम् ।

ननु रसाभिव्यञ्जकत्वे सति चर्वणाविषयीभूतत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य लक्षणमस्तु रसाभिव्यञ्जकत्वमात्रविशेषण भावचर्वणायामतिव्याप्तवर्णाय चर्वणाविषयीभूतत्वमपि चित्तवृत्तिविशेषणमुपात्तम् तथा च भावादिवर्चवर्णाय चर्वणाविषयत्वाभावाभातिव्याप्तिरिति पूर्वपक्ष ।

के कारण, अथवा विवाह में दूल्हे बने हुये दीवान आदि नीकर व कोष्ठ चरने हुये राजा की तरह (क्योंकि वहाँ राजा की अपेक्षा दुल्हा की प्रधानता रहती है) रस का अथवा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य में ‘भाव-व्यक्ति’ का व्यवहार हो सकता है, तो इस प्रधानता ध्वनित होने वाले भाव को भी पर्यन्त में रस-व्यञ्जक मान लेते हैं परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि देश-काल, अवस्था, और स्थिति आदि (जो विभाव अनुभाव से भिन्न है) अनेक पर्यायों से बने हुये श्लोक के वाक्यार्थ में व्यतिव्याप्ति हो जयगी क्योंकि वहाँ विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त भी है और रस का व्यञ्जक भी है । सारांश यह है कि वह लक्षणा विन्नी भी पवार से मङ्गल नहीं हो सकता ।

अब यदि कोई वह लक्षणा बतावे कि ‘रस चित्तवृत्ति’ का ‘भाव’ बहान है, जो रसको अभिव्यक्त करनेवाली चर्वणा (आस्ताद) का विषय हो—यम आस्ताद में आ जगती हो वहाँ ‘रसाभिव्यक्त चित्तवृत्ति’ का नाम भाव है’ इतना ही लक्षणा करने पर अर्थों की चर्वणा (आस्ताद) में व्यतिव्याप्ति हा जायगी, क्योंकि वह भी रस को अभिव्यक्त करती है और चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः ‘चर्वणा-विषय’ वह विद्वेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया, जिससे शक्त व्यतिव्याप्ति का कारण हो गया, क्योंकि चर्वणा, चर्वणा का विषय नहीं होती, यह समझना चाहिये । परन्तु यह लक्षणा भी ठीक नहीं, क्योंकि—अगर-काष्ठ की बहर के समान समझने बाटो वह बाटा (मल बुरे के हान से शय्य भरी

गत्यन्तरविरहाद् भावत्वमखण्डोपाधि मन्यमानाना भवतमपाकरोति—
नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात् ।

इत्य परकीयलक्षणानि प्रतिक्षिप्य, स्वकीय लक्षणमुपक्षिपति—
अत्रोच्यते—

विभावादिव्यज्यमान-हर्षाधिन्यतमत्वं तच्चम् ।

‘सा दयनीयदशापनस्त्वेन प्रमिद्धा, बाला सदसद्विवेकविधुरा मम सखी, कालागुरु-
द्रव कृष्णगुरुरसमपि हालाहलवन परलतुल्य विजानती, नीलोत्पलानौ कुवलयाना,
मातामपि, व्याताबाल कृष्णसर्पश्रेणीम्, धामनुते सर्वथा मन्यते, इत्ययंके नायक
प्रति वियोगिन्या सहयोवते ‘काले’त्यादिपद्ये, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्रवाधिष्ठा-
निकस्य हालाहलसादृश्यप्रकारचित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसा-
नुभावत्वाद् रसामिब्यञ्जकतया चर्वणागोचरतया च तत्रातिव्याप्ति स्यादतो नेद लक्षण
युक्तमित्युत्तरयक्ष ।

नागेशमट्टास्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावमिन्नत्वमपि निवेश्यातिप्रसङ्गं वारयन्ति ।

भावत्वमिदखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निषिद्धि न शक्यम्, भाव-
त्वस्याखण्डोपाधित्वाङ्गीकारेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानामावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि
निबन्धु शक्यत्वाच्च ।

विभावादिभिर्व्यज्यमानस्त्वे सति, हर्षाधिन्यतमत्व भावत्वम् । हर्षादयश्चतुस्त्रिसद-

सखी) नील-कमलों की माला को भी, मानों, सर्पों की पशुक्ति मानती है’ एतदर्थक, नायक के प्रति
विरहिणी की सखी के द्वारा बहे गये ‘कालागुरुद्रव सा ’ इत्यादि पद्य में जो ‘कालागुरु
(अगर) को जहर के समान ममज्ञती है’ इत्याकारक नायिका के ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस
ज्ञान में अतिव्याप्ति ही जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभव है—वियोगकालिक
प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद रस का व्यञ्जक
भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसामिब्यञ्जक चर्वणा का विषय है और चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि
ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है । नागेश भट्ट उक्त लक्षण में ‘अनुभावमिन्नत्व’ यह एक और
विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करने हैं । यहाँ हिन्दी रसगद्गाभर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा
चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—‘इम स्थान पर, महदयभावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान ही
रहा है, सममें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभाव है—उसके
द्वारा उत्पन्न हुआ है इत्यादि’ परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सन्नत नहीं जैचता, क्योंकि—सहृदय
भावक को जहर की बराबरी का ज्ञान कैसे होगा ? उस ज्ञान की उत्पत्ति ही वियोगकालिक प्रेम से
होती है, और सहृदय वियुक्त प्रेमी नहीं रहता, हाँ, नायिकाविनिष्ठ उक्त ज्ञान का ज्ञान सहृदय को
भवस्य होता है । परन्तु वह ज्ञान—ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस—व्यञ्जक ही ।

यदि वादी कहें कि भावत्व अखण्ड व्यापि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई आवश्यकता
नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—भावत्व को अखण्ड व्यापि मानने में अनुगत प्रतीति आदि जो
ज्ञापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड व्यापि दिना माने भी निर्वाह हो सकता है,
फिर वैसा मानना निरर्थक भी है ।

एक रीति से परकीय भाव लक्षणों का खण्डन करके अब स्व-सम्मत सिद्धान्तमूत ‘भाव’ का लक्षण

स्वतक्षण प्राचीनोक्त्या इदमिति—

यदाहुः—

‘व्यभिचार्यश्चितो भावः’ इति ।

अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्ति मत्तत्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधां दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः ।

द्वितीय मत्तमाचष्टे—

साऽपि रसन्यायेनेति केचित् ।

नन्तर निरूपयिष्यन्ते । विशेषणानुक्तौ वाच्यहर्षादिषु विशेष्यानुक्तौ च रसादिष्वति-
व्याप्तिः । अन्यतमत्वस्य सक्षणकुक्षिप्रवेशे गौरव, तत्परिहरण च मया प्रागेनोपन्यस्त-
ममसेयम् ।

यश्चित्तोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थः । अन्यत्र तु
प्राधान्ये नाभिव्यक्तौ व्यभिचारी, अपुष्ट स्यायी च भावः कथितः ।

न्यायस्तुल्यता ।

शास्त्राख्येण सामाजिकाया हृदये स्थितानां काव्यनाट्ययोपरम्पारितैरविहृदैश्च
भावेरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव
प्राधान्यमुपलब्धवता हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे प्रागुपन्यस्त
प्रथमं सिद्धान्तमसत्तम् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकाया हृदये स्वभावतो विद्यमानोऽपि पिहितो विभावाद्यभिव्यक्तिमा-
मग्र्या सत्त्वोद्वेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भगनावरणश्चिदानन्द एव
यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्वेकेण भगनावर-
णचिद्विणिष्टा हर्षादयो भावा अपि सामाजिकहृदयेऽभिव्यज्यन्ते इति रसनिरूपणे केचि-
दित्यनेनोपन्यस्त द्वितीय मत्तम् ।

कहते है—‘अधोऽव्यते’ इत्यादि । विभाव आदि से ध्वनिता किये जाने वाले हर्ष आदिकों (जिनकी
गणना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम ‘भाव’ है ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘व्यभिचार्य’ इत्यादि । अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभि-
चारी-भाव को ‘भाव’ कहते हैं ।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बत-
लाये हैं, जब शब्दस्वर वन्ही तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-
मूल तरीके का उल्लेख करते हैं—‘हर्षादीनाम्’ इत्यादि । सामाजिको नाटकदि के देखनेवालों और
काव्य के पढ़ने सुनने वालों में गहनाकारण से जो हर्षादिक रहते हैं, जहाँ की स्थायीभावों की तरह
अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् शासनाकारण से सामाजिकों में रहने वाले और काव्य अध्या नाटक से
व्यस्थित किये गये अनुवृत्त तथा प्रतिवृत्त सभी तरह के भावों से नदी दबाने योग्य स्थायीभावों की
जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, जमी प्रकार प्रधान बने हुए हर्ष आदि
भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भावों को अभिव्यक्ति रस की तरह सोनी है अर्थात् जैसे, सामा-

तृतीय मतमुपादत्ते—

व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते ।

वर्षया भावानामानव्यक्तौ कारण परीक्षते—

विभावानुभावो चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेवमिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तर व्यञ्जकतयाऽवश्यमपिरूपते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः ।

प्रकरणादौना तात्पर्यनियामकत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधान्यापत्तेः सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयमेवेति सिद्धा-
न्तपक्षमाह—

वस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीय-
सामग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नात्तरीयकतया तन्निमानभावहृत्तौ व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि
न क्षतिः । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य ।

व्यङ्ग्यान्तर रसभिन्न वस्तुरूपमलङ्काररूप च ।

वाचकमन्दाद् वाच्योपस्थितावपि वस्तुबोद्धव्यादिविहित्ये सत्यनुरणनन्यायेन
यथा वस्तुमलङ्काररूपो व्यङ्ग्यबोधोऽर्थो श्रोतृणां हृदयेऽभिव्यज्यते, तस्यैव विभावानुभाव-
कतत्तच्छब्दप्रत्ययान्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतृणां हृदयेऽभिव्यज्यन्ते
इति रसनिरूपणोपर इत्यनेनोपन्यस्त तृतीय मतम् ।

अत्र भावव्यञ्जने विभावानुभावेव व्यञ्जकौ, न तु स्वाविरिक्तौ व्यभिचारिभावो
व्यञ्जकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिभक्तिकुक्षिप्रवेशे कदाचित् तस्यैव प्राधान्यस्य
सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकत्वमत्र नाङ्गीक्रियते इत्याकृतम् ।

प्रकरणादिवशात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावस्य व्यञ्जिका या सामग्री,
तस्यैवाविभावानुभावित्वेन यतो व्यञ्ज्यमानोऽपरो भावो भवति तस्मात् स्वल्पतया नास-

क्तियों में स्वभाव रहने वरुण भी आत्मानन्द अविद्या से इच्छा रहना है, पर वाच्यगत अष्टौक्तिक
व्यापार से वस अविचारमक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वरुण आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है
और वही वाच्यगत स्थायीभाव से अहित चिदानन्द की रस कदा बाणा है, वही तरह वाच्यगत
चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं ।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यञ्जकों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—
अर्थात् जैसे वाच्य तथा वाचक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद वरुण एवं वीरव्य
आदि के ज्ञान-द्वारा वस्तु अतःकाररूप सत्यव्यक्तमन्वहय अर्थ सद्भावों के हृदय में अभिव्यक्त होत है
वही प्रकार हर्ष आदि भाव भी सत्यव्यक्तमन्वहय के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं ।

अब इस भावों के व्यञ्जक कौन हो सकत है ? इस बात की परीक्षा करत है—'विभावानुभावो'
इत्यादि । विभाव और अनुभाव ये दो ही भावों के व्यञ्जक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभि-
चारी (जिसको प्रधान व्यञ्जक होने के नाते भाव कहते हैं) के अतिरिक्त वरुण में दूसरे व्यभिचारी की
व्यञ्जक मानना आवश्यक समझा जायगा, तब वही (व्यञ्जक व्यभिचारीभाव ही) प्रधान हो जायगा ।
कारण यह है कि जैसे वरुण (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वरुण
(व्यञ्जक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यञ्जकता वरुणमें अधिक है । अतः भावों के
दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यञ्जक मानना उचित है ।

नन्वेकस्मिन् भावेऽङ्गिति परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे, न तु भाव
ध्वनित्वे तत्र स्यादित्याशङ्क्य समादधाति—

न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः पृथग्विभावानुभावानिव्यक्तस्यैव
(भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् ।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद
एव भवेत् ।

मानोऽपि परोव्यभिचारिभाव प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावा-
नुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य भावव्यञ्जकताङ्गीकारे न तस्माद्भावापत्तिः । अत एव
गर्वादी भावेऽङ्गिति, व्यभिचार्यन्तरस्यामर्थस्य, अमर्षादी चाङ्गिति गर्वस्याङ्गत्व न
विरट्कमित्यभिप्रायः ।

यत्र प्रधानभावव्यञ्जिकाया विभावानुभावरूपसामग्र्या निमग्नता सामग्र्या भावा-
न्तरमभिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपहारकारणत्वम्, न
त्वङ्गत्वेनैव । प्रकृते तूमयोरैवं सामग्री व्यञ्जिता, तस्माद्भावा गुणीभूतत्व
सम्भवतीति भावः ।

अत एवाभिप्रेतसामग्रीव्यङ्ग्यत्वादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बन्धयोर्भावयोगुणप्रधान-
भावभावः । अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावानुभवयोगे गर्वादिभावध्वनाव्यमर्षादि-
भावानामभिप्रेतसामग्रीव्यङ्ग्यप्रधाना बलाद् गुणीभूतव्यपदेशो सर्वत्र प्रवृत्ते, भावध्वनिव्य-
पदेशात् संप्रसा तोष एव स्यादित्यर्थः ।

बन्धुन तो जब प्रकण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जयगा, तब उसको ध्वनि
काने वाली सामग्री के द्वारा, अन्यभाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनि ही नहीं हो सकना, इस
कारण यदि कोई अन्य भाव ध्वनित हो भी जय और वह प्रकण प्रथम भाव को अदेशा दुबल होने के
कारण उसका अर्थ बन्द रहने से कोई ध्वनि नहीं—अर्थात् प्रकण आदि को सहायता से प्रबल बना
दुआ एक भाव जब प्रधान हो जयगा, तब दूसरा भाव व्यपदेशिक के रूप में अभिव्यक्त होकर भी
दुबल रहना, अत प्रधान हा नहीं सकना, इसलिये यदि विभाव की तरह व्यभिचारीभाव की भी
जबों का व्यञ्जक माना जय ता किसी ध्वनि की संभवना नहीं है । जैसे कि गर्व में प्रधानता
व्यञ्जक होने पर अमर्ष अर्थ और 'अमर्ष' के प्रधान व्यञ्जक होने पर गर्व अर्थ होता है ।

यदि अत वदें कि इस तरह भाव-ध्वनि-स्थल में एक भाव को अङ्गीकृत में और दूसरे भाव को
अर्थ रूप में व्यपदेशक मानने पर वह वाक्य 'गुणीभूत व्यञ्जक' कहलायेगा 'भाव-ध्वनि' नहीं, ता इसके
उक्त में अन्तर्गत का बल दे कि ऐसा नहीं हो सकना, क्योंकि प्रधान भाव की व्यञ्जक करने वाले
विभाव और अनुभाव में प्रतीयित विभाव और अनुभाव से जो गुण भाव व्यक्त होगा है, अत एव
प्रधान भाव के व्यञ्जक होने पर निमित्त व्यक्त होता व्यपदेशक नहीं, अतः तु अकस्मिन् है, इसी वाक्य
न गुणीभूत व्यञ्जक-व्यपहार का कारण होगा है, भाव-ध्वनिस्थल में तो अङ्गीभूत भाव भी कहीं
विभाव-अनुभावी से अभिव्यक्त हुआ रहना है, अतः अङ्गीभाव ध्वनित होगा है, अत वहाँ का
अङ्गीभूत भाव-व्यञ्जक, गुणीभूत-व्यञ्जकता का निमित्तक नहीं बन सकता ।

निमित्तके वल रीति से अकस्मिक धार ही अङ्गीभूत होने पर गुणीभूत व्यञ्जकता का कारण
होना है, इसीलिये व्यपदेशित्व में प्रधान भाव से निरवृत्त भाव की ध्वनि होती है, जो अन्य-

विभावस्य भावे निमित्तकारणता वक्ति—

विभावम्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्यैव सव-
धेऽालम्बनोद्दीपने अपेक्षित ।

विशेषमाह—

यदि तु क्वचित् सम्भव, तदा न वायेते ।

भावरूपता प्राप्तान् हृषादीन् क्रमेणोद्दिशति—

हृषादयस्तु—

हर्ष-न्मृति-श्रीडा-मोह-धृति--शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-भ्रम-
गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-श्राम-सुप्त-विवोध-ऽमर्षा-ऽग्रहित्योग्रतोन्माद-
मरण-वितर्क-विपादोत्सुक्याऽऽदेग-जडता-ऽऽलस्य--ऽसूया-ऽपस्मार-
चपलताः । प्रतिपक्षकृतधिकारादिजन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभि-
चारिणः । गुरुदेव-भृष-पुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।

अत्र भावध्वनौ । यथा रसे व्यञ्जनीये विभावस्यालम्बनतयोद्दीपनतया अपेक्षा
भवति, तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभाव प्रति विभा-
वस्य निमित्तकारणतैव सामान्यत इत्यथ ।

क्वचित् कस्मिंश्चिद् भावे व्यञ्जनीय सति जालम्बनविभाववदुद्दीपनविभावस्यापि
यदि सम्भव स्यात्, तदा ते जालम्बनोद्दीपन न वायेते । अत एवाग्रे रसामासादाह-
रणप्रसङ्ग उद्दीपनस्याप्युपादान नासङ्गतम् ।

भावानामिहोपदेसकम् प्राचीनग्रन्थप्रतिकूलम् ।

हर्षप्रभृतयन्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा गुर्वादिविषयचरतिश्चेति चतुस्त्रिंशद्
भावा सन्तीत्यर्थम् ।

रीत्यक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनित होने पर जिनका ध्वनि होना आवश्यक होता है—अर्थात्
जो प्रधान भाव-व्यञ्जक-मानसा में हो अल्प हुआ रहता है । तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि स्थल में
प्रधान भाव में निश्चय उभय भाव का ध्वनि नही होता, यिनका प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनित
होना निश्चय नहीं है । अन्वय (कति प्रधान भाव-ध्वनि के साथ नियमन ध्वनि मेंने वाक्य
अनुभूत भाव भी गुणाभूत व्यङ्ग्यत्व-व्यवहार के कारण हैं, तत्र) यथादिभावनध्वनि का लक्षण ही हो
जाय, तब यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-स्थल में अद्वय रूप में नियमन ध्वनि होने वाले
अनर्थ आदि को लेकर गुणाभूत व्यङ्ग्य काव्य का व्यवहार ही भवत ही जयगा ।

विभाववत् ते यहाँ व्यभिचारीभाव के साधारण निमित्तकारण का ग्रहण समझना चाहिए, न कि
रस को तरह उनका सर्वथा अलम्बन और उदापन होना अपेक्षित है ।

यदि कहाँ किसी रस भाव की ध्वनि में विभाव का अलम्बन और उद्दीपन होना भी सम्भव
हो, तो हमका निषेध भी नहीं करता है । अत एव आगे रसभास के उदाहरण-प्रसङ्ग में अलम्बन
के जैसे उदापन को भी की गई चर्चा अमग्न नही होती है ।

अब भावों का परिगणन करते हैं—'हृषादयस्तु' इत्यादि । भावों को कुल सख्या २४ है । उनमें

उदाहरति—

यथा—

नायवी विमृशति—

‘तन्मञ्जु मन्दहसित श्रुतितानि तानि,
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति क्रन्त !,
सायन्तनाम्बुजमहोदरलोचनाया ॥’

विभावादि प्रतिपायति—

विन्ताविशेषोऽत्र किंभाव, भ्रूश्रुति-गावनिश्चलत्वादेव आक्षेपगम्या अनु-
भावा ।

इहोदाहरणे विप्रलम्भध्वनित्वमाशङ्क्य निरस्पति—

यद्यप्यत्राम्या एव स्मृतेः मञ्जारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हस्तपद-
गम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य मधोगाद् विप्रलम्भरसाभिव्यक्तो रमध्वनित्वं
शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरस्फृतिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्दध्वनित्व-
मुक्तम् ।

द्वितीयधरणात्ते समुच्चदायं कश्चकार आक्षेप्य, अथवा—‘गामश्व पुरस्य पशुम्’-
इत्यथैव तदर्थप्रतीतिर्बोध्या ।

मायलनाम्बुजस्य निमीलत्वमलस्य सुहोदर मधुरा सांचन यस्या सा तादृशी,
तस्या वित्तासश्रमेण वस्तुतस्त्वानन्दानिर्गमेण निमीलप्रयतनाया प्रेयस्या, तन् पूर्वानुन-
वैकलोचरीभूत मञ्जु मुग्ध मन्दहसित स्मितम्, तानि श्रुतितानि श्रमादिजन्यभ्रामा,
सा कलङ्कविधुरा निध्वतङ्काञ्ज एव पूर्णानुपमानेनमाश्रि मधुरा मनोहरा, जानन-
श्रीयंदनशोभा च (स्मयंभाषानि) हन्त ! वत !, मे मम हृदय मानसम्, अधुनाऽ-
मात्रिध्वकात्तेऽपि, उन्मदयन्तु प्रतीकुर्वन्तीत्यर्थः ।

चिन्ताविशेषस्य भावनास्वाकाररूपस्य स्मृती निमित्ततया विभावत्वम्, अनुक्त-
त्वादाक्षेपबोध्याना भ्रूश्रुतिप्रभृतीना च कार्यत्वादानुभावत्वमाकलयीरम् ।

विभावस्यालम्बनस्य । पुरोऽपि स्फूर्ति प्रतीतिर्यस्या सा पुरस्फूर्तिवा, तस्या
भावस्त्वम् । तद्दध्वनित्व स्मृतिध्वनित्वम् ।

माना वा मकता, इमलिये अनुभव-अन-संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मरण कहा गया है, वह विशेष
दर्शन समझना चाहिये ।

हेतु —

नाटक अपने मन में मोचता है अथवा किती निच से बहता है कि—मरकाटिक कनरी ने
मनात, अर्ध-मुद्रित नरनी बाठी प्रेयसी का वह सुन्दर मन्द हास, ने श्म, पर निष्पट्ट और मुर
हृदय की उंच, हास ! श्म की मेरे हृदय को पागल बना रही है ।

यहाँ एक तरह की चिन्ता विभाव है, भ्रू-छटा का उदयन, उदर का निधलीमन-अदि को
कल्प लगी है, फिर भी आक्षेप से समझ में आ आते हैं—अनुभव है ।

यदि यहाँ नायिकास्य विभाव ‘हन्त’ अथवा ‘वत’ पर से व्यक्त होने वाला हृदय को दिक्कत-

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीमूतार्थवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपाया स्मृतेरपि तद्वा-
च्यतया कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याशङ्क्य मतद्वयेन समादधाति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानु-
गमकतया न वाच्यतासस्पर्शः । बुद्धिस्थत्व शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि
स्मृतिध्वनेन स्मृतेर्षक्तिवेद्यतं ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकारूपात्मनविभावस्य, हन्तपदव्यङ्ग्यहृदयवैकल्यरूपा-
नुभावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरतौ सम्बन्धाद् विप्रलम्भध्वनि-
रेवेति शङ्काया—पञ्चाङ्गवन्त्यामल्पचमत्काराया सत्यामपीह विप्रलम्भप्रतीती, पुरो
भावित्वादधिकचमत्कारवत्वाच्च स्मृतिप्रतीते, स्मृतिभावध्वनित्वमेवात्रेति
समाधानम् ।

तच्छब्दस्य प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽर्थबोधकत्वस्य दर्शनाद्व्यापिपदवन्नानार्थ-
कत्वापत्तेर्वारणाय बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षितं तत्तदर्थवच्छिन्ने शक्तिः । न च
तथापि शक्यताऽवच्छेदकभेदाच्छक्तिभेदः, शक्यताऽवच्छेदकानां नानात्वेऽपि, तेषामनु-
गमकस्य बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छक्तेरैक्यमेव, न तु
नानात्वम इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधमकुक्षिप्रवेशोऽप्युपलक्षण-
तया वाच्यत्वाभावाद् ध्वन्यमानत्वमक्षतमेव । तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने
शक्तिरिति मतेऽपि, बुद्धित्वेन सामान्यधर्मेण स्मृतेर्वाच्यतायासपि स्मृतिध्वनेनासाधारण
धर्मेणावाच्यत्वाद् ध्वनित्वे न किञ्चिद्बाधकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषाभावाद् बोध्यः ।

रूप अनुभाव और स्मृतिरूप सञ्चारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ—शङ्कार—रस की अभिव्यक्ति होती है,
अतः वहा रस—ध्वनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव—ध्वनि इतलिये वही गई कि पहले
स्मृति की ही प्रतीति होगी है और चमत्कारिणी भी है, हा ! पञ्चाद उक्त रस भा ध्वनित हो सकता
है, तो हा, पर उसमें उतना चमत्कार नहीं होगा ।

यहाँ एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयोमूत अर्थ' है, तब तो बुद्धि भी
उसके वाच्य की श्रेणी में आ गई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) ही है, अतः स्मृति
यहाँ व्यङ्ग्य कैसे होगी ? क्योंकि वाच्य अर्थ का आलङ्कारिक लोग व्यङ्ग्य नहीं मानते, इसी शङ्का
का उत्तर यन्त्रकार देते हैं—'तद्वादे' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि तत्पद के घट-वट आदि अनेक
अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वट (तत्पद) भी नानार्थक क्यों नहीं माना जाय ? यह प्रश्न
जब उठता, तब सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई पद
नानार्थक नहीं होता, वरन् किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नाना-
र्थक होता है, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एक-
र्थक ही कहा जाता है और शक्ति के एक होने के नियम वे हैं कि यदि शक्य एक हो, तब शक्ति एक,
यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक ही, तब भी शक्ति एक, यदि वह भी अनेक ही हों,
तब भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के एक होने पर शक्ति एक ही होती है, सारांश यह कि शक्य के
पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक धर्म हो, तो शक्ति एक होती है । इस पर प्रश्न उठ कि तत्पद में
शक्ति एक है ? या अनेक ? इसका उत्तर भो सर्वों ने समान ही दिया कि—एक । इसके बाद यह
प्रश्न सामने आया कि—क्यों ? अर्थात् अगर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये

ननु द्वितीयमत्रे बुद्धित्वेनाभिधवा बोध्यमानाया एव स्मृते स्मृतिवैतन व्यङ्ग्यता-
ङ्गीकारे 'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपात्तस्य 'व्यङ्ग्यत्वस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यातिङ्गि-
तस्यैव चमत्कारित्वादित्यालङ्कारिकसमय' इति स्वकीयग्रन्थस्य विरोध स्पृष्ट एवेति
चेत्, उच्यते—वाच्यताऽवच्छेदको व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्व-
दन्तो वा मात्रैक एव धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र
तु सामान्यविशेषभावादिनाऽपि तदर्थयोस्तनीयानपि भेद, तत्र नाय नियम, नया च
'शयिते त्यादौ वाच्यताऽवच्छेदकस्य मनोरयत्वस्य व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छात्वस्य च
घटत्व-कतशत्ववर्द्धवयम इह तु बुद्धित्व-स्मृतिव्ययोगुणत्वज्ञानत्ववत् सामान्यविशेष-
भावाद् भेदस्तस्मान्न दोष इति व्याख्यातार ।

है, मनमें से यहा कौन स नियम लागू होता है ? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये ।
कुछ लोगों का मत है कि बुद्धित्व जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदपच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट में तत्पर
की शक्ति है । जैसे—घटत्व-पटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धित्व कर लेने पर तद्विशिष्ट
घट-पट आदि में तत्पर का शक्ति होती है । इस मत के अनुसार तत्पर से घट-पटादि का बोध
अभाधारण अर्थात् घटपटादिरूप में ही होता है । इसी बात को कुछ लोग 'बुद्धि विषयभावच्छेदकत्वो-
पलक्षितधर्मापच्छिन्न में तत्पर की शक्ति है' इस रूप से भी कहते हैं, तात्पर्य एक ही है । इस तरह से
शक्ति मानने पर यद्यपि तत्पर के शक्य पट-पट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (एक प्रकार)—
घटत्व पटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक पटपादियों का अनुगम करने वाला,
शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक बुद्धित्वत्व अथवा बुद्धिरूप व्यवहार्य धर्म एक है, अतः शक्ति एक ही होगी
और तत्पर नानार्थक नहीं होगा । अन्य लोगों का मत हमसे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—
तत्पर की शक्ति बुद्धित्वभावच्छिन्न में है, इस मत के अनुसार तत्पर से घट आदि का बोध अभाधा-
रण घट आदि के रूप से नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धित्व के रूप में । इस प्रकार शक्ति मानने
पर तत्पर के शक्य घटादि तो अनेक हुए, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धित्वत्व एक ही हुआ और अनुगम
यौ, अतः इस मत में भी अनेक अर्थ निरूपित एक ही शक्ति तत्पर को सिद्ध हुई, इस मत में शक्य-
तावच्छेदकतावच्छेदक धर्मता, अनुगम के लिए अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह तात्पर्य है । पक्ष
इस मत के अनुसार भी तत्पर नानार्थक नहीं कहा सकता । अतः, ये तो हुये दार्शनिकों के झगड़े ।
अब प्रश्न में विचार यह करना है कि एक दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति
(जिनका ध्यति यहाँ मानते हैं) तत्पर का वाच्य होती है या नहीं ? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि
प्रथम मत के अनुसार तत्पर ने अर्थ में बुद्धि वा स्थान हीनर दर्जे—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक
में है और किसी भी पद की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहनी है अर्थात्
शक्य और शक्यतावच्छेदक ही पद के वाच्य होते हैं, उनके आगे शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक नहीं
वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहाँ शक्यतावच्छेदकी का अनुगम कराने के लिए व्यवहार्य
मात्र है, विशेषण नहीं, फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है ? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि
शक्यतावच्छेदक है और विशेषण भी व्यवहार्य नहीं, अतः वह तत्पर का वाच्य अर्थ अर्थ हो गया
और स्मृति भी बुद्धित्व होने से वाच्य हो गई, तथापि बुद्धित्व इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य
हुई, स्मृतिरूप से तो स्मृति व्यर्थ ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति के व्यर्थ्य होने में
कोई बाधा भी नहीं होगी । वादी यदि करें कि—यहने आप यह आवे है कि वही अर्थ व्यर्थ्य हो
सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-वृत्ति (अभिधा) का सर्वत्र न हो, अतः पर आपने 'शयिता
सविधे' इत्यादि पद्य में मनोरयत्वरूप वाच्य बन चुकी चुम्बनेच्छा की व्यर्थ्य नहीं माना
है, फिर यहाँ आप बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य बनी हुई स्मृति को व्यर्थ्य कैसे मानते हैं ? यह तो शायकी

स्मृतेरिह पदप्रकाश्यत्व व्यवस्थापयति—

तस्याभ्रात्र वाक्यवेद्यत्वेऽपि पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविपयत्वम् ।
एतेन भावाना पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परारतम् ।

प्रसङ्गादत्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्य प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनपोरुत्तरोत्तराधिकानिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा
तस्या आनन्दमग्नताप्रकाश ।

प्रत्युदाहरणमाह—

‘दरानमत्कण्ठरत्नघमीपद्मिभोलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।

अनल्पनिरश्वासभरालसाङ्ग स्मरामि सङ्ग चिरमङ्गनाया ॥

तस्या स्मृते । वाक्येन तन्मञ्जिवत्यादिना । पदस्य तच्छब्दस्य । कुर्वद्रूपत्ववैल-
क्षण्यमपूर्वसक्तिरिति यावन् एतेन पदप्रकाश्यव्यङ्ग्यत्वापि चमत्कारित्वाति-
शयानुभवान् ।

स्मृत्येवञ्चक यद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारापेक्षयाऽधिकश्च-
मत्कारस्तत्पदव्यङ्ग्यत्वेऽस्मृतेरेवानुभूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकाश्यध्वनित्वमेवात्र प्रसि-
द्धम् । एतद्वता भावाना पदप्रकाश्यत्वे नैव चमत्कारो भवतीति वदन्त प्रत्युक्ता,
तत्रापि चमत्कारानुभविकत्वात् विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनैव कामिनी । पदद्यो-
त्येन मुक्येर्ध्वनिना भाति भारती ॥ इति ध्वनिकारानुमतत्वाच्च ।

नेत्रयो सायङ्कालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्व, पश्चात्प्रायि-
काया आनन्दमग्नत्व च व्यज्यत इत्याशय ।

दरमीपदानमन् नभ्रीमवन् कण्ठराबन्धो शीवामागो यत्र, तम निमीलिते आन-

परस्पर विरुद्ध वार्ते होती है, इसका समाधान यह है कि वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक
(चाहे वह जातिरूप हो या अन्य शब्द) धर्म जहाँ एक ही रहता है वहीं वह अर्थ व्यक्ष्य नहीं होता
और चमत्कारी भी नहीं, जैसे ‘शयिता ’ इत्यादि पद्य में मनोरथत्व और दृच्छत्व जो कमश
वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक है—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे षट्त्व और वृत्तशत्व में
कोई भेद नहीं है, वैसे वन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरथत्वसे वाच्य हो जाने पर
दृच्छत्वसे व्यङ्ग्य नहीं होगा ।

पर यहाँ प्रश्नो बात नहीं है—अर्थात् बुद्धित्व और स्मृतित्व एक नहीं है, इन दोनों में सामान्य-
विशेषभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो, धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य
होने पर भी स्मृतित्वेन व्यङ्ग्य होने में क्या अशक्ति हो सकती है ? किंवा विशेष कैसे होगा ? अर्थात्
न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा ।

यद्यपि यहाँ सम्पूर्ण वाक्य में ही स्मृति अवगण होगी है, तथापि तत्पद हा कुर्वन्प है—अर्थात्
यह पद पर ही स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है, अतः यह ‘पद-ध्वनि’ वा ही लक्ष्य माना जाता
है । इससे लोगों को जो यह धारणा है कि—भाव यदि ‘पद’ के द्वारा ध्वनित हों, तो उनमें कुछ
विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती, उसे नष्ट हो जाना चाहिए ।

यहाँ नेत्रों को जो सायकालिक कमलों को उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि
नेत्र वक्षोत्तर (आगे) अधिक मुखित होने जा रहे हैं, जिससे नायिका को आनन्द मग्नता ध्वनि
होती है ।

वाहरति—

यथा—

नामको मुखावृत्त मन्त्राय व्याहरति—

‘कुचकर्मगुणान्तनामकीन नन्दाहुं,
मपुलकतनु मन्द मन्दमालोकना ।
विनिहितवदनं मा वीक्ष्य वाच गवाक्षे,
चकितननताङ्गी स्रभ स्रद्धो विवेग ॥’

उपनामनि—

अत्र प्रथम्य दर्शनम्, तेन नादिकाकर्तृवृत्तकुचालवृत्तिप्रियनयप्रतावने-
कनजन्य-हृषदिकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभाव । स्रभ मन्दनप्रवेगोज्जुभाव ।

पुनन्दाहरति—

यथा वा—

परामतो वैरिभूत । वैश्वर्यं वर्धन्त्याऽऽमाव । पुरयनुचावनीकनादिभ्य
स्त्रीवृत्ति, प्रस्त्रिज्ञानङ्गादिज्यञ्च पुत्रयदुल्लिखैवर्गादिजतमिभ्रितवृत्तिभिर्येपी श्रीडा
लन्त्येत्पर्य । तदुक्तम्—‘सद्भोवस्वेतमा श्रीडा वैश्वर्याप्रानुवृत्त्यम् ।’ इति ।

वाचा मुग्धा, कुचावेव पृथुवन्दादुत्तनत्वाच्च कलगी त्वयर्गुण्य पुनन्त्यालनये,
मामकीन नया कृतवाग्मन्मन्त्रित नन्दाहु तद्वचिह्न, (रहसि) मपुलकतनु हृषो-
द्भ्रमरोनाञ्चाश्चिप्ररीर यथा स्यात् तथा, मन्द मन्द वर्धन्कर्तृ मार्जोकनता
परमनी, गवाक्षे तद्दर्शनाहंकरादन विनिहितवदन स्यादिभ्युत् (परमन्) मा
वीक्ष्य, चकितान्तराचयेव, नननानि तन्ननानि च नन्वदाङ्गाणि यन्त्यान्दाङ्गी,
सदन्तत्वात्, स्रभ वर्धेगुह विवेकेत्यर्थ ।

तेन निवेद्य ।

ताम्या विभावातुमाशान्या प्राप्ताभ्येन नन्वाय बद्धतात्त्वत्वाभ्येतिदनु-
वाहरणम् ।

अत्र श्रीडा (लज्जा) का लक्षण मन्त्र है—‘श्रीगान्ध्या’ इत्यादि । तिनमें प्रथम-पुत्र-दर्शन
कादि से और पुनर्में प्रस्त्रि-ञ्च वर वाग्मय आदि से उत्पन्न होने वाली और विरामित एव नया-
ननता आदि अनुमात्रों को व्यक्त करने वाली जो एक तरह की विष्णु-श्री है, लज्जा नाम प्रीति है ।

उद्धे—जायत्र अर्धे नित्र म कर्ण है कि—कर्मों के मन्त्र विप्राप्त न्या कन्ता दोनों वर्गों
के मध्य में घेरे द्वारा ही तिन नव-शून के चिह्न को पुष्टि-श्री होकर श्री-श्री देवता हुई वन
मुञ्च नायेका ने जो ही जनेके में हुए उन्न हुई (आनी और देवन हुई) हने देवा, हने ही वर
नकि होकर अपने अर्धों को निर्दिष्टा हुई व में जा गई ।

वर्ध नन्दिह को प्रियम वा दिगर्ध देना और वमके लट्टों में प्रिय के नव-शून के देवने न
तनन हुई हर्ष की सुखना देने वाले होम व आदि का प्रियम को दीव मन्त्र विनय है तथा पुन
वर में मन्त्र जाना अनुमात्र है । इन दोनों दिना-दुर्गाओं ने प्रमा-लज्जा शब्दों होने हैं,
आ वर वर ‘मात्र-अभि’ का पर-रम गुण ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वाताया मोहावस्थाव्यापार वर्णयति—

‘विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित । दयितेति ।

आगतमपि त सविधे परिचयहीनेन वीक्षते बाला ॥’

अत्र विभावानुभावो दशयति—

अत्र कान्तत्रियोगो विभाव , इन्द्रियवैकल्य लज्जाद्यभावश्चानुभाव ।

पुनरुदाहरति—

‘शुण्डादण्ड कुण्डलीकृत्य कूले, कल्लोलिन्या किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।

नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालि कान्तापेन कृत्यशून्यो गजेन्द्र ॥’

सा विन्ताख्या वक्ष्यमाणैव वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थान्तर गता चित्तवृत्तेषु
तथा मोहाख्येति तु नव्या कथयन्तीत्यर्थ ।

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमना , अत एव दयित । दयि क्वासीति
विलपन्ती, सा वाता, सविध ममीये आगतमपि त, दयित परिचयहीनाऽभ्रजात-
परिचयेव, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थ ।

इन्द्रियाणा वैकल्य ग्राह्याग्राह्यम नच्चात्र परिचितचरस्य पत्युश्चक्षुषा विषयी-
करणेऽपि परिषयाभावान्, लज्जाऽभावश्च वातात्वेऽपि पुरम्यस्य पत्युस्तयादर्शनादव-
गतो विभावानुभावो नायिकाया माहुरूप भाव व्यङ्ग्य ।

कान्ताया प्रियहृत्तिन्या अप्रेतो विरहित कल्लोलिन्या मरित , कूले तटे,
शुण्डादण्ड शुण्डा हस्त एव दीघवाहण्डस्त कुण्डलीकृत्य सम्भ्रमपि वर्तुल विधाय,
कृत्यशून्य स्वविधेयज्ञानविधुर , गजेन्द्रो हन्तिराज , अम्बु नद्या जल , दिनान्तरदन् ,
नैवाकर्षति करेण नैव पिबति अम्बुजालि सरमिजश्रेणी चापि प्राग्गत, नैवाकर्षति नैव
गृह्णातीत्यर्थ ।

नयान विद्वानो का मत् है कि 'चिन्ता' नाम का निम्न चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जाये
वही अब एक रूप अवस्था तक पहुँच आता है तब मोह' नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् चिन्ता
जब इस दशा को पहुँच जाती है कि सुझना-समझना सब बन्द हो जाय, तब उसे मोह कहते हैं
अतः चिन्ता से पूर्वक उमसा (मोह को) गगना नहीं करनी चाहिये ।

अब मोह का उदाहरण देखिये —
एक मणिरूपा मरती से कहना है कि—‘प्यारे-प्यारे’ की रट र जाती हुई वम मुग्धा नायिका
का हृदय विरह में डूबा बनकर हो गया है कि वाम में आये हुए भी धिय को इस तरह देखनी रह
ती है, जैन उनके साथ उमसा का कोई परिचय ही न हो ।

तब वम में प्रिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) को विकलता (ज्ञान-शक्ति
का ह्रास) तथा लज्जा आदि का अभाव अनुभाव है । लज्जा का अभाव यदा हम वाम में प्रतीत
होता है कि नायिका बन्धा होकर भा पये के सामने में (जब बाला को लज्जातना प्रतिद है)
अपरिचित भा देखनी रह जाती है । उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की धनि होती है ।

अतः, जैने—‘शुण्डादण्डम् ’ इत्यादि पद्य में कोई दरांक कहना है कि—इसकी से

धृति निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

घोर परामृशति—

‘सन्तापयामि हृदय, घाव घाव घरातले किमहम् ।

अस्ति मम शिरसि सतत, नन्दकुमार प्रभ परम ॥’

विभावानुभावावाह—

अत्र विवेकधृतसम्पत्त्यादिविभाव, चापलाद्युपशमोऽनुभाव ।

शङ्कते—

ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्ते कथमस्य धृतिभावध्व-
नित्वमिति चेत् ।

अत्र कान्तावियोगो विभाव, सरित्तटेऽपि सजिलायनाकण्ठमनुभावश्च वस्तुतत्त्वान-
वधारणरूप मोहमवशमयत । ‘कृत्यशून्य’ इति विगेषणैनाभिहितप्रायो मोह इत्य-
स्मात्पूर्वमेवोदाहरण रुचिर प्रतिभाति ।

‘लोभ-शोक-भयादिभिर्जनितस्य, उपप्लवस्य चित्तशोभरूपोपद्रवस्य निवारणे
वारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थं । तदुक्तम्—‘अमीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहा—
पर्यायता धृति । सौहित्य-वदनोत्लास-सहासवचनादिवृत्त ॥ इति ।

अह (लोभेनाभिभूत) सतत घरातले (इतस्तत) घाव घाव घावित्वा
घावित्वा, हृदय मन कि कुत सन्तापयामि पीडयामि । यत परम सर्वोत्कृष्ट,
प्रमु सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थं, नन्दकुमार इच्छन्चन्द्र, मम शिरस्य-
स्त्वेवेत्यर्थं ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्यत्वकथनेन भारभूतत्वप्रतीतिश्चाहनाहानिरिति ‘अस्ति
ममाद्ये’ इति पाठ समीचीन प्रतिभाति ।

धृतसम्पत्ति शास्त्रज्ञानसम्पत्त । धैर्यं विवेकाद्युद्भूत चापलमुपरामयति ।

वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूझ को बर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ कुछ सिकोड़ कर नदी
के तट पर छाटा तो है, परन्तु न जल को सींचना है और न कान्तों की परीक्ष को । यदा कान्ता वा
शियोग विभाव है और नदी के तट पर रहकर भी जल तथा मगलों को न सींचना अनुभाव है,
विमते मोह स्वका होता है ।

अत्र ‘धृति’ का निरूपण करते हैं—‘लोभ’ इत्यादि । उक्त चित्त-वृत्ति का नाम ‘धृति’ है,
विमते कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होने वाल उत्पन्न ज्ञान हो जाने है ।

किमी धैर्य-शाही पुस्तक का मानसिक विचार है कि—मैं स्वयं भूतल पर इधर-उधर दौड़-दौड़
कर अपने हृदय को क्यों संतप्त कर रहा हूँ । मेरे शिर पर प्रभुवर नन्दनन्दन सर्वदा शिराजमन है—
मुझे निन्द्य करने की क्या आवश्यकता ? वे स्वयं मम बातों की क्याथा कर ही लेंगे ।

उक्त पद्य में विशेक और शास्त्र-ज्ञान-रूप-सम्पत्ति आदि विभाव है तथा चापलता आदि की
निर्धृति अनुभाव है ।

उत्तरयति—

तस्य वृत्युपयोगितयैवाभिव्यक्तेः ।

शङ्का निरूपयति—

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

देवप्रतिबद्धा गङ्गेगस्थल गन्तुमशक्ता स्वानिष्टं शङ्कमाना नायिका
सखी मापते—

‘विधिवच्चितया मया न यात, सखि ! सङ्केतनिकेतन प्रियस्य ।

अधुना वत ! किं विधातुकामो मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥’

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभाव मुखदैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावा ।

‘का चिन्ता मम जीवने यदि हरिविभ्रमररो गीपते’ इत्यादौ वाच्य इव चिन्ताऽभाव उत्तरार्धेऽस्तीत्यादौ वस्तुम्पो व्यङ्ग्य इति नाय भावध्वनिः, किन्तु वस्तु-
ध्वनिरिवेति शङ्का ।

तस्य चिन्ताऽभावरूपव्यङ्ग्यस्य ।

भाव्यनिश्चिताकारकस्वानिष्टचिन्तनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषश्शङ्केत्यर्थः । तदुक्तम्—

परश्रौर्थात्मदोषादे शङ्काऽनिष्टस्य चिन्तनम् ।

दैवर्ष्यं-कम्प-वैस्वर्यं-पार्श्वलिका-स्पर्शोपहृत् । इति ।

चिन्तन सम्भावनम् । परश्रौर्थादिर्विभावो वैवर्ष्यादिभ्रानुभाव शङ्काया ।

हे सखि ! विधिवच्चितया दैवेन विप्रलब्धया, मया, वत ! हन्त ! प्रियस्य प्रणयप्राप्तत्वेनापरिहार्यान्तुरोधस्य, सङ्केतनिकेतन सङ्केतीकृतगृह, न यात नैव गतम्; अधुना दैवप्रेरणया न तु स्वेच्छयाऽस्मिन्नपराधे मया कृते सति, नृपतिः प्रकृत्येव क्रूर भातामङ्गान् श्रुद्धो युवजनानां शासकत्वाद् राजा, कामो मन्मथ, मयि कृतागसि, पुनः, किं विधातुकाम किं चिकीर्षुरस्तीति न जाने नावगच्छामीत्यर्थः ।

मुखदैवर्ण्यादीनां साक्षाच्छब्दानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम् ।

यथा यह शङ्का श्रेणी है वक्त पद के उत्तरार्ध से तो ‘मुझे चिन्ता नहीं है’ यह वस्तु ध्वनित होती है, फिर इस पद को धृति-भाव-ध्वनि वा उदाहरण कैसे कहते हैं ?

वक्त शङ्का वा उत्तर यह है कि ‘मुझे चिन्ता नहीं है’ इस वस्तु को ध्वनि यहाँ प्रथम रूप से नहीं होती, वरन्, धृति-भाव ने पोषकरूप में ही, क्योंकि चिन्ता का अभाव धैर्य में उपरोगी है, अन्तर्भाव ध्वनि होना धृति की ध्वनि में सहायक ही होता है, बाधक नहीं ।

‘मेरा क्या अनिष्ट होगा’ इस तरह की चित्तवृत्ति का नाम ‘शङ्का’ है ।

उदाहरण लीजिये । दैववश से संवेत-स्थल पर जाने में असमर्थ बगी हुई नायिका स्व-मनोगत अनिष्ट-शङ्का का बर्णन मन्त्रो से करती है —हे सखि ! विधाता ने मुझे धोला दिया, जिससे मैं प्रिय के संवेत-स्थान पर न जा सकी । अर मय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करण चाहते हैं ।

अत्रोदाहरणे धमध्वनिमाशङ्क्य निरस्मति—

न चात्र ध्रमः शङ्क्य, कारणाभावात् ।

ग्लाने परकीय लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव—बलनाश ग्लानिमाहुः, तथा मते चित्तवृत्त्यात्म-
केषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लाने. कथं समावेश इति ध्येयम् ।

परकीयलक्षण भरतीकलक्षणसवादात् सङ्गतिमाशङ्क्य क्षण्यति—

यद्यपि—'बलस्यापचयो ग्लानिराधिभ्याधिसमुद्भव ।' इति लक्षणवाक्या-
दपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं तु खमेव
बलापचयशब्देन विवक्षितम् ।

दैन्य निरूपयति—

दुःख—दारिद्र्या—पराधादिजनितः स्वापरुर्षभापणादिहेतुश्चित्त-
वृत्तिविशेषो दैन्यम् ।

इह प्रियविरहपदं तज्जन्याधिसम्भूतबलहानिपरं सन्दर्भशुद्धपदपुरीघात ।
निवृत्तिरभावः ।

इह ध्रमः प्राधान्येन ध्वन्यत इति न शङ्कनीयम्, बहुतरङ्गरीव्यापारस्य तत्कारण-
त्वेन बध्यमाणस्य प्रवृत्ते सत्त्वादित्यर्थः ।

व्याध्यादिजन्यबलाभाव एव ग्लानिरिति केषाचिन्मतमयुक्तम् अभावरूपत्वाङ्गीकारे
ग्लानेरपमत्कारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वाभावेन भावत्वामावाध्वेपाराय ।

भरतमुनिलक्षणे बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनान् प्रामाणिकं ग्लानेरभाव-
रूपत्वं यच्चयस्ति, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिकाया भरतमुनेरेव
प्रागुक्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेरत्रापचयपदस्य तज्जन्यदुःखविशेषे लक्षणया पूर्वापरसङ्गति-
विधेयेत्यभिप्रेतम् ।

अत्र पदं प्रियतमं का विरह विभाव है और 'मधुरवीशु' 'रव' यहाँ के पत्रकार से ज्ञान कराई
गई, स्थागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिङ्गन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है ।

यहाँ ध्रम-भाव ही प्रधानपदा ध्वनि होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि ध्रम के
बे कारण अधिक शरीर-व्यागार आदि वर्णित किये जायेंगे, वनका यहाँ अभाव है—अर्थात् शारीरिक
ध्रम का वर्णन यहाँ नहीं है, फिर अकारण ध्रम की प्रतीति हो, तो कैसा ?

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल-नाश (बल वा अभाव) को ही 'ग्लानि' कहते हैं ।
परन्तु इनके मन में यह बात विचारणीय है कि जब सभी भाव चित्त-वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब इन
भावों में इस नाश (अभाव को चित्तवृत्तिरूप नहीं हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ?
अर्थात् नहीं हो सकता, अतः वनका कथन व्यसंगत है ।

यद्यपि प्राचीनों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) में अन्तर होने वाला बल का
अपचय ग्लानि है' इस लक्षण-वाक्य में जो अपचय पद आया है, उसमें बल का नाश ही प्रतीत होता
है तथा पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से अपचय होने वाला दुःख ही यहाँ 'बलापचय' पद
से बल का विवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये ।

उदाहरण—

उदाहरणम्—

वंदेही विवास्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

‘हतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।

अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती ॥’

प्रकरणादि दर्शयति—

सीता परित्यक्तवती भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्याग-
रूपोऽपराधस्तन्नन्य दुःख वा विभाव’, पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषणमनुभावः ।

प्राचीनसम्मत्या स्वोक्तिं द्रढयति—

यदाहुः—

‘चित्तोत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।

अनुभावान्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गत्रिगौरवान् ॥

देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यभावं विभावयेत् ॥’ इति ॥

‘दौर्गत्यादेरमौजस्य दैन्य मलिनताऽऽदिकृत् ॥’ इति च ।

दुःखादिजन्य स्वापकर्षभाषणादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

हतकेन हतमाग्रेण विनष्टोचितोविचारेण वा, मया रामेण सहसा मपदि
(अविचार्यैव) वनान्तरे काननमध्ये, विवासिता, वनजाक्षी मलिनमयता (कोमला-
ङ्गतया स्वय प्रतिवर्तुमक्षमा) सती पतितता (कथमपि पत्यन्तरानङ्गीकारिणी)
सीता, अधुना सम्प्रति पतितस्य पातित्यप्रयोजकपापाचरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा
स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वात् सर्वात्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिवाणीव, मम साऽनुभूतपूर्वा,
कुत्र ? क्व ? मिलिष्यतीत्यर्थः ।

तज्जन्मपराधसमुद्भूतम् । अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विवल्पस्य बीज विनि-
यमनाविरहः ।

दौर्गत्य दारिद्र्यम् । शिरसोऽभ्यावृत्तिः पुनः पुनर्धूर्णनम् । गात्राणामङ्गानां गौरव
गुरुत्वं मन्दमन्त्रान्वयम् । देहस्योपकरणं प्रसाधनम् । विभावनं ज्ञानम् । अनौजस्य-
मौजोहीनता ? मनस्तापादिजन्य शिरसोऽभ्यावृत्त्यादिजनकं चित्तवृत्तिविशेषं दैन्यं
जानीयादित्यर्थः ।

अत्र ‘दैन्य-भावं’ का निरूपणं करते हैं—‘दुःख’ इत्यादि । किसी प्रकार के दुःख, दारिद्र्य तथा
अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तवृत्ति अपने आप विषय में हीन शब्द-प्रयोग आदि का
कारण होती है, वही चित्तवृत्ति को ‘दैन्य’ कहते हैं ।

उदाहरण टीजिये—‘हतकेन ..’ इत्यादि । हतमाग्य होने से मैने पहले जिस कर्म-जपनी
(मोग्य) को वन में निर्वासित कर दिया, पतित पुरुष को बेद-बाणी की तरह, वह पतिव्रता भव
मुझे कहाँ मिल सकती है ?

मोग्य को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान रामचन्द्र को यह अनुतापीति है । वहाँ
मोग्य का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अपने विषय में ‘पतित के समान’ वर
हीन कथन अनुभव है, जिसमें ‘दैन्य’ व्यक्त होता है ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि ‘चित्तवृत्तिवृत्त्या, मानवित्वात् और

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभावोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हतकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतितोपमयैव परि-
पोष, न तु शूद्राद्युपमया, यत् शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदोषस्य विधिना कृतम्,
पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिमुलभत्वे स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव, तथा-
विषयपापमाचरता म्वतः श्रुतिदूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्ये-
त्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्कृतः ।

दैन्योपकारकद्वय दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्या कृतघ्नत्वकृतज्ञात्व-निर्दं-
पत्व-दयावतीत्याद्यनेकवर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेतिस्मृत्या च लेशतः
प्रतीयमानया ।

'सर्वं वाच्यं सावधारणं भवती'ति सिद्धान्तेन मयेति कथनान्न तु विधिनेत्यस्य
प्रतीति । शूद्रोपमया 'वृषलस्येव' इति पाठकल्पनलभ्यया । जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मनैव
वा 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' इत्यादिश्रवणात् । स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना
वा । तेन ब्राह्मणादिना । तथाविधं पातित्वप्रमोजकम् । तस्य रामस्य । तस्या
सीतायाः । यथा पतितो द्विजो जन्मना सुलभामपि श्रुति पातकाचरणान् स्वयं
दूरीकरोति, तथैव जात्या सुलभामपि सीतामहं स्वाविवेकाद् दूरीकृतवानितिवादिनि
रामे पतितद्विजसादृश्यमेवोचितम्, न तु शूद्रसादृश्यम् शूद्रस्य जात्या श्रुतिमुलभताया
असम्भवात् । तथा च रामे पतितसादृश्यं सीताया च श्रुतिसादृश्यमेवोपमालङ्कारोऽत्र
वाच्यो व्याप्य स्वापकर्यभाषणजनकः दैन्यमुपस्करोति न तूपमा स्मृतिर्वा प्रघानीभवतीति
न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वतन्वेह इति सारम् ।

अत्र मयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतघ्नत्व-निर्दयत्वादिघर्मविशिष्टस्वार्थे मेतिनच्छब्दस्य च

दर्शिता इन विभावो से तथा छिर का बार-बार दिहाना, शारीरिक-प्रसाधनो का परित्याग और
अर्थो के भारीपन इन अनुभावो से 'दैन्य भाव' को पहचानना चाहिये । और यह भी लिखा है कि
दुर्गति आदि के कारण जो औन्नत्यता नष्ट हो जाती है—उसका अभाव हो जाना है, वसा का नाम
'दैन्य' है । यह मालिन्य आदि का जनक होता है ।

यसो हवाम्य मीने सीता को निकाल दिया है—'न किं विधाता ने'—इस अर्थ को पुष्टि पतित'
की रूपमा से ही होती है, शूद्रादिक का रूपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने
शूद्र जाति में जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है ('न स्त्री शूद्रौ वेदमधीयाताम्' अर्थात्
स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें, यह शास्त्रीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतित हो
जाते हैं उनके लिये तो विधाता ने स्वभावान् श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि उच्च कुल
में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर
दिया अर्थात् वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो गये । इसलिये रामचन्द्र को
पतित से समानता और सीता की श्रुति से समानता, यह जो वाच्य रूपमा अलङ्कार है, वह दैन्य भाव
का ही अर्थहन् करता है अर्थात् रूपमा अलङ्कार यह दैन्य का बोधक है—अङ्ग है । अतः यहाँ 'रूपमा
अलङ्कार हो प्रधान है' इस तरह का शङ्का का अवसर नहीं है ।

'हतकेन' 'इत्यादि श्लोक में 'मया' और 'सा इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान
रूप' है, जिससे 'मया' का 'जिसने उसने अत्यन्त कष्टवस्था में भी नहीं छोड़ा, उस 'मीने' यह और

चिन्ता निरूपयति—

इष्टाशाप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेख-
नाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

प्राचीनमम्मति दशंपति—

यदाहुः—

‘विभावा यत्र दारिद्र्यमभ्यर्थभ्रशन तथा ।

इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वागोच्छ्वासावधोमुखम् ॥

रान्नाप रमरण चैव काश्यं देहानुपसृष्टि ।

अघृतिश्चानुभावा स्युः, सा चिन्ता परिकीर्तता ॥ इति ।

त्रिनकोऽपि क्षणे पूर्वं पाश्चात्त्वे वोपजायते ।’ इति ।

‘ध्यान चिन्ता हितानाप्ते’ सन्तापादिकरी मता ।’ इति च ।

श्रुतज्ञात्व-रूपावतीत्वादिवमविशिष्टत्वाय च तत्तदतिममबोधनरूपप्रयोजनवत्याः
स्वायंसंस्थाप्युपादानादुपादाननक्षणाया सत्त्वात् प्रतीयमानोऽर्थोऽपि दैन्यमुपस्करति,
पूर्वानुभूतायैव सेतितच्छब्देन परिपोषकसामग्रीविरहात् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना
स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोतीति सारम् ।

इष्टत्याप्राप्तिरनिष्टस्य च प्राप्तिश्चिन्ताया कारणम् । ध्यानापरपर्यायो यस्य स ।
भूलेखनमधोमुखत्व च चिन्ताया कार्यम् । अस्या कम्पाद्यजनकतया शङ्कातो भेद ।
चित्तवृत्तिविशेषस्य विशेषणतया विशेषणपदाना पुम्बन्धेनोचितमिति पाठ परिवर्तित ।

दारिद्र्यमभ्यर्थनतयो पृथगुपादानाद्दारिद्र्य जन्मभिद्धमभ्यर्थभ्रशन च पश्चाद्
भूतमवमेयम् । रमरण नष्टाद्यर्थानाम् । त्रिनको मावो दक्ष्यमाण । अस्थाश्चिन्ताया ।
पूर्वं क्षणे पाश्चात्त्वे परस्मिन् क्षणे वा ।

‘सा’ का ‘वन वाम जी मन्चरी ‘उने’ यह वाच्यार्थ, मिथित लक्ष्यार्थ होता है, जिसमें वाम की कृतकता
तथा निर्दयता एवं वाम की कृतकता तथा दयालुता आदि अनेक धर्म धनित होकर दैन्य-भाव को
ही पुष्ट करत है । इसी तरह अनुभूतायैक ‘मा’ इस तत्पर में जो स्मृति की थोड़ा सी (प्रचुर सामग्री
के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति हती है, समझे जो दैन्य-भाव को ही पुष्टि होती है । वन’ यहा
दैन्यभाव ही प्रधान व्यक्त रहता है । इत्युक्त्वा आदि गुणोभूत रहे । इनलिसे यह पद्य दैन्य-भाव चिन्ता
का उदाहरण हुआ ।

अब ‘चिन्ता-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘इष्टा’ इत्यादि । अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना
और अनभिष्टित वस्तु का प्राप्त हो जाना आदि कारणों में चिन्ता होने वाली तथा विवर्तना, भूमि
का छिपना और मृत का नचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करने गली एक तरह को
चित्तवृत्ति को ‘चिन्ता-भाव’ कहते हैं । इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को ‘ध्यान’ भी कहते हैं ।

प्राचीनों ने भी ‘चिन्ता’ को परिभाषा इसी तरह की-ही है । जैसे—‘विभावा’ इत्यादि—अर्थात्
जिन चित्तवृत्ति में दृष्टि, देव्यं (राग्य आदि) में च्युत हो जाना और इष्ट वस्तु का
अहरण विभाव (दयादक कारण) हो, और बार-बार स्वप्न तथा वच्छ्वाग, नीचा मुख, सन्नाप,
रमरण, कृत्वा, दह को परिभूत न करना और पैरों का अभाव ये अनुभाव (उदात्त कार्य) हो, उसे
‘चिन्ता’ कहते हैं । इनके पहिले अथवा चिन्ते ह्य मे चिन्ते (जिसका परिभाषा आगे की आदगी)

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायिकामवलोक्य नायक चिन्तयति—

‘अधरद्युतिस्तपस्त्वा, मुखशोभा शशिकान्तलङ्घिनी ।

अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीदृश ॥’

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तदप्रतिविभावा, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावा ।

औत्सुक्यत्वनिमग्नशब्दोच्य निरा करोति —

न चात्रौ तुक्पञ्चनिरिति वाच्यम्, कस्य कृते’ इत्यनिर्घा-तधर्म्यात्पञ्च-
नावाश्रित्येव एव प्रतीयमानतया सतोऽ-ौत्सुक्यस्त्वेतद्वाक्येन प्राधान्ये-
नावोधनम् ।

मृगीदृशी नायिकाया, अस्त कान्त्या निरजित पल्लव किमप्य मया तादृशी,
अधरस्य द्युति, शशिनश्चन्द्रस्य कान्ते सुपमाया लङ्घिनी विजयिनी मुखस्य शोभा
श्री, अकृताप्रतिमा प्रतिमा तुल्याकृतिर्यस्यास्तादृशी तनुश्च, कस्य कस्यस्य वृत्त
प्रयोजनस्य, विधिना विधाया कृता रचिताऽभूदित्यर्थः ।

तस्या पूर्ववर्तितानायिकाया अप्राप्तिश्चिन्ताया कारणतया विभावा अनुताप-
शब्दच्छवामोच्छ्वासप्रभृतपश्च दब्दानुक्तत्वेऽपि कार्यतया गम्यमाना अनुभावा अत्र
सन्तीत्यर्थः ।

इह नायिकाया अप्राप्तत्वात्तस्यातिविषयकोत्कटन-ऽरुस्यैवौत्सुक्यस्य प्राधान्यन
व्यङ्गनात्तद्व्यवित्तमेवेति पूर्ववक्ष्यम् — कस्य कृत इत्यनन क खलु युवा धन्य
इत्यादिवत्, अनिर्धारितमनिश्चित भोक्तार धर्मिण विषयतयाऽलम्बमानायाश्चिन्ताया
एवमि प्रथम प्राधान्येन प्रतीते, औत्सुक्यस्य तु पश्चादगगतया च प्रतीतेर्न तद्व्यनि-
त्वमिति समाधानम् ।

उत्तर हुआ जाता है । कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—‘हेतुवन्तु की अप्राप्ति ने जो ध्यान
(विचार-अवस्था) होनी है, उमक’ भान विना इ, बड़ मन्नाप अदि का उत्पदक होता ह ।

उदाहरण देखिये । किमी सुन्दरी को देखकर शौरे नायक अपने मन में सोचता है कि विधाया
ने किम (धन्य तुक्क) ले छिपे हुए मृगान्तरी नायिका से, अथा-कान्ति को, पल्लवों को जीनले-
गरी, सुग-शभा को चन्द्र-कला को मान देने वाली आर शरीर का अदुन-प्रतिम-अदृश-दिलीय
रहित-अधर अनुपम, बनाया ।

यहाँ नायिका की अप्राप्ति विभावा है और अश्रुत के द्वारा ज्ञान होने का अनुभावा आदि
अनुभावा ह ।

नायिका व । अप्राप्ति से उमकी प्राप्ति के विषय में होने वाला उत्कट दृच्छका ‘औत्सुक्य-भाव’
की यहाँ प्रधानतया ध्वनि शोभा है, ऐसी यद्वा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘कस्य कृत-अधर किनके
छिपे’ हुए नायक-वश से किमी अनिश्चित पुरुष के विषय में होना पानी विना हा ध्वनि होता है,
अन-धरपि वला में उस नायिका के लिये उत्कृता है अथवा, तथापि वह इस वाक्य ने प्रधानतया
नहीं बोधित होनी । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त पद्य में ‘कस्य कृत ..’ इत्यदि अश क’ हट कर
वक्तको अह ‘धन्यजनस्य हेतवे’ ।

मद निरूपयति—

मद्याद्युपयोगजन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुभिश्चवृत्ति-
निधेयो मदः ।

तस्यै प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु —

‘सम्माहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजा । इति ।

प्रहृतिभेदेनानुभावभेदं प्रतिपादयति—

तत्रात्तमे पुरपे स्वापोऽनुभावः । मध्यमे हसितगाने । नीचे तु रोदन-
परपाकत्वादि ।

मद विधा विनय्य उपात्त्वहनं दर्शयति—

अथ च मदस्त्रिविधं—तरुणमध्यमाग्रमभेदात् । अन्यत्तासङ्गतवाक्ये मुकु-
मारस्वल्दगत्या च योर्जमिनीयते न जायते । भुजाक्षेप-स्त्रयित्त-धूर्णनादिभि-
र्मध्यमः । गतिमङ्ग-स्मृतिनागं हिक्का च्छर्द्यादिभिरग्रमः ।

उपनागं संवतम् । उल्लासाख्यं उल्लासापरपर्यायं ।

व्यामाहात्मनः सम्माहस्यानन्दस्य सन्दोहः समवायः सम्भेदो मदस्तत्रानयोर-
नुभवात् ।

एतत्—अमुना चोत्तमं हतं मध्यमो हसति गायति । अथमप्रहृतिश्चापि पुरुष-
वक्ति रोदिति ॥ इति उपनानुरूपमपि उत्तममत्त्वं प्रहृतिः, गायति तद्वत्त्वं
मध्यमप्रहृतिः । परपवचनानिधायानां हेतुः रादिन्वयमसत्त्वं ॥ इति प्रदीपस्य तु प्रति-
कूलमवति श्रेयम् ।

हो, वस्तु हम पर वे रहने पर तो किन्ना ही प्रधानता से व्यक्त होती है, वैसे यदि उत्तमता में
गौश्या से व्यक्त होना, तो होती रह, वह अग्नि काल-स्वप्न का कारण नहीं हो सकती । परल
वरा ‘मिना—नव—अग्नि का ही स्वरूप होने पर ही है ।

अब मद-मत्त का निरूपण करते हैं—‘मद्याद्युप’ इत्यादि । मद्य अर्थात् कहेन्द्र से उत्पन्न होने
वाले और शयन-रोदन आदि अनुभवों का उत्पन्न करने वाली उत्पन्न मानक को एक विधान-वृत्ति
है अथवा ‘मद’ कहते हैं

यैनां किं प्राचीनो मे नो बहो है—‘सम्भोहा ...’ इत्यादि, सर्वत्र मद्य के होने से उत्पन्न होने
वाले सम्भोहा और अनान्द के मिश्रण का नाम मद है ।

मद के उत्पन्न होने पर उत्तम अनुभव (कार्य) उत्तम पुरुष में स्वयं होता है—उदात्त मद
(मद्य) से उत्तम पुरुष को उत्पन्न है, मध्यम कष्टि का पुरुष है मद्य और उत्तम है और नीचे पुरुष
उत्तम तथा उत्तम-उत्तम बचन है । यद्यपि यह कथन ‘अन्य-प्रदीप’ के उत्पन्नस्य प्रसंगे, मद्यति
(पुरुष मध्यमवृत्तिः । एवं—वचनानिधायानां हेतुः रादिन्वयमसत्त्वं । सर्वत्र मद के कारण उत्तम-मद्य
बचन पुरुष है मद्यम—वचन बचन पुरुष गण्य है और अथम-मद्यम बचन पुरुष उत्तम
देना है, मद्य है और रोदन है । इस बचन में विश्व है, यद्यपि, अनुभव ‘रसगङ्गाधर’ के ही मत
में नहीं होता है, और ‘द्वयकार’ भी दोनों के मत में सम्मति दिये हैं, क्योंकि दोनोंने लिखा है—
‘अमुना चोत्तमं हतं मध्यमो हसति गायति । अथमप्रहृतिश्चापि परपवचनं रोदिति ॥ सर्वं इत्यत्र वही
है, जो रसगङ्गाधर के कथन का है ।

मध्यमपुरुषगत तरुणमदमुदाहरति—

उदाहरणम्—

मनवृत्त वगंयति—

‘मधुरतरं स्मयमान’, स्वस्मिन्नेवाल्पज्ञाने किमपि ।

कोकनदयत्तिलोकी—मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबं ॥’

विभावानुभावो दशयति—

अत्र मादकद्रव्यसेवन विभाव, अव्यक्तालापाद्यनुभाव ।

इत् स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अत्र मतस्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमदव्यञ्जनायत्वान्मदभाव एव प्रवर्तमानमिति न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्व्यञ्ज्युपस्कारकत्वमेव ।

अव्यक्तारम्भुदाहरणरस-ज्ञातमम्बुदार्पकैश्च वाक्यं मुकुमाराशुद्धना स्वतन्त्री मन्त्र मध्ये त्रुप्रती चासौ गति मुकुमारस्वतद्गति तथा । योऽभिनीयत इत्यस्याग्नि-वाक्पदमपि सम्बन्ध । हिकका ‘हिककी’ इति भाषाया प्रतिष्ठा । छदिर्यमनम ।

क्षीबो मत, मधुरतरमतिमुन्दर स्मयमान ईषदमन स्वस्मिन्नेवा-मगतमव किमप्यसम्बद्धम्, धर्तमन्दमव्यक्तम् आलपन् प्रलपन्, तथा परिता विलोकितन मदारण-नोचनरथाग्निोकी लोकात्रय, कोकनदपत् रक्ताम्बुजवदरपीडुवन्, आलम्बन-निर्देश्य यथा स्यात् तदेषने पश्यतीत्यर्थ ।

मादकद्रव्याणा मरैयविनमादीना सेवन पापम् ।

‘स्वभावोक्तिस्तु हिम्मादे स्वक्रिया-हवर्तनम् इत्युक्तप्रमाणम् स्वभावोक्त्य-लङ्कारस्य, क्षीरभाववृत्ति-नापारखणनविह प्राधान्यमिति वाङ्मया —मनस्वभाववर्तन-मत्र मतनिष्ठमदभावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मदन(व्यञ्ज्युपस्कारक-त्वमेव, न तु प्राधान्यमित्युत्तरम् बोध्यम् ।

इस मर के तीन भेद हैं—तरुण, मध्यम और अयम । उनमें से जिनका अभिनय (रस) अस्पष्ट अथवा बाले और अतन्त्र अर्थ बात वाक्यों, तथा अत्यन्त मन्दुत पर्व विन्दुनी दुर्गि चाल में किया जाता है, वह तरुण-मर कहलाता है । जिसका अभिनय वाद्यों के हृष-अथर देखने, निम्न पङ्के और धूमने आदि से किया जाता है वह मध्यम-मर कहलाता है । एनी तरह जिनका अभिनय गति के रूप में, स्मृति के नष्ट हो जाने और हिककी तथा वमन आदि में किया जाता है, वह अयम मर होता है ।

उदाहरण देखिये । किसी नरोवान का वर्णन है कि—मदमत्त मनुष्य अत्यन्त सुन्दर लोके में मन्द-मन्द हैमना हुआ और अपने अन्त-धरे-धरे कुछ बातें ग कला हुआ, तथा मर के कारण अन्त-मयन-आदि में विलोकी को रत्न कल मा बनता हुआ शून्य की ओर देख रहा है—एता एवमे देखने का कोई छल नहीं है ।

यहाँ मादक पदार्थ का सेवन विभाव है और अस्पष्ट बोलना आदि अनुभव है ।

यहाँ मत्त-शून्य के स्वभाव वर्णन होने के कारण ‘स्वभावोक्ति’ अलङ्कार की प्रथम भा, देना रक्षा नहीं करती चाहिये, क्योंकि मत्त-भाव का वर्णन यहाँ बेशक उसके मर को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है, अन्त-धरित होने वाला ‘मदनव’ ही प्रथम और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार उपर देना है ।

ननु तथापि नह्य मद्भवति सम्भवति, प्राधान्येन व्यज्यमानस्यापि मदस्य मदास्क्र-
न्दितमत्यथकेन क्षीवपदेनामिथाऽपि बोधनात्, कथमपि बाध्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव
व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वम् इति प्राक् प्रतिपादनात्, अत स्वभावोक्त्यलङ्कार एव
चमत्कारित्वा प्रधान न तु गदभाव इत्यस्मिन्दाहरणान्तरं दर्शयति—

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

मत्तं प्रिया व्रूते—

मधुरसान्मधुरं हि तवाधर, तरुणि ! मद्ददने विनिवेशय ।

मम गृहाण करेण कराम्बुज, पपपतामि हहा ! भमभ्रूतले ॥'

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभावः, अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता
ग्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य
तदुपमेयतया निरूपणं च मद्दमेव पोषयत ।

श्रम निरूपयति—

यद्दुतरशरीरव्यापारजन्मा निश्शयासा—ङ्गसम्मर्द—निद्रादिकारणी-
भूतः सैदमिशेषः श्रमः ।

हे तरुणि ! यत्तव अघरा मधुरसादपि मधुरोऽस्ति अतस्त मद्ददने विनिवेशय,
किञ्च यत्—हहा हा ! हन् ! भमभ्रूतले भ्रूतले पपपतामि पतामि अत करेण मम
कराम्बुज गृहाण ममान्भवन्वेत्येव ।

स एव मादकद्रव्यमवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारणं चतुर्थचरणे । आदिपदेन
प्रथमतृतीयचरणसङ्गतायैकासापघहणम् । ग्राम्योक्तिद्वितीयचरणे— अघर मद्ददने
विनिवेशय इति ग्राम्यजनयदुक्तिः तृतीयचरणे तरुणीकरस्य समुचितं कमलोपमेयत्वेन
प्रतिपादनं विहाय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिश्चोभे सम्भूय मद्दस्यैवोपकारिके
इति मद्भवतिरिह ज्ञेयः ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यज्यमान मद्द स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान है, तथापि
मद्द-ध्वनि नहीं बतौ जा सकता, क्योंकि 'क्षीव' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः हमें विशेषण रूप से
मद्द ही आ जाता है, और यद्द यह मिथ्यात्वं सर्व-सम्भूति से स्वीकृत हो चुका है कि किसी भी
प्रकार से जिनमें बाध्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वहाँ व्यङ्ग्य चमत्कारी होता है, फिर तो अगत्या बाध्य
स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार में ही एक वष का बाध्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह वष 'मद्द-
भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं होगा, इहाँ अभिप्राय से हमारा उदाहरण दिग्गमन है—'इदं वा
उदाहरणम्' अथवा, यत् उदाहरण लाजिसे मत्त नायक अन्तो प्रेमको मे कहना है कि—हे तरुणि !
मधु के रस से भी अधिक मधुर अथवा अघर का मेरे मुख में रस दे और मर कर-कमल को आने
हाथ में पकड़, देना से ज-ज-जमान पर ति-ति-तिगता जा रहा हू ।

यहाँ भी वरी (मद्दर-श्रम-मेवत्वं हा) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आदि अनु-
भाव है । पूर्वार्ध का व-व (मेरे मुख में आने अघर के धर द, यद्द) वजन और उत्तरार्ध में श्रो के
हाथों का कमल का उदाहरण वी जगह अपने हाथों उमरा उमरा देना भी 'मद्द-ध्वनि' का ही
पुनः वरन है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘अध्व—व्यायाम—सेवाद्यंविभावंरनुभावने ।

गात्रसवाहनै—रास्यसङ्कोचे—रङ्गमोटनं ।

निश्श्वासंजंम्भिनैर्मन्दं पादोत्क्षेपे श्रमो मतः ।’ इति ।

‘श्रम—सेवोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिहृन्मतः ॥’ इति च ।

श्रमगतान्धोर्भेदमाचष्टे—

अथ च सत्यपि बले जायते, शारीरभ्यापारादेव जायते, न तु स्वानि,
अतोग्लाने श्रमस्य च भेदः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतवृत्त सखाय कथयति—

‘विधाय सा मद्बदनानुकूल, कपोलमूल हृदये शयाना ।

चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितु मन्दमपि क्षमाऽऽसीत् ॥’

शारीरभ्यापारो दूरगमन—बहुगारवहनादि श्रमस्य कारणतया विभाव, निश्श्वा-
सादयश्च कार्यतयाऽनुभावा । सेवो दुःखामिश्रचित्तवृत्तिविशेष एव ।

अध्वा च व्यायामश्च मेवा चाथा येषा तंविभावं, गात्रसवाहनादिभिरनुभावंस्व
श्रमो श्रेयः । अध्वपद तत्र गमनवरम । सवाहन श्रमापनयनाय पीडनमर्दनादि ।
अङ्गाना मोटन तदर्थं नमनम् ।

ग्लानेराधिभ्याधिभ्यवतहानिजन्यत्वान् श्रमस्य च बलसद्भावेऽपि शारीरविपु-
नभ्यापारजन्यत्वान्मिषो वैतल्लप्पमिति सारमः ।

सा तन्वी, कपोलस्य मूल पद्बदनानुकूल मदीयमुखसयोगयोग्य विधाय, हृदये
ममोरसि शयाना सती (श्रमेण) चित्ते लिखिता इव, मन्दमीपदपि स्पन्दितु चनितु
क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः ।

अथ ‘श्रम-भाव’ का निरूपणा करते हैं—‘बहुतर’ इत्यादि । सेव नामक श्रम चित्त-वृत्तिविशेष
को ‘श्रम’ कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निश्श्वास, अक्लाई
तथा निद्रा आदि अनुभावों को उत्पत्ति में कारण होता है ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘अध्व-व्यायाम’ इत्यादि-अर्थात् मार्ग-गमन,
व्यायाम-करण और सेवन आदि विभवों से तब शरीर दबकना, सुन पा मिडुल बना, अँगुल
सेना, निश्श्वास रोकना, जम्मा वा अना-इन अथ अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों
ने ऐसा भी कहा है कि—‘श्रम-सेवो’ इत्यादि अर्थात् मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले
और निद्रा तथा निश्श्वास आदि को उत्पन्न करने वाले सेव को श्रम कहते हैं ।

श्रम और स्वानि में परस्पर यह भेद है कि श्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार
करने से उत्पन्न होता है और स्वानि-अधि-व्याधि आदि म बल की हानि होने पर उत्पन्न होती है ।

अथ ‘श्रम-भाव’ का उदाहरण देयिगे —नायक अपने मित्र को विरगैर-रति के बाद की स्थिति
पर रहा है कि—‘वह कृशाही अपने कोल-मूल भाग को मेरे मुख के सामने बरके मर वसुस्थ
पर सौ गई और चित्रलेखि की तरह, बहुत देर तक, सेवी भी नहीं रिड सकी ।

विभाषादिवशंपति—

अत्र विपरीतसुरतरूपं शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयना-
दयोऽनुभावाः ।

इह निद्राध्वनित्वमागङ्घ्र्य निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन गतार्थेति शङ्क्यम्, सुपुप्ती हि ज्ञानराहित्येनैव
यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितु न क्षमाऽऽमीदित्यस्थानति प्रयोजनकत्वापत्तेः,
शीडाऽऽजिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च । श्रमे त्वानुगुण्यमुचितम् ।

गवं निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।

स्फुटम् ।

चित्रलिखितत्वोपमयो, व्यज्यमाना निद्रैवात्र प्रधानमिति निद्राध्वनिरेवात्र न तु
श्रमध्वनिरिति पूर्वपक्ष—चित्रलिखितत्वदृष्टान्तन सुपुप्तिरूपनिद्राया एव व्यञ्जनान्,
सुषुप्तेश्चज्ञानसामान्यशून्यत्वादारभानिरिक्तविषयकज्ञानशून्यत्वाद्वा ज्ञानरहितत्वयत्नर-
हितत्वे सुषुम्पगन्तु योग्ये, तेन यत्नराहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्ध्वनयोपादानस्य वैधर्म्यं
स्यात् । तस्य स्पष्टावगमार्थकत्वाङ्गीकारेऽपि, यद्यपानेति सौद्धानुना निद्राया प्रकार-
तयाऽभिधाबोधयत्वेन व्यङ्ग्यत्वभावाद् ध्वनित्वं न स्यादिति नैव निद्राध्वनिरश्लेष्यु-
त्तरपक्षश्च शोध्य । श्रमे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये तु तदर्थस्य श्रमव्यञ्जनोपकारकत्वमेवेति
न दोष इत्यागम्य ।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षस्तज्ज्ञानजन्य यत्परेषामवहेलन तिरस्कारात्मिका
चित्रवृत्ति सैव गवं अवहेलनस्य भावत्वमप्यत्तये चित्तवृत्तिप्रयुक्तानुधावनम् ।
सदुक्तम्—

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कार्य विभाव और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि
अनुभाव हैं ।

जि 'श्रम-भाव' के लक्षण उक्त (विधाय "इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक
ही हैं, तब 'श्रम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि वहाँ 'निद्रा-भाव-ध्वनि' में ही गन्तार्थ हो
जायगा तब 'विधाय "' इत्यादि पक्ष में 'चित्र-लिखित की तरह' इन समा से निद्रा-भाव ध्वनि
होता है, यह शङ्का नहीं करनी चा ह्ये, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यङ्ग्य मानेंगे, तब,
'धोषा भा नहीं हिल सकी' यह कथन निःप्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावस्था में ज्ञान के
नियमन न होने में धन का न होना निश्चिन हा है । यदि अब वहाँ कि निद्रा की बात में विदित
होने वाले यत्न-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने में लिये यदि किसी शब्द में कर भी दिया गया,
तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े हा होती है । इस पर मैं कहना हूँ कि हाँ, भाई !
उसमें बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शीघ्र धातु में जो निद्रा को वाच्य बना दिया गया, उससे तो
उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा जम्बर हागी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अनृत अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना
जाता है । अब यहाँ 'श्रम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार हो उचित है और जब यहाँ 'श्रम-भाव' को प्रधान
व्यङ्ग्य मान लेते हैं, तब उसमें अनुभाव होने के जाने आदि सब वाच्य रूप में वर्णन अनुब्रूल ही
होता है ।

अब 'गर्व-भाव' का निरुक्त करने है—'रूपधन' इत्यादि । रूप, धन और विद्या आदि के कारण

उदाहरति

उदाहरणम्—

विद्यागवितो ब्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलान् पयोधे-
र्यावन्त सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्क वदन्तु ।
मृद्वीकामध्य-निर्यन्मसृणुरसभरुमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यसायाः पदमनुभवितु कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥'

विद्यावानुमावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताजान विभाव पराधिक्षेपपरंताह-
शावाक्यप्रयोगोऽनुभावः ।

इह प्रतीयमानासूयाया गर्वबोधकत्वमाह—

इम चासूयाऽपि लेशत पुष्पाति ।

'गर्वो मद प्रभाव-श्री-विद्या-सत्कुल-जन्ममि ।

अथज्ञा-सविलासाङ्गदराना-विनयादिकृत् ॥' इति ।

रत्नसानो सुमेरो 'सर्वेषामेव वर्षाणा मेरुरुत्तरत स्थित इत्यभिधानाद् आमूला-
न्मूलमभिव्याप्य, मलयेन चन्दनगिरिणा वलयिताद्वेष्टितान् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य आकू-
लाच्च तटमभिव्याप्य च, यावन्त काव्यस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणा सन्ति, ते
विशङ्क निस्सन्देह यथा स्यात्तथा, मृद्वीकानां परिपक्वद्राक्षाणा मध्यात्, निर्यन्ती
निस्सरन्ती मसृणा घना च या रसस्य झरी निर्झर (प्रवाह) तस्मा माधुरी मधुर-
तैव भाष्य भजन्तीति तद्भाज, तादृशीना वाचामाचार्यताया पद प्रतिष्ठाम्, अनुम-
वितुमधिगन्तु मदन्य, धन्य पुष्पवान् कोऽस्तीति वदन्त्वित्यर्थः ।

अन्यसाधारणताञ्जुल्यता सर्वोत्कृष्टेति यावन् । पराधिक्षेपपरस्यान्यतिरस्कार-
तात्पर्यकस्य एतादृशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य ।

अत्र वक्ष्यमाणलक्षणासूया पराधिक्षेपेण विन्विन् प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारि-
तयाऽङ्गमेवेत्यर्थः ।

अने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरो को अवहेलना (निरस्कार) करने का मनोभाव पैदा होता
है, अगो मनोभाव (अवहेलनारतक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं ।

उदाहरण देखिये । पम्पिनराज को हा वक्ति है बि—सुमेरु पर्वत को तादृशी से लेकर मलयचल
से धिरे डुधे समुद्र के तट तक, जिनने मान्य-निर्माण में निपुण बन हैं, वे निरशङ्क होकर कहे कि—
दावों के अन्दर में निकटो हुई चिकनी रस-भारा को मधुरता का भाष्य जित्ने प्राप्त है—जो उनके
समान मधुर हैं, उन पचनों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझने भिन्न कौन पुरुष धन्य हैं,
यह सौभाग्य और कित्ती को प्राप्त हो सञ्जट है ? तात्पर्य यह कि मुझ जैसा मधुर वचन बोलने वाला,
सरम कविना करने वाला मैं ही हूँ, दूसरा नहीं ।

यहां अपना कविताओं में सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का निरस्कार करने
के लिये इन तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है ।

'आमूलात्' 'इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को परतिरस्कार के द्वारा किञ्चिद्

वीररसध्वनि-गर्वध्वन्योर्मदं दर्शयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः ।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गी पतिना गिरामधिदेव-
त्यापि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया
स्थित सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव
महीतले मदस्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रती-
यमानः ।

निद्रा निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

वीररसध्वनावुत्साहस्य स्थायित्वेन प्राधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिचारितया
कादाचित्कत्वम्, गर्वध्वनी तूत्साहस्मात्प्रत्ययात् प्रत्यये वाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्राधान्य-
मित्युभयोर्मदं इत्यर्थं ।

पूर्वपाठानुरोधत् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम् ।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गी पत्यादिनाऽपि सह कथा
वरिष्ठ्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो व्यङ्ग्य, ततश्च सबन्धितयाऽहमुत्कृष्ट इति
गर्वमनुपकारकत्वेनैव व्यज्यत इति वीररसध्वनि । 'आमुतात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्य'
कोऽस्ति' इति सोत्साहोक्त्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यङ्गनात् गर्वध्वनिरिव न वीररस-
ध्वनिरित्याशयः ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतप्राडोप्रवेशान्निरिन्द्रियप्रवेष्टावस्थानम् । तदुक्तम्—

'चेतस्सम्मीलनं निद्रा श्रमबलममदादिजा ।

जुम्भाऽक्षिमौलनोच्छ्वास-गात्रमङ्गादिकारणम् ।' इति ।

प्रतीयमानं अगुणं भी घृष्टं ही कर्तुं ही अर्थात् अस्वागर्भं कथं अहं ही ही कर्तुं ही, अही नही ।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहना है, अत एव प्रकट भी, और गर्व गुप्त रहता है, अत एव अग्रधान भी, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है, उत्साह की प्रतीति हममें होती ही नहीं, यदि होती भी है तो गौणरूप से । यही वीर-रस-ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में विशेष भेद है ।

अगर जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष बतलाया गया है, उन्ही या अत एव उत्साहन परने है—'तथाहि' इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रसङ्ग में जो 'अपि वक्ति गिरां पति स्वप्न' ' ' यह उदाहरण दिया गया है, हममें 'वृक्षयति और कागुदेवी सरस्वती के साथ भी मैं वाद करूँगा, इस कथन से जो उत्साह ध्वनि होगा है, उसको 'सर्व पण्डितो हे मे अधिक हूँ' इस रूप में ध्वनि देने वाला गर्व पुष्ट करता है, न कि 'आमुतात्' इत्यादि पद्य के तरह 'भूजेक में सुप्त से भिन्न नहीं ही है' इस प्रकार स्पष्ट बर्णित चिदाने वाच कथन रूप अनुभाव से प्रधानतया प्रतीय होता है ।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वादानुक्ताननुभावानेवाह—

नेत्रनिमीलन—गात्रनिष्क्रपत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको ब्रवीति—

‘सा मदागमनवृत्ततोषा, जागरेण गमितास्त्रिदोषा ।

बोधिताऽपि बुबुधे मधुपर्नं, प्रातरान्नजसोरमल्लुब्धैः ॥

विभावानुभावी ब्रूते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभाव, मधुपर्नबोधामावोऽनुभावः ।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावान् वक्ति—

अत्र निश्शङ्कतदर्थानुष्ठान—सशयोच्छेदादयाऽनुभावा ।

श्रमस्य तल्लक्षणे निद्राजनकत्वेनोपादानात् प्रयोभ्यत्वमिह जन्यत्वमेवावसेयम् ।

अत एवानुपद श्रम निद्राया विभाव वक्ष्यति ।

अस्या निद्राया ।

मदागमनेन प्रवासान्ममागमनेन वृंहितो बद्धितस्नोष आह्लादो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुलालापवितासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमिन यापितमखिल सममन दोषा रात्रियंया, तादृशी, प्रातः प्रभाते, आननजे मुखजन्य मोरभे सुगन्धो लुब्धैर्लीलुर्पं, मधुपर्नंमरं, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाचिचेतदित्यर्थं ।

शास्त्राणां लोकवृत्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्थम्य वस्तुनो निर्द्धारणं निर्णयरूप-चित्तवृत्तिर्भतिरित्यर्थं । तदुक्तम्—

‘नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

स्मेरता घृतिसन्तोषो बहुमानश्च तद्भुवा ॥’ इति ।

अत्र मती । तदस्य निर्णयस्यानुष्ठान विधानम् ।

अत्र ‘निद्रा-भाव’ का निरूपणा करन हे—‘श्रमादि’ इत्यादि । श्रम-अदि के कारणा होने वाले चित्त-समीलन अर्थात् पुरीनत् नामक नाशी में चित्त के प्रवेश को ‘निद्रा’ कहते हैं ।

आँवों का मुद्रीत हो जाना, अज्ञो का निश्चय हो जाना आदि इनके अनुभाव हैं ।

उदाहरण देखिये । नायक विनी से कहना है कि—मेरा आगमन से उसकी प्रसन्नता बहुत बढ़ गई और हमने जग कर सम्पूर्ण रात विज्ञा दी, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) मुख के सुवास के छोभी झमरों से जगाने पर भी वह नहीं जग सकी ।

यहाँ रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभाव है और झमरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है ।

अत्र ‘मति-भव’ का लक्षणा करन है—‘शास्त्रादि’ इत्यादि । शास्त्र तदप लौकिक वृत्तान्तों के विचार से थे किसी वस्तु के विषय में निर्णायक चित्त-वृत्ति कल्प होतो है उसे ‘मति’ कहते हैं ।

निश्चय होकर निर्णय काम को करना और सदेह का विनाश आदि इनमें (मति में) अनु-भाव होने हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमति कश्चिद्विभावयति—

‘निखिलं जगदेव नश्वर, पुनरस्मिन् नितरा कलेवरम् ।

अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त ! मया परिश्रमः ॥

विभावानुभावा वक्ति—

‘शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्’ इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः हन्तपद-
गम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिवितृष्णता चानुभावः ।

नन्वत्र शान्तरसध्वनिरेव न कथमित्यन आह—

भृगिति मतिरेव चमत्काराद् ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन
प्रतीतेः ।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।

यदा, निखिल समस्त, जगद् विश्वमेव नश्वर नाशनीयमग्नि, अस्मिन् जगति,
कलेवर शरीर पुनरनितरा नश्वरमस्ति अथ तदा तस्यानितश्वरकलेवरस्य कृते
पोषणनिमित्ताय, हन्त ! मया, अथ कियान् परिश्रम क्रियत इत्यर्थः । मूढवग्मम
विनश्वरतमवस्तुपोषणाय परिश्रमस्य करणमिति निर्णयान्मतिरिहावसेया ।

विरतिनिवृत्तिः ।

यतोऽत्र भ्रष्टिति प्रतीयमाना मतिरेव नितरा चकारिणी शान्तरसस्तु
विलम्बेनाम्बाधमानोऽप्यपमत्कारकृन्, ततो मतिध्वनिग्यात्र न शान्तरसध्वनि-
रित्यास्य ।

व्याधिरोगयोरभेदेऽप्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपत्वाम्भवान् तज्जन्ममनस्तापोत्प्लेता ।

उदाहरण देखिये । कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब दर मग्मन संसार ही नश्वर है—
जहाँ इमने किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इम संसार में ही वह शरीर अम्बन ही नाश-
वान् है—‘क्षमदूर्ध्वं न ज्ञानानि विभाता किं विषस्त्विति’ के अनुसार वह हन्त के बाद इम शरीर का
क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाथ ! तब भी मैं इम शान्तुर शरीर के लिये चिन्ता परेशम
करता हूँ ।

यदा ‘शरीरमेतद् जलबुद्बुदोपमम्’ (जहाँ वह शरीर जल के बुद्बुद का समान है)।
इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुन पुन विचार) है और ‘हन्त’ वह मे मन्त है ने वला
मदनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा गुणधारित होने आदि अनुभव है ।

निवृत्तिये यदा हीन प्रतीयमान मति-भाव का चमत्कार अपि है और शान्त-मम का अम्बद्
विलम्ब से होता है, अतएव अपेशकृत समजा चमत्कार भा म्बन है, इमलिये मति-ध्वन-ध्वनि ही
वक्त एव को अम्ब-कोटि में लाती है, शान्-रम-ध्वनि नहीं जहाँ शान्-रम-ध्वनि यदा ही
होती, मति-ध्वन-ध्वनि ही होती है ।

अथ ‘व्याधि-भाव’ का निश्चय करने है—‘रोग’ इत्यादि । रोग और विद्येय अदिमेत्यात्र

पञ्चा एव विभावान्तरनुभावान् बलि—
गात्रशैथिल्य-श्वासादयोऽनानुभावा ।

प्रचीनसम्भति प्रतिपादयति—

यदाहुः—

‘एकैकशो द्वन्द्वशा वा त्रयाणा वा प्रकीर्तत ।
वातपित्तकफाना स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ॥
इह त प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ।’

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्योग-व्यधिनो नायिका कथयति—

‘हृदये कृतिशैथिल्यानुपङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः सिपन्ती ।
तद्दन्तपरं मुखं सखीना-मतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ॥’

अत्र परं व्याधि-विभावानुभावौ दर्शयति—

विस्त्रोण विभाव अङ्गधोनादिरनुभाव ।

शोके वातपित्तकफाना मध्य प्रत्येक द्वयोर्द्वन्द्वोत्पन्नाया त्रयाणा वा दोषाणा प्रकीर्णत्वे ज्वरादयो भवन्ति इह साहित्ये तत्प्रभवस्तदुत्पत्तौ मनस्तापविसृष्टवृत्ति-विशेषा व्याधिभाव उच्यते इत्यर्थः ।

इयं विद्योगिणी हृदयं वक्षति कृतं शैथिल्यानुपङ्गं सम्भवत्योक्त्या यथा वा, ताङ्गा, तथा मुहुरवारं वारं यतस्तत इत्यतः अङ्गानि सिपन्ती, तद्दन्तपरं नायकं वृत्तान्तवर्णनपर्यायणे सखीना मुखं अतिदीना दृष्टिमादधाति निक्षिपतीत्यर्थः ।

मुखं इत्येकवचनत्वं सर्वमात्मकत्वं च तस्य कथनं सूच्यते ।

धारसत्वानां मयानकप्रतिनां दशनात् स्फूर्जवोर्ध्वसनिर्घोषस्य धवधालव्यं वन्तो वृत्तिसंभ, ताङ्गा नौरा कानरस्य चित्तवृत्तिविशेषस्त्रास इत्यर्थः ।

शोके वात मन के कारण से ‘व्याधि’ कहते हैं । शोक और व्याधि स्वरूप समान हैं, वह वात प्रसिद्ध है, फिर शोक को व्याधि के कारण से शोक मानसिक रूप से व्याधित्व कहने का कारण यह है कि— ‘यस्य मनं चित्त-वृत्ति-स्वरूपं है, इन निदानों के अनुपरोध से चित्त-वृत्तयः मन्त्रणा से ही व्याधि-भाव माना जा सकता है वात शोक को नहीं यह विदित नहीं समझना चाहिये ।

शोको का शिथिलता और शोक का यदि व्याधि-भाव में अनुमान होता है ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी किया है कि ‘मूकैकशो’ इत्यादि । अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रयोग से जो अरु यदि शोक उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को व्याधित्व शब्द में ‘व्याधि’ कहते हैं ।

निरह-संश्लिष्ट नायिका का वर्णन है कि—निरदिने नक्षिपतः सेव पर यती है, सखियों ने निरह-ताप को शान्त करने के उद्देश्य से उनके वक्ष पर सेवार्थों को रख छोड़ा है, फिर भी वह नायिका बार-बार अश्री को इधर उधर परक रही है, जब बेचारी सखियाँ बत करें, कुछ उत्तर नहीं छुट्टा, भक्ति से सखियाँ फिर कर उनके शोक को समर्थ की बातें करने लगीं, ता बरैक के निर-कथनरत्ना सखियों के मुख पर कठोर दृष्टि डालने लगी ।

नाम निरूपयति—

भीरोर्घोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जध्रुववर्णादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः ।

अनुभावानाह—

अनुभावाच्च रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादय ।

प्राचीनसम्पत्ति दशयति—

यदाहु—

‘औत्यातिकर्गेन क्षोपस्त्रास कम्पादिवारक ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायक मध्याय वक्ति—

‘आलीपु केलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।

आरादुपाकर्षणं गिर मदीया सौदामनीया सुपनामयाभीत् ॥’

विभाषानुभावां दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णन विभाव , पलायनमनुभाव ।

स्तम्भरवेष्टाप्राणीषान् । विभावद्वय तु लक्षण एवोक्तम् ।

अप्यातसूचकौ रौत्यातिकर्पोरमत्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षोपश्चपलात्मर-
मृत्तिविशेषः ।

आलीपु सद्योता मध्ये, केलीरभसेन श्रीडाकीतुनेन मम सम्बन्धितमालाप मुहु
उपानपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद दूरे मदीया गिरम् वाचमुपाकर्ष्य निराभ्य,
सौदामनीया श्रागोदयादचिरप्रमतया अपनासम्बन्धिनी, सुपनाम अयासीद् विद्युदिव
सद्यस्तिरोऽभूदित्यम् । ‘आलापमुपालपन्ती इत्यत्र ‘वाचमुवाच वीत्स’ इत्यत्रे-
वाधिवपदत्वम् ।

‘शब्दानामनुशासनमाचार्येण’ इत्यत्रेव पत्येति वर्तेरि मृतीया । इह स्वशब्देन
नायिकापरामर्शोऽभिप्रयत किन्तु निजस्वात्मादिवाच्याना प्रधानोभूतक्रियावर्तुपरामर्शि-
त्वम्’ इति व्युत्पत्तिविरोधाप्रोचितः ।

मतो बालापदोपरस्थापितस्य बाल्यैर्नैव नायिकाया लज्जाया असम्भव, प्रासस्य च

यथा विरह विभाव है और अत्रो का पटकना आदि अनुभाव है ।

कद ‘अस’ का लिङ्गण करत है—‘भीरो’ इत्यादि । भीरु (टावीक) व्यक्ति के हृदय में
स्वप्न आदि भयानक प्राणियों व दर्शन और बिजली का कड़क व अवा आदि से जो एव तरह की
चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम ‘अस’ है ।

रामाश्र, कथ्य, निरचय और धम आदि नाम-भाव के अनुभाव ह न है ।

प्राचीनों ने जो कहा है कि—उत्पन्नवारक वस्तुओं से होने वाले मन के विशेष को ‘अस’ कहत
है और वह कथ्य आदि का अन्तक होता है ।

उदाहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका धन के वेग में सखियों
के बीच में भरी समुद्र की बानें कह रही थी, परन्तु दूर से ज्यों ही मरी अवाज सुनी, त्यों ही
बिजली की शोभा को प्राप्त कर गई—अर्थात् देखत ही भाग गई ।

लज्जाध्वनिमत्राशङ्कघ निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शंशवेनैव तस्या निरासात् ।

ननु 'प्रथमावतीर्णयीवनमदनविकारा रती वामा । बधिता मृदुञ्च मान समधि-
कलज्जावती मुग्धा ॥' इत्यन्यत्र लक्षिता नुर्घंवात्र बातापत्रोष्मा, न तु शिनु ।

तथा च लज्जायास्तस्यामाधिव्याद व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवैव्यरचेरुदाहरणान्तरमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विलम्ब्य गृहमागत कृद्धाया मातुस्ताडनोद्यम दृष्ट्वा तस्तो बालवृष्णो मातरं
धृषीति—

'मा कुरु कशा कराब्जे, करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम् ।

खेलन् न जानु गोपे—रम्ब ! विलम्ब करिष्यामि ॥

प्रसङ्ग प्रतिपादयति—

एषा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्तिः ।

स्वप्नरूपं सुप्तं निरूपयति—

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम् ।

सम्भव सूचित, तस्मात्तिरोधानेन नात्र लज्जा व्यज्यते, अपितु त्रास एवेति भावः ।

विविक्त लज्जाऽसङ्कीर्णत्रासव्यञ्जकम् ।

हे करुणावति ! अम्ब ! कराब्जे निजकरकमले, कशा ताडनरज्जु, मा कुरु मा
प्रही, मे मम स्वान्त हृदय कम्पते, पुनरत पर जानु कदाचिन्, गोपे पशुपालबालं
सह खेलन् अहं विलम्ब न करिष्यामोत्पर्यं ।

लीलाया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुतः परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रत्यु-
क्तिरेषा । इह त्रासस्य कशोत्तोलन विभावः, कम्पद्वानुभावः । भावान्तरेणासङ्कीर्ण-
त्रासोऽत्र ध्वस्यते ।

यहां पठि के द्वारा स्वकीय वचन का अलग करना विभाव और भाग जाना अनुभाव है ।

'अलीपु . . .' इत्यादि पद्य में 'लज्जा व्यह्वय है' यह शब्द नहीं कभी चाहिये, क्योंकि 'बाटा'
पद से नादिका का बचन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचन
में लज्जा नहीं होगी, शून्य होता है ।

यदि यह बात कही जाय कि यहां 'बाटा' पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु 'मुग्धा' श्लोक
छाया में 'समधिकलज्जावता' अर्थात् 'अधिक लज्जावती', कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान
स्वरूप होगी, तो मैं कहूंगा कि यह कथन आपका ठीक है, इसी अरुणि को हृदय में रज्जर प्रत्यक्ष
दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'इदं वा विविक्तमुदाहरणम्'—अर्थात् अथवा यह विमुक्त उदाहरण
त्रास का ही विधे—

अपि ! दयावति ! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोडा मन ले, मेरा मन बँट
रहा है । मा ! गोपालों के साथ खेलते हुये अब कभी विलम्ब नहीं करूँगा ।

यह टीला से गोप किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान को वक्ति है । यहाँ माँ का कोण शब्द में
लेना त्रास का विभाव और कल्प अनुभाव है ।

निद्राया विभावैर्म्य श्रमादिभ्य उत्पमुत्पन्न ज्ञान विद्ययाभास , स्वप्न एव सुप्त नाव इत्यर्थः । तदाह—

स्वप्न इति यावत् ।

श्रमादेर्विभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोत्तरवादानुभावमात्र वक्ति—
अस्यानुभाव प्रत्यापादि ।

ननु श्रमादयो विभावा इव नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य कथं नान्यन्त इत्याशङ्का व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावा , न त्वस्य, अतिद्वन्द्वान्वयत्वान् ।
प्राचीनोक्ति खण्डवति—

यत्तु प्राचीनै—'अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम्' इत्याद्युक्तम्,
तदन्यथा सिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

अस्य स्वप्नभावस्य । प्रतापोऽन्यथकभावणम् । आदिना रोदनहसनादिस्वान्नाभ्या-
पारगद्ग्रह ।

नेत्रनिमीलनादीना हि निद्राजन्यत्व न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो
न स्वप्नस्यानुभावा । इत्य स्वप्नस्य निद्रायाश्च कारणैवैवैऽपि कायभेदाद् भेदो
विभावतीय ।

अन्यथा—सिद्धानि कारणान्तरादेवात्वन्नाति । नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न
तु स्वप्न) जनितानि स्वप्न यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद् भ्रमेण
स्वप्नजन्यत्व तेषा प्रतिपादितमित्याकृतम् । उक्तञ्चान्यत्र—'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य
विषयानुभवस्तु यः । कोपावेगवपरलानि—मुखदुःखादिकारक ॥ इति ।

अथ 'सुप्त' का निरूपण करते हैं—'निद्रा' इत्यादि । निद्रा—रूप विभाव (कारण) से उत्पन्न हुए
ज्ञान का नाम 'सुप्त' है । जिसे स्वप्न कहते हैं ।

बहरजाना आदि इसके अनुभाव हैं ।

आँसों का मीचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न से उत्पन्न
नहीं होते ।

प्राचीनों ने 'सुप्त' के अनुभाव आँसों की निक्षेपण और आँसों का मीचना है' ऐसा जो दिया है,
उसका आशय यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है, स्वप्न के लिये ये सब
अवधानिद्व है—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि ये
अनुभाव स्वप्न के अर्थक अवश्य हैं—क्योंकि स्वप्नवस्था में भी इनका रहना निश्चिन् है । सारांश
यह हुआ कि स्वप्न ही अवस्था में भी इन (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को निवृत्त रहत देखकर
प्राचीनों को भ्रम हो गया कि ये स्वप्न के ही कारण हैं, क्योंकि वे ऐसा ठिक दिया । वस्तुतः इनका
कारण नहीं है ।

स्वप्नानुभूतप्रियासमागमो नायको निद्रा वदति—

'अकरण ! मृषामायासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चल,
तव परिचित स्नेह' सम्यङ् मयेत्यनुभाषिणीम् ।
अविरलमालद्वाप्या तन्वी निररतविभूषणा,
क इह भवती भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥'

प्रकरणमाह—

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवभाषिणी दृष्टवतो निद्रा प्रति
कस्यचिदुक्तिः ।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यङ्ग्यत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत
आह—

'यद्यप्येवमभूताया प्रियतमावस्थाया निवेदनं निद्रे ! मम भवत्या महानुप-
कारं कृतं' इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुर-
स्फूर्तिकतया स्वप्नध्वनतमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमोष्टे ।

हे भद्रे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदशे ! भवती विना क इह—'हे अकरण
निर्दय ! मृषामायासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिण ! मम अञ्चल वसनात्तु मुञ्च त्यज,
तव स्नेहं प्रणयं परिचितं मया तव 'कपटप्रेमा सुविदितं' इति वाक्यानि, अनुभा-
षिणी वदन्तीम्, अविरलगलद्वाप्या निरन्तरव्यवमानाश्रुधाराम्, निवस्तविभूषण
निष्कासितालङ्काराम्, तन्वी प्रेयसी, विनिवेदयेत् समर्पयेद्दृशयेदित्यर्थः ।

अपिरत्राप्रयोजनं प्रतिभाति ।

अत्रोदाहरणे निद्राकतुं कप्रियतमानिवेदनफलमहोपकारविधानात्मकवस्तुन शृङ्गार-
रसस्य च व्यञ्जनाद् वस्तुध्वनि-रसध्वनयोरपि यद्यपि सद्भाव, किन्तु तयोः पश्चात्
प्रतीतिरिति साम्यामङ्गभूताभ्यां सह पूर्वप्रतीतिकत्वान् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वनेः
साङ्ख्यमिति तदध्वनिव्यपदेश एवेति सारम् ।

निद्रानाशयस्य भावत्वाभावाद् दोष इति, बोधस्य चान्यदाऽपि सम्भवाग्निद्रेत्यादि
च लक्षणे निवेदानम् । तदुक्तम्—'निद्राऽप्यगमहेतुम्यो विबोधश्चेतनागमः । जृम्भाऽ-
ङ्गमङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥' इति ।

अथ 'द्वन्द्व-भाव' का उदाहरण लीभिरे । 'हे निर्दय ! हे मिथ्याभाषणो के समुद्र ! मेरे अञ्चल छो
दे दे, मुझे तेरे प्रेम का अच्छा परिचय प्रदान हो चुका है' इस तरह कहती हुई और लगातार आँसू
बहाती हुई आभूषणविहीन कुशाह्वी को, हे कल्याणकारिणि ! निद्रे ! तेरे बिना कौन लाकर व्यस्तित
कर सकता है ? हे देवि ! इस तरह प्रिया-समागम का देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है ।

यह एक पौटि से कहती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किसी प्रवामी नायक
को बतल है ।

यद्यपि 'हे निद्रे ! तूने प्रिया की कशावृक्ष दशा (पल्ल भाग्य, रोदन और आभूषण-त्याग आदि)
का ज्ञान धराकर मेरा महान् उपकार किया है' इस वस्तु तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों की प्रतीति यहाँ
देवी है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अतः इस पद को स्वप्न-भाव-ध्वनि
का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में एक वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि,
वन्दे रोक नहीं सकती ।

जागरणलक्षण विबोध निरूपयति—

निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः ।

विनाशाननुनावाश्च दर्शयति—

निद्रानाशश्च-तत्पूर्ति-स्वप्नान्त बलवच्छब्दरूपार्थादिभिर्जायत इति त एवाय विभावा । अक्षिमर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावा ।

उदाहरणबालुस्वप्नमन्वादाह—

तत्र प्रुद्धोपेपोदाहरणम्—

स्वप्नोपलम्बमानप्रयमीसातिष्यो मेषर्पाजितापगतनिद्रा विद्यमान कश्चित् प्रवासी सखायमाख्याति—

‘नितरा हितयाज्य निद्रया मे, बत यामे चरमे निवेदिताया ।

मुदृशा वचन शृणामि यावन्नयि तावत् प्रचुकोप वारिवाह ॥’

विनाशाननुभाव चाह—

अत्र गर्जितश्रवण विभाव, प्रियावचनश्रवणोह्लासनागोऽनुभावस्तून्नेय ।

मतान्तरण विबाध निरूपयति—

केचिद्विद्याध्वमजन्ममप्यमुमानमनि । तेषा मने—

तत्पूर्ति निद्रापूर्ति । स्वप्नान्त स्वप्नदशाज्वलानम् । तस्य परदृष्ट । निद्राना-
पस्य याति चारणानि, ताम्बेव विबोधवत्यापीति निद्रानाशकारणत्वेव विबाधे विनाशा
अक्षिमर्दनादयश्चानुभावा भवन्तीत्यर्थं ।

अथ, चरमे याम चतुर्थे प्रहरे, मे मम, नितरा हितया परमोपवारिवाया, निद्रया
स्वप्नदशाया, निवेदिताया प्रापिताया, मुदृश प्रेयस्या आतपितुमुद्यताया, वचन,
यावद्दहं शृणामि, तावद्बत, मयि, वारिवाहो जलपर प्रचुकोप प्रचुरित इव
जगर्जेत्यर्थं ।

उन्नेय माताच्छब्दानुलोपि दउद्यन्तेतावगमनीय ।

अविद्याया मनारनिदानभूताज्ञानस्य ध्वसेन विनाशेन अन्य ज्ञानमपि केचिद्

अथ ‘विबोध-भाव’ का निम्ना कृत है—‘निद्रानाश’ इत्यादि । निद्रा के ना होने के बाद
को बाध होता है, उसके ‘विबोध’ कृत है ।

निद्रा का नाश निद्रा के पूर्ण हो जाने से स्वप्न के अन्त हो जाने से और प्रकृत दृष्टियों के अन्त
से एक विन्नी व गर्जित होना है, इतलिये वे विबोध के विनाश है और अर्थे मटना, हीर मटना
अर्था अनुभव है ।

एतपि इम नर के बलवान् बहुत ही महत्त हैं, एतपि मष्टेन से ही व हितलिये कृत है ।

जलद अन्त निद्रा न करण है कि—मेरा अत्यधिक शित चारने बला निद्रा से (मन्वादाह मे,
एत के अन्तम मन्वा से एतपि व का मुदृशमदना प्रेयसी का वचन एव एक मुदृ-मुदृ दृष्टि के
अन्त मटल प्रचुरित है दृष्ट-अन्ते अन्ते अन्ते गर्जित से मर मुरद स्वप्न का अन्त कर दिया ।

एतपि मन्वा-अन्त का अन्त विनाश और निद्रा के वचन मुदृने के हिते को एतम स्वप्नान्त से
एतव दृष्ट का, एतका विनाश अनुभव है, एतन्त एव अनुभव का गर्जित एव दृष्टी से एतपि नर
किया गया, अन्त ‘एत’ एव स एतव अर्थ कर एतव कही है ।

'नष्टो मोहः स्मृतिलब्धा, त्वत्प्रसादात् मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥'

इति गोतापद्यमुदाहर्यम् ।

मिहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणश्रुत्याध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

ननु वारिवाहविषयाया अमूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोध-
प्रतीतौ हि मत्या तस्मिन्नाचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवा
हेऽमूयाया विलम्बेन प्रतीते, परमुखनिरीक्षकत्वात् ।

उक्तार्थं समर्थयितुममूयाया विषय विज्ञादीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिवोधक
केचिदपि स्यात् ।

विबोधभाव गम्यन्ते तेषां मते— हे अच्युत गाविन्द । त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मक
वदनुग्रहात् मम मोहो देहात्मन्नमो नष्टः मया स्मृतिरात्मस्मरणे च लब्धा पुनरवाप्ता
प्राप्तं गतसन्देहं कर्तव्याकर्तव्यसंशयरहितं । स्थितोऽस्मि । तेन तव वचनं करिष्ये
वदादेशं पालयिष्यामीत्यर्थं नष्टो मोह इत्यादिभगवद्गोतापद्यमुदाहरणीयम्
त्राविद्याध्वसजयविबोधस्य सत्त्वादित्यर्थं ।

वाक्यायता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम् । तस्मिन् विबोधे । परमुखनिरीक्षकत्वमस्य
गया पराधीनप्रतीतिकत्वम् ।

'नितरा'मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्रामञ्जक—भेषविषयकामूयाया इव
नाधान्येन व्यङ्ग्यत्वाद्मूयाध्वनिरेवेति तु न शङ्कनीयम् इहामूयाप्रतीते परसापेक्ष-
कत्वेन प्रथममुत्पत्तुमशक्तत्वात् तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते तदनु-
स्वप्नस्य सुखकरत्वेन विबोधानौचित्यस्य प्रतीति तदनन्तरमनुचितविवाधकारणग-
तविधायकत्वेन भेषविषयकामूयाया प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परमापेक्षाऽमूया
त्र प्राधान्यमर्हतीति सारम् ।

तस्या-अमूयाया ।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मन के अनु-
सार 'नष्टो मोहः' इत्यादि गोता के श्लोक को 'विबोध'—'भाव'—'बिनि' का उदाहरण समझना
काहिये । उस गोता श्लोक का अर्थ यह है कि—हे भगवन् ! आपकी अनुकम्पा से मेरा म ह नष्ट हो गया
और मुझ मति प्राप्ति हो गई अर्थात् जिन सत्तों को मैं नूत रहा था, वे मुझ पुन मग्न में आ-
ये । अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ, आपके कलन का अग्रगण्य पावन करुणा यह महाभाष्य
युक्त में मह-दस्त मजुन का उपदेश सुन लने से बाद भगवान् इत्यादि के प्रति उक्त है

'नितरा' इतिवा ** 'इत्यादि पूर्वोक्त पत्र का प्रधान वाक्यार्थभेष के विषय में हन वचन
अव्याप्त है, वन शङ्का करना समचित नहीं, क्योंकि जब पहल विषय भाव का प्रतीति है कादो नव
उम विद्वान् अनीचित्य का—अनवभर में होने का—ज्ञान हांग और उनका बाद अच्युत विद्वान्
ह उत्पन्न व न वाक्य भेष में अव्याप्त होयी । अब वन शङ्का परमुखापेक्षा—अथ न मय प्रथम
विबोध का मुह जोहने वाली है, इमीलिये उक्त प्रतीति भी विबोध में ही हो। व न प्रथम
वाक्यार्थ वन हो सका है ?

स्वप्नध्वनिराङ्गमपि निरावरोति—

नापि स्वप्नध्वनि, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तः ।

अथ जीवनाहरणवर्तुत्वावगमनस्य वारिवाहपदस्य, वीपनप्रकृतिकल्पावगमनस्य त्रिपापदस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनि, स्वप्नभावस्य प्रसामेन भावदास्यध्वनि च पर्यवेक्ष्य, गम्या सहासूयाध्वने साङ्ख्यमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनास्यया च सहास्य सङ्करः ।

व्युत्पत्तिदाढर्षाय प्रत्युदाहरति—

इदन्तु नोदाहार्यम्—

‘गाढमालिङ्गध सकृन्ना, यामिनी सहतस्युपीम् ।

निद्रा विहाय स प्रात-रालिलिङ्गाय चेतनाम् ॥’

पदोह पधेर्ध्वनि ‘प्रातः । तावद्दृ शठेन विधिना निद्रादरिद्रोदृत्त’ इत्यादी विषे गठत्वमिदं, मेघस्य निर्देयत्वादि विमप्यसूयाव्यञ्जक विशेषणमुपात्त स्यात्, तदंवासू-याया प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व स्यात्, न च तथा तस्मान्नासूयाध्वनिरिति भावः ।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरथ भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भवतीत्यर्थः । नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्रापान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवा-दित्याशयः ।

साङ्ख्यसंप्यङ्गिता विषोषध्वनेरेवेत्यापूतम् ।

स प्रचान्त पुमान्, गाढ दृमालिङ्गध समाश्लिष्य सकृन्ना सम्पूर्णा यामिनीम-प्रिव्याप्य, सहतस्युपी साव स्थितवती, निद्रामेका नायिकामिव, प्रातः प्रमाते, विहा, अथ चेतना नञ्ज्ञामपरा नायिकामिव आलिलिङ्गैत्यर्थः ।

उक्त एव मे अमृता को भी प्रथमता हो सकती थी, यदि ‘भाद्रपदादहं शठेन विधिना निद्रा-दरिद्रोदृत्त—अमोह दे भाई’ तब एक शठ विधना ने मेरी निद्रा को मन्त्र कर दिया’ वहाँ जैसे विधाता को रक्त कहा गया है, वना तरह वहाँ भी मेघ के विषय में निर्देयता आदि का बंध कराने वाली कुछ बातें वर्णित रहतीं । परन्तु उन तरह की एक भी बात वहाँ वर्णित नहीं है, अतः वहाँ अमृता ध्वनि नहीं हो सकती ।

उक्त एव मे स्वप्न-भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं करी जा सकती, क्योंकि मेघ के गर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से भात होने वाला वह स्वप्न-प्रधान अङ्गव कैसे हो सकता ?

यदि कहें कि ‘निद्रा विहाय ..’ इस एव मे मेघ के छिप ‘वारिवाह’ पर का प्रयोग किया गया है और वारिवाह पर का अर्थ होने वाला (पुनरा) भी एक अर्थ होगा है, अतः इन प्रकार के होने शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति अमृता शब्द हो सकती है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की बात तो अतः स्वप्न ऊपर कह आवे है, अतः स्वप्न-भाव प्रदम् की ध्वनि आने के विचार से भी होती ही है, तो इस पर प्रत्युदाहरते हैं कि—ठीक है, इस तरह वहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ विरोध-भाव-ध्वनि का समूह हो रहे । अभिगम्य कर दे कि—इस तरह समूह मान लेने पर भी अही विरोध-ध्वनि ही होगी । और उक्त दोनों ध्वनियों लगे के अर्थ होकर रहेंगे ।

अब पाठ्यों के कान को हृद करने के उद्देश्य से विरोध-भाव का प्रत्युदाहरण-भी दिख्यते है—‘इदन्तु नोदाहार्यम्’—अर्थात् वह उदाहरण नहीं देना चाहिए । जो कुछ बात मत साथ रहने

कुतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात् ।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एवात्र चमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कञ्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्या नायिकाभ्या द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरा भुङ्क्ते, तथैवाय रात्रौ निद्रा. प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

अमर्षं निरूपयति—

परकृतावज्ञादि—नानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूत-
श्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ।

विभावाननुमावाञ्च दशयति—

प्राग्बत् कारणाना कार्याणा च क्रमेण विभावानुभावत्वम् ।

चेतना विबोधपोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रागुक्तरीत्या न चमत्कारिता ।

इह प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकमत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यङ्ग्यतात्मसासो क्त्यलङ्कारस्फेदमुदाहरण, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्राय ।

शनुकृतास्तिरस्कारप्रभृतयो ये नानापराधास्तज्जन्य, सूक्ष्माव-कठोरभाषणादि जनकभ्रामिनिविष्टस्वरूपश्चित्तविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः । तदुक्तम्— निन्दाक्षेपापमानादेर-मर्षोऽमिनिविष्टता । नेत्रराग-शिर कम्प-भ्रूमङ्ग-नर्जनादिह ॥ इति ।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावा, मौनादीनि कार्याणि चानुमावा-जेया इति सारम् ।

वाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रातः आलिङ्गन करके रक्षा, वही प्रातःकाल में हम (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया ।

यहाँ विबोध चेतनापद में वाच्य ही हो गया है, अतः यह पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता ।

'गाडनालिङ्गज' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में बर्तित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में हम अस्तुत तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को वरभोग के लिए दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर पक्ष नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है । अतः यहाँ समाम्पत्ति अलङ्कार प्रधान—चमत्कारोच्चैः । भव-ध्वनि तो यहाँ है ही नहीं ।

अथ 'अमर्ष=भाव' का नरूपान्तर करत है—'परकृता' इत्यादि । उन चित्त-वृत्ति का नाम 'अमर्ष' है, जो दूसरे के लिए हुए अमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती और मौन (कुतो) तथा कठोर-भाषा आदि को उत्पन्न करता है ।

परहूँ ही की तरह यहाँ भी कारणों (परकृत अमान आदि अनेक अपराधों) का विभाव और यहाँ (मौन आदि) को अनुभाव समझ लेना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्त वर्णपति—

‘वक्षोजाय पाणिनाऽऽमृश्य दूरे, यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।

शोणाग्राम्या भामिनी, श्लोचनाभ्या, जोष जोष जोषमेवावतस्थे ॥

त्रिभावादि प्रकाशयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाग्रपशो विभाव’, नपनारुप्यनिनिमेपनिरीक्षणे अनुभावो ।

ननु क्रोधामर्षयो स्यादिव्यभिचारिणो कार्यकारणक्ये मिय वय भेद इत्यत आह—

ननु क्रोधामर्षयो स्यादि-मञ्चारिणोर्भावयो किं भेदकमिति चेत्, विषय-तावैलक्षण्यमेवेति गृह्यात् ।

ननुमयोविषयताभेद वयमवधार्यत इत्यतोऽभिधत्ते—

तत्र तु गमक भट्टित परत्रिनाशादो प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिक चेति कार्य-वैलक्षण्यम् ।

वधाजगुष कुचनट, महसा, पाणिना करेण, आमृश्य सस्पृश्य (मन्निधो ताड-नादिमम्भवात्) द्राग् इटिति, दूरे यातस्य गनस्य, प्रियस्य कृतागतो बल्लनस्य, आननाञ्ज मुद्रकमनम्, भामिनी कोपना नायिका, शोणाग्राम्या रक्तशोणाम्या, शोच-नाम्या जोष जोष निनिमेप दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोष तूष्णीमेव, अवतस्थेऽस्यादित्यर्थं । इहाप्रसन्नो द्विरपात् ।

लक्षणपटकादिपदशब्दविनावानुभावसद्भावमूचकस्तुत्वात् । निनिमेपनिरीक्ष-ण्यमिह भेदव-बोधाप्यंकाभ्या जुपणिगमुभ्या प्रवृत्तिप्रत्ययाम्या मूच्यते । निनिमेप-निरीक्षण मौनस्याप्युपलक्षणम् ।

विषयताया वस्तुनीरमयोरवस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदक जानीहीत्यर्थं ।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु । गनस्तस्मैव भावस्योत्पटावस्थाया शीघ्ररूपतया पर-त्रिनाशादो प्रवृत्ति कार्यं भवति, अनुत्पटावस्थायात्त्वमपेक्षया वचनवैमुख्यादिक कार्यं भवतीति क्रोधामर्षयो कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यज्ञापकमित्यर्थं ।

अणुरा देविः । कुचो के अग्रभाग की दाँव से मलकर दूर भगे हुए प्रियम के मुख-बल्ल । 'की' - तुल्य लिंग लाल-लाल आँसु से देगकर ही चुन रहे हैं ।

दो अग्रभाग मनों के अग्रभागों की एना विभाव है और नेत्रों की रत्ना तथा व्यटहा एगकर देगना अनुभाव है ।

वदा पद प्रसन्न हो कहता है कि स्वकी-भार जोष और व्यधिकारी भार अनर्थ में क्या भेद है । एगकर एग पद है कि वैम भेद कुछ नहीं है, फिर भी दोनों (जोष और अनर्थ) की विषयता की अग्रभाग में ए वैलक्षण्य-भेद है, वही जोष अनर्थ परस्पर का भेदक होता है ।

अवहित्य निरूपयति—

त्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्याद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषो-
ऽवहित्यम् ।

प्राचीनसम्प्रति दशंयात—

तदुक्तम्—

‘अनुभावपिधानार्थेऽवहित्य भाव उच्यते ।

तद्विभाव्य भय-त्रीडा-घाष्ट्यं-कौटिल्य-गौरवं ॥’

सदाहरति—

यथा—

कुलाङ्गनावहित्य वर्णयति—

‘प्रसङ्गे गोपाना गुत्पु महिमानं यदुपते-

रपाकर्ष्यं स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधू ।

हर्याद्यनुभावानां ‘हर्यंस्त्विष्टावापेर्मनं प्रसादोऽश्रुगद्गदादिकर, इत्युक्तेरश्रुप्र-
भृतीनां हर्षादिकार्याणां, गोपनायापह्नवाय, त्रीडादिभिः त्रीडा-भय-घाष्ट्यं-
कौटिल्य-गौरवं, निमित्तं-ह्येतुभिः जनित उत्पादित, भावविशेषश्चित्तवृत्तिविशेषोऽ-
वहित्यमित्यर्थः ।

पिधानं गोपनम् । विभाव्यमुत्पादनीयं, तदवहित्यम् । घाष्ट्यं प्रगल्भता गौरवं
महत्त्वम् ।

गुत्पु गुरुजनसमीपे, गोपानां प्रसङ्गे कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, यदुपते,
श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्षणम्, उपाकर्ष्यं श्रुत्वा, स्विद्यन्ती धममाजीपुलकितौ जात
रोमाञ्चौ च कपोली यस्यास्तादृशी, कुलवधू कुलीनाऽकुलटा वधुगोपाङ्गना, प्रणय-
पत्न्येदरोमाञ्चापह्नवाय, विपञ्चालानां जालं समुदायं, सगितिं सत्वरं वमतो मुखश-
तादिप्रकाशयत्, पद्मगपते कालिमनागत्य, पणायाम्, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धत-

क्रोधं और अमर्षं जो अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, उसका ज्ञान दोनों के कार्य-वैलक्षण्य
अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये । ताण्डवं यह कि क्रोध का कार्य रोम दूसरों के
विनाश में प्रवृत्ति होना है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह जाना आदि होता है । ताण्डवं यह
मिदं दुःखा कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में रहता है, तब अमर्षं बहलाना है और जब उत्कण्ठ-
वस्था को प्राप्त कर लेता है, तब क्रोध कहलाता है ।

अत्र ‘अवहित्यं मानकं भाव’ वा निरूपणं करने हैं—‘त्रीडा’ इत्यादि । हर्षं आदि भावों के जो
अभ्यन्त आदि अनुभाव (कारण) होते हैं, उनकी छिपाने के लिये लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न
होने वाली चित्त-वृत्ति को ‘अवहित्य’ कहते हैं ।

इमं वाक्यं प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—‘अनुभावपिधानार्थं’ इत्यादि । अर्थात्
अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे ‘अवहित्य’ कहते हैं । यह भय, लज्जा,
धृष्टता, दुष्टिडा और गौरवं सब कारणों से उत्पन्न किया जाता है ।

जैसे—गोपयतो ने प्रसङ्ग-वश, शुकदन्तों के मध्य में, कृष्ण को महत्ता का वाक्य किया तब
निकट में रहने वाली किन्ती कुलाङ्गना ने भी हृन्त किया, जिससे उसके परोक्षों का प्रेम के कारण

विषज्वालाजालं भगिति वमतः पन्नगपतेः,
फणाया साश्रयं कथयतितरा ताण्डवविधिम् ॥'

विभावानुभावावमिधत्ते—

अत्र श्रीडा विभाव', तादृशकालियकथाप्रसङ्गोऽनुभावः ।

इत्य श्रीडाप्रयोज्यमत्रहित्यमुदाहृत्य भवादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामुह्य-
त्वमात्रे—

एव भयादिप्रयोज्यमप्युदाहायम् ।

उग्रता निरूपयति—

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

प्राचीनसम्प्रति दशयति—

यदाहुः—'नृपापराधोऽसद्दोषकीर्तनं चोरधारणम् ।

विभावा स्यु-रपो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥

एते यत्रानुभावास्तदोप्रच निर्दयतात्मकम् ।' इति ।

नृत्यविधान, साश्रयण सहित, कथयतितरा मुहुर्वदतीत्यर्थ । इह श्रीडया प्रणयजस्वे-
दरोमाश्रयोर्गोपनम् ।

तादृशस्य विषज्वालाजालवमनकारिण । प्रणयजन्यो स्वेदरोमाश्रौ लज्जाया-
ऽऽश्रयजन्यत्वेनापल्लती ।

अवहित्यमिति शेष ।

अधिक्षेपो निन्दा, अपमानस्तरस्कार, आदिपदेन राजापराधस्य, अनिष्टमान-
दोषोद्धोषस्य, चोरग्रहणस्य च परामर्शं । निन्दादिजन्यो बन्धुवधादिजनक क्रूरता-
रूपश्चित्तवृत्तिविशेष उग्रनेत्यर्थ ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावा, बन्धादीनि कार्माणि चानुभावा । अस्य
किं करोमीत्याकारा चित्तवृत्ति क्रूरत्व निर्दयत्वमित्यनर्मान्तरम् ।

सात्त्विक भाव के विह्वलना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये । कुलवध ने देखा कि अर तो मेरा कृष्ण
के प्रति प्रेम लोगों पर प्रवृत्त होना चाहता है, बस उसने झट से विष-ज्वाला के समूह को लगातार
लगाने लगे अदिराज कालिय के कर्णों पर कृष्ण के नृत्य का आश्रय-गतिन बर्णन करना प्रारम्भ कर
दिया, जिसने लोग समझ लें कि वह स्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपितु उनके
परक्रम के बर्णन के कारण हुये हैं ।

यहाँ लज्जा विभाव है और मन्दुर कालिय नाग के कर्णों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसङ्ग
अनुभाव है ।

इस प्रकार भय आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अवहित-भाव का भी उदाहरण समझ लेना
चाहिये ।

अब 'उग्रता-भाव' का निरूपण करने हैं—'अधिक्षेप' इत्यादि । निन्दा और अपमान आदि में
उत्पन्न होने वाली 'इमका क्या करे रालू' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी किया है—'नृपापराध' इत्यादि । अर्थात् राजा का अपराध,
हुंसे दोषों का बर्णन और करने वालों को राग लेना ये जिसमें विभाव हो और अधिना, मारना,
लज्जा और धमकाना ये अनुभाव हो, उसे 'उग्रता' कहनी चाहिये, निर्दयता जिसका दूसरा रूप है ।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डीवनिन्दयोप्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिर तर्जयति—

‘अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।

परप्रभाव मम गाण्डीव धनु-विनिन्दतस्ते हृदय न कम्पते ॥’

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूत, गाण्डीव निन्दन्त, युधिष्ठिर प्रति घनञ्जप्रस्योक्ति ।

विभावानुभावो प्रकाशयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डीवनिन्दाऽङ्ग विभाव, वषेच्छाऽनुभाव ।

अमपादुप्रताया अभेदमाशङ्क्य निरस्तयति—

त चामर्षोप्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्रागुदाहृतेऽमर्षध्वनावुप्रताया
अप्रतीतेः ।

तर्हि श्रोयोप्रतयोरेवंस्यमास्तामित्याशङ्क्यायामाह—

नाप्यसौ क्रोध, तस्य स्थायित्वेन, अस्या सञ्चारिणीत्वेन भेदात् ।

हे युधिष्ठिर ! सङ्गराङ्गणे युद्धस्यत्ते, अङ्गाधिपतरङ्गदेवस्वामिन कृपाय,
नितान्तमत्यन्तम्, अमङ्गल वीराणा कृतेऽशुभम्, भङ्ग (पराक्रमहीनत्वरूपस्वदोषान)
पराजयम्, अवाप्य लब्ध्वा, ममानिर्वचनीयविक्रमस्यानुनस्य, परप्रभावमुत्कृष्टानुभाव
गाण्डीव, तदाख्य धनुश्चाप विशेषेण निन्दतोऽधिसिपत, ते तव, हृदय न कम्पते ?
इत्यर्थः ।

विशेषणयुग युधिष्ठिरस्य । गाण्डीवशब्दो ह्रस्वमध्योऽपि द्विरूपकोशोऽनुशिष्ट ।
घनञ्जयोऽर्जुन ।

निदोषस्य गाण्डीवस्य निन्दा विभाव, युधिष्ठिरकमवषेच्छा चानुभावोऽन बोध्यः ।
पूर्वोक्ते ‘वशोजाग्रम्’ इत्याद्यमषध्वन्पुदाहरणे वषेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावाद्युप्र-
ताया अप्रतीति, इह तु वषेच्छाप्रत्ययात्तत्प्रतीतिरपीति वषेच्छारूपानुभावभेद एवा-
मर्षाद्युप्रताया भेदको ज्ञेय इति सारम् ।

श्रोयोः हि गुरुवन्धुवध्यादुत्पन्न उत्कटावत्स्यो रौद्ररसस्य स्थायीभाव, असावुप्रता तु

ज्ञेये—समर भूमि म अङ्गराज कृपा से अत्यन्त अमङ्गल (बरों के लिये अशोभन) पराजय को
प्राप्त करके, आज तू मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष को निन्दा करता है ! तब हृदय कम्पित
नहीं होता !

यह कर्ण से पराजित और गाण्डीव को निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की वक्ति है ।
यहाँ युधिष्ठिर के क्षरा की गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा
अनुभाव है ।

‘अमर्ष’ और उग्रता में कुछ भेद नहीं है’ देसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व में जो
अमर्ष—अनि क्य उदाहरण (वशोजाग्रम् इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसने उग्रता की प्रशंसा
नहीं होती और यहाँ होती है, इस बात का परिचय अफसो दोनों उदाहरणों को मिलाकर देखने
पर मिल सकता है । सत्य यह कि अमर्ष निर्दोषरूप नहीं और उग्रता तद्रूप होती है ।

उन्माद निरूपयति—

विप्रलम्भ महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्याधभास उन्मादः ।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिमात्रेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेषणं जन्मान्तमुपात्तम्, सर्वेषां भ्रमाणां साधारण्यमयं बद्धमिज्ञानादिप्रतिमितहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्यत्वादित्याह—
शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगोन्मत्तावृत्तं द्रुती निवेदयति—

‘अकरणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुज-मादायालीजनस्य विकला सा ॥’

वागपराधत्रयस्त्वान् क्रोधापेक्षयाऽल्पमात्रव्यभिचारिमात्र इत्युपयोविमादभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

विप्रलम्भान् प्रियजनविमोहात्, महापत्तेर्महत्या विपत्तेः, परमानन्दादेः कृष्णह्लाद-प्रभृतेषु जन्मोत्पत्तिर्यस्य, स, अन्यस्मिन्, वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽभ्रमासत्तदभाव-वद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञान भ्रमात्मकश्चित्तवृत्तिविशेष उन्मादो भाव इत्यर्थः ।

विशेषणमुपात्तमिति शेषः ।

शुक्तिर्धामिकरजतत्वप्रकारकभ्रमात्मकज्ञानस्य विप्रलम्भाद्यजन्यत्वेन उन्माद-त्वमित्याशयः ।

‘हे अकरणहृदय प्रियतम ! त्वामितः परं न मुञ्चामि’ इति (वाक्य) विकला विप्रलम्भेनोद्दिग्धहृदया सा नापिका, आलीजनस्य सखीसमुपागत्य, कराम्बुज हस्त-कमल प्रियतमप्रयाणप्रयाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः ।

उपमा को क्रोधम्प भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है और उपमा सञ्चारीभाव, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है । स्पष्ट बात यह है कि एक ही चित्त-वृत्ति अथ शुक्-बन्धु-रथादि महान् अराधों से उत्पन्न होती है, एवं क्रोध बहलाकर रौद्ररस का स्थायीभाव बनती है । और जब निन्द्या आदि साधारण वानिक अराधों से वही चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, तब उपमा नामक सञ्चारीभाव बहलानी है ।

अब ‘उन्माद-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘विप्रलम्भम्’ इत्यादि । श्रिय-वियोग प्रस्फुरविपत्ति और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रमा-त्मक चित्त-वृत्ति को ‘उन्माद’ कहते हैं ।

मनो भ्रमों में उन्माद का उद्भवा न पष्टा जाय, इत्युच्यते अन्नाम (भ्रम) में ‘अन्मान’ विशेषण लगाकर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्देश किया गया है, शिमले शुक्ति आदि में जो रज्जु आदि का भ्रम दृश्य-व्याकल्पित्यादि दोषों से होता है, उनमें उन्माद उद्भवा की भविष्यति नहीं होती, क्योंकि यह भ्रम वियोग आदि कारणों से उत्पन्न नहीं होता ।

उदाहरण देखिये । वह, मत्ती के कर्-बमल को पकड़ कर ‘हे दयाहीन-हृदय वाले प्रियतम ! मैं (जो छेड़ चुने मो छेड़ चुनी) अब इनके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं !’ इन तरह विकृत शब्द बनें करती रहती है ।

प्रकरण-विभावानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगत स्वनायिकावृत्तान्त पृच्छन्त [नायक] प्रति कस्याञ्चित् सन्देशहारिण्या उक्ति । प्रियविरहोऽप्र विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः ।

उन्मादस्य व्याध्यन्तमविषि पृथगुपादानस्य प्रयोजन प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावे सम्भवत्यपि, पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय ।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।

ननु प्राणनिष्क्रमणरूप मरण कुतो न गृह्यत इत्याशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्य मरणमुचित ग्रहीतुम्, चित्तदृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तैः ।

मुख्यमरणे भावत्वामावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसयोगस्य हेतुत्वात् ।

सन्देशहारिण्या हृत्या । प्रियभ्रमेण सखी प्रत्युपादानादुत्तेरसम्बद्धता ।

स्फोरण प्रकाशनम् ।

उन्मादोऽपि व्याधिरेव, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षया अधिक चमत्कारकत्वमिति सूचयितुं पृथक्कथनमित्याशय ।

आदिपदेन विप्रलम्भप्रभृतिपरामर्शः । मरणाज्जीवोद्गमनात् प्रागवस्था पूर्वका-
तिकस्थिति । तदुक्त प्रदीपे—

‘जीवस्योद्गमनारम्भो मरण पारकीर्तितम् ।

सम्मोहेन्द्रियसङ्कलानि—गान्तविक्षेपणादिकृन् ॥’ इति ।

इन्द्रियाणां सम्मग्नानिर्विषयग्रहणासमता ।

मुख्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धव्यवस्थात्वाच्चित्तदृत्त्यात्मकत्वाद्भावत्वामावात्र ग्रहणम् ।

सर्वेषु ह्यादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तन्निश्चयवृत्तिरूपत्वापारायानुकूलत्वेन, यतः

यह अपनी नायिका के समाचार पूछने हुये किसी प्रसादी के प्रति संदिग्ध डेकर जाने वाली स्त्री की उक्ति है । प्रिय का विरह यहाँ विभाव और असम्बद्ध वातांश अनुभाव है ।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता था, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विशेषण विचित्रता है यह दिखाने के लिये इसका पृथक् ग्रहण किया गया है ।

अब ‘मरण-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘रोगादि’ इत्यादि । रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं ।

‘मरण-भाव’ में प्राण-वियोगात्मक (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों की जब चित्तवृत्ति रूप मानने हैं, तब वगैरे मुख्य मरण का ग्रहण नहीं जाता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मुमुर्षुनापिवापत्वा कर्षयति—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती, शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽनीत् ।

अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गीकुल्ले न भाषिताऽपि ॥'

विभावानुभावावनिदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभाव, वचनविरामोऽनुभाव ।

इह मरणध्वन पदप्रवापना दशयति—

हन्तपदस्यात्रात्प्रन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्यय भावः, पदव्यङ्ग्य-
तामावहति ।

परकीयमन निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यताया नात्यन्त वैचित्र्यमिति परास्तम् ।

शरीरप्रागसर्पयोगी हेतु, अतो मुख्य मरण न भाव इत्यर्थं । प्राग्वियोगोत्तर नित्तद्व-
त्तेरभावान्न तस्य तत्त्वनिश्चायः ।

या कृशाङ्गी वियोगव्यथाबुवंलाबनवा सम्प्रति इत् किञ्चित्कालमेव पूर्वं दयितस्य
प्रियतमस्य, गुणान्, अनुस्मरन्ती, शयने तल्पे विलोकिता दृष्टाऽनीदभूत् । हन्त !
अधुनाऽस्मिन् क्षणे, सा, नापिता मधीनि किञ्चिदुक्ताऽपि, गिर नाङ्गीकुले सञ्ज्ञा-
शून्यतया न प्रतिवर्त्तीत्यर्थं ।

वचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्ण वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हृत्तरदन्य दुष्वा-
निरिकबोधवतया पदान्तरापेक्षयाऽप्रन्त तत्रोपकारकत्वान् पदव्यङ्ग्य एवात्र स भाव
उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

एतेन पदव्यङ्ग्यस्यापि मरणभावस्याकाटिकमत्कारकतया अनुभूयमानत्वेन ।

मुख्य मरण का भावो में प्रथम नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष कादि सन् भावों
के प्रति शरीर-प्राग्वियोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि बादोऽपि के पूर्व ही में हो
रहे, अपितु ऐसा कि जो कर्ष के भाव-भाव भी वर्तमान रहे । इन स्थिति में मुख्य मरण को भाव
कैसे कहा जा सकता ? क्योंकि उनके साथ शरीर-प्राग्वियोग का रहना सम्भव है ।

अब 'मरण-भाव' का उदाहरण देरिये । एक मही दूसरी सती से कहती है कि—जिनके, कम
प्रियजन के दुःखों का कारण बन दुःख, दुःखी पर देगा का, हर्ष के वह हर्षी, इन समय दुःखने पर
भी नहीं रोटी, अपना कर्षुणिके लक्ष्य ही है ।

दियजन का विदोष पर विचार और कर्षुणिके का लक्ष्य ही का कर्षुणिके है ।

इन पर में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण-भाव व्यक्त हुआ है, तथापि वह (मरण-भाव) पद-
व्यङ्ग्य ही काटका है, क्योंकि 'हन्त' पर ही दुर्गाधन्य के बोधक होने के कारण एक ही किञ्चित्
में काटका है ।

इसमें (अब के पद्य में मरण-भाव को हन्त-पद-व्यङ्ग्य किञ्चिद्वर देने से) 'अब यदि पर से
काटका हो, तो हमने किञ्चित् विचारण नहीं रहनी' यह कल्प प्रकृत हो गया है ।

विप्रलम्भध्वने करुणध्वनेर्वाग्नि कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्का निवारयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती’त्यनेन व्यज्यमान ‘चरमावस्थायामपि तस्या दमितगुणविस्मरण नाभू’दिति वस्तु, विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

मरणभावस्य विप्रलम्भ-करुणयोरपि पोषकत्व विषयभेदेन दशयति--

अयं च भव स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादे प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा नु करुणस्य पोषक इति विवेक ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते इदिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद् विप्रलम्भासम्भव इति करुणस्यायिशोकोपादानम् ।

इह व्यज्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य, वस्तुतः शोकस्याधिककरुणस्य पार्यान्तिकप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम्, मरणभावस्य तु प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्वमिति तद्घ्वनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वने, न वा वस्तुध्वनेर्व्यपदेश इत्याशय ।

अयं मरणरूपो भाव । चस्त्वर्थे । स्व मरणम् । सन्दर्भे प्रवन्धो महावाक्यमिति यावत् । प्रत्युज्जीवन पुनर्ज्जीवनम् । अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे ।

अयं मरणभाव एकस्मिन् प्रवन्धे स्वव्यञ्जक यद्वाक्य, तदुत्तरवर्तिना वाक्यशेषरूपेण यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकाद्यालम्बनस्य पुनरुज्जीवन प्रतिपादितं भवति, तदा रत्नविच्छेदाद् विप्रलम्भशृंगारस्य पोषको भवति, पुनरुज्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदात् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुत्तरपोषकत्वमिति सारम् ।

उक्त एव मे ‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती-अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई’ इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि ‘उस नायिका को अनिम अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ’ और इस व्यज्यमान वस्तु से उक्त एव के द्वारा सब से अन्त में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृंगार अथवा करुण-रस की पुष्टि होती है । तात्पर्य यह है कि वैसे तो प्रायः भाव-ध्वनि-स्थल में सर्वत्र अन्त में किमी न किमी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु खासकर मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में विप्रलम्भ शृंगार अथवा करुण-रस की ध्वनि अन्त में नियत होती है, अतः यहाँ भी अन्त में उक्त दोनों रसों में से किमी एक को अभिव्यक्ति होगी और साथ-साथ यहाँ उक्त वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार यहाँ भाव-ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले वही का स्वमत्कार सङ्घटनों को आकृष्ट करता है ।

उपर जो यह कथा गद्या है कि मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में शृंगार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह समझा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं ? वा एक ? इनका उत्तर यहाँ यह अनयात दिया जा सकता है कि-‘एक’, क्योंकि दोनों का एक अर्थात् ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु ‘एक’ के निर्णय हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि यह एक कौन ? शृंगार अथवा करुण ? यदि परिस्थिति भेद से दोनों ही रस ‘एक’ में आ सकते हैं, यह प्रश्न का तात्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि ‘यह परिस्थिति-भेद’ क्या है ? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण ? इस जिज्ञासा को शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि-मरण-भाव, सन्दर्भ में, इन वाक्य (मरण-भाव-ध्वनिक

मुख्यमरणानुदाहरणकारण मगति—

कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

वितर्कं निरूपयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः ।

चिन्तादिव्यावृत्तये वदति—

स च निश्चयानुकूलः ।

उदाहरति—

‘यदि सा मियिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि ।

अयं मे कयमस्ति जीवितं, न विनाऽऽत्मन्वनाश्रितस्थिति ॥’

पुनरुदाहरणकारणं । न वर्णयन्ति, शृंगार इति शेषः । तदुक्तम्—‘रसविच्छेदहेतु-
त्वान्मरणं नैव वर्णयति ।’ इति । कश्चिन्तु तद्वर्णनमपीष्टमेव यथा-‘रघुवशोऽष्टमसर्गम् ।

सन्देहात् सञ्चयान्, आदिपदेन विपर्ययाञ्चानन्तरं जायमान ऊहोऽप्याहारश्रित-
वृत्तिविशेषो वितर्कः इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिन-
तर्कः’ इति ।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति
क्रमे वितर्कस्यैव निश्चयजनकरव, न तु चिन्तादेरिति स्पष्टम् ।

सा मियिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वदा परलोक-
नेवायात्, अयं तदा, मम रामस्य, जीवितं जीवितं कथं केन प्रकारेणास्ति, यत—
आत्मन्वनाश्रितं विना, आश्रितस्माद्येयस्य, स्थितिः क्वापि न भवतीत्यर्थः ।

जानकीजीवनं विना मञ्जीवनासम्भवान्मञ्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीय-
मिति मारम् ।

वाक्य) के अनन्तर जाने वाले दूसरे वाक्य से यदि नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया
हो, तब विच्छेदमम का अन्वय वाक्य का शेषक होता है—अर्थात् मरण-भाव-सञ्चय वाक्य को मरणा
सन्दर्भगत अधिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विच्छेदमम-पुनरागत अन्त में
स्थिति होता है और यदि अधिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन हो, तब कर्मा-रत
स्थिति होता है ।

कवि लोग इस मरण-भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव एक तरह से अनर्था
सा है । वह विशेष शृंगार रस के विषय में ही सम्पन्ना चाहिये, कल्याण में नहीं अतः एव ‘रघुवंश’ के
अष्टम सर्ग में काठियास्र ने कल्याण की पुष्टि के लिये इस भाव का वर्णन किया है, शृंगार में ही यह
विशेष अनुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि ‘रस-विच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्णयति—अर्थात् रस-विच्छेद
का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है’ के द्वारा जो मरण-वर्णन-विशेष का
बीज (रस-विच्छेद) विरूपाय गया है, वह शृंगार में ही संघटित होता है कल्याण में नहीं—अर्थात्
मरण-वर्णन से शृंगार रस का ही विच्छेद सम्भव है, कल्याण का नहीं ।

अथ ‘विच्छेदमम’ का उद्घाटन करते हैं—‘सन्देहा’ इत्यादि । सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने-
वाला जो कथं (एक प्रकार का विचार) है, उसे ‘वितर्क’ कहते हैं ।

वितर्क निश्चय का अन्त होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयारमकज्ञान उत्पन्न होता है ।

अथ इस ‘वितर्क-भाव’ का उदाहरण लीजिये । यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वत्र

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैपोक्तिः । भुवि सीताऽस्ति न वेति सन्देहोऽत्र विभावः । भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमक्षिप्तमनुभावः ।

चिन्तैव कुतो न वितर्क इत्याशङ्का निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्य वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चय प्रत्यप्रयोजकत्वात् ।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुल्लेखात्तदनिवेशे प्रसक्त पुनस्तयोरेक्य निवारयति—

किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति' इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः 'इदमित्य भवितुमर्हति प्रायश' इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्याच्च ।

स्वात्मनि स्वगत वितर्कणम् । शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं वितर्काज्जायते । आक्षिप्तत्व शब्दानुक्तत्वात् ।

यतश्चिन्ताया कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्कं तु सवदा नियमेन निश्चयो भवतीति चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहात्निश्चयाजनकत्वाद्वितर्काद् भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

किं भविष्यतीत्याद्याकारकध्यानरूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषय—इदमित्य भविष्यति प्रायश इत्याकारकस्योत्कटकक्रोटिकशङ्कात्मकसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निर्धारितो विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

हे ही नहीं—अर्थात् परलोक चली गई, तब फिर मेरा जीवन किम तरह वर्तमान है, क्योंकि आपार के बिना आधेय (आधार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति वहीं नहीं रहती। अभिप्राय यह कि जानकी ही मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चिन है। एतावना यह सिद्ध हो गया कि जब मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है।

यह भगवान् रामचन्द्र को अपने मन में छक्ति है। यहाँ सीता पृथ्वीपर है अथवा नहीं' यह सन्देह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षेप के द्वारा शात होने वाले भ्रू-नालन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है।

'उक्त पद्य में चिन्ता-भाव ही च्वनित होता है' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्ता नियमत निश्चय का जनक नहीं होती—अर्थात् चिन्ता से कदाचिद् वहीं निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति मने ही हो जाय, परन्तु यह नियम नहीं है कि चिन्ता से सदा सर्वत्र निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमत निश्चय की उत्पत्ति होती ही है, यही चिन्ता तथा वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत पद्य में वितर्क ही च्वनित होता है, इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यदि आप कहे कि उक्त वितर्क-लक्षण में 'नियमत' पद का निवेश तो नहीं किया गया, फिर जो भेद इन दोनों में उभर दिखलाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि जाने दोबिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो, इन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है। विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का आकार होता है 'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति'—अर्थात् 'क्या होगा' 'कैसे होगा' इत्यादि, अतः चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है 'इदमित्य भवितुमर्हति प्रायश'—अर्थात् 'प्रायः यह ऐसा हो सकता है' यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है।

नन्वत्र चरमचरणेष्वन्तरन्यासात्तद्भारप्रतीती कथं भावध्वनित्वमित्यत आह—
'न विने'त्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः ।

विपाद निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विपादः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णं मृते युद्धविजयाभिराशो दुर्योधन स्वजीवितं व्याहरति—

'भास्करसूनावस्त, याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्योधनस्य जीवितं । कथमिव नाद्यापि निर्यासि ॥'

सामान्येन विशेषसर्गायनरूपोऽर्थान्तरन्यासात्तद्भारोऽपि प्रतीयमानोऽस्मिन् वितर्क-
भाव एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्नाया, तेन नाजङ्कारस्य न वा चिन्ताया
प्राधान्यं सम्भवीत्याप्तम् ।

महता प्रयासेनाप्यमोक्षस्य सिद्धे राज्ञो गुरुपापमयेया महोपसामपराधाच्चोत्पन्न
किमिदं वृत्तमिति पश्चात्तापरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो भाव इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'उपायाभावजन्मा तु विपादः सत्त्वसङ्घातः ।

निष्पासोन्मृत्वासहृत्ताप-सहायान्देयणादिकृत् ॥' इति ।

हे दुर्योधनस्य कर्णकप्रणयस्य दत्ताधिकारिणीहिणीपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूत-
पाण्डवस्य वा मम जीवितं । भास्करसूनी सूर्ययुते कर्णे, अस्त यातोऽन्तः प्राप्ते सति,
पाण्डवानां युद्ध उत्कर्षं आधिक्ये च जाते सति, अद्यापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतोः,
न निर्यासि त्वं नैव निर्यच्छसीत्यर्थः ।

इह भास्करसूनुत्वेनास्ताङ्गमनोचित्यं सूच्यते । स्वोच्चारितस्य दुर्योधनपदस्य
कर्णकप्रणयत्वादिनिरूपताऽवच्छेदकविशिष्टे त्ववाप्ये ससपत्न्या दुष्घातिरायव्यञ्जकत्वा-
दर्पान्तरसहृन्मितिवाच्यमिति । इवसम्भ्रं सत्त्वादिवद् वाचयामद्द्वारे ज्ञेयः ।

उक्तं एव मे 'न विनाऽस्मन्माभित-स्थिति'—अर्थात् 'विना आधार के आश्रय की स्थिति नहीं
रहती' इस अर्थ के द्वारा जो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य होता है, वह भी वितर्क में ही अनुकूल
पत्रा है, चिन्ता में नहीं । तात्पर्य यह है कि सामान्य (आधार के विना आश्रय की स्थिति का
समर्थन-अर्थ) से विशेष (जनकी के जीवन के विना राम के जीवन का सम्भ्रम-वर्णन) का
समर्थन करना ही तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जिससे प्रतिश्राप वस्तु का निर्गम होता है, तो
वितर्क का विषय है, चिन्ता का विषय तो अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन को भावयत्ना
ही नहीं होती ।

अब 'विपाद-भाव' का निरूपण करने है—'इष्टासिद्धि' इत्यादि । बहुत प्रयत्न करने पर भी
अभीष्ट अर्थ के सिद्ध न होने से तथा राजा और गुप्त आदि वृत्त जनों के अरशाह आदि के करने से
व्यत्यन्त होने वाली 'बह बया हुआ' अर्थात् 'मैंने बह बया किया' इत्याकारक पद्यात्मकस्वरूप चित्त-वृत्ति
को 'विपाद' करने है ।

उदाहरण देखिये । कर्ण के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुए दुर्योधन का करने बीदन
के प्रति यह अर्थ है कि—एवं-गुप्त कर्ण के मरने से जाने पर (वहाँ एवं-गुप्त पर ही कर्ण का शोक

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

अत्र स्वापकर्ष-परोत्कर्षयोर्दशनं विभावः, जोविषयनिर्याणाप्रशसा, तदाक्षिप्तं वदननमनादि चानुभावः ।

विषादध्वनिं प्रकृते द्रढयितुमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विषादध्वनौ दुर्योधनस्यैत्यर्थान्तरसद्भ्रमितावाध्वनि-
रनुग्राहकः ।

त्रासध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र त्रामभावध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्या-
प्ययोगात् ।

विन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि विन्ताध्वनित्वम्, युद्ध्वा मरिष्यामीनि तस्य व्यवसायात् ।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सफलमन्यक्षयेऽपि विपदमतेनागणनात् ।

आशसा कामना । तथाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनागूरितम् । खादिना । निष्प्रमत्वादि ।

व हेतौ । अनुग्राहको दुःखातिशयावगमत्वादुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य ।

युद्ध्वा न त्वस्त्रादि त्यक्त्वा । व्यवसायान्निर्धारणान् । विन्ताया न निश्चय ।

यतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्माद् दुःखादिदैन्यविभावमावाप्तं दैन्यध्वनिर-
पीति भावः ।

करने से उनके अलगनन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी निम्न हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अर्थात् स्यारह अश्रीद्विगियों के नायकों से बन्दिन होने वाले, कि वा अपने प्रबल-पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के धक्के सुझानेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी तू क्यों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देवना शेष है ?

यहाँ अपने अयर्क्य और शत्रुओं के उत्कर्ष का दैवता विभाव है और प्राण के निकलने की कामना काना तथा उनके द्वारा आदिप्त होने वाला मुन का जत्र होना आदि अनुभाव है ।

इम पद्य में यद्यपि 'दुर्योधनस्य' इम लाक्षणिक पद से (लक्ष्यार्थ का स्वरूप ऊपर में श्लोकार्थ लिखने समय लिखा जा चुका है) 'अर्थान्तरमङ्गमित्वाध्व' नाम की दुःखातिशय-ध्वनि भी होती है, तथापि यह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विषाद-ध्वनि का पोषक माद्य है ।

इम पद्य में त्राम-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किमा भी तरह नहीं की जा सकती, क्योंकि उत्कृष्ट वीर नायक दुर्योधन में ऐश्वर्योपि त्राम का होना सम्भव है ।

विन्ता-भाव की ध्वनि भी यहाँ नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह दृढ निश्चय है कि युद्ध करके ही मरूँगा, अथ-त्याग करके नहीं । तात्पर्य है कि यदि यहाँ विन्ता होती, तो उक्त निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि विन्ता से किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रस्तावना लिखी जा चुकी है ।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, अब उसके समय सैनिकों का विनाश हो चुका, तब भी अपने विरक्ति को नहीं गिना ।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे
स्याभावात् ।

दार्व्याय प्रत्युदाहरति -

इद पुनरत्र नोदाहार्यम्—

अस्त उत्तर सारयिमर्जुन कथयति—

'अयि पवनरयाणां निदंयाना ह्याना

श्लथय गतिमह नो मङ्गल द्रष्टुमीहे ।

श्रुतिविवरममी मे दारयति प्रकुप्यद्-

भुजगनिभभुजाना वाहुजाना निनादा ॥'

उपपादयति -

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विपादस्याप्रतीतिः ।

नवतृतीयध्रुवोद्यमापराधजातुनापरूपस्य विपादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपलपेत्वा-
च्छङ्कायामाह—

लेशतया प्रतीनी वा त्रास एवानुगुण्योचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोक्तत्वात् ।

परस्म परिपन्थिनोऽपकर्षो जीवित प्रयान यस्य, तादृशीत्साहस्य सर्वथा स्वाप-
रंनिर्गमे मरणमेव शरणमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवात्तत्र वीररसध्वनिरिति
सारम् ।

अयि सारथे ! पवनरयाणां वायुतुल्यवेगानां निदंयाना क्रूराणां ह्यानामश्वानां
गतिं श्लथय मन्दीकुरु, अहं सङ्गल युद्धं द्रष्टुं नेहे नच्छामि, यतः प्रकुप्यन्तो गतिश्रुष्यन्तो
मे भुजगा सर्पास्तन्निमास्तस्सदृशा भुजा बाहवो येषां तथाभूतानां वाहुजानां शक्तिया-
णाम्, अमी श्रूयमाणा निनादा वीरगजितशब्दाः, मे मम श्रुतिविवरं कर्षयन्ति दारयन्ति
पाटयन्तीत्यर्थः । अयं 'शमी मे' इति त्वसदृशदृष्टिर्निर्गमते ।

उत्तरस्य भीमत्वप्रकाशनेन त्रास एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विपाद इति न
विपादध्वनिरियम् ।

वीर-रस की ध्वनि भी वहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायी भाव को बरताह है,
जल्पा प्राण है, शत्रुओं का अपकर्ष—अर्थात् जब तक शत्रुओं में अपने से बलशून्यता का ध्यान रहता है,
तभी तक बरताह भी रहता है और वहाँ तो दुर्बोधन ने शत्रु की शरण ले ली है, जिससे वह मिट
हो जाता है कि वतने अब शत्रुओं को अपने से बलशून्य समझ लिया है, फिर वतने जल्पाह का रहना
असम्भन है और बरताह (स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भन है ।

'अयि पवनरयाणाम्' . 'इत्यादि वच को विपाद-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रखना
चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि सारथे ! तू पवन के समान वेगवाले इन शत्रुओं की गति को मन्द
कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता । शत्रु शत्रु के समान बाहु वाले इन शक्तिशाली के नाद मेरे शत्रुओं
के शिरो को शिरीष कर रहे हैं—कई-कई युद्ध-युद्ध कर मेरे शत्रुओं के घरों फटे जा रहे हैं । यह कायर
विपार-पुत्र 'उत्तर' की अपने साठवि दृष्टव्य-वेच-धारी अर्जुन के प्रति बलि है ।

वहाँ त्रास-भाव ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है, अत्र विपाद-भाव की प्रतीति नहीं हो
पानी ।

बौत्सुक्य निरूपयति—

अधुनैवास्य लामो ममास्त्वतीच्छा, आत्सुक्यम् ।

विभावमनुभावाश्चाह—

इष्टविरहादिरत्र विभाव, त्वराचिन्तादयोऽनुभावा ।

प्राचीनसम्प्रति दर्शयति—

यदाहुः—

सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्त प्रियसस्मृते ।

निद्रया तन्द्रया गात्रगोरवेण च चिन्तया ॥

अनुभावितमाभ्यातमौत्सुक्य भावकोविदं । इति ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासात्रिवर्तमानो नायक कामयते—

'निपतद्वाप्पसरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।

कदा नयननीलाञ्जमालोकेय मृगीदृश ॥'

सूक्ष्मतया प्रतीयमानस्याप्यत्र विषादस्य प्रधानव्यङ्ग्यभासोपरकारकत्वमेव, न तु ध्वनिव्यवहारस्य योग्यता ।

'अधुनैव न तु विलम्बेन, अस्य वस्तुनो लामो ममास्तु' इत्याकारिकोक्तकेच्छैव, बौत्सुक्यमित्यर्थं । तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्तेरौत्सुक्य कालक्षेपासहिष्णुता ।

चित्ततापत्वरस्वेद-दीर्घनिश्चसितादिदृष्टु ॥' इति ।

प्रियसम्पन्नरूपोद्दीपनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावनभ्यापारकमौकृतम् ।

निपततो निर्गलतो बाष्पस्याश्रुण सरोधेन सस्तम्भेन मुक्त त्यक्त चाञ्चल्य गान्धा

यदि कहें कि वन्दर ने जा गुदोदोगरूप अपराध किया, तत्रन्व अनुनाय (विषाद) का समनें उदय होना स्वाभाविक है, अन विषाद को प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, तो मैं कहूँगा कि-हाँ ! लघुमात्रा में विषाद को प्रतीति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानता अभिव्यक्त होने वाले श्रम का पोषक होना ही उसके लिये उचित है, अन वह (विषाद) इन दोष्य नहीं है कि समको लेकर इस पद्य में ध्वनि का व्यवहार बिना जा सके ।

अब 'औत्सुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि । किन्ती वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो नाय' उस (इच्छा) को 'औत्सुक्य' करते हैं ।

अभीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और शीघ्रता एवम् चिन्ता आदि अनुभाव होते हैं ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सञ्जात' इत्यादि-अर्थात्-अभीष्ट वस्तु के सम्भव से विलग्न प्रिय के स्मरण से वशीत और निद्रा, तन्द्रा, अज्ञो का भागीपन, एवम् चिन्ता से अनुभावित भाव को भाव-विशेषज्ञों ने 'औत्सुक्य' कहा है ।

आवेग निरूपणति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य मम्प्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

राने मुद्धार्यमायने रावणनामोद्धिता स्वगत वन्धि—

'लीलाया विहितसिन्धुबन्धनः, मोञ्जमेति रघुवगतन्दन ।

दपंष्टुर्विलनितो दशानन, कुत्र यामि ? निष्ठे कुलक्षय ॥'

तादृशीं तारके वनीतिके वस्य तथाभूतम्, मृगोद्ग्रा नपननीताद्य नेत्रेन्द्रीवरम्, वदा वन्मिन् क्षणे, कालोद्येय परमेयनित्यम् ।

अत्र प्रियानपनदशनीत्कटेच्छास्वीन्मुक्तस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया ध्वनित्यप-
देशहेतुत्वम् ।

अत्रकिनात्पनिष्टवदान्तकेनानपातिशयेनोत्पादिता मन्मनास्य स्वररूपा
चित्तवृत्तिरद्वेषापरस्पर्याय आवेग इत्यर्थः । दपंष्टे तु हर्षबोध्यावेग उत्सन्नपाहि—
आवेग मन्मनस्तत्र हर्षके पिण्डिताङ्गता । उक्तावये सत्तदाङ्गै, धृमापाभुनताङ्-
मित्रे हे राजविद्रवजादेभ्यु मन्मनापादिनोऽनम् । दयादे स्तम्भकम्पादि, पान्वापा-
भुनताप्रनितान् ॥' इति ।

सीतला न त्वापातेन विहित सिन्धोर्बन्धन येन, तादृश, स दातिवद्यादिपराक्रम-
प्रसिद्ध, अय पुरो लक्ष्यमाण । रघुवगतन्दन श्रीराघव, एत्यादच्छति, न त्वागमि-
ध्वति, दशाननो रावणो मन्मतिरत्र दपंष्टुर्विलनित्तु स्वमीदंषर्वाचरित्तुव्यंरहार उत्कटा-
निमानो वाप्रतीति कुत्र यामि विपत्तरीकापायं स्व पच्छामि ? कुलस्य वयस्य न
त्वेवस्य क्षमो नापी निष्ठे सन्निधावस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण देसिदे । प्रथम से हीरेगेय नदक अने मन में कामना करना है कि—(प्रथम
के लिये मेरी काम के समर अस्तुन के मर से) जिसकी पुत्री ने मिले हुए कामुओं के ठोके से
बहता छेड़ दो दो—मिल हो रही हो, क्योंकि यदि वह दोरी की रिल्ली से समर का कि बंद
रि ११३, गुण्डों के लु नदनमर नीलजन्म को कर देना ।

अब 'अवेग' का निरूपण करते हैं—'अनर्था' इत्यादि । अत्यधिक मनों के कारण उत्पन्न होने
वाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'अवेग' कहते हैं, जिसका उदय को अन्त पर्यंत है । दर्श-
कार ने ही अवेग को सर्व-अन्त भी माना है, जैसे—उद्योगे दशा है—'अवेग उत्सन्नमन्त्र इति
निर्देशकता । एतावदे क्षमताहे—' इत्यादि—अर्थात् अवेग संभ्रम को कहते हैं, वह ही अन्त
का होता है, एक सर्व, दूसरा अन्त । सर्व अवेग में अर्थों की सिद्धि न होती है और अन्त
में अर्थों की निश्चिन्ता ।— इत्यादि ।

उदाहरण देसिदे—हीरे से उत्पन्न में से उद्योगे अन्त पर्यंत अन्त पर्यंत अन्त का एक अन्त से
प्रसिद्ध—उत्पन्नमन्त्र उत्सन्न को मार रहे हैं, न कि अवेग और अन्त-अन्त ही-ही दर्श-
कार-कारण का विचार नहीं करते बल्कि-चित्तों की परिस्थिति में जब भी अपने बाल,—अब मैं
हाँ बर्त, कुल का विनाश निश्चय का अन्त-अन्त का कोई भी अन्त दिखाई नहीं पता ।

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्ति, रघुनन्दनागमनमत्र विभाव कुत्र यामो
त्येतद्व्यङ्ग्यं स्वर्गभावोऽनुभावः ।

चिन्नाध्वनित्वमत्रासाङ्ग्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामोति
स्फुट प्रतीतेन स्वर्गभावोद्वेगस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेगचय
णाय तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति ।

जडता निरूपयति—

चिन्तो-कण्ठा-भय-विरहे-इष्टानिष्टदर्शनश्रयणादिजन्यावश्यकर्तव्या-
र्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

जडताया मोहात् प्राक् पश्चाच्चोत्पत्तिनाह—

इयं च मोहात् पूर्वतः परतश्च जायते ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दशयति—

यदाहुः—

‘कार्याविवेको जडता, पश्यत श्रृण्वतोऽपि वा ।

तद्विभावा प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥

स्वर्गभावश्चाह्वयम् ।

गुणत्वेनाङ्गत्वेन । विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति । यतोऽत्र कुत्र यामोत्वयं वा
स्पष्ट बोध्यमानाश्चान्यरूपोऽनुभाव आवेगस्यैव न तु चिन्ताया प्राधान्येन व्यञ्जक
तस्मान्न चिन्नाध्वनि, किन्तु प्रधानोभूतावेगप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव
भासते इति सारम् ।

‘चिन्तोत्कर्षे-’ इति पाठान्तरम् । इष्टानिष्टयो प्रियाप्रिययोर्दर्शनेन श्रवणं च ।
प्रतिसन्धानमनुस्मृतिनिर्धारणं वा । चिन्तादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानशून्या चित्त
वृत्तिर्जडतेत्यर्थः ।

इयं जडता मोहान् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः ।

यह मन्दोदरी की आत्मगत उक्ति है । रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और ‘कुत्र यामो—
अर्थात् कहाँ जाऊँ इस उक्ति से व्यक्त होने वाला मिथ्या का अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है ।

‘लोक-’ इत्यादि पद्य में चिन्ता ही प्रधान ब्यङ्ग्य है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये,
‘कुत्र यामि—कहाँ जाऊँ इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से बिना तरह उदात्त श्लक्ष्ण
है, उस तरह चिन्ता नहीं । हाँ, इतनी बात बतलाने है कि ‘आवेग-भाव’ के आत्मा में उमड़े पापक
होने के मान शौच में चिन्ता भी विषय होती है ।

अब ‘जडता का निरूपण कराने है—‘चिन्ता’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को ‘जडता’ कहना है,
जिनका नाम चिन्ता, उत्कण्ठ, भय, विरह और प्रिय-जन के अनिष्ट देखने-सुनने आदि से हुआ है,
एवम् चित्त (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने योग्य कर्तव्य का स्मरण अथवा नियम न होने पावे ।

यह जडता मोह से पहले जडा पीछे भी हुआ करती है ।

अनुभावास्त्वमी तृष्णीम्भाव-विस्मरणादयः ।
स पूर्वं पगतो वा त्यागमोहादिति विदा मतम् ॥'

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी सहचरं व्याहरति—

'यदवधि दशितो विलोचनाम्ना, सहचरि । देववशेन दूरतोऽभूत् ।

तदवधि शिथिलीकृतो मदीयं—रय करणं प्रणयो निजक्रियामु ॥'

विभावानुभावो प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभाव, करणंश्चक्षुरश्रवणादिभिः क्रियामु तत्तत्प्रमितेषु
प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः ।

मोहाज्जटताया वैलस्य दसंपति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुपादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन बाह्यत्वे-
नाजननमिति सम्मादस्य विशेषः ।

वासाञ्च समुच्चयार्थक । विदा रसाद्यास्वादिनुसलानाम् ।

हे सहचरि । देववशेन मायविपर्येषण, यदवधि, दशितं प्रियं, विलोचनाम्ना
दूरतोऽभूत् परोक्षमगान्, तदवधि मदीयं करणैश्चक्षुरादिभिः, निजक्रियामु स्वजन्य-
प्रमोत्सादकव्यापारेषु, प्रणय आसक्ति, शिथिलीकृतो न्यूनीकृत इत्यर्थः । इहाप्यसन्दो-
नुनासमाप्रयोजनम् । 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्भावशरीलत्वम् ।

तत्तत्प्रमितेषु चाक्षुपादिप्रत्यक्षस्यामु ।

प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन समुचिततत्प्रकाररक्त्वेन । बाह्यत्वेन भूम्ना, तेन क्वचि-
दुचितप्रकाररक्त्वं प्रतीतिजननमनुभवत्येव । मोहे चक्षुरादीना मन्त्रेणा व्यापारविरामाच्चा-
क्षुपादिप्रत्यक्षाणामनुत्पत्तिरेव, जटताया तु चक्षुरादीना व्यापारस्य संपिन्मान्त तु

जैसा कि प्राचीनी ने भी कहा है 'कायाविवेको ...' इत्यादि-अर्थात् देखने तथा सुनने दुबे
नो बर्तन वह विवेक न होगा कठना कहलानी है । प्रिय अपना प्रिय के अनिष्टों का देखना-सुनना,
तथा किसी प्रकार की दुस्मह पीडा से उसके विभाव है, और सुन हो जना भूट जना आदि अनुभाव
है । वह मोह से परते पड़े भी जटन हुआ करती है । वह विज्ञो का मत है ।

उदाहरण लीजिये । कोई विरहिणी मनी से कहती है कि—हे मना माय रहने वाली मति ।
दुमांस्य-वश जब से प्रियतम कानों से आशुत दुबे, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम
करना छोड़ दिया—अर्थात् तब से न दुःख कानों से सुसुप्त, न कानों से सुनई परना, न लवण से
सरो का बोध होता, न लवण से किसी चीज को लवण का रस पहचान और न चिन्ता से किसी रस का
स्वाद ही परम में आता है । हात्पर वह कि मनी इन्द्रियों बेकार हो गई है ।

वहाँ प्रिय का विरह विभाव है और कानों-जान कान्दि इन्द्रियों का अपने-अपने व्यापारों-अर्थात्
शान्ति में प्रेम विभिन्न कर देना-अर्थात् आदि से रुच आदि का जैसा कहिये वैसा ज्ञान न होना
अनुभव है ।

मोह और जटता में वह भेद है कि-मोह से चक्षुःदि इन्द्रियों सर्वव्यापारहीन हो जाती है,
जिससे चक्षुः आदि कानों को लवण ही नहीं होती, तन्तु जटता में किसी बात नहीं होती-अर्थात्

उक्त समर्पयति—

अत एवोदाहरणे—‘शिथिलीकृतः’ इत्युक्त, न तु ‘त्यक्त’ इति ।

आलस्य निरूपयति—

**अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽ-
रुस्यम् ।**

पुनर्जडता—ग्लानिम्यामालस्य व्यतिरेचयति—

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरण-
रूपस्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

विरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां समुचितं प्रकारंरनुत्पत्तिं त्वनुचितं प्रकारंरनु-
त्पत्तिं, क्वचित्त्वितेनापि प्रकारेणोत्पत्तिरिति मोहजडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः ।

अत एव जडताया चक्षुषादिभिः स्वव्यापारात्यागादेव ।

अत्र श्रियानुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावात्, तदाऽभावरूप-
तयाऽऽलस्य भावो न भवेत्, तस्माज्जाड्यविशेषात्मक क्रियामान्ययमेवालस्यम् ।
तदुक्तम्—‘आलस्य भ्रमगर्भाच्चैर्जड्यं जृम्भाऽऽसितादिकृन्’ इति । न चैव जडतया
सहाभेदापत्तिः, जडतया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचिते-
नैव प्रकारेणेति कार्यभेदेनोभयोर्भेदस्य जागरूकत्वादिति विभावनीयम् ।

ग्लानौ जडतायागालस्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न
सङ्गतीयः, ग्लानावसामर्थ्यं नालस्य इति ग्लानितो भेदस्य, जडताया कार्याकार्यविवेक-
शून्यत्वं नालस्य इति जडतायाश्च भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

उभयै चक्षुषादि इन्द्रियोः का व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होता, वरन् शिथिलमात्र पड़ जाता है, जिस से
चाक्षुषादि प्रत्ययो की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समुचित प्रकार से नहीं होती । तात्पर्य यह कि मोह
में आँखों से सझना ही नहीं और जडता में सझना तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता ।
इसी तरह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये । यहाँ मूल में ‘बाहुल्येन’ पद आया है,
जिसका अभिप्राय है कि जडता में कभी-कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में
कभी भी वैसा नहीं होता ।

जिस लिए जडता में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिलमात्र पड़ते हैं, अतः
एव ‘यदवधि -’ इत्यादि उदाहरण में ‘शिथिलीकृत’ अर्थात् ‘शिथिल’ का दिया ऐसा ही कहा
गया है, ‘त्यक्त’ अर्थात् ‘छोड़ दिया’ ऐसा नहीं कहा गया ।

अब आलस्य का निरूपण करते हैं—‘अतितृप्ति’ इत्यादि । अल्पान् तृप्ति, गर्भ, रोग और
परिश्रम आदि के कारण निश्चय का कर्मव्य—क्रियाओं के प्रति उन्मुख न होना ही ‘आलस्य’ है ।

ग्लानि, जडता और आलस्य इन तीनों ही भावों में ‘कार्यों का न करना’ रूप अनुभाव सामान्य है
अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में मनुष्य व्यापारहीन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में अभेद
की—अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इस तरह की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि
ग्लानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः ग्लानि से पूर्व
जडता में कर्मव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह नष्ट नहीं होता, अतः जडता
से भी ‘आलस्य’ भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्त मुहुं पृच्छन्तीं सखीमत्तमा वदति—

‘निखिला रजनी प्रियेण दूरा-दुपयातेन विबोधिता क्यामिः ।

अधिक न हि पारयामि वक्तुं सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥’

प्रसङ्ग प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिनेन मुहुनिभावृत्तान्त पृच्छती सखीं प्रति रज-
निजागरणजन्तिलस्याया वदत्याञ्छिदुक्तिः ।

विभावानुभावो प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरण विभाव, आधिकसम्भाषणानुभावः ।

जहतामा बालस्ये बंलसम्पान्तर दशयति—

जटताया मोहान् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्व वा नियतम्, न त्वन्नेत्यपरो
विशेषः ।

हे सखि ! दूराद्धिप्रहृष्टवशाद् उपयातनापागतेन, प्रियेण, क्यामिविविधवाता-
सायं (हुनि) सीलानिर्वा, निखिला समन्ता रजनीमनिव्याप्य, विबोधिता
जागरिताम्भोत्पृष्ट सम्प्रत्यधिक बहु वक्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्व मा जल्प
मुहुनां प्राप्ती, त्व रसज्ञा विद्वान्, आमसी सीहनिमिताऽस्ति, यदेव जल्पनेऽपि न
शाम्भतीत्ययम् ।

त्वद्गमनापि यथायसी रसज्ञा स्यात्, तदेव शकलप्रस्तानामुत्तर वक्तुं शक्नुया-
दिति नाह ।

यस्मिन् दिने प्रिय आगतस्तस्माद् द्वितीयस्मिन् दिने ।

जहतामियनेन मोहान् पूर्वं पर बालघटे, न त्वागत्यमित्युभयोर्मोदोज्ज्वलपि बोध्य
इत्याशयः ।

उदाहरण-प्रतिदे—एतेदत्र दूर से आये थे, ए वहाँ ‘दूर’ पर खपि दृष्टहत दूरी का ही वाचक
है, परन्तु अत्रत्या वह कष्टकृत दूरी का ही बोधक होगा है—अर्थात् ‘दूर से आये थे’ इस कथन से
वह कहना चाहता है कि ‘विलम्ब से आये थे’ व, कुछ कष्टों से-विशेष कारणों से-रात भर
आये रहे । अत्र मैं अधिक बाल नहीं कहना चाहता न कष्ट, मनुष्य पक्ष है जो रसज्ञा (रसज्ञा-
विद्या) दाह की बनी है, वह बात सही है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही बार-बार प्रयास
कर रही है, फिर भी उस निगोही को बार-बार अन्तर करने में कुछ भी तो बलवत् बहिये, पर वह
तो बलही ही नहीं ।

वह, एते के अगमन के द्वितीय दिन में, पुनः पुनः रात का समाप्तर पृच्छा हुई मयी के प्रति,
उत्क्रियता में अल्पार्थ हुई किमी लक्षिका का कथन है ।

दां गमन का अगमन विनय और अधिक कारण का अन्तर अनुभव है ।

‘जहता-मा’ के विषय में वह नियम है कि वह मोह से परत अथवा लंछे हुआ कथना है पर
काल्य में देना नियम नहीं है अर्थात् ‘अटल्य मा’ के पूर्व कथना पश्चात् मोह का ज्ञान आवश्यक
नहीं है, वह जो वह बला से काल्य में भेद है । इस भेद का अन्त पालकी का अन्त के उदाहरण
में आता हुआ बहिये, अत्र एत उदाहरण दिखाने के बाद इस विषय की चर्चा की गई है ।

ननु मुरतलीलानामतिगोप्यत्वात् तत्रैव कथाशब्दस्य जहत्स्वार्थलक्षणायां व्यङ्ग्य-
श्रमाविशेष एव प्रधानमिह स्वादित्यादाङ्कामशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु
परिपोषक, श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात् ।

इह कथाभिरित्यत्र लक्षणाभूतव्यञ्जनया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु
श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वेषुपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽङ्कत्वमेव, न प्राधान्यमती न श्रम-
व्यनिरित्यमिसन्धिः ।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक अथ एव समझ देने योग्य विचार यह है कि—क्या
‘निखिल्यं रजनीम्’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में ‘कथाभिः’ वह पद वाच्य वार्तात्पर्य अर्थ का बोध करा
कर इतार्थ हो जाता है ? कभी नहीं, यद्यपि आगे की व्याख्यानोक्ति हम अर्थ से भी अत्यन्त ही दृढ़ता
है तथापि जागरण की वार्तात्पर्यहेतुक उपपत्ति भावुकों के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, कम
उपपत्ति के मूढ में तथ्य का बल है ही नहीं, अत एव वह उपपत्ति बाधित है—चिरकाल पर भिन्न
हुये दम्पती बालों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है ? नहीं, मिथुवन विनोद के बिना हमें
प्रमोद अमृगम्भ है । बोलने वाली नायिका का भी ‘कथाभिः’ पद से मुरत-सम्भोग का बोध करना ही
व्यद्देश्य है, हाँ, नाच-तृत्वा एव गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बनना चाहती,
अत एव ‘लोलभिः’ न कह कर हमने ‘कथाभिः’ कहा, जिसका वाच्य (वार्तात्पर्य) अर्थ अविवक्षित
है—अर्थात् वह पद मुरतरूप अर्थ में दृष्टाण्टिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक
शक्ति अर्पित करने वाले सद्बुद्ध भले ही उस पद के दृष्टार्थ (सम्भोग) को समझ लें, पर वक्त्री
नायिका, एकल साधारण जनो से दी जाने वाली ‘निर्लज्जा’ वराधि से तो बच ही गई । एक बात
और, वह यह कि एक प्रकार से ‘कथाभिः’ पद को सम्भोगरूप अर्थ में दृष्टाण्टिक मान लेने पर इस
पद्य का इतिव निम्नलिखित अर्थ को और भी मुझे प्रतीत होता है । सरस समवयम्का सली, चिर-
मिलित श्रियम के साथ, रात बिना कर प्रातःकाल मिली हुई मला से, रात्रिकृत-सम्भोग-सुख की
बात, खेद-खेद कर, पूछ रही है । परन्तु मलाला नायिका साध-साध वह बात करना नहीं चाहती
और इधर-उधर की बातें बता कर उस बात का आभय करा देने पर भी नहीं मानती नहीं, आश्विन
आश्विन आकर नायिका हमने कहती है कि—कह तो दिया, दूर से आये हुये प्रिय के साथ क्या करने
में रात भर जगो रहो, अधिक बोल डुलवा कर तब मत बगो, मैं मन्मथी तो हूँ कि—तु मुझसे साफ
शर्था में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इतने अधिक कुछ न कहूँगी, कह भी नहीं सकती, बोलने
में ‘मलम्’ हो रहा है और साध-साध करने में रम भी नहीं आया, तू बो अरुनी बात साध-साध
छोर्गो से कहनी फिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिज्ञा नाममात्र की रमना है, वस्तुतः वह लौह-
निर्मित पट्टिका है, अतः सहित कथन में उस का अनुभव नहीं कर पाती । इस तरह श्रीम को लौहमय
कह कर उस जीभ वाली पर भी यह आश्रय किया गया कि तू लोहे की बनी है, तब इतने लोहे का
बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछनी ? मेरे ‘कथा’ पद का दृष्टार्थ को क्यों नहीं समझती ?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किसी ने अभी तक नहीं लिखी, पर मेरे मन में लग्य कि यह
व्याख्या भी हो सकती है, बस लखनी ने हमको वाच्य पर उदार दिया, अब इसका निरर्थक सदन्त
विवेक पाठक हो करोगे । अस्तु, प्रकृत में अन्वयार वा कथन है कि यदि एक रीति से ‘कथाभिः’ पद
को अविवक्षितवाच्य (दृष्टाण्टिक) मानना युक्तिसङ्गत है, तब तो वह दृष्टाण्टिक पद के दृष्टार्थ
(सम्भोग) से ‘श्रम-भाव’ मत्रे में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी वही की वचन वहाँ क्यों नहीं मानते ?
इसका उत्तर यह है कि—जब अलस्य की वृत्ति में श्रम को एक पक्ष कारण कहा गया है, तब तो

ननु अत्र विविक्तविषयत्वे विभावभेदोक्तिरप्यत्र स्यादित्याशङ्कामपनयति -

अतिनृप्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम् ।

असूया निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिप्रशेषोऽसूया ।

असूयायाः सन्मान्तरमाह—

इमामनासहनादिशब्देर्व्यवहरन्ति ।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

‘बुत्र शैव धनुरिदं क चायं प्राकृतः शिशुः ।

भङ्गस्तु सर्वसहर्षा, कालेनैव विनिमित्तं ॥’

आदिना गर्भादिग्रहणम् । श्रमजन्य एवालस्ये श्रमसद्वीर्णविषयता, गर्भादिजन्ये तु विविक्तविषयताया एव सत्त्वात् विभावभेदोक्तेर्नैव व्यत्ययमिति भावः ।

असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावः परनिन्दादयश्चानुभावः । तदुक्तम्—

असूयाऽयगुणद्वीर्णामोदत्यादसहिष्णुता ।

दोषोद्घोष-भू-विभेदानसा-कोवेङ्गितादिकुल ॥ इति ।

श्लोकाङ्गितानि निजाघरदशादीनि ।

इमामसूयान् । असहनमसहिष्णुता ।

इदं शैव शिवसम्बन्धि धनुः कुत्र?, अयं प्राकृतो मानवः शिशुर्वर्तुः रामश्च कश्चास्ति, तदुभयोर्मटनाया असम्मवात्, धनुषो भङ्गस्तु, सर्वेषां स्वावरजङ्गमाना सहर्षा विनाशकेन कालेनैव, ननु रामेण विनिमित्तं कृतोऽभूदित्यर्थः । विनिमित्तं रचनायामेव प्रयोगः कविमन्त्रदाम्निदोऽपीहान्यप्राकृत इत्यालोचनीयम् ।

धमन-अटस्य-शब्दं मे उलझे प्रतीति होगी हो, पर, विद्वत्प्राणीय होने के नाते पुत्रप्राणीय आठस्य क शेषरूप में ही । अत्र धम से परिचित आठस्यमात्र को प्रधानश्या च्छित होने में कोई बाधा नहीं, श्लोकि शेषक धम गौण पर आता है ।

यदि धमनाय से अभिहित आठस्यमात्र का उदाहरण कहाँ होगा, यह समझना चाहिए, तो-अति-वृत्ति आदि कारणों से अल्प 'अटस्य' में सम्प्रतिषे ।

यत्र 'असूया-शब्द' का निष्ठा करते हैं—'परोत्कर्ष' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम 'असूया' है, जिसके विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देना आदि है और अनुभाव (कार्य) दूसरे को निन्दा आदि है ।

इसी अन्वया को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी करते हैं ।

देने—कहाँ यह दिव का धनुष और कहाँ यह साधारण मानव आठस्य, इत्यत्र भङ्ग को धमन के अल्पपदाधी का संसार करनेपर आठस्य ने ही कर दिया । तात्पर्य यह है कि चित्त-वृत्ति तक परे रहने के कारण, यह धनुष धमने अल्प ही उलझे हो गया था अन्यथा इसका भङ्ग करना इस साधारण श्रेष्ठकुमार-रामचन्द्र के बच का नहीं है ।

प्रकरण-विभावानुभावत् दर्शयति—

एषा भङ्गहरकामुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः ।
अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः, प्राकृतशिशु-
पदगम्या निन्दाऽनुभाव ।

शुद्धामसूयामुदाहृत्यामर्षसङ्कीर्णामुदाहरति—

‘तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राची चकोरव्रजे,
मौन मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।

माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्यानुकामेऽधुना,
घात ! किं नु विधौ विघातुमुचितो घाराधराडम्बरः ॥’

अत्रापि यद्यपि तदीयोचकृह्वलादि [दर्शन] जग्या, अनुचितकारित्वरूप
निन्दाप्रकाशानुभाविता, कविगता, विवात्रालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते
वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिन्नप्रसङ्गामर्षेण शबलितैवामौ न
विविक्ततया प्रतीयते ।

तत्रत्याना सीतापरिषयनार्थमुपस्थितानाम् ।

उच्यन्तमेव चन्द्रमम्बुदरैराच्छन्नमुदीक्ष्य सबलमटनासम्पादक विघातार कश्चिदाक्रो-
शानि हे घातविने । अयुना रजनीमुखे चन्द्रोदयावसरे, तृष्णया चन्द्रिकापिपासया लोभे
विलोचने यस्य तादृशे, चकोरव्रजे जीवज्जीवमसूहे, प्राची दिग् कलयति पश्यति सति,
किञ्च कैरवकुले कुमुदसमुदये, मौन दैनिकमुद्रण मुञ्चति त्यजति सति तथा कामे मन्मये
सहायमम्पत्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिगम्य कुर्वन् कम्पयति वा
सति, अपि च मानवतीजनस्य मामितीतिकरस्य माने प्रणयकोपे, स्वावस्थानासम्मा-
ननामानोष्य सपदि शीघ्र, प्रस्यानुकामे प्रिययासति सति, विधौ चन्द्रे, घाराधरा-
डम्बरो मेघाच्छादन, किं तु त्वया विघातुमुचितो युक्त ? कथमपि नोचित इत्यर्थः ।

तदीया विघातुसम्बन्धिनी, उच्छृङ्खिता स्वच्छन्दाचारिता । प्रकाश प्रत्यय

यद्, शिशु-धनुष को तोड़ने वाला रामचन्द्र के पराक्रम को न सहे हुए-वत् सभा में उपस्थित
राजप्रां का कथन है । और यथा श्रीमान् दशरथजनय रामचन्द्रको के वत् में सर्वोत्कृष्टता का शान
विभाव है और ‘प्राकृतशिशु-साधारण बालक’ इस पद से व्यक्त होने वाली राम को निन्दा अनु-
भाव है ।

अत्र अनुभावात् का एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करने है, जिसमें उपर्युक्त का मिश्रण हुआ
है—चरीयमान चन्द्र को अरुणमाद धन-वय से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय जुल विषया
को कोमला है कि—दे दिखे । अभी-जब कि चन्द्र-ज्योत्स्ना-पान-श्रीलुग चकोर-वध, पूरव दिवा
को और आया-भरी अत्र एव चन्द्रल नगरी में देरा रहा है, कुमुद-जुल-दिनमहुन मुद्रण को छोड़
रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव जाने धनुष को पुन रखा है—कैला-कैला कर टुहार सन्द कर
रहा है, और मामिनीको का मान शीघ्र भागने ही वाला है—महम्मद इम तरह चन्द्रमा पर मेघ
का आवरण डाल देना क्या तेरा समुचित है ? अभी नहीं, यह अपने बहुत बुरा काम किया ।

यहां भी विघाता के विषय में कवि को अत्या अभिप्रेत होनी है निम्नलिखित विभाव यहाँ एव में

ननु 'कुत्र शैवम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्कीर्णैवासूया प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्यतैवेत्यत आह—

नहि विद्यातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीरा-
गामप्यमर्षोऽभिध्यज्येत ।

ननु तत्रापि रामस्य शैवधनुर्मङ्गलमेवापराध इत्यतोऽभिधत्ते—
स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादन वीरागाम् ।

नन्वन वस्तुनो ध्वननाभासूयाध्वनिरित्यादाङ्का ममादधानि—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननाभासूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एवध्वनेध्वन्यन्तराविरोधित्वात् ।

विधात्रालम्बना विद्यातृविषयिका । कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादसूयाऽमर्षयोरनुभावविभावोस्तुल्यकालोपस्थितत्वात् ।

'तृष्णे'त्याद्युदाहरणे यद्यप्यसूया प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण मद्दीर्घतया न शुद्धा, तस्मादेव शुद्धासूयोदाहरणमिति तात्पर्यम् ।

यथाऽत्र विद्यातुरपराधान् तस्मिन् कवेरमर्षं, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञाममर्षं प्रतीयेत, तस्मात्तत्रामर्षप्रतीते शुद्धोदाहरणमेव तदित्याशयः ।

यतोऽप्रवृत्तकार्यकारण वीराणां स्वभाव एव नेन शैवधनुर्मङ्गल रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः ।

चन्द्रोदयानिरिक्तदिनादिवाले वादृशचन्द्रवृत्तान्तस्याऽस्तुतवम् कस्मिन्निद्राज-
कुमारेऽप्युक्तपर्यवस्यमान एवाकस्मिन्विषयदापानरूपवृत्तान्तस्य च विवक्षितत्वान्
प्रस्तुतत्वम् । इहाप्रस्तुताभिधानेन प्रस्तुतव्यङ्गनाद् वाच्योऽस्तुतप्रधानालङ्कारस्ततो-

वर्णित विधाता की उच्छृङ्खला है और अनुभाव है, प्रतीति—रष में अनेकानी अनुचितकारितास्य विषयता का निन्दा, यह मान क्यपि नदी जा सक्ती है, तथापि इतना आस्य मानना पडेगा कि वहाँ कुछ अशुद्धा की शृङ्ख प्रतीति नहीं होती, वरन्, अशुद्धा के जो अनुभाव—विचार (कार्य कारण) है, वन्दी से अभिन्नक होने बरह अनर्ष—भाव से मिथित अशुद्धा की ही प्रतीति होती है। सादाश यह हुआ कि यहाँ एक (अशुद्धा और अमर्ष) भाव—द्वय—अभिनिदो का संकर है, यदो कर्ता समुचित है ।

'तृष्णश्लेष' -- 'इत्यादि पप में जैसे विधाता के अन्तर्धी शोन के कारण इनम कृषि का अमर्ष व्यक्त होता है, जैसे 'कुत्र शैवम्'... ' इत्यादि प्रथम अशुद्धा—भाव है उदाहरण में वारों का राम के प्रति अमर्ष व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि राम अशुद्धा नहीं है, अतः यह उदा का जा सक्ती है कि, वह उदाहरण ही अमर्ष—मिथित अशुद्धा का है। तात्पर्य यह कि राम उदाहरण को शुद्ध अशुद्धा—भाव का समवन्त मानिये ।

यदि कहें कि शिवजी के अनुभव को तो न राखना क्या राम का अन्तर्भाव नहीं है ? न, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अन्तर्भाव (जिसको दूसरे न कर सके, घेमे) कर्तों का वान्ना शार-
पुष्पो का स्वभाव है—वे किसी को दुःखी बनाने की भावना से वैसा नहीं करत, अतः शिव—धनुर्मङ्गल का नाम रामधन्वी के स्वभाव में आ जाता है, इसको इनके अन्तर्भावों में नहीं ित सकता ।

यदि अगर कहें कि वहाँ अनुभव चन्द्रमा का उदयान् प्रसङ्गभाव नहीं है, क्या यह मानना पडेगा कि अनेके द्वारा प्रसङ्ग—भाव राखुमातादिकों का उदयान् प्रसङ्ग होगा है, तात्पर्य यह है कि

विरोधाङ्गीकारे दोष दस्यति—

अन्यथा महावाक्यवनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं कुत्रापि न श्यात् ।

अपस्मार निरूपयति—

वियोग शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् प्रहावेशादेऽथोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।

पितृन्तु वस्तुध्वनि । जान्तामिह वस्तुध्वनिरपि, न तेनासूयाध्वनेर्हानि यतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना मह विरोध, अपि तु मिय सापक्षत्वादिषु साङ्ख्यम्, तैरपेभ्ये तु समृद्धिरित्याशय ।

इदं तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रशस्ताया व्यग्रमानस्य वस्तुनो बाध्योपस्कारकत्वेन गुणीनावेर्गपि कथं वस्तुध्वनिरिति ।

महावाक्यध्वनि समस्तप्रवच्यप्रधानन्यङ्गप । अवातारध्वनपत्सदन्तर्गतवाक्य-प्रधानव्यङ्ग्यथा । तेषामवातारवाक्यध्वनीनाम् । ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरण्यासम्भवात् नङ्करससृष्टियवहारविलोप प्रसज्येतेति मात्र ।

मनस्तापहृवाया व्याधीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपतया भाव-स्वम् नदुक्तम्—'मनः'अपस्त्वपस्मारो यहाद्यावेशनादिश्च । भूपात-कम्प-प्रस्वेद फल-माताधिकारक ॥ इति । मनसा ताडोविशेषनिवेशेन धूर्त्तं मनः'तेषां । प्रहा पूननादयः ।

'दूना' -- 'दूनादि इत्येकं चन्द्राय म भिन्नं से कण्ठ में इस रात्र-कुमार को उल्लस करके कहा गया है, जो सब तरफ से लपटि का वी रहा था, तब तक अपस्मार उसके ऊपर विपत्ति का प्रहार टूट पया । इस स्थिति में जब रात्रकुमार के धुनान को ध्वनित करने के लिये ही चन्द्र-धुनान का धर्त्तन किया गया है, वह वात प्रवश्य मननी पडगी और इस तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का शून' रूप अपस्तु-प्रशस्ता ही अलङ्कार हो वाच्य ईदम् भी प्रशस्त है, क्योंकि अपस्तु-ध्वनि यहाँ है ही नहीं । इसका उतर यह है कि यदि यहाँ अलङ्कारि ने प्रस्तुत रात्रकुमारविका-वृत्तता ध्वनित होता है, तो, हो, उमसे अपस्तु-भाव का ध्वनि होने में बाधा नहीं होगी, क्योंकि एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि का विशेष होना कोई मिश्रित नियम नहीं है ।

यदि एक ध्वनि दूसरा ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं रह सक्ती यह सिद्धान्त यदि 'मन' जय, तब कहें, जो, महावाक्य की ध्वनियों का अवातार वाक्यों का ध्वनियों के साथ रहना और अवातार वाक्यों की ध्वनियों का ध्वनियों के साथ रहना सदा ही न हो । अर्थात् यह कि ध्वनियों का लक्ष्य वाक्यवृत्तियों को अभिमत वस्तु है । वाक्य एक में भी दो ध्वनियों का मनोवश अनुचित नहीं है ।

अतः 'अवातार-भाव' का निश्चय करना है । 'वियोग' इत्यादि । वियोग, शोक, भय तब प्रथम ध्वनि को अपेक्षित एवं धूर्त्त-वेत्त न लक्षण आदि से उत्पन्न होने व न मननिक ध्वनि-विरोध-अपस्मार' कहना है ।

व्याधिसामान्योपादानेनैव गतार्थवेऽपस्मारस्य पृथगुपादाने प्रयोजन प्रतिपादयति—
व्याधित्वेनास्य कथनेऽपि, विशेषाकारेण पुन कथन बीभत्स-भयानकयो-
रस्यैव व्याघेरङ्गत्व, नान्यस्येति स्फोरणाय ।

विप्रलम्भे विशेषमाह—

विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

श्रीकृष्णागमनश्रवणाक्षितचित्तस्य कसस्य वृत्त वर्णयति—

‘हरिमागतमाकर्ष्य, मधुरामन्तकान्तकम् ।

कम्पमान श्वसन् कसो निपपात महीतले ॥’

विभावमनुभावाश्चाह—

अत्र भय विभाव, कम्प-श्वास-पतनादयोऽनुभावा ।

चपलता निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।

विशेषाकारेणापस्मारत्वेन विशेषधर्मेण । स्फोरणाय प्रकाशनाय । बीभत्समयानक-
रसयोरेङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याध्यन्तरस्वनि श्लेष्मण्य बोधयितु पृथगुपादान-
मित्याशयः ।

अङ्गत्वमिति शेष । विप्रलम्भेऽप्येवा व्याधीनामपस्मारस्य चाङ्गत्वमित्यर्थः ।

कसो भोजपति, अन्तकस्य सर्वतटारकस्यान्वन्तक सहारक, हरि श्रीकृष्ण, मधुरा
स्ववर्षार्थमागतम्, आकर्ष्य मयेन, कम्पमान श्वसन् महीतले निपपातेत्यर्थः ।

अत्रामर्षादिजन्यवागित्यादि पाठस्तु विशेषणद्वयस्य ‘गुणानां च परार्पत्वादसम्बन्ध
समत्वात्’ इति शोभासकसिद्धान्तेनाभ्युपगम्यमानत्वात् समासस्य दुर्घटयथोपेक्षित । अम-
र्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणिका च चित्तवृत्तिश्चपलतेत्यर्थः ।

एषपि पूर्व में जो सामान्य ‘व्याधि-भाव’ का निरूपण किया जा चुका है, उसी से इस अङ्गकार
जानक व्याधि का भी बदन हो जाता है, तथापि विशेष रूप से इस (अम-र) का कथन इन छिन्दे
कृष्ण है कि ‘श्रीकृष्ण’ और ‘भयानक’ रस में बरी (अङ्गकार) व्याधि अङ्ग हो मङ्गो है, अन्य नहीं,
इस बात स्पष्ट हो, अथ ।

विप्रलम्भ शब्द रस में ली गया अङ्गकार, क्या अन्य, मन् व्याधि-अङ्ग है मङ्गी है ।

व्याहरण देतिये । क्वि, कृष्ण के आगमन को सुनकर विद्वेन दुःखे कस के वृत्तान्त का वर्णन
करता है कि—कसक (अमर) का भी अन्त करने वाला अङ्गकार मधुरा में अनेक वष
के छिन्दे अङ्गत्वनकर, कस कर्षण हुआ तथा आस शोषण हुआ पृथो नर गिर पाया ।

बरी मय विभाव है और कौटना, श्वास, शोषण, नर गिरण अदि अनुभव है ।

अ ‘चपलता’ का निरूपण करते हैं—‘अमर्षा’ इत्यादि अमर्ष अदि विभावों से उत्पन्न होने
वाली और अङ्गकार अदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाला चित्त-वृत्ति ‘चपलता’ कहलगा है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अमर्षं-प्रातिकूल्येषां-राग-द्वेषाश्च मत्सर ।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावस्तु भर्तृन्म ॥
वाक्पारुष्य प्रहारश्च, ताडन वध-बन्धने ।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते ॥' इति ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद वदति—

'अहितव्रत ! पापात्मन् ! मव मे दर्शयाननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावित ॥'

प्रसङ्गविभावानुमादानाह—

एषा भगवदनुरक्तिविषयतनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपो-
रक्तिः । भगवद्द्वेषोत्पापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा पर्यवचन
चानुभावः ।

अमर्षध्वनित्वमाशङ्क्य घण्डयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सर्वैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे

प्रातिकूल्य विरुद्धाचरणम् । चकारो भिन्नक्रम प्रहारोऽत्रादिभिः । ताडन हस्त-
पादादिभिः । अनालोच्य युक्तापुक्तविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम् ।

अहित मत्पकारक भगवद्दास्यमेव व्रत नियतविषय यस्य, तत्सम्बुद्धौ हे अहित-
व्रत ! पित्रपकाराचरणदेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्व मे मत्सम्, एव घृष्टवत् सम्पि-
तम् आनन मुख, मा दर्शय, दूर गच्छ, येन मदीयेनात्मना शरीरेण, त्व भावित उत्पा-
दितोऽसि, त दुष्टोत्पादकमात्मान स्व, हन्तुमिच्छामीत्यर्थः ।

पुत्रे स्वतो द्वेषासम्भवाद् द्वेषाधीनद्वेषोपादानम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'अमर्षं-प्रातिकूल्येषां' इत्यादि । अर्थात् निम-
चित्त-वृत्ति में अमर्ष, प्रतिबुद्धता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हो और धमकाव, बचन की कठोरता, चीट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में डाल देना ये अनुभाव हैं, हम को 'चपलता' कहते हैं, जिसको आप 'बिना सोचे-समझे कार्य कर बैठना' समझिये ।

उदाहरण देखिये—'अहितव्रत ! (भगवान् की दामनारूप में अतिदृक्कर नियम का पालन करने वाला) पापात्मन् ! (पितृविरोध रूप पाप का अचरण करने वाला) प्रह्लाद ! तू घृष्ट के जैसे बन्धन हैसता चेहरा मत दिखा । इसे तो मैं लाज कल्प करके भी न छुधार सका और न मार हो सका । जब मैं अन्तम-हत्या ही करना चाहता हूँ, क्योंकि इस को पैदा करने का अपराध तो मैंने ही किया है ।

यह प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में वक्ति है, जब उसकी भगवद्भक्ति को विषयित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था । भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पश्र्वाती पुत्र में भी होने वाला द्वेष यहाँ-विभाव है और आनन-हत्या करने की इच्छा और कठोर वचन अनुभाव हैं ।

हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भूतत्वेनात्मवधेच्छाया इदमप्रथमतानुपपत्तेः, इदमप्रथमकार्यस्य चेदमप्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिलक्षणया एव ज्वलताख्यचित्तवृत्तेः सिद्धेः ।

पुनरपराशास्त्रद्वय निराकरोति—

न चामर्षप्रकर्षं एवात्मवधेच्छादिकारणमनिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्वाभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदायत्वात् ।

अत्र हिरण्यकशिपुवृत्तेरमर्षस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यत्व न सम्भवति, यत् प्रह्लादस्य भगवदनुदागो नावतत एव, किन्तु चिरकालिक इति तज्जन्योद्गर्षोऽपि चिरसञ्चित एव भवेत्, ततस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरात्मवधेच्छाया इय प्रथमा यस्याः सेदमप्रथमा, तस्याः भावतता प्रथमोत्तिरेया न युज्यते । किञ्च यथात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य कारण पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्ति वाचिन्मन्वते, तदा सैवापूर्वा चित्तवृत्तिश्चपलता सिद्धयति, तस्मात्प्राप्तमर्षध्वनिः, अपि तु चपलताध्वनिरेवेत्यभिप्रायः ।

स्वाभाविकाद् विलक्षण लक्षण यस्या सा स्वाभाविकविलक्षणलक्षणा तस्याभावस्तता । प्रकृतस्यामर्षस्यैवात्मवधेच्छारूपकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्तामित्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत् साधारणमपिक्षया प्रकृतस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्य स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवधेच्छारूपविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो विलक्षणरूपः प्रकर्ष एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलतायाः सिद्धिरिति नावः ।

यदा हिरण्यकशिपुवृत्तिः अमर्ष-भव ही प्रथम कर से व्यक्त होता है पर इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तदा से ही भगवान् के साथ प्रेम करने बात प्रकृत के प्रति हिरण्यकशिपु का अमर्ष भी नहीं करनी अपि तु पुत्राना का, फिर यदि हम अमर्ष को ही समझी काम-बोधका का कारण माना जाय, तब तो इस काम-बोधका का प्रथम-प्रथम होना नहीं सिद्ध होगा कारण यह कि अमर्ष-रूप कारण के रहने भी रहने से एक बोधका रूप कार्य का भी पहले होना सम्भवित है, और यह कामबोधका रूप कार्य हो रहा है मात्र रहने रहल, अतः समझा कारण भी कोई नहीं-अत्र ही हीन बड़ा अवश्य होना चाहिये । अतः एक बोधका के कारणरूप में प्राचीन अमर्षोत्पत्ति से विलक्षण चपलता नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।

यदि मार कहे कि 'हिरण्यकशिपु के मन में काम-बोध को इच्छा कर मात्र रहने रहल उत्पन्न हो रही है, तब समझा कारण भी कोई नहीं अत्र का लुप्त है, यह भव व मानना परेगा, क्योंकि यदि प्राचीन अमर्ष से काम-बोध को इच्छा हो सकती, तो रहने भी होती' ये सब तर्क ठीक है, तथापि इस नहीं काम-बोधका रूप कार्य को जन्म देने के लिए एक अनिश्चित चपलताविलक्षण चित्तवृत्ति की कल्पना करना शक्य है, क्योंकि वही पुत्राना अमर्षोत्पत्ति में कारण एक नहीं प्रकर्ष का कल्पना कर देने से काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहेंगे कि अमर्ष एक एक साधारण का, एक एक काम-बोध को इच्छा नहीं हुई, पर तब भी अमर्ष चित्तवृत्तितुष्ट होने से मात्र इच्छा (वच्छा) का गया, तब एक इच्छा हुई । परन्तु हम ये कहेंगे से भी कामका मनोरेव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चपलता नहीं माननी रहे, यही ही अमर्षा मनोरेव है, जिसकी वृत्ति उन तरह से बात बनने पर भी सम्भव

निर्वेद निरूपयति—

नीचपुरुषेष्वक्रोशनाधिकक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरहपरसम्प-
द्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदन-
दीर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिनिर्वेदः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरही श्रीरामो लक्ष्मण भणति—

‘यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा, न मदीक्षासरणि समेष्यति ।

अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥’

आक्रोशनाधिकक्षेपयोः सामान्यविशेषभावाद् ब्राह्मणवशिष्टन्यायेन पृथगुपादानम् ।
उत्तमेषु पुरुषेष्विति शेषः ।

अधमपुरुषेष्वक्रोशनादिजन्या, उत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्या, रोदनादिजनिका च
विषयद्वेषभावात् चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः । यन्म स्थायिनिर्वेदाद् भेदमनुभव दृश्यति ।

हे लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा सीता, यदि मदीक्षासरणि मद्दृष्टिपथ, न समेष्यति
नागमिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजनकेन, जडजीवितेन हृतजीवनेन
जगता विश्वेन वा, मे मम किं फल स्याच्च किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्दर्शन एव मे जीवन् जगच्च सफलमिति भावः । इह प्रियाविरहो विभावः,
जीवनजगन्निष्फलत्वामिघानश्चानुभावः । ‘किं फलमि’त्यनेन पीनरक्त्यवारणाय विफले-
नैत्यस्य विपरीतफलजनकेनेति व्याख्यानेऽपि फलपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्व
दुष्परिहरमेव । उत्तरवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविमृष्टविधेयतामावहति ।

नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से तद्गत प्रकर्ष का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा,
अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रह जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकर्ष मान लेंगे तब
तो चरलता सिद्ध ही हो जायगी अर्थात् हम सभी विलक्षण प्रकर्ष को चरलता मान लेंगे ।

अब ‘निर्वेद’ का निरूपण करते हैं—‘नीच-पुरुषेषु’ इत्यादि आलम्बन-भेद से निर्वेद दो
प्रकार का होता है, एक नीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला । अतः
नीच पुरुष-जान ‘निर्वेद’ जम चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति, गाली गलौन, निरस्कार, रोग,
भार खाना, दरिद्र होना, अशोष वस्तु की अज्ञप्ति और दूसरों की सम्पत्ति का दर्शन आदि में होती है
और उत्तम-पुरुष-जान ‘निर्वेद’ उस चित्तवृत्ति का नाम है, जिसकी उत्पत्ति अवज्ञा आदि से होती है,
अनुभाव दोनों ‘निर्वेदों’ के एक से—रोदन, जोर जोर से श्वाभग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होने हैं ।
इस निर्वेदात्मक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयो मे द्वेष भी है । स्पष्ट मतलब यह समझिये कि
नीच पुरुष को गाली आदि देने से जैमे कष्ट होता है और नल्पयुक्त जो विचार मनमें उत्पन्न होने हैं,
ठीक वैसा ही कष्ट और तन्जन्य विकार उत्तम पुरुष में माधारण अवज्ञा आदि में होते हैं ।

अब उदाहरण देखिये । वैदेही-विरह-कारण रामचन्द्रजी तदनग से कष्ट रह हैं कि—हे लक्ष्मण !
यदि वह मृगाश्री (सीता) मेरे नयन-पथ में न आवेगी—अर्थात् यदि मुझे उसके दर्शन नहीं होंगे तब
इम जड-अर्थात् गनि-होन-जाव से अथवा विपरीत फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिए न
यह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात् सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन

निर्वेदसद्भावेन शान्तरसध्वनिरेव न कुत इत्यत आह—

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावात्तासौ रसपदव्यपदेशहेतु ।

इत्थमपरातुपदेशक्रमेण भावान् निरूप्य देवादिविषयकरतिभावमुदाहरति—
देवादिविषया रतिर्यथा—

मत्तो भगवन्त मापते—

भवद्द्वारि कृष्यजय—विजय—दण्डाहनिदलत्—

किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतय ।

वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया

वराका के तत्र क्षपितमुर । नाकाधिपतय ॥'

इह वस्तुध्वनिशङ्कामभ्युपेत्य भावध्वनि स्थापयति—

अत्रापमानसहन—भगवद्द्वारनिषेधण—भगवत्कीटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मा-

यतोऽपी निर्वेद शान्तरसस्थापिनो निर्वेदाद् मिश्रकारणजन्यत्वात् मिश्र,
तस्मान्नात्र शान्तरसध्वनिव्यवहार । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्ययोर्वस्तु-
नोविवेकेन जन्यत्वात् अस्य चाक्रोशनादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेद्य ।

हे क्षपितमुर । मुरारे । यत्र भवद्द्वारि, कृष्यतोरनवसारेऽननुमतप्रवेशात् कृष्यतो,
जयविजययोस्तदाख्यद्वारपालयो, (वारणाय भुदुविधीयमानामि) दण्डाहतिभिर्वैत्रा-
पातं, दलन्ति विशीर्णोभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषां तादृशा, विधिमहेन्द्र-
प्रभृतयो ब्रह्मेन्द्रादय, कीटा इव निवार्यमाणा अपि निरुद्धेगा, युष्माक नयनयो
परिपातस्य सम्भङ्गनिक्षेपस्य उत्कलिकयोत्कण्ठया, वितिष्ठन्ते, तत्र, वराका दयनीया,
नाकाधिपतय स्वर्गकदेशस्वामिन कुबेरप्रभृतय, मे ? न केऽपीत्यर्थ ।

सार्थक हो सकना है और मेरे लिए यह संसार भी तभी सार्थक है । यहाँ शिवा-विरह को विभाव
और जीवन तथा जगत् के निष्फलत्वकथन को अनुभाव समझना चाहिए ।

'निर्वेद' ज्ञान-रस का स्थापिभाव है, अतः 'यदि लक्षणा इत्यादि पद्य में शान्त रस की
ध्वनि है, 'निर्वेद-भाव' की नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नित्य और अनित्य वस्तुओं
के विवेक में जिनकी उत्पत्ति होती है, वही 'निर्वेद' ज्ञान-रस का स्थापिभाव जाना है, और जो
'निर्वेद' भावरूप होता है, उसकी उत्पत्ति ही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से नहीं होती, बरन आक्रोश
आदि कारणों में होती है, जो पहले कहा जा चुका है, अतः यहाँ का 'निर्वेद' ज्ञान-रस पद ही
व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

उक्त रीति से अन्य तैलित भावों का निरूपण कर चुकने के बाद, अब देवादिविषयक रतिभाव का
(इसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिगमिति है—'देवादिविषयक-
रतिर्यथा' अर्थात् देव दिविषयक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से कृपा है कि-
हो मुझे 'पि' को धनुक जय-विजय नामधारी द्वारपातों के दण्ड-प्रहारों से जिनके किरीट टूटे जा रहे
हैं, वे ब्रह्मा और महेंद्र आदि देवता, आपके दृष्टि-दानकी-एक बार अच्छी तरह देर लेने भर की-
कण्ठों में आये द्वार पर सजे रहने हैं, फिर देवारे रत्नों के स्वामी यम, कुबेर आदि यहाँ कौन
होने हैं ? अर्थात् यहाँ ब्रह्मा और इन्द्र आदि की यह दशा है, यहाँ यम-कुबेर आदि को कौन
पूजा है ।

दिग्गता भगवदालम्बना रतिर्नाभिष्वज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया कविगतभगवदालम्बन-रत्या ध्वनित्वमक्षतमेव ।

अत्र रतिप्रतीति पश्चाद्भवत्वेनाप्राधान्याद् भावध्वनित्वव्यपदेशो दुर्घट इत्यख्येस्दा-
हरणान्तरमाचष्टे—

इद वोदाहरणम्—

मक्तो भागवत्त वदति—

‘न घन न च राज्यसम्पद, नहि विद्यामिदमेकमर्थये ।

मपि घेहि मनागपि प्रभो ! करुणामङ्गितरङ्गिता दृशम् ॥’

अत्र पक्षेऽप्रमानसहनादिभिर्व्यञ्जकैर्ब्रह्मादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभिव्यज्यते इति भावध्वनिरिति वस्तु न शक्यत, यतो विपुलघनादिलाभात्तयाऽपि तथा सम्भव, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्प्रभूषामपि ब्रह्मादीना तथा स्यत्या भगवदैश्वर्यस्यावर्णनीयत्वम-चिन्त्यत्व च वस्तु प्राधान्येन ध्वज्यत इति वस्तुध्वनिरेवेति पूर्वपक्षामिप्राय, व्यज्यता प्राग् वस्तुप्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवत्तत्त्वभाविसौश्र्वर्यस्य वर्णनेनानुभावेन कविनिष्ठाया भगवद्विषयाया रतेर्व्यञ्जने बाधाभावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्य-सरपक्षामिप्राय ।

हे प्रभो ! अह घन नाशये न याचे, राज्यसम्पद च तार्थये, विद्यामपि तार्थय, किन्तु ‘करुणामङ्गितरङ्गिता दयोद्रेकोच्छलिता, दृश, त्व मपि, घेहि निक्षिप’ इतीद केवलमेकमेव, अर्थय इत्यर्थ । अत्र घनाद्युपेक्ष्य भगवद्द्वारद्वेषपातमावाच्यतया रति प्राधान्येन व्यज्यत इति रतिभावध्वनेरदाहरणमिदमवसेयम् ।

उक्त पद्य में जो प्रह्लादिकों की—अप्रमान सहना, भगवान् के द्वार का सेवन करना, और उदरे व्यसृष्टर की इच्छा रखना इत्यादि बातें वर्णित हुई हैं, उनसे भगवान् के दिव्य में उनका (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिव्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक धनादि लाभ की आशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण ही मङ्गला है, अतः यह कहना चाहिये कि यहाँ सर्व-साधन-मत्पन्न ब्रह्मा आदि के धन तरङ्ग द्वार पर सजे रहने से—‘भगवान् का देश्वर्य अर्णनीय तथा अचिन्नीय है’ यह वस्तु व्यक्त होती है इत प्रवृत्त के उत्तर में प्रत्यक्षार का कथन है कि—आरम्भ में उक्त वस्तु ही प्रधानता ध्वनेन होती है, तो, होवे, मुझे कोई आरति नहीं, परन्तु अन्त में कवि का भगवद्विषयक प्रेम तो अवश्य ध्वनित होता है, क्योंकि उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना उक्त प्रेम का ही पङ्क (अनुभाव) है, सारांश यह है कि उक्त पद्य को देव-विषयक-रति-भाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह को बाधा नहीं है ।

पूर्वपक्ष यदि कहे कि यहाँ उक्त वस्तु की मनीषि पहले होती है और कविगत रति को पश्चात्-अन्त प्रधान, वस्तु कहलायगी और रति तदपेक्षया गौण, फिर गौण रति को लेकर भाव ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो छोड़िये हम पद्य को, यह दूसरा उदाहरण लायिये । एक भगवान् से कहना है कि—हे प्रभो ! मैं धन नहीं चाहता, राज्य की मन्थरा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ । मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और यह वह कि तू मेरे ऊपर कृपा की देने से शोभित अपनी इच्छा धेवी भी जाळ दे ।

तत्राह—

अत्र घनाद्यपेक्षासून्यस्य भगवद्दृयाद्यन्तपाताभिलाषो हि भगवत्यस्यन्तानु-
रक्ति व्यनक्ति ।

उपसहरति—

एव सङ्क्षेपेण निरूपिता भावा ।

ननुकातिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावाना लक्ष्येषु निरीसणाद् भावाना चतुस्त्रि-
मात्वसव्यात्मसङ्गतमित्यासङ्क्षय समादधाति—

अयं कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-
कलैव्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-सशय-घाट्यर्थादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्ये
दशनादिति चत्, न, उत्तेष्वेवंपामन्तभविण सङ्ख्यानंतरानुपपत्तं ।

कुत्र कस्यान्मर्माव सम्भवतीति प्रतिपादयति—

अमूयातो मात्सर्यस्य, नासादुद्वेगस्य, अवहित्यारपाद्भावाद् दम्भस्य, अमर्षा-
दीर्ष्याया, मतेर्विवेक निर्णययो, दैव्यात् कलैव्यस्य, घृते क्षमाया, औत्सुक्यात्
कुतुकोत्कण्ठयो, एज्जाया विनयस्य, तर्कान् सशयस्य, चापलाढ्याद्यस्य च
वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवत्तायात् ।

अतो रतिभाववृत्तिरिति शेष ।

एवमुक्तप्रकारेण, सक्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणात्-समाप्तेन, भावाश्चतुस्त्रिमात्
निरूपिता इत्यर्थः ।

अस्येति । सामान्यान्निप्रायेणैववचनम् ।

उक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीना लक्ष्येषूपलम्भान् सङ्ख्यानियमोऽस्तद्गत इति
सङ्ख्याया मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु पथाययमन्तर्भावान् सङ्ख्यानियमो नास्तद्गत
इति समाधानम् ।

यद्यप्यसूमादितो मात्सर्यादीनामीपद्भेदोऽस्त्येव, चित्त्वमूयादीना मात्सर्यादीना च
मित्यो नियतसम्बन्धरूपाविनाभावादभेदारोप, तथा च मात्सर्यादीनाममूयादिरूपतया-
वधारणाश्च भावाना सङ्ख्याधिक्यम्य मन्मद इत्यभिप्रायः ।

यहां धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त को भगवान् के कर-दमकयस्य-पात की अभिलाषा
उनके विषय में हमके अनुरागों की व्यक्त करती है । अतः हम वय को रति मान-व्यभि का उदाहरण
मानने में किसी की आवश्यक नहीं होनी चाहिये ।

अब संक्षेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होना है कि भावों की संख्या २४ ही है, यह निवम केने किया जा
सकता ? जब कि मान्य आदि में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ (बाध), ईर्ष्या, विद्वेह,
निर्णय, कलैव्य (कायरपन), क्षमा, औत्सुक्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय और धृत्ता आदि भाव भी दृष्टि
में आते हैं । इसका उत्तर यह है कि ऊपर गिनाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्वात्त २४
भावों में ही समावेश हो जाता है, अतः एक ही संख्या करना अनुकूल है ।

अब निश्चय अन्तर्भाव कदा होगा इस बात का प्रतिपादन करने दें—'अमूयातो' इत्यादि ।
अर्थात् मात्सर्य अमूया में, उद्वेग उद्वेग में, दम्भ अवहित्य में, ईर्ष्या अमर्ष में, विद्वेह और निर्णय मति
में, कलैव्य दैव्य में, क्षमा धृति में, औत्सुक्य और उत्कण्ठा औत्सुक्य में, विनय एज्जा में, संशय तर्क में

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्क्यामाह—

मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलाया अनौचित्यात् ।

व्यभिचारिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषा कुत्रचिद् भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चा-
नुभवता च भवतीत्युक्तव्योपपादयति—

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन केपाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति ।
तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदम्प्रति विभावत्वम्, असूया प्रति चानुभावत्वम् ।
चिन्ताया निद्रा प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्य प्रति चानुभावनेत्यादि स्वयमूह्यम् ।

अथ त्रमप्राप्त रसाभास निरूपयति—

अथ रसाभास तत्र—

तत्र रसाभासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनस्य रसाभामत्वम् ।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावाना गणयित्वा सङ्ख्याधिक्यमुरीक्रियेत, तर्हि एकपञ्चा-
शद् भावा इति भरतमुनिकृता व्यवस्था भङ्ग्येत, तद्व्यवस्थोत्प्लङ्घनस्यानुचितत्वान्
सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशय ।

ईर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया
निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र
विभावानुभावभावो भावाना स्वयमूहनीय इत्यर्थ ।

अनुचित विभावमात्मन्वत् इत्यनुचितविभावालम्बनस्तस्य भावस्तन्वमनुचितवि-
भावरव रसाभामत्वमित्यर्थ ।

और धृष्टता चपलता में समाविष्ट हो जान है । यद्यपि यहाँ विन भाव का समावेश विन भाव में किया
गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और अय्या आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक
दूसरे के विना रहते, अतः उन्हें वनते पृथक् नहीं माना गया । तात्पर्य यह है कि जहाँ अय्या रहता है,
वहाँ मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर वन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्तर्भूत
होनेवाले अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये ।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी एक भावों का एक भाव लेने का कारण यह है कि उस तरह से वन-वन
भावों को एक भाव लेने से जब कोई हृति नहीं होती और साथ-साथ भरत मुनि के बचन की रक्षा
भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खला करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या ३४ ही मानी
है, अतः हमको भी वनकी संख्या छननी ही माननी चाहिये ।

पूर्वोक्त सञ्चारिभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते
हैं । जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और अय्याभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ता-
भाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है । इसी प्रकार अन्तर्भावों
के विषय में स्वयं उह कर लेना चाहिये । यहाँ विन को निद्रा का विभाव मानना अनुभव-विरुद्ध
प्रतीत होता है ।

अब 'रसाभास' का निरूपण करते हैं—'अथ रसाभास' इति—अर्थात् अब रसाभाम का
निरूपण आरम्भ होता है । अथा रस का अलम्बन-विभाव अनुचित हो, यहाँ उसे रसाभास
कहने हैं ।

अनौचित्यनिवृत्तन एकदेशमतमुपन्यस्यति—

विभावादाननौचित्य पुनर्लोकाना व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इति घोरिति केचित् ।

तन्मतमपास्य मतान्तरमुपन्यस्यति—

तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्यादिविषयकरत्यादे सग्रहेऽपि, बहुनायक-विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसग्रहात् । तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिविशेषणीयः । इत्थ चानुचितविभावालम्बाया बहु-नायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च सग्रह इति । अनौचित्य च प्राग्वदेव ।

यद्विभावविशेष्यमनुचितत्वप्रकारक ज्ञान सम्माना जायेत, तद्विभावनिष्ठ तस्यैव मवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेषत्वमेवानीचित्यमस्तीति केचिद् ब्रुवन्तीति सारम् ।

इतिमंतसमाप्तिमुचक । इदमुच्यते—

अनुचितविभावकत्वमेव यदि रसामासस्य लक्षण स्यात्, तर्हि मुनिगुरूपत्नीप्रभृति-विषयकरतेरनुचितविभावकत्वेन तत्राख्यात्वेर्वात्त्वेऽपि बहुनायकविषयाया अस्यतर-मात्रनिष्ठायाश्च रतेविभावस्य सम्बन्धमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावादानौ-चित्यविरहान् तत्राख्याति स्यादेव । न च तत्र तत्त्वे प्रमाणाभाव, 'उपनायकसस्या-याम्' इत्यादिवक्ष्यमाणशब्दस्य सम्मानुभवस्य च जायस्कत्वात् । तस्मादनुचितविभाव-कत्वमिद्वानुचितरत्यादिकत्वमपि रसामासत्वम् । तथा च बहुनायकविषयकानुभव-निष्ठरत्योरप्यनौचित्यमन्वाभ्यामिरिति न कोऽपि दोषः । अनौचित्य तु पूर्वमतवत् सम्बन्ध-मवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव । रत्यादीत्यादिपदोपादानात् सर्वस्यापि-सङ्ग्रहान् कल्पनाभासादौ न दोषः ।

अहमन्त विभाव का अनौचित्य लौकिक-व्यवहार से सम्बन्धना चाहिये—अर्थात् श्रिमके पिण्ड में छेदों की 'वह अनुचित है' इस तरह की बुद्धि हो, उसी विभाव को अनुचित जानना चाहिये । यह कुछ विद्वानों का मत है ।

परन्तु रसामास के उक्त लक्षण को दूसरे लोग नहीं मानते । वे कहते हैं—उम लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होनेवाली रति का मंत्रण ही जाना है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि द्वार मनुष्य की रति के लिये अनुचित (अशोभ्य) है, यह बात लोगों की बुद्धि बहुत बजती है, तब-पि किसी नायिका को अनेक नयनों के विषय में जो रति होती है, और नयन-नायिका दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संसर्ग नहीं होगा, क्योंकि यहाँ विभाव अनुचित नहीं है अथ रसामास के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण विभाव में न लपटा कर रति-आदि शब्दों में लपाना चाहिये—अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिये कि—'श्रिमके रति आदि स्थानिभाव अनुचित रूप से प्रकृत हुये हों, वे रसामास कहलाने हैं । इस तरह से लपटा करने पर उन सब रतियों का संसर्ग ही बना है, जो मुनिपत्नी आदि के विषय में होती है, अथवा अनेक नयन के विषय में होती है, बिना लक्षण है, क्योंकि इन तीनों लक्षणों में रति ही प्रकृति अनुचित रूप से होती है । अनौ-चित्य की परिभाषा इस मत में भी बरी है—अर्थात् श्रिम रति को 'योग अनुचित सम्पन्न है, वही अनुचित-वदच एति है । इसी तरह अन्य स्थानिभावों के सम्बन्ध में भी सम्पन्न चाहिये ।

रसाभासस्य रसत्वेन भावामासस्य च भावत्वेन विरुद्धत्वविरुद्धत्व च मतभेदे-
तावच्छे—

२१ तत्र 'रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलमैव रसादि-
त्वान्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके । 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु
सदोपत्वादानासम्बन्धहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे ।

रतेरनुचितविभावकत्वान् प्रथमं बहुविषयकत्वाद् द्वितीयं, अनुमयनिष्ठत्वाच्च
तृतीयं प्रकारौ रसाभासस्य । तत्र प्रथम प्रकारमुदाहरति—

उदाहरणम्—

राजरमणीकामुकवृत्त वर्णयति—

शतेनोपायानां कथमपि मतं सौघशिक्षर,
मुघाफेनस्वच्छे रहमि क्षयिता पुष्पशयने ।
विवोध्य क्षामाङ्गी चक्रितनयना स्मेरवदना,
तनिरश्रमागं श्लिष्यत्यट्टह मुवृत्ती राजरमणीम् ॥

प्रथमेनादिपदेन भावस्य, चरमेण च मनुष्याभासादीनां ग्रहणम् । निर्मलस्य दोष-
रहितस्य । आत्महानि स्वल्पहानिरन्यत्वंमिति यावत् । एकंउपरे कथयन्तीति शेषः ।

दुष्टे हेतुहेत्वाभासरसत्वस्य हेतुत्वस्य च यथैकाधिकरणावृत्तित्व विराट्स्वर्णवै दुष्टं
रसो भावोऽपि, रसाभासो भावानामश्च, तन्वत्स्य रगन्वत्स्य भावत्वस्य च नैकत्र
स्थितिः, दोषरहितस्यैव रसत्वस्य भावत्वस्य स्वीकारादिति प्रथमं मतम् । यथाऽश्वस्य
पशुत्वादिदोषान्नाश्वत्वस्य हानिः, किन्त्वश्वानासम्बन्धहारभावत्वं तदेव रस-भासदोष-
रपि दुष्टत्वे न रसत्व-भावत्वयोरभावः, किन्तु रसभास भासामासम्बन्धवारमात्रमिति
द्वितीयं मतम् । तत्र प्रथममते, धूमानुमितिनिष्ठपिनहेत्वाभासत्वस्य वाऽनुमितिनि-
ष्ठपितहेतुत्वस्य चैकत्रैव बह्वी दशानाद् दृष्टान्तामिद्विरवचिबोधम् ।

उपायानां घटेन बहुमिषयार्थं, कथमपि केनापि प्रकारेण, सौघशिक्षर मुक्तिवर्ण-
धवतितप्रासादभृङ्ग, शतं प्राप्तं, मुघाफेनस्वच्छेऽमृतफेनत्वेन, पुष्पशयनं कुसुमन्ये,

अत्र रसाभास और भावामास, रस और भाव ही हैं अथवा वस्तु से भिन्न इन प्रसन्न का वक्षर मज-
भेद से दैते हैं—'दृष्ट' इत्यादि । कुछ विद्वानों का कथन है कि रसाभास और रस व इसी तरह
भावामास और भाव समानाधिकरण (एक जगह रहने वाले) धर्म नहीं हैं—अर्थात् रसाभास, रस
और भावामास भाव नहीं कहला सकते—क्योंकि रस अथवा भाव वगैरे कहना चाहिये, जो निर्मल
हो, जिसमें किसी तरह का अनौचित्य नहीं हो, और जब हमने अनौचित्य का ज्ञान, तब वगैरे रस का
मन नहीं कहना चाहिये, मते ही रसाभास (रस-सा भासित होने वाला) और भावामास (भाव-
सा भासित होने वाला) कहें । इसमें दृष्टान्त की आवश्यकता है, नैदानियों के हेत्वाभास
को के सकते हैं, अर्थात् वे हेत्वाभास और हेतुत्व की समानाधिकरण नहीं मानने—दत्ताभास को ही
नहीं कहते । दूसरे विद्वानों कहते हैं कि—रस में (रसि में) दोष का ज्ञान ही भावामास (भावामास)
नहीं हो ही अर्थात् जैसे जिहुट स्थानीय रस होने हैं, वगैरे तरह मदीय भी रस ही है केवल दोष को
खुलना देने के छिपे उन्हें भावामास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अन्न को लोग भावामास कहा है, पर रस
है वह अन्न ही ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजरमणी । रहो रजन्याद्युदीपनम् । साहसेन राजान्तपुरे गमनम्, प्राणेषूपेक्षा, निश्श्वासाश्लेषादयश्चानुभावा । शङ्का-दयश्च सञ्चारिणः ।

रसामासत्वमुपपादयति—

निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेरामासत्व रसस्य ।

अत्र तृतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषपरशंभ्राताभिव्यक्त्या रतेरनुभय-निष्ठतेत्याभामताहेतुर्वाच्यः ।

रहस्येकान्ते शयिता युष्ठा, राजरमणी नृपवत्तमा, विबोध्य स्पर्शादिना जागरयित्वा, क्षामाङ्गी कृशाङ्गी, च चकितनयना वीज्य जागरयतीत्याशङ्क्या चकितानी, स्मेरवद नामय मे प्रिय इति परिचये प्रभोदेन विहसन्मुखी (ताम) मुञ्चती हस्य, (स) अहह आश्रय निश्श्वासेन सहिन गनिश्श्वास्त यथा स्यात् तथा श्लिष्यत्यालिङ्गतीत्यर्थं ।

अनुचित परपुरुषविषयकत्वादयुक्त प्रणयो यस्या सा ।

अस्या अत्र प्रतीयमानामा रते, निषिद्ध परपुरुषत्वाद्गर्हितमालम्बन यस्या-स्तत्त्वाद् रसामासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावत्वप्रयुक्तो रसामासस्य प्रथम प्रकारो-ज्यमित्याशयः ।

अत्र चकितनयनाम्' इति नायिकाविशेषणन परपुरुषपरशंजन्यस्य तस्यास्त्रास-स्यैव श्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्व प्रतीतेरनुभयनिष्ठतया रसामासत्व, न तु रतेरनुचितविभावत्वत्वेनेति पूर्वपक्षमिप्रायः ।

उदाहरण लीजिने । यदि यह है कि-यह पुष्पशाही पुरष भव्य है, जो मैकरीं लपटों के द्वारा, विर्म प्रकार मटलों की चाटी पर पदुचकर, पकान में अमृत-पन के समान भवन पुष्पशय्या पर मोई हुई कृशाङ्गी राजाङ्गना को जगता है और जगने पर जब लकी औरों एक बार कमक उठती है, तब मुष्-कमल टिण्ड उठता है, तब निश्चम के साथ उसका आलिङ्गन करना है । यहाँ एक बात यह समझ लने देख्य है कि 'रसामास' के उक्त लक्षण से तीन भेद रसामास के मिद हान हैं-विभाव के अनौचित्य मे रति में अनौचित्य आ जाने से एक, अनेक नायकों के विषय न होने के कारण रति के अनुक्ति हो जाने से द्वितीय और एवनिष्ठ होने के कारण रति के अनुक्ति वा जाने से तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद का उदाहरण है ।

यहाँ जिनके साथ प्रेम करना अनुक्ति है, वह राजाङ्गना अलम्बन-विभाव है । पवान और रात्रि का समय आदि उरोपन-विभाव है । माहम करके राजा के अन्तपुर में जाना, प्राणी की परवाह न करना, मांस का जोर-जोर से खाना और आलिङ्गन करना आदि अनुभाव है, तथा रक्षा आदि सङ्करोभाव हैं ।

यहाँ रति का अलम्बन-राजाङ्गना-लोक-नया शम्भ से निषिद्ध है, अत रस आभाम रूप हो गया है ।

यहाँ राजाङ्गना का जो 'चकितनयन' विशेषण है, हमने यह प्रतीत होता है कि राजाङ्गना को पर-पुरु-मनो में काम हुआ है, और तब यह मिद हो जाता है कि नायिका को हम नायक से प्रेम नहीं है, अत रति के एवनिष्ठ (एवङ्गी) होने से जो रसभास का तृतीय भेद कदा गया है, उक्त

उत्तरयति—

अस्याश्च विराय तस्मिन्नासत्तायाः अन्तःपुरे परपुरयागमनस्यात्यन्तम-
सम्भावनाया, क एष मा बोधयतीत्युचित एव ज्ञास, । अनन्तर च परिचयाभि-
व्यक्त्या, सोऽप्य मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणोक्त्यागत इति ज्ञानादुत्पन्न
हृष्यमभिव्यञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषण रति तदीयानपि व्यनक्ति, परन्तु
प्राधान्य नायकनिष्ठाया एव रते. सकलवाक्यार्थत्वात् ।

द्वितीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

पृथ्वली—चरित् चर्णयति—

'भवन करणावती विशन्ती, गमनाजालवलाभलालसेषु ।

तरुणेषु विलोचनाब्जमाला-मथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥

तदीया नायिकानिष्ठामपि। सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यञ्जयत्वात् । आदौ
परिचयाभावे नायिकाया सहसा निद्रातो जागरणतः समुचित्वा चकितेत्यादिविशेषण
ज्ञासप्रतीतिरेव, पञ्चान् परिवक्षे सति प्रणयमूलकतदीयसाहसानुष्ठानज्ञानजन्यहृष्यव्यञ्जनेन
'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठाऽपि रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्नानुमप-
निष्ठताऽज्ञानासत्प्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेति सारम् । यदीह नायिकाया
सर्वथा ज्ञास एव स्यात्, तर्हि हृष्यव्यञ्जक वदनस्मेरव कथं स्वान् अत स्मेरत्वव्यञ्ज-
हृष्येण व्यज्यमानाया नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यञ्जयत्वात्, अपि तु
सकलवाक्येन व्यज्यमानाया नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभावनीयम् ।

मुतश्चिदागच्छन्ती बाला, पथि मार्गे, (स्वकीयपीवनसौन्दर्यवृष्टिहृदयपरतरुणरनु-
गम्यमाना) भवन निजगृह, विशन्ती, प्रविशन्ती, गमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात-
वस्थादेशतेसास्यापि लाभायाधिगमाय, लालसेषु, लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु

यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का
नहीं, यह किसी को शङ्का है ।

एक शङ्का का उत्तर यह है कि नायिका बिरकाळ से उस नायक में क्यापि अतत्त्व थी, तथापि
इस अज्ञान अन्तःपुर में पर-पुरुष का आगमन अल्पन ही अनभव है, फिर वह क्यों मुझ जगा रहा
है इन तरह की भावना से नायिका में ज्ञान का उदय हुआ है, न कि पर-पुरुष-स्पर्श के स्वाळ से ।
अन एव, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह की भी छोड़ कर
पहल तक मेरे छिये आ पहुँचा है' इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को अल्पन हर्ष हुआ, इन बात को
व्यक्त करने वाला 'स्मेरवदनां यह विशेषण 'चकितनना' के अन्वयित्त भागे नायिका में लगाया गया
है, फिर तो उसी विशेषण से 'नायिका का भी प्रेम नायक में है' यह बात भी स्पष्ट व्यक्त हो जाती है,
इस इच्छा की अल्पन है कि प्रधानता यहा नायकनिष्ठ रति को हो है, क्योंकि सम्पूर्णवाक्य का
शास्त्रार्थ वही है । तात्पर्य यह कि अब इस तरह से नायिक का भी प्रेम नायक में तिष्ठ हो जाता है,
उब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो सकता, पच्छ यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है यह
निविशान-सिद्ध है ।

अब रक्षाभात के द्वितीय भेद का उदाहरण देतिये । कवि कहता है कि-पृथ में प्रवेश करता हुई

तदाह—

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्या पथि तदीयरूपयोननगृहीतामानसैर्युवभिरनुगम्य-
मानाया कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये, निजसेवासाथैर्ययविज्ञानाय, गमना-
ज्ञापनरूपलाभलालसेषु, परमरिश्रमस्मरणमजातकरुणाया गमनाज्ञापाननिवेद-
कस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेास्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रतिबंधु-
वचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसामास ।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोढावृत्त वर्णयति—

‘भुजनञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधू ।

तत्कालजालपरिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ॥’

तन्मयं वरुणावती दूरानुसरणोदितदया विलोचनाञ्जमाला कृतज्ञतामूचककोमल-
चटाशपरम्पराम्, अथ पानयाम्बुभूव निचिक्षेपैत्यर्थं ।

इह तादातृष्टिनिसंपणव्यज्यमानाया रतेस्तरुणेष्विति बहुवचनेन बहुविषयत्वाद्य-
मान रसामासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

स्फुटम् ।

नवपरिणीता नवोढा (अनुत्पन्नप्रणया) वधू, वरेण परिणीता (न तु प्रियेण)
भुजस्त्रे पञ्जरे गृहीता बलादधृता (गाढमालिङ्गिता) तत्काल सद्य, जाले पतित्ता,
बाला, ‘कुरङ्गी हरिणीव, मुवमुपायानुपलम्भात्, रतेरनुद्भवेन त्रामाञ्च, नितराम-
त्यन्त वेपते वप्यत इत्यर्थं ।

बाला ने जब देखा कि मुझ से जाने की विधिनाम-आज्ञा-आशिर्य व्यथ के लोभी युवक-प्रणत
रामन पर लगा है, तब कागारनी वम बाला ने उन युवकों पर एक साथ नयन-कमलों की माला
गिरा दी—स्नेहभरी चिनचन से उनकी ओर देखकर जाने की अनुमति दे दी ।

बौद्ध नवयौवना नादिका वहाँ से आ रही थी, रास्ते में मनचने तर्कों का एक पूरा दल उनके
पोंछे हो गया, होता भी क्यों नहीं, जब वम सुन्दरी ने अपने रूप और जीवन से वम (दल) का
इदल-दरण कर लिया था । पर उन युवकों को नयनसुल के मित्रा और सुष्ठु हाथ नहीं लगा, एक
बाग सुनने के लिये भी वे बेचारे तरसने ही रहे, आशिर्य उस सुन्दरी का घर भी आ गया, वह
अपने घर में घुमने लगी, अब व युवक क्या करने, रामने घर छोड़े हो गये, उनके मन में यह लालसा
उठ रही थी कि ‘यदि अब भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही-कम से कम अपने धीमूत्र मे जाने
वा आजा भी दे दे, तो हम आनी सेवा की स्तर्पह मन्ना हें ।’ मगरान् ने ममता, वम सुन्दरी के
दृश्य में वमने अज्ज परिश्रमों की याद कर दया वमह आर्द्र, अग अपने ‘म आग मरों वें’ जाने की
आग देती हें’ हम अर्थ के सूत्रक—वचन-प्रयोग तो नहीं-प्रयु-दृष्टि निजे उनके उतर उतर किया,
(फिर क्या था, वे युवक अपने छोटे वृत्तार्थ ममज्ञने हुये डपर-उपर धितर गये) । वहा दृष्टि-निजेरुण
अनुभाष के वरुन मे नदिका की रति अभिव्यक्त होनी है और वह भी ‘तन्नु’ वम बहुरूप-प्रयोग
के द्वारा अनेक नयकों में प्रतीय होती है, अग वह पथ भा रसामाम (अनेक नयक विषयक रतिरु
द्वितीय भेद) का उदाहरण होता है ।

आजा यह सुयोग भेद का भी उदाहरण देव लक्ष्मिने । एक मरों दृश्य मरों मे करनी है—

उपपादयति—

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादिनुभप्रतिपुत्वेनाभासत्वम् ।

उक्तप्रकारध्वे प्रामाणिकता दशयति—

तथा चोक्तम्—

‘उपनायकसस्याया, मुनिगुरूपतनीगताया च ।

बहुनायकविषयाया, रती तथानुभयनिष्ठायाम् ॥’ इति ।

उक्तघोदाहरणसङ्ग्रहार्थमभिधत्ते—

अत्र ‘मुनिगुरु’ शब्दयोरपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम् ।

रस—तदभासयोरेकत्र सशयात् पृच्छति—

अथात्र किं व्यङ्ग्यम् ?—

‘व्यानम्राश्रल्लिताश्रव, स्फारिता परमाकुलाः ।

पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्या, पतन्ति प्रथमा दृशाः ॥’

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकायानीपदपि न तिष्ठतीत्यनुभवनिष्ठा रसाभासस्त्वं ।

आदिपदेनागम्यपत्नीकाना शिष्यादीना परिग्रहो बोध्य ।

पाञ्चाल्या शौपद्या, प्रथमा परिचयानन्तरमाद्या, दृशो दृश्य, पाण्डो पुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवादधान्या, विनता, भीमसेने त्रासाच्चलित-

नवविनाहित दुष्टदिन को रति ने बाहुरूप पित्रे में एकदृष्टिवा, अतः वह देवारी तत्काल नाठ में रौंमे हुई बच्ची हरिणो को तरह काय रही है ।

उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ है, नायिका में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में यह प्रेम (रति) अनुभव-निष्ठ (एक तरफ) है, अतः यह पद्य रसानास (अनुभवनिष्ठ रतिरूप स्तनोय भेद) का उदाहरण होता है ।

रसानाम के उक्त तीनों भेदों में प्राचीनों ने भी भाषिणा की है । उन्होंने कहा है कि यदि नायिका को रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक को रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका को रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ में रति हो, तब वह रति रस नहीं रसानाम कहलानी है । वहाँ एक बात विचारने योग्य यह प्रतीत होती है कि—उक्त प्राचीनोक्त कारिका में ‘उपनायकनिष्ठायां और ‘मुनिगुरुस्त्रीगतायां’ ये दोनों ही पद क्यों कहे गये हैं । दोनों पदों की अन्वय-रस-तो नहीं मात्रम पड़नी, क्योंकि उपनायक-निष्ठ रति में मुनिस्त्रीगतायां रति जो मरुहीन हो जाना है, कारण यह कि मुनिपत्नी आदि में निम्नको रति होगी, वह मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों की रति उपनायक निष्ठ कदलपणी, यदि कहें कि वहाँ मुनिपत्नी आदि को रति नायक में नहीं रहनी, तब मैं कर्तुं कि अनुभवनिष्ठ रति से मयद हो जाना । एक बात और वह यह कि उक्त कारिका से रसानाम के जार भेद प्रतीत होने हैं, पर अन्वयकार ने तो तीन ही भेद दिखाए हैं, जो ठीक भी हैं, अतः इस प्राचीन कारिका के कुछ अमनति अवश्य है ।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उपलब्धा है, अतः उन पदों से राज शिष्य आदि का भी ग्रहण करना चाहिये । अतः ‘शनेतीरायानान्’ इत्यादि प्रथम उदाहरण का संभव हो जाता है ।

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्सर नदी । रसामासत्त्व व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानञ्जतया धर्मात्मताप्रयोज्य युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्मृत्कारताप्रयोज्य भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततयाऽऽलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्य नकुलसहृदेवयोरोत्सुक्य च व्यञ्जयन्तीभिर्हृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसामास एवेति नव्याः ।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेरामासतेत्याहु ।

अचला, अर्जुने प्रभावोत्कर्षात् स्फारिता विकासिता, नकुलसहृदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला अत्युत्सुकाश्च, पतन्तीत्यर्थं ।

अत्र पद्ये रसो रसामासो वा व्यङ्ग्य इति प्रष्टुराकृतम् ।

अत्र द्रौपदीदृष्टिविशेषणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-त्रासहर्षोत्सुरयानि व्यञ्जयमानानि, द्रौपदीनिष्ठा युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वाद्नुचित्वा रतिं प्राधान्येन व्यञ्जयन्तीति शृङ्गाररसामावर्धनित्वं नवीना मन्यत इति सारम् ।

इह शौर्यस्यादृश्यतया यथा श्रवणपदोपन्यास, तथा धर्मान्मिताया अपिती तत्रापि तदुपन्यास उचितः ।

अपरिणेतार परिणयकर्तृभिर्ना बहुवोदनेके नायका विषया यस्या संव रतीर-सामास । प्रवृत्ते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकाना परिणेतृत्वाद् विशेषणामावप्रयोज्यविशिष्टामावात्र रसामासत्वम्, अपित्वनीचित्याप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनाना मतम् । इह प्राचीनमतस्य गरीयस्त्व पञ्चाभिर्दोष सूचयति । यत्त्र द्रौपदीया तुना सूचितमर्थविबोध लक्षणे परिणेतृभेदानिवेद्यादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्व इवात्रापि रतेरनीचित्यस्य भानमुक्तम्, तत्र युक्तम्, रतेरनीचित्यावभासे लोकासन्न-गहित्वत्सर्वं हेतुतया, महाभारतप्रकृतप्रवरणपर्यालोचनया तदसम्भवत्, विशेषतः पञ्चेन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिनि विभावनीयम् ।

अत्र, अत्र वर विचार नीतिदि कि 'राष्ट्रको के अन्त, द्रौपदी को प्रथम दृष्टिवा अतिनम्र पद्य, विकसित और वरम व्याकुल होगी हुई गिरती है' एतदर्थक 'व्यानद्या "' इत्यादि पद्य में क्या कहें हैं ? रस ! कथा रसान्यास !

एक विचार के प्रसङ्ग में नवीन विद्वानों का कथन है कि यहाँ रसमन्त्र ही व्यङ्ग्य है, रस नहीं, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्म होने के कारण युधिष्ठिर के विषय में भक्ति को, 'व्याकुल' इस विशेषण से एतद अर्थ होने के कारण भीमसेन के विषय में क्रोध को, 'विकसित' इस विशेषण से अत्यधिक शरणा की बात शून्य होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष का और 'परमव्याकुल' इस विशेषण से अति सुन्दर होने के कारण नकुल तथा सहदेव के विषय में उमुक्तता को अभिव्यक्त करने-वाली इष्टियों के बान स द्रौपदी को अनेक नायक विषयक रति अनित्य होनी है ।

प्राचीन विद्वानों का मत से एत श्लोक में रस ही व्यङ्ग्य है, रसामास नहीं, क्योंकि वे विधिवत् पनीत्याह न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रति को ही रसामास मानते हैं, यहाँ

रसामास विमजते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसाभासोऽपि द्विविध—सयोगविप्रलम्भभेदात् ।

तत्र विप्रलम्भाभासोदाहरणमात्रस्य वच्यमागत्वेन न्यूनता परिहरति—

सयोगाभासस्त्वनुपदभेदोदाहृत ।

विप्रलम्भाभासमुदाहरति—

विप्रलम्भाभासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य दगाननस्य दशा वपयति—

‘व्यत्यस्त लपति क्षण, क्षणमयो मौन समालम्बते,

सवस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टि निरालम्बनाम् ।

श्वास दीर्घंमुरीकरोति, न म ॥३ वत्ते धृति,

वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त ! लङ्केश्वर ॥’

तत्र रसामासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविध तथा सयोगशृङ्गाररसानामो विप्रल-
म्भशृङ्गाररसानामश्वेत तदाभासोऽपि द्विविधस्तुल्यन्यायान् । एव वीररसामासभेदा
अप्सूहनीया इत्यभिप्राय ।

नव्यमते—‘व्यानम्रा इत्यादिना प्राचीनमते तु ‘भुजपञ्जर’ इत्यादिना, तेन
न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशय ।

हा हन्त ! वैदेह्या जानक्या, कमनीयता स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो वशीकृत
चेना, लङ्केश्वरो रावण क्षण व्यत्यस्तममङ्गलत लपति भाषते (प्रलपति) अयो क्षण
मौन समालम्बते मूर्खीभवति किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बना
स्युया, दृष्टि विदधाति करोति तथा दीर्घमायत, श्वासम्, उरीकरोति बहति, एवम्,
अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागोपदपि धृति स्थिरता न घते धारयतीत्यर्थं ।

विदधातीत्यत्र निसेपासंको निदधातीति पाठोऽधिक शोभते ।

तो पाशों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करने वाले ही हैं, अतः उन पाशों के विषय में जाने
वाली द्रौपदी को रति रसामास नहीं कहला सकती, वरन शुद्ध रस ही कहलायगी । वहाँ ‘प्रबल्लु’
इस ‘तु’ शब्द से अरुचि सूचित होती है, और उसका कारण यह है कि एक नयिका का अनेक नयकों
से प्रेम करना हर हान्ड में अनुचित ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण करके हों अथवा
उत्तमीन । और लक्ष्मी में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिनसे पाणिग्रहण करने
वाले अनेक नयकों के विषय में होनेवाली रति रसामास-संज्ञा से मुक्त की जा सके । यह है नागेश
का अभिप्राय । कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अश्विप्रदर्शन समुचित नहीं है
क्योंकि यह कि ट्रेक और झाल से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होता है, और
महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के दर्पणोपेक्ष से द्रौपदी का पूर्व
पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझना जाना, अतः प्राचीनों का मत ठीक ही है ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद में शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, वही तरह शृङ्गार रसामास
भी दो प्रकार के होते हैं ।

सम्भोगशृङ्गार रसामास का उदाहरण ‘भुजपञ्जरे’ इत्यादि अभी हो चकरा है ।

अब विप्रलम्भाभास का उदाहरण देखिए—तीता के सौन्दर्य से वशीकृत रावण को रस अत्यन्त

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेय लङ्केशयता विप्रलम्भरतिरनुभवनिष्ठतया जगद्गुरु-
पत्नीविषयवक्तया चाभासता यता, व्यन्वस्त लपतीत्यादिभिरक्तिभिर्यज्यमानै-
रन्मादश्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिभिस्तर्षैवाभासता गतैः प्राचान्येन परिपोष्य-
माणा घ्वनिव्यपदेशहेतुः ।

शृङ्गारवद् रसान्तराणामप्यनीचित्प्रवृत्तत्वे रसानामना अवस्थापयति—

एव कल्हशोलबुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्णमान-
शोक, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेद, कश्यप-कातरादिगत-
त्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साही ऐन्द्रजानिकाद्यालम्बनत्वेन च
विस्मय, गुर्वाद्यालम्बनतया च हाम महावीरगण-देव भयम् यज्ञीषयशुक्ला-
ऽमृत्मासाद्यालम्बनतया वर्णमाना जुगुप्सा च रसानामना ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्याग्नि्या रत रावणमाश्रयित्तया
जगद्गुरुरामचन्द्रपत्नीविषयवक्तया च द्विविधनीचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसाना-
सत्त्वम् । सा हि- क्षण व्यत्यस्त मित्यादिना व्यग्रमानतासाहन, क्षणमथो इत्यादिना
व्यज्यमानेन श्रमेण, 'मदस्मिन् इत्यादिना व्यग्रमानेन साहन क्षम मित्यादिना
व्यज्यमानेन चिन्तया, न मना मित्यादिना व्यज्यमानेन व्यापिता च भावेनानीषि-
त्यप्रवृत्ततया नावानामेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसानामघ्वनि-
व्यपदेशस्य हेतुर्भवेतीति शारम् ।

यथा रतेर्मुन्दादिपत्नीविषयवक्त्रेनानीचित्याच्छृङ्गाररसानामना तर्षव कल्हशोलां
य बुपुत्रस्तद्विषयस्य वीतरागपुरपनिष्ठस्य च शोकव्यानीचित्यात् कश्चात्प्रामना,
ब्रह्मविद्याया विज्ञानस्यानधिकारिणो ये चाण्डालादयस्तन्निष्ठत्वेन वर्णमानस्य निर्वेद-
स्यानीचित्याच्छान्तरसानामना, कश्यपौ नीच कातरौ भीरुनिष्ठत्वेन वर्णमानस्य

तदुदाहरणाप्रदानकारणमाह—

विस्वृतिभयाच्चाभी नेहोदाहृता मुघीभिरुपेया ।

पशोपवक्तव्यविरहान समासनेव भावाभासान् निरूपयति—

अवभेयानुचितविषया भावाभासा ।

समासेनेव भावाभाममुदाहरति—

यथा—

अनुचितरति प्रधासो प्रिया स्मरन् वदति—

‘सर्वेऽपि विस्मृतपथ विषया प्रयाता

विद्याऽपि खेदकलिता दिमुत्सीवभूव ।

सा केवल हरिणशावकलौचना मे,

नवापयात हृदयार्धदेवतेव ॥’

क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक एन्द्रजालिवन्त द्विपयवत्वेन विस्मयस्याद्भुताभामता गुत्तजनादिविषयकत्वेन हासस्य हास्याभामता महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभामता यज्ञीया वध्यतया यज्ञसम्बन्धिनो ये पञ्च वस्तेषा यानि वसासृङ्मासादीनि मज्जारघिरमासप्रभृतीनि तद्विषयत्वेन बण्डमानाद्य जुगुप्सायाश्च बीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः ।

प्रत्येकमेषामुदाहरणप्रदर्शने ग्रन्थविस्तार न्यादिति शृङ्गारामानादाहरणनेव मुघीभिस्तद्गृह स्थालीपुष्पावन्यायेन सिध्यति इत्यर्थः ।

एवमेव रसाभासबदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताश्रयनिष्ठा वा वर्ण्यमाना हर्षादिव पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति, तदभासा अनौचित्यप्रवृत्तिः इति प्राचीनाभिधानादित्यर्थः ।

अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उभी तरह अन्य रसों के स्थायीभाव या अनुचित होने पर तत्पक्ष के आभास रूप हात है । जैसे—करुण रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कण्टकवारी कुण्डल आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायीभाव (शान्त) यदि ब्रह्म-विद्या-यज्ञ के अधिवार से वञ्चित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में वर्णित पिता आदि के विषय में वर्णित हो, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो भगवन्त रस का स्थायीभाव (भय) यदि विनी महावीर हर्ष आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) आदि यक्षीय वस्तु के मज्जा, शीघ्रिण तथा मास आदि के विषय में वर्णित हो तो क्रमात् बण्डरसाभास, शान्तरसाभास रौद्ररसाभास वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्याभास भयानकरसाभास और बीभत्सरसाभास होते हैं ।

इन सब रसाभासों के अलग-अलग उदाहरण दिए जाने में ग्रन्थ के अन्विष्टत्व हो जाने का भय था, अतः वे नहीं दिए गये, विद्वानों को स्वयं बनवा उह करना चाहिये ।

इसो तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में अथवा अनुचित आश्रय में वर्णित हो, तो भावाभास कहलाने हैं ।

प्रकरण प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अभ्यस्य वा कस्यचिद(ति)प्रतिपिद्गमना स्मरतो देशान्तर गतस्येयमुक्तिः ।

आङ्गणस्य अनिरेकस्य स्मृत्यङ्गाव प्रतिपादयति—

अत्र च स्वात्मत्यागात्यामाभ्या सकृच्चन्दनादियु विषयेषु चिरसेविताया विद्याया च वृत्तघ्नत्वम्, अस्या च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमान व्यतिरेकवपु-स्मृतिमेव पुष्पातीति सैव प्रधानम् ।

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वोपि, विषयास्तत्तदिन्द्रियैरनुभवनीया पदार्था, विस्मृतिपथ प्रयाता मुहुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभूवन्, (चिरसेविता) विद्याऽपि, सेवकविता पराङ्गनाप्रणयावधारणैर्ध्याकपायितासयेव, विमुधोबभूव साम्मुख्यविहाय दूर जगाम केवतमेका, सा दृष्टपूर्वा, हरिणसावकलोचना कुरङ्गविभुतयना, अधिदेवतेव हृदयाधिष्ठातृदेवतव, मे मम हृदयान, नैवापयानि नैव निस्मरतीत्यर्थः ।

गुरुकुले गुरोर्गृहम् । 'अप्रतिपिद्गमनाम्' इति पाठे तु निपिद्धात्मबनकत्वाभावाद्भावनाभातैव दुर्घटा स्यादिति प्रकोष्ठपटकषण्ड कल्पितः । इह गुरुकन्या तदन्या वा काविद्गमन्याऽऽलम्बनम् विषयो यस्या सा स्मृतिरनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् भावामासरूपा, व्यङ्ग्याभ्या व्यतिरेकोपमात्स्वात्म्याभ्युपस्त्रियमाणा स्मृतिभावाभासध्वनिव्यपदेशस्य बीजमवसेयम् ।

चिर सेवितैरपि सकृच्चन्दनादिविषये, चिर सेवितया विद्याया च सेवकस्य स्वात्मनस्त्याग इति तयोरद्वैतसत्त्वम्, अस्या तापिकायान्त्वल्पकासानुष्याता-यामपि सततस्मृतिप्रसक्तताया स्यात्प्रकृतवत्पामपूर्वं कृतज्ञाव च व्यज्यमान व्यतिरेका-तद्धारस्वरूप स्मृतिभावस्यैवोपकारकमितीह भावामासध्वनिरेव, नत्वनष्टार-ध्वनितियासम् ।

बैते-समी विषय विस्मृति के मार्ग पर पहुँच गये-भूट से गये और विद्या भी जिसकी सेवा मैंने विरक्त तर्क की थी—छात्र होकर मुझे पराङ्गना-मन्यो समझ कर ईर्ष्या में कटुपिण्डहरण होकर-निमुस ही गई, परन्तु देवत वह रात इति के समान नयन बाछी बाछ अविज्ञानी देवी के सगान बनी देवी है, इत्य से कमी निदलनी ही नहीं ।

विद्याभ्यास करने समय गुरु-गुरी के छात्रण से मोहित पनगले पुन्य की भयना विमक्ता सम्भोग कल्पना ही निषिद्ध मन्त्रा बना है, ऐसी किन्ती क्षमिनी का स्वरण करने पुन किन्ती अन्य की छत मन्त्र में वह बलि है, जब वह उनमें दूर हो गया था ।

यहाँ चिरसेविता एक, चन्दन आदि विषय और चिर-नेविता विषय—जो इन पथ में लगान स्व से आवे हैं—में, अपने को छीन देने के कारण, हृत्तानया तथा कल्पनरिहित हम भुग्याही—को यहाँ हमसे स्व से आई हैं—में अपने को सभी एक न छोड़ने के कारण, अतीविक हृत्तानया कश्चित्क होने है, जो हमान से जाने में आधिस्य-द्वैत रूप 'व्यतिरेक' कष्टद्वार यहाँ व्यक्त है कल्पन, तदपि हम पथ को कष्टद्वार-वर्ति नहीं करा जा सकता, क्योंकि वह व्यक्त 'व्यतिरेक' यहाँ छत पथन 'स्मृति-भार' का ही लेशक है, जो अनुचित प्रवृत्त होने के कारण क्षमाप रूप है । पठना इति पथ को 'भरतास-वर्ति' ही कल्पना आदि है ।

वस्तुव्यङ्ग्योपमाया अपि भावाभासाङ्गत्व दर्शयति—

एवं च त्यागाभावगत सार्वदिकत्व व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमाऽपि ।

भावाभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्वादानुभवनिष्ठत्वाच्च भावाभासः ।

विषयभेदादिहेतु भावध्वनित्वमप्याह—

यदि धुनिरियं तत्परिभेतुरेवोक्ति, तदा भावध्वनिरिव ।

भावाशान्ति निरूपयति—

अथ भावशान्ति—

निरूपयत इति श्लेषः,

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

विश्लेषमाचष्टे—

सन्नोत्पत्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात् ।

यथाऽधिष्ठात्री देवता स्वाधिष्ठान न जातु त्यजति, तथेयमङ्गनाऽपि मम हृदय न त्यजतीतिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्व व्यग्य वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतमत्यपि स्मृतेरङ्गमेव, न प्रधानमिति भावः ।

एषा स्मृति । अनुचितविषयकत्वमालम्बनम्य निषिद्धत्वात्, अनुभवनिष्ठत्व च नायकमात्रवृत्तित्वात् ।

नायिकाया पत्युरेवोक्तिरेया यदि प्रकरणेनावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकत्वानु-
भवनिष्ठत्वयोरभावात्तस्मृतिभावाभासध्वनि, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरिदेति भावः ।

प्रागुक्त विभावानुभावव्यञ्ज्यमान—हर्षाद्यन्यतमत्व स्वरूप यस्येति बहुव्रीहि
विभावा, दिव्यङ्गपहर्षाद्यन्यतमनाश एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

यत् स भावनाश उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्न) सहृदयाह्लादक,
तस्मात् स एवात्र ग्राह्य इत्यर्थः ।

इमी तरह 'अधिदेवतो' इस पद से वाच्य होनेवाली उपमा चमत्कारजनक होकर भी 'स्मृति-
भाव' का अङ्ग ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपमा से यह वस्तु ध्वनित होती है कि जैसे अधिष्ठात्री
देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह सृष्टाज्ञी भी मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती,
यह यह समझना चाहिए कि यह उपमा त्यागाभाव (न छोड़ने) में सार्वदिकता-विरत्याविदा को
वक्त करने के लिये ही केवल गयी गई है ।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय गुणकन्या कथना अन्य कोई
आगम्या नायिका अनुचित है, और यह स्मृति अनुभवनिष्ठ भी है—अर्थात् नायिका तो स्मरण करती
नहीं, अतः एक तरफा है ।

यदि मानें कि 'सर्वेऽपि ...' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणता (पति) की ही वक्ति
है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये ।

अब 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं । अच्छा पहले उसका उल्लेख देखिये—जिनके स्वरूप पूर्ण
में वक्ति ही चुके हैं, उन हर्ष आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भावशान्ति' कहते हैं ।

यह भाव-नाश उत्पत्यवच्छिन्न (उत्पत्ति-कालिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्या सद्योऽपध्वस वणयति—

‘मुञ्चसि नाद्यापि स्य भामिनि । मुदिरान्निर्दिष्टदियाय ।

इति तन्व्या पतिवचनरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचि ॥

विभानुभावी दणयति—

इह तादृशप्रियवचनश्रवण विभाव नयनकोणगत-शाणरुचर्नाश, तद-
भिव्यक्त प्रसादा वाञ्छुभाव ।

उपपादयति—

उत्पत्तिकान्तवच्छिन्नो रोपनाशो व्यङ्ग्य ।

भावोदय निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भानस्योत्पत्तिः ।

हे भामिनि ! कल्पन ! अद्यापि त्वनामपि स्य कोप मान न मुञ्चसि च त्यजसि,
(पश्य) मुदिरानिर्दिष्टमान्ता उदियायोन्मिताऽभूत् इति पतिवचनं तन्व्या
कृपाङ्गुपा (मानिन्या) नयनाब्जकोणयोर्नोचनकमनप्रान्तयो दोषरचितोपहिता
रक्तच्छवि अयापि व्यनागीचय । मानिनी परमोद्दीपनकादम्बिनीसप्ताहृथवणान
सद्य प्रससादेति भाव ।

तादृश मुदिरा-यदयवोषकम् । प्रियवचनश्रवणस्यामपभावान्तिजनकरवन
विभावत्वम् । नयनकोणगाणरुचिनामस्य साक्षादमपनसाजन्यत्वादिवचनम् ।

रोपोऽपस्तनात्रामपभावान्निध्वनिरिति सारम् ।

पूर्वोक्ततमणस्य वस्यचिद्भावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवी गतो भावोदयो
भवतीत्यर्थः ।

ही इससे नाश का जन्म हुआ चाहिये, उमरे शम कर चुकने व बाद का नहीं क्योंकि काली
कालीन भावनाय ही सृष्टियों को समझन करना है ।

उदाहरण छीजिये— अथ कोपमपि ! भव मो नू रोप का त्याग नहीं करनी, देस लो धन-
पय पिर आईं इम तरह लपि के बचनों ने कृपाङ्गी के नयन-वमल के काज मे जो रक्त छवि धा,
उसे जो छिया-बद काल्पना जाने के साथ ही समाप्त हो गई ।

यहाँ निवृत्तम को धन-पय काली बाणों का गुनना विभाव है और नेत्र-रक्षण की रक्त-छवि का
नाश अनुभाव है । यहाँ कहें कि नेत्र की टांगी का नाश ता राक्ष-नाश का साक्षात् कार्य नहीं हा
मरना-अर्थात् रोप-नाश से प्रमत्तना होगी और प्रमत्तना से कोपमूलक नेत्र-रक्षण का नाश हागा,
तो मैं कहूँ कि टोक है, तर नेत्ररक्षण के विनाश के अभिप्रेतक प्रमत्तना को ही अनुभाव
सन्निधे ।

एक विभाव और अनुभावों से कल्पित के समय में ही राक्ष का नाश हा जाना व्यङ्ग्य है ।

अब 'भावोदय का निरूपण करण है । एह उमहा छया दक्षिण—पूर्वोक्त हर्ष कालि में ह
दिमी भी भव की कालि को 'भाव दय' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराघबोधान् सद्यो मानिन्या वृत्त वणवति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी-हारलक्ष्म दयितस्य +मिनी ।

असदेशवल्ग्वीकृता क्षणादाचकर्म निजवाटुवक्षरीम् ॥

विभावमनुभाव व्युहय च प्रतिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभाव, प्रियामदेश वल्ग्वीकृतनिजवाटुलताऽऽकर्षणमनुभाव रापोदयो व्यङ्ग्य ।

भावशान्ति-भावोदयोविपर्ययमात्रद्वय विषयविभाग दशयति—

यद्यपि भावशान्ती भावान्तरौदयस्य, भावाद्ये वा पूर्वं भावशान्तरावश्य क्त्वाप्रानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषय, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहान् चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभाग ।

(आलिङ्गन्ती काचित्) दयितस्य वल्लभस्य, वक्षसि हृदय विपक्षकामिन्या प्रागुपभुक्तप्रतिनायिकाया, हारलक्ष्म गाढालिङ्गनोदगनमुक्तामालाचिह्न वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, (अपराघनिश्चयान्) मामिनी रोपयती मती असदगयोर्दयितमन्क्य-प्रान्तयो, वल्लयीकृता मण्डलाकारेण सयोजिता, निजवाटुवल्ग्वी स्वभजनताम सद्य आचकर्ष-अमर्षोदयादावृक्षदित्यर्थ ।

इहापि रोपपदमर्षबोधकम्, तेनामर्षभावोदयध्वनिर्वोध्य ।

मर्षकभावस्य शान्ति, तत्रापरभावस्योदय आवश्यक यत्र पुनरेवभावस्योदय तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपश्यन् इति भावशान्ति-भावोदयया मन्त्र सङ्कीर्ण त्वान् स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्काया—ननुकत्रैव तत्रभावस्य शान्तरौदयस्य च चमत्कारिता, नवा चमत्कारिता व्यवहारप्रवृत्तिरिति निणये, यत्र भावशान्तिचमत्कार, तत्र भावशान्तिव्यवहार, यत्र तु भावोदयचमत्कार, तत्र भावोदयव्यवहारो भवतीति तयोर्व्यवहारस्य विषय परसाङ्ग्ये नन्यपि स्वतन्त्र एवेति ननाधानम् ।

उदाहरण देखिये—कोई कामिनी एकानस्थित प्रियतम के दोनों कंधों पर हाथ रखकर गल मिल रही था, तब तब अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षस्थल में पड़ गइए मौत के हार-चिह्न पर पड़ी, फिर क्या था, दुरत वह कामिनी ने कामिनी (कोपना) बन उठी और कंधे पर से अपनी बाहुला को सींच दिया ।

यहां भा प्रियतम के वक्षस्थल पर सौत के हार का चिह्न देखना विभाव और उसके कंध पर से लिपटी हुई मुञ्जला का सींच लेना अनुभाव है, फलिते रोप-भाव का उदय व्यङ्ग्य होता है ।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहां किना भाव की शान्ति होती है, वहां किमी दूसरे भाव का उदय भा होता ही है, इसी तरह जहां किना भाव का उदय होता है, वहां हमने पहले किना अनिश्चित भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावउदय के एक दूसरे में अभिहित लक्ष्यों का मिलना अनन्वय है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अजा-अजा परस्पर करने योग्य लक्ष्य नहीं है, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारों नहीं होत अथवा भावशान्ति

भावमन्वि निष्पद्यति—

एवम्—

भाषसन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो रन्योन्याभिभवनयोरययोः सामा-
नाधिकरण्यम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वयस्सन्धिमाहूढाया अतूढाया सीताया रामचन्द्रे प्रथमं दूतयात् वर्णयति—

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्कित', शीलशौर्यवल्कान्तिभिता ।

सद्बुचन्ति विकसन्ति राधवे, जानकीनयननीरजश्रिय ॥'

अन्योन्य परस्परमनभिभूतयोरवाधितप्रतीतिचमत्कारयो, अन्यान्याभिभवनयोप्य-
योमिष—प्रतीतिचमत्कारवाचनसमर्थयो (अविच्छद्योत्सुल्पबलयो) द्वयोर्भावयो,
सामानाधिकरन्थमेकदेशककालावच्छिन्नचमत्कारिप्रतीतिविषयत्व भावमन्धिरित्यर्थं ।

सुन्दोपसुन्दन्यायेन मिषोवाधने प्रतीतिचमत्कारसाम्बाधुत, ताटस्थे परस्परवाधना-
पनयोस्तु सन्धिप्रयोग्यवित्तायचमत्कारसमस्तारस्वचमत्कारविरहाच्च क्रमेण विभेय
णद्वयगार्थक्यम् । तदुक्तम्—'भावयो सन्धिरभयसामग्र्ययोगेन परस्परविमर्द' इति ।
सन्धिरेव काममेव सुन्दकथयोरस्वाद इति च ।

यौवनस्वोद्गमनेनारम्भेन नितान्त शङ्कित मुवदसंने नवाङ्कुरितयौवनस्त्रीजातिस्व-
भावादुत्पन्नाङ्का (राधवस्य) शीलेन सद्बुत्तेन, शौर्येण विक्रमेण, बलेन शारी-
रिक्तसामर्थ्येन कान्त्या नावगपप्रमया च (प्रत्यक्षविषयेण) तोषिता उत्पादितलो-
मात्र, जानक्या सीताया नयने एव नीरजे कमले, तयो श्रिय राधवे रामचन्द्रे

को बगह में आगन्तु का उदय भित्तिन रह कर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की
आह में प्राक्नभाह की शान्ति नियमन रहने पर भी चमत्कार जनक नहीं होती और व्यवहार
बनन्धार के अर्थन है—अर्थात् प्रियमें चमत्कार रहता है, जगो वा व्यवहार होगा है, का इन
दोनों के एकू एकू व्यवहार हो सकते है ।

अर 'भाव-मन्वि' का निष्पत्ता करते है । सर्वप्रथम उमका लक्षण देगिये—एन दूतरे से दरे दूतरे
न हो, पर एक दूतरे को दवाने की बोधना रसत हो, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरन्थ (एक
बाद रहने) को 'भाव-मन्वि' कहते है । आसर्व यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूतरे
की प्रतीति और चमत्कार को वाधित करने की क्षमता हो, परन्तु वाधित कते नहीं, ऐसे—अवाध
मन्विस्व और सुन्दरठ दो भावों की महश्चिति को भावमन्वि कहते है । वहां यदि लक्षण में
दूतरे से दरे दूतरे न हो' यह पूर्व भंग नहीं बहा बाध, तब उन दो भावों की महश्चिति में अतिथ्याति
हो जायगी, जो परस्पर बाधक होने के कारण अयतीवमान अत एव चमत्कारहान होकर तटस्थ बने
पडे रहत है । इसी तरह यदि 'एक दूतरे को दवाने की बोधना रसते हो' पर द्वितीय भंग लक्षण में
न रसा बाध, तब उन अज्ञातिभावाय दो भावों की सह-रिचि में अतिथ्याति हो जायगी, जिनकी
सह-रिचि से कोई नाम चमत्कार नहीं बतलन होता, अत दोनों भंगों का निवगन मार्थक है वेत्ता
धनप्रना बन्दिने ।

बन्धारण देखिये । एक सखी दूतरी सखी से कहती है—दोनों में (सीता तथा राम में) यौवन

विभावाद्याह—

अत्र भगवद्वाशरधिगेतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्या
देश्च दर्शन विभाव, नयनगत-सङ्कोचविकासावनुभाव, व्रीडोत्सुक्ययो सन्धि-
व्यङ्ग्य ।

भावशबलत्व निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां
वा व्यामिश्रणम् ।

तथा सन्नतत्व विवृणोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

(पतन्त्य) सङ्कुचन्ति लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति—औत्सुक्येनोन्मीलन्ति
वेत्यर्थं इह यौवनोद्गमस्योभयत्रान्वय, उन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलाघवेन
योगपद्यव्यवहार ।

तादृशस्य लोकोत्तरस्य । नयनद्युते सङ्कोचेन व्रीडा, विकासेन चौत्सुक्यमिह सम
कक्षतयाऽऽस्वाद्येते इति भावसन्धिष्वनि ।

विशद्वत्वाग्निथोवाध्यबाधकभाव प्रातानाम्, अथवाऽविकृष्टत्वात् तदस्थाना भावाना
व्यामिश्रण स्वस्वव्यङ्गकपृथग्-वाक्यप्रतीतिविषयत्वपूर्वकं कमहावाक्यजन्मचमत्कारक
वैयञ्जनिक-प्रतीतिविषयत्व शबलत्वमित्यर्थं ।

एक महावाक्यजन्य चमत्कृतिजनक यद्वैयञ्जनिकज्ञान, तद्विषयत्वमित्यर्थं ।

भङ्गुरित हो जाने के कारण अत्यन्त उद्भ्रायुक्त और राम की सच्चरित्रता, श्रुता, शारीरिक बल और
कान्ति के कारण ल मयुक्त कुमारी सीता के नेत्र-कमलों की शोभायें, एतन्मन्दन रामचन्द्र के विषय में,
सङ्कुचि और विकसित हो रही हैं । मात्रार्थ यह है कि नवाङ्गुरित सीताजी ने एक प्रथम प्रथम
यौवनोन्मुख, सञ्चरिष, वोर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी आँखें उन्हें देखने
में कुछ संकुचि हो रही थीं क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की शङ्का भावस्थित था,
जो किमी नव युवक को देखते समय किसी भी अकुरयौवना के लिये स्वाभाविक है । और कुछ
विकसित भी हो रही थी, क्योंकि उस विलक्षण यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में लग्न भी
था । इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है ।

यहाँ भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा हमारे तरह के लोकोत्तर
चरित्र-वोरता आदि का दर्शन विभाव है और आँखों का संकुचि होना तथा विकसित होना
अनुभाव है । मिनसे लज्जा और औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य होती है—अर्थात् नेत्र-
सञ्कोच से लज्जा और नेत्र-विकास से औत्सुक्य समान रूप से ध्वनि होते हैं, अतः यह पद्य 'भाव-
सन्धि-ध्वनि' का उदाहरण होता है ।

जो परस्पर विरोधा होने के कारण एक दूसरे का वापक हो, अथवा जो उदासीन-अर्थान्तर परस्पर
वापक न परस्पर महावाक्य हो, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भाव शबलता' कहने है

मिश्रण शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि यद्यपि मित्र-भित्र वाक्य से मित्र-भित्र भाव अभिव्यक्त
होते हैं, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण स्वरूप महावाक्य बने, वस्तु जो एक
व्यञ्जना वृत्ति के सहारे चमत्कारी हान हो, वस्तुमें उन सब भावों का मासित हो जाना ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीता विदास्थानुशयान श्रीरामश्चिन्तयति—

‘पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा मामिन्दुमुग्धी विना वत् वने किं जीवितं घास्यति ? ।
आलोकेय कथं मृग्यानि वृत्तिः । किं ने वदिष्यन्ति मा,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥’

उपमादयति—

अत्र मत्पत्न्या विपाद-मृत्ति-वितक-श्रीला-शङ्का-निर्वेदानां प्रागुक्तस्ववि-
भावजन्मना शबलता ।

(यत्र भूमिसमुत्पन्ना वज्रिपरौक्षितशीला) सीताऽपि (धृष्टापवादमिया) यथा,
यापिता राजघान्या निरकाम्य वन गमिता, हन्त ! हतेन दुष्टेन दुर्दोषहृतमुद्धिना
मया, तन् सीतानिर्वायन पाप हननविधेयं विहितम् । सा गतया सुपरीक्षितपथा,
इन्दुमुग्धी सीता, मा विना (एकाकिनो) वने, वत् ! जीवितं किं घास्यति ?
नेव घासिष्यति । कृतं तादृशपापवमाह हृतिना प्राज्ञजनानां मुग्धानि, कथम्, आलो-
केयं सज्जया पश्येद्यम ! ते कृतिन (पारित) मा, किं वदिष्यन्ति किं कथदि-
ष्यन्ति ? । यद्यपि नयैतदुद्धितं नन्दि राज्य, पुन, रसातलं यातुं किन्त्यतु । अहं
प्राणितुमपरं जीवितुं, न कामये नच्छामि दुश्चरुयंगोदग्धाज्जीवनान्मरणस्मैव
श्रेयस्त्वादित्यथ ।

इह ‘पाप’मित्यादिना व्यज्यमानाया मते, ‘हतेने’त्यादिना व्यज्यमानाया स्ववि-
पयकानूपाया, ‘सीताऽपि’त्यादिना व्यज्यमानस्य विपादस्य, ‘ने’त्यनेन व्यज्यमानाया
मृते, ‘मामिन्दुमुग्धा’त्यादिना व्यज्यमानस्य वितकस्य, ‘आलोकेये’त्यादिना व्यज्य-
मानाया शोडाया, ‘रि न’ इत्यादिना व्यज्यमानाया शङ्काया, ‘राज्य’मित्यादिना
व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च मानस्य शबलत्वमेव महाबावयज्वैषम्यजनितचमत्कारजनन-
प्रतीतिविशेषत्वमस्तीत्यर्थः ।

उदाहरणं इति— सीता न व वत् वने निवासित क वने । राव राम का कथन है कि मैं क्या
हुँगी ह, मैंने तो मया न (निरकाम्य होत अति में वापि हो चुका) निरकाम्य रित्त,
यह मुझ-काम क्या रूप कित गया, हन्त ! क्या वत् विना मुग्धे मया म मेम है) मेरे विना
वने में तो मया है ? मैं क्या अदमिती का मुझ केन देरोंका ? मे मुझे क्या बहेंगे ? यह राज्य
(निरकाम्य विने मेरे यह वत् वत् है) रसातल में पला अहं, मैं सीता नहीं जाहगा ।

यदा अने-अने विचार में अन्धकार होने काये मति, अहं, विपाद, मृति, रिता, शोका,
इत्या और निरों इन अर्थों का मिला (निर्वेदक) है—अहं, ‘मैंने क्या कित’ हमने ‘मति
हुँगी’ हम अन्धकार में म श्रीरामक अन्धा, ‘सीता की मा’ हमने विचार, ‘यह यज्ञमुग्धी’ हमने
मृति, ‘मेरे विना या मया है’ हमने विचार, ‘मैं अने अदमिती का मुझ केन देरोंका’ हमने शोका,
‘मे मुझे क्या बहेंगे’ हमने, इत्या और ‘यह राज्य रसातल में पला अहं, मैं सीता नहीं जाहगा’ हमने-
निरों, ये अहं अन्धकार है और इन सब अर्थों का समझ लीक-अर्थों में अन्ध होना है, अहं,
यह अन्ध-अन्धकार मति’ हुई ।

नन्वात्मविशेषगुणानां स्वोत्तरविशेषगुणताशयत्वस्य ताविकैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्ति-
विशेषाणां भावानामिच्छादिवदात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वभावाभिभाव-
कत्वेन 'परये' दित्वादावपि शङ्कादीनां मिषस्ताटस्म्यस्याभावादेककालिकामिष्यक्य-
सम्भवाच्च न च शबलत्व स्यादिति मूलविरोधस्तुत्य एवेति शङ्का निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, नवोपमर्दपदवाच्यः,
नापि चमत्कारो ।

निराकृतमाह—

तस्मात्—

'नारिकेलजन-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे ।

विरक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां सहता तथा ॥'

भादद्यान्त्यादिष्वनित्यवृत्तस्य भावध्वनिता व्यवस्थापयति—

अप्रेद बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युदयमन्विशबलताध्वनय उदाहृताः, तेषुपि भावध्वनय
एव, निरमानतत्रा चव्यंमाणोऽप्येव, उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धी-
यमानत्वपरस्परसामानाधिकरणत्वं प्रकारेभ्यर्ज्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौ-
चित्त्यान्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्त ।

न तुल्ये, शङ्कादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यञ्जना-
वृत्त्यबोध्यत्वाद् विलक्षणसुयोगार्थकोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च
भावशबलत्वरूपतासम्भवान्, तथा च त्वन्मत एव मूलविरोध इत्याशयः ।

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सिताया श्वेतधर्वाया, कदमस्य रम्या-
फलस्य च मिश्रणे मिष मयोजने, यद्येतेन वस्तुना वस्तुन्तरास्वादस्योपमर्दो न श्रियते,
किन्वास्वादवैलक्षण्यमेव विधीयते, तर्पेन भावानां शबलत्वरूपसहतावपि नोपमर्दं
किन्वास्वादवैलक्षण्यमेवेत्यर्थः ।

यदि अप्ये कुरे किं चित्तवृत्ति रूप भावो का नैवादिहो के सिद्धान्त के अनुसार इच्छा यदि
विशेष गुणों में समावेश होता है और 'भारमवृत्ति विशेष गुणों का स्वरूप' विशेष गुणों से नाश
ही जाया जाएगा है' यह नियम है, जो पूर्व भाव का नाश हुये बिना उत्तर भाव ही उत्पत्ति हो ही
नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि ठीक सिद्धान्त अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु यहाँ हमने काम नहीं
लिया जा सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुण से हीनेवाला पूर्व गुण का नाश भङ्ग्य नहीं हो सकता
मर्दं व्यञ्जनावृत्ति से हमका बोध होता सम्भव नहीं, यदि हम नाश को व्यङ्ग्य मान भी ठीका अप,
तो टीकाकार के 'उपमर्द' पर का यह वाक्य नहीं होता, क्योंकि उपमर्द पर का वाक्य चित्तया संयोग
है, यदि कर्मिन् उक्त नाश को उपमर्द पर का वाक्य भी मान लें, तो हम नाश में कोई चमत्कार
नहीं है, जो यह भावसहता का नही हो सकता ।

जो यह समझना चाहिये कि जैसे नारिकेल के जल, दूध, चीनी और बेहो के मिश्रण में चित्तया
स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है । तर्पेण पर कि—पूर्वक
नारिकेल के जल, दूध यदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं जाता, किन्तु सब मिश्रण,
जबला स्वाद एतत् इत्ये एक तथा स्वाद भी उत्पन्न कर देता है, उसी तरह भाव भी स्वतः स्वतः
जबलास्वाद कहने पर एक तथा जम्बूदल भी उत्पन्न कर देते हैं ।

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलताना तत्सम्बन्धिना भावाना च समानाया चर्वाणाविययताया, न प्राधान्य विनिगन्तु शक्यते, तथापि स्थितौ भावेपु प्रधानताया क्लृप्तत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेज्ज्वेव शान्तिप्रयोगित्वादिभिर्व्यंज्यमानेषु तस्या कल्पयितुमोचित्यात् ।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताध्वनयो येऽत्रोदाहृता, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बांद्धव्या, यतो विद्यमानावस्थापत्रत्वेनास्व मानेषु भावेपु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्य न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापत्रत्वस्य तथैव भावोदय-वनावुत्पत्त्यवस्थापत्रत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यदवस्थापत्रत्वेन भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापत्रत्वेन, भावशबलताध्वनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापत्रत्वेन च विशेषणीभूतधर्मै प्रकारैरास्वाद्यमाने भावेपु धर्मिणा भावानामेव प्राधान्य, न तूत्पत्त्याद्यवस्थापत्रत्वादिधर्माणाम् प्राधान्यमुचितम यतश्चमत्कारमूलकमेव प्राधान्य निर्णोतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः ।

विनिगन्तु विधारयितुम् । इह भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्यासमूल चिन्त्यम् । स्थितौ विद्यमानावस्थापत्रत्वावशिष्टभावध्वनौ । तपु भावेपु । शान्त प्रतियोगिता सम्बन्धिता वैशिष्ट्यमिति यावत् । उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टाना भावानामवात्वादे भावानामेव प्राधान्य, नतूत्परवाद्यवस्थागमिति निर्धारण यद्यपि दुष्करम्, तथापि 'एकत्र निर्णोत शास्त्रार्थोऽपरत्रापि सञ्चरति' इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थाया भावस्य चैकास्वादविषयत्वेऽपि चमत्कारानुभावाद्भावस्त्वं प्राधान्य यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रसाम्यदवस्था-सन्धीयमानावस्था-समानाधिकरणावस्थामि सहाप्येकास्वादविषयत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचितत्वादवधारणीयमित्यभिप्रायः ।

अत्र भाव-शान्ति आदि ध्वनियों भी भाव-ध्वनियों ही हैं, अपरिचित नहीं, इम स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करत हैं—'अत्रेद् बोध्यम्' इत्यादि । ये जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों उदाहरणों के द्वारा दिखल्यइ गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियों ही हैं । कारण यह कि जहाँ आप, हम-समा भावध्वनियों मानत हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करने हैं, वहाँ भी तो भावों को एक अवस्था-विद्यमानता रहनी है, फिर भी जिन तरह वहाँ भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उम विद्यमानता अवस्था का नहीं, उनी तरह जहाँ आप भावशान्ति आदि की ध्वनियों मानत हैं, वहा भी यही मानना चाहिए कि विनष्ट होने हुए, उत्पन्न होत हुए, एक दूसरे से सटत हुए और एक साथ रहत हुए भावों का ही आस्वादन होना है, अतः वहाँ भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शबलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव वा चरणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य की चमत्कार-मूलक माना गया है ।

यदि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और उनकी वे अवस्थाएँ समान रूप से आस्वादन (चर्वाण) के विषय होत हैं, अतः कौन प्रधान है और कौन अग्रधान-अर्थात् भावप्रधान है या उनकी वक्त अवस्थाएँ यह निर्णय होना अतम्भव है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की

अन्यदाऽनुपपन्न्यापि तत्र भावप्राधान्य निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्तशब्दो भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्या-
दिरेवेत्याभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेऽप्यभिहिततत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रश-
मादिष्वनित्वं न स्यात् ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृशं भावप्यनिगुदाहरति—

तथा हि—

खण्डितावृत्त वषण्वति—

‘उपसि प्रतिपक्षनायिका—सदनादन्तिकमञ्जति प्रिये ।

सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युति ॥’

अत्र काव्येऽन्यथाभावस्योदयो पद्यस्य त्रुर्ववेणैणैषातुलाऽभिहितः, किन्त्वमयंभावो
व्यङ्ग्य एवेति भवत्येवामयंभावोदयश्चनित्यपदेशः, भवन्मते तूदयस्यैव प्रपानस्य
वाच्यत्वात् स न स्यादित्याह—

अत्रोत्पूर्वैरेषानिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात् ।

स भाव उपसर्जनमप्रधानं यत्र, स तदुपसर्जनकः । यदिति भावशान्त्यादिष्वनो
शान्त्यादेरेव, ननु भावस्य प्राधान्यं स्वीकियते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता,
शान्त्यादस्य वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिष्वनित्यव्यवहारो भवति भावप्राधान्यात्,
मन्त्रति शान्त्यादेरेव प्राधान्याभ्युपगमे स नैव स्यात्, शान्त्यादेरेवाऽनित्यत्वात्, तस्माद्भाव-
वप्राधान्यमप्याभ्युपेयमित्याशयः ।

उपसि प्रमाने, प्रिये वस्तुभे, प्रतिपक्षनायिकासदनात् मयत्नीगुहात्, अन्तिक
ममीपम् अन्तःस्थागच्छति सति, सुदृशो नायिकाया, तयनाब्जकोणयोर्नेत्रममनप्रान्त-
नागयो, अरुणद्युतिरमयंजया रक्तान्ति त्वरया इति उदियायोप्यद इत्यर्थः ।

आस्था मे भावो वा ही—न कि आस्था ही—प्रधानता स्वीकृत हो चुकी है, तब आर-शान्ति आदि
न भा शान्तिप्रतिपक्षिण्य आदि रूप में अर्थात् शान्तिविशिष्टत्वेन, तत्प्रतिपक्षिण्यत्वेन, और अन्तः-
स्थान रूप में अन्तिक होने वाले उपसर्जको की ही प्रधानता मानना उचित है, क्योंकि ‘रुण-
जया’ का अर्थ बाधकभावप्रकारण्ये मन्त्रति’ अर्थात् ‘एव जगह निर्णय किया गया प्रिय, किमी
रूप में बाधक के न रहने पर, दूसरी जगह भी माना जाता है’ पर सिद्धान्त है ।

यदि अत्र पर माने कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु गीत है—अर्थात् वे
शान्ति आदि अन्त्यर्थः ही प्रधान है जिनके विरुद्ध रूप से वहाँ मान रहने हैं, तब जहाँ भावप्रधान
रूप है और वहाँ शान्ति आदि अन्त्यर्थः वाच्य रहती है, वहाँ अत्र के शिवाय में भावशान्ति आदि
का प्राधान्य नहीं हो सकेगा ।

अतः । एवं माने दूसरी मन्त्री में बहना है कि—जब अन्त्यर्थ मान करने में विरुद्धिती आदि
(अन्त्यर्थ) का पर में अन्त्यर्थ पर अन्त्यर्थ, तब सुन्दर मन्त्रशाली आदि का वे अन्त्यर्थ मन्त्र के अन्त्यर्थ में ही
भावाशान्ति उचित हो सकेगा ।

यहाँ ‘टीका’ हम अन्त्यर्थत्वं अर्थात् ही अन्त्यर्थ से वहाँ की मन्त्री के अन्त्यर्थ का ही अन्त्यर्थ
का अन्त्यर्थ है, अन्त्यर्थ के अन्त्यर्थ से वहाँ अन्त्यर्थ का अन्त्यर्थ नहीं हो सकेगा ।

अप्रधानप्रयुक्तामेव व्यवहारोपपत्तिमाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्थावाच्यत्वाद् ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तौ ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावो वर्णयति—

अस्मिन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावप्राधान्यान्म्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिमपि दर्शयति—

एव व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रथमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

तदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

‘क्षमापणं कपदयो , पदयोः पतति प्रिये ।

शमुः सरोजनयना—नयनाखणकान्तयः ॥’

औपयिकत्व प्रयोजकत्वम् ।

ननुदयोऽत्र यद्यपि वाच्य, किन्त्वमर्षो भावस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति तमादादेव भावध्वनिव्यवहार उपपद्येतेति शङ्कायाम्, ‘प्रघातेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति सिद्धान्तेन प्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यत्वापि प्राधान्याभावाद् ध्वनित्वप्रयोजकत्वाम्भवादिनि समाधानम् ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमभ्युपगच्छन्नामस्माक मते त्ववच्छेदेकनमाप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपन्नमेवेत्याकूतम् ।

एव भावोदयवद् व्यज्यमानो भाव प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रथमस्य भावशान्ते । यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यस्तच्छान्तिस्तु वाच्योऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, त्वन्मते प्रधानीभूताया शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

प्रिये दयिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्षणस्य, एकपदयोरसाधारणस्थानयो,

यदि आप कहें कि उद्य के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव तो वाच्य नहीं होता, अतः यहाँ अमर्षभावोदय का ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी सत्य नहीं, क्योंकि आके हिसाब से ही भावोदय आदि ध्वनिस्थल में उदय अदि ही प्रधान होते हैं, अतः जब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि उदय से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, तब अधिधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

हाँ ! हमारे मत के अनुसार वहाँ अमर्ष-भाव-शान्ति का व्यवहार जरूर हो सकता है, क्योंकि हम भावोदय अदि में भी भाव ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अधिधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (अमर्ष) के वाच्य नहीं—व्यज्य होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है ।

इसी तरह आपके मत में अज्ञा शान्ति (नाश) का प्रतियोगी—अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय है, वह भावव्यङ्ग्य है और शान्ति वाच्य है, वहाँ भावशान्ति को ध्वनि नहीं होगी ।

शान्त्यादिप्राधान्यवादी पुनश्चाद्भूते—

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरणकान्त्यैवान्वयादण्कान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्व पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य रोपप्रशमादे, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात् ।

स्वपूर्वपक्षवाच्यार्थमवान्तरसाङ्गो विधाय निरस्यन्ति—

न चारुण्यव्यङ्ग्यभरोपस्यैव वाच्यीभूतप्रशमाद्यन्वय इति वाच्यम्, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया, वाच्यान्वयबोधवेत्याया वाच्यं सह व्यङ्ग्यधान्ययानुपपत्ते ।

पदयोश्चरणयो, पतति रति, सरोजनयनाया पद्याश्या नयनयोरमयंजनिता, अरणकान्तयोरस्यद्युतय, श्रेयुविनेशुरित्यर्थं । अत्र नेत्रारणकान्तिशान्त्यात्मपर्यभावे व्यङ्ग्य, तच्छान्तिस्तु वाच्येति भावशान्तिध्वनित्वे सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यान्भ्युपगमे शान्तेवाच्यवान् तत्र सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यगम्भुपेयमित्याशयः । इह क्षमतरादन्तत्प्राधान्यान् पुनो टीलंभ्यन् क्षमापणपदमाद्या नामघातुप्रतिपत्त्या कथञ्चन विधेयम् ।

नन्यत्र शेषु-रिति पदेन वाच्योपि शान्तिपर्यतोऽरणकार्त्यैभावेति, तस्मादण्कान्तिशान्तिशान्तिरेवापि वाच्या नत्वणकान्तिशान्तिव्यङ्ग्या रोपरूपामयंशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पृथक्ताया आवश्यकत्वाद्भावशान्तिध्वनित्वेऽत्र किमपि न बाधयामिति पूर्वासाक्षयम् ।

आनुपूर्व्यं चम् ।

ननु 'शेषु' रित्येतत्पदामिहिताया शान्ते, वाच्यया नयनारणकान्त्या, व्यङ्ग्यमानेन रोपेण (अमर्षेण) सहैवान्वय इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटमेवेत्याक्षेपस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो वायकारणभावात् शमिरत्वस्यावश्यकतया

शेषम्—एक सती दूसरी सली से बदली है वि-क्षमा करवाने के एक (सर्व प्रथम) स्थान परण पर रति के गिरने ही सरसिज के समान नयनवादी नायिका के नयनों का अरण कान्तिदा शान्त हो गई । वहाँ शान्ति के वाच्य होने पर भी उस शान्ति का प्रतिषेधनी अमर्षभाव ने प्रकृत अण्कान्ति के कारण रूप में व्यङ्ग्य है, अतः वहाँ भावशान्ति ध्वनि होती है, आपन दिमाक में वह नहीं होगी ।

यदि आप कहें कि भावशान्तिरिच्छत में शान्ति अर्थात् ही ही प्रथमत्वात् मानन पर भी, उभयि प्रतिषेध ' इत्यदि तथा ' एतत्तत्तत्... ' इत्यादि पदों में अण्कान्ति-रति मन्ती या सखी है, क्योंकि—एक दोनो पदों में जो उदय और शान्ति वाच्य है, उनका अन्वय अण्कान्ति और अण्कान्ति के साथ है, अतः अण्कान्ति का उदय तथा अण्कान्ति ही शान्ति भन् ही वाच्य का रूप, परन्तु प्रथम पद में अण्कान्ति के उदय से व्यक्त होने वाला अमर्षभाव का उदय तथा द्वितीय में अण्कान्ति ही शान्ति में अभिव्यक्त होने वाली अमर्षभाव ही शान्ति वाच्य नहीं होने । कारण, व्यङ्ग्य अण्कान्ति (वाच्य) पूर्वक-पदक हीत है—यह मानना आवश्यक है । तदर्थं यह कि अण्कान्ति के उदय और अण्कान्ति ही शान्ति वाच्य होने पर भी अमर्ष का उदय और रोप (अमर्ष) ही शान्ति व्यङ्ग्य हो रहे, क्योंकि अण्कान्ति का उदय और अण्कान्ति ही शान्ति व्यङ्ग्य है और अमर्ष-व्यङ्ग्य तथा अमर्ष-रति है व्यङ्ग्य ।

उक्त समर्थपति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयो' इत्यस्यान्वयो न स्यात् ।

उत्तरयति—

नैवम् ।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रकाशकं स्थलान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

अननुपपत्तिरपि मानापगमं वर्णयति—

'निर्वासयन्ती घृतिमङ्गनाना, शोभा हरेरेणदृशो घयन्त्याः ।

चिरापराधस्मृतिमासलोऽपि, रोप' क्षणप्राघुणिको वसूव ॥'

योगपद्यासम्भवाद् व्यङ्ग्यस्य रोपस्यात्र वाच्यया शान्त्या सह वाच्यार्थबोधान्वयसरे व्यङ्ग्यार्थानुपस्थितेरन्वयासम्भवाद् व्यङ्ग्यरोपस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयामावाद् भाव-
शान्तिध्वनित्वं स्यादेवेति ममाधानम् ।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि निधोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृश' इत्यादौ वाच्यस्य नायिकाया सुदृशत्वस्य नयनारणकात्पुद्गलव्यत्येन रोपोदयेन सहान्वयो वाधितत्वान्न स्यात्, तस्मान्नु शब्दवारब्धाभावप्राधान्यनिरसनशङ्का सुसम्भवेत्याशयः ।

एव 'क्षमे'—त्याद्युदाहरणे वाच्यव्यङ्ग्ययोरन्वयामावादानुपपत्तिविरहाद् भावस्य भावशान्त्यादावप्राधान्यं, मा नैवेत्यर्थः ।

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यनावेऽपि ।

यदि हम कहें कि—वाच्य नयनालम्कान्ति से व्यङ्ग्य होने वाले अमर्ष का ही वाच्य उदय तथा शान्ति के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य वा ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं, हात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में वाच्यता ही जादगी, तो आप कहेंगे, यह ब्युक्त है । क्योंकि जब मानो दुर्द वात है कि पहले वाच्य की प्रतीति (जो कारण) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो वार्थ है), अतः यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यो का अन्वय होता है, उस समय व्यङ्ग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यो के साथ व्यङ्ग्यो का अन्वय कैसा ?

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्वय मान लिया जाय, तब 'उपपत्ति' इत्यादि प्रथम पद्य में 'सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकरण कारक है, उसका अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकरण कारक वा कर्ता अथवा कर्म के द्वारा ही क्रिया में अन्वय होता है और यहाँ तक रीति से 'उदिय'य' इस क्रिया का कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अरण्युति नहीं, फिर कहिये, कैसे उस अमर्ष रज कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में तक अधिकरण का अन्वय होगा—अर्थात् अमर्ष—चित्त की वृत्ति है, नयन में वह आवेग कहाँ से ? फलतः उक्त पद्य में अनन्वितार्थक—अपगत—हो जायगा, अतः वाच्यशान्ति अथवा अरुणकान्ति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है, मारांश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकते । और अब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकते । और जब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति अथवा ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष नहीं होगा ।

पर ऐसा नहीं कह सकते—अर्थात् भावशान्ति आदि को ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति अथवा ध्वनि की प्रधानता नहीं मान सकते ।

क्योंकि एक दोनो श्लोकों में एक रीति से क्रिया तरह की अनुपपत्ति नहीं होने पर भी —

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशमादिध्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम् प्रशमादेस्तूपमर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः ।

नन्वेव वैलक्षण्यभावाद्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तिरतो वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्— यदेकत्र चर्वाणया भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमात्रस्थात्वादिरपीति ।

साहित्ये सहृदयानुभवस्यैव प्रधानप्रामाण्याङ्गीकरात् सहृदयैः स दोषोऽनुभवविरोधान् सोढुं न शक्यत इत्यभिमतम् ।

अपिशब्दो भावस्थितिमुच्चायकः ।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादिध्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम् । तथाचाप्रधानाता शान्त्यादीनां वाच्यत्वं न ध्वनित्वमप्यविघटकमिति सारम् ।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेश्चैकरूपतया पृथगुपादानस्याभावो बोध्यः ।

निदानं मूलम् । एकत्र शुद्धभावध्वनिषु । स्थित्यवच्छिन्नत्वं स्थितिविशिष्टत्वम् । अमर्षस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः । विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद् 'अमर्षादित्वमेव वा' इति द्वितीयकारपोपादानम् । अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु । इतिनिदानसमाप्तिमुच्यते ।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापन्नत्वविशिष्टस्यामर्षादित्वस्य, वस्तुतः केवलामर्षादित्वस्य प्रकारतयाऽमर्षादित्वप्रकारकचर्वाणयः, चमत्कारिणो, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वस्य प्रकारतया प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वप्रकारकचर्वाणयाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्वाणया भावध्वनिध्वन्यैवादिनाऽमर्षादीनामेव भानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टाशान्त्यपत्त्वादिनाऽमर्षादीनां भानमित्येष विशेष इत्यभिप्रायः ।

उक्तं अपि का स्वाकारं वरं देना—कहं देना—किं हम तो इन्हें भावीदय और भावशान्ति का धनिया मानन हा नहीं, सहृदयों के लिए अनुचित है—अर्थात् साहित्य जगत् में अनुभवनिष्ठ वचन वा अस्वाभाविक मे कम सहृदयों को नहीं करना चाहिये ।

अन्य यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनिषु में भी भाव ही प्रधान रहन है और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपमर्जन अर्थात् गौण ही रहने हैं, अतएव शान्ति आदि का वाच्य हो जाना भी कोई दोष नहीं, माराश यह कि शान्ति आदि के वाच्य हो जाने पर भी यदि भावशान्ति नहीं होगे—व्यङ्ग्य होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि की ध्वनिया मानना जा सकता है ।

अब यहाँ यह शब्दा उपस्थित होती हैं कि यदि वसरति से भावध्वनि और भावशान्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देन है—अर्थात् उन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं मानने, तब भावध्वनि = पृथक् भावशान्त्यादि ध्वनि का उल्लेख व्यर्थ है, इस शब्दा के उत्तर में अथवा उक्त समानता के रहने

ननु भावतान्स्यादिवद् रसस्यान्त्यादीना निरूपणं कुतो न कृतमित्यत आह-
रसस्य तु स्याद्विमूलकत्वात् प्रथमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति
स न विचार्यते ।

अथ 'उपपादयिष्यन्ते च स्यास्यादीनामपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राग्
प्रतिज्ञाना रसादीना सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतामपि व्यवस्थापयति—
सोऽयं निगदित सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटप्रकरणे, भगिति

रसानां स्रष्टृमूल्यायेनाधारतया भूतभूतेषु स्याद्विभावेषु प्रसाम्यदस्य्यादिनाम्ब
लक्षत्वे तेषां स्याद्विषयत्वेव विलोपप्रसङ्गात् तदवस्थातन्वय गन्भवति, यद्विषयि-
व्यक्तैरन्वित्वात्तान्निह्यदन्त्यादायवस्थापयेव रोज्वारोप्य भौणो रसस्यान्त्यादिव्यवहार
सम्भवोऽप्युच्यते, तदा तत्रज्ञमाकारो न स्याद, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्,
तस्माद्रसनात्यादयो न निरूप्यन्त इत्यर्थः ।

पर भी मन दोनों में मिल कर के वैचल्य का परिणत करने हैं—'इदं पुनः' इत्यादि । भाव
वर्तियों के अनेक भावजन्यविषयियों के चमत्कार (आशय) में विलयना है और तम विल-
यता का कारण यह है कि भाववर्तियों में भावों की चर्चा (आशय) स्थितिक एक भाव-
विशिष्ट अर्थ आदि के रूप में होती है और भावतान्त्यादि धर्मियों में स्थलभेद से ज्ञानि, उदय
आदि अनेक भावविशिष्ट भावों आदि भावों की चर्चा होती है, अतः ही भाववर्तियों में केवल
अर्थ आदि के रूप में ही भावों की चर्चा होती है यही कठना चाहिये, क्योंकि उही विशिष्ट
भावना को जेहना अर्थ है कारण यह कि विविध विन्धे मजालोव के कारण के अर्थे लगाव जात
है—जैसे 'दशन अर्था' यही 'दशन-विशेषण' शम अर्थ के कारण के लिये जाना है—यही तो
'विन्दयन्त्यादा' इन विशेषण से विशेष का कारण गती होता, क्योंकि भाववर्तियों में मनी भाव
विन्दयन्त्यादा रहने है । अधिकाय यह हुआ कि भाववर्तियों में होने वाली चर्चा में केवल भावों
(भाववर्तियों) का ही मत होता है अतः तत्रजन्म चमत्कार गुण माशान्ताद जन्म आशयद्वय
पर्यन्तिय हुआ, और भावतान्त्यादिवर्तियों में होनेवाली चर्चा में ज्ञानि-उदय आदि जन्म हीन
भावनादि भावों का मत होता है, अतः तत्रजन्म चमत्कार ज्ञानि-उदय आदि महिन भावनादजन्य
आशयद्वय चमत्कार होता है । अतः शब्द में जो कह सकते हैं कि कल्पे आम के आशयद्वय से उत्पन्न
होने वाले और वके आम के आशयद्वय से उत्पन्न होने वाले भावनों में वस्तु के एक होने पर भी
जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही अन्तर गुण माशान्तादजन्य और ज्ञानतान्त्यादा महिन भावतान्त्यादजन्य
चमत्कार में है ।

अतः मन के जैसे रसों के भी उदय ज्ञानि आदि की धर्मियों क्यों नहीं होती इत्यत्र विचार
करने हैं—'रसस्य तु' इत्यादि । अधिकाय यह है कि रसों की उदय-ज्ञानि आदि भाववर्तियों नहीं ही
हकती, क्योंकि कठना मूल है स्थलभेद, और यदि हमको भी उत्पत्ति तथा-ज्ञानि आदि अवस्थाओं
होने छाती, तब ही उत्पत्ति स्थानि ही मूल हो जाय, आदि में अन्तर्गत 'सङ्ग' व्याप में उत्पत्ति
करा रहना ही तो हममें स्थानि है, यदि यही न रहे, तब उदय और भावतान्त्यादा भावों में भेद ही
करा होगा । यदि बने कि भावतान्त्यादा के स्थानि रहने पर भी कतकी अधिकाय तो स्थानि रहनेवाली
पौर नहीं है, अतः हमके उत्पत्ति-विनाश ही हो सकते हैं, फिर कभी उत्पत्ति-विनाशों को इसमें
कठोर करके ही तदन्त्यादि का व्यवहार ही मजाल है, तब हमका उक्त यह है कि आरोप
चमत्कारजनक नहीं होता, चमत्कारी होने के कारण ही तदन्त्यादि आदि की धर्मियों नहीं जानी
पती है ।

प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतो. पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते । यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयमत्र सामग्रीविलम्बाधीर्न चमत्कृतेर्मान्यर्थमिति सलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति ।

‘देव स्थल वसति—

थया—

‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इति प्रागुदाहने पद्ये सम्प्रति इत्येतदर्थविवर्तित्विन्म्वेन ।

हेतुहेतुमतो कारणकार्ययोर्वाच्यविभावादि—पङ्कधरमादिप्रतीत्यो पौर्वापर्यं पूर्वा-पर्याभाव । अलक्षणमज्ञानम् मान्यर्थं विलम्ब । निगदितो रमनित्पणादेतत्पर्यन्त निरपित सर्वोऽप्यय रत्यादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदाय, प्रकरणे प्रसङ्गे, स्फुट स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभावानुभावव्यभिचारिभावेषु अगि यत्रिलम्बेन प्रतीतेषु जातेषु ससु, सहृदयतमेनातिभावकेन, प्रमात्राऽऽस्वाद्यकपुम्पेण, सूक्ष्मेणाल्पिष्ठेनैव समयेन, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य संश्रयेण सम्बगलक्षणा-दन्तलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति व्यवहार । यत्र पुन प्रकरणमम्भुटनया विचारेण वेद्यम् क्वचित् प्रकरणस्य स्फुटत्वेऽपि विभावादय उन्नेया अनुन्त्वाद्दूहनीया एव मन्ति, तत्र वरणस्य प्रकरणविभावादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रमादिप्रत्ययस्य विलम्ब-जीपपत्तिक एवेति क्वचित्तादास्यले रसादि—प्रतीते सगश्यक्रमवस्यापि व्यवहार-यादाय ।

एतत्पद्यटकस्य सम्प्रतीतिपदस्य ‘प्राङ्गनवोटात्वेन तस्या सङ्कोचोऽन्यविष-यासीत्, अधुना प्रियप्रवासपूर्वरजन्या तु सङ्काचोऽपि सकुचित इवामू’ इत्यादेरर्थस्या-गम-पूर्वापरसन्दर्भार्थानुसन्धानादेव तस्य इति व्यङ्ग्यमस्य रतिभावस्य सगश्यक्रम-नैवेति भाव ।

‘उदादविन्ने च श्यायदीनामपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यम्’ अर्थात् ‘न्यायीभाव आदि—रम भाव आदि—भी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होत हैं, इस बात का उपगदन आगे कहेंगे’ इस तरह की प्रतिपा-दप्रत्यकार से पहले को या चुकी है, तदनुसार रमादिकों की सलक्ष्यक्रमता की व्यवस्था करने हैं—‘सोऽप्यम्’ इत्यादि, यह जो पूर्वोक्त रस—भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, वह जहाँ प्रकरण स्पष्ट हो, वहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्जातेभाव की प्रतीति शोभ हो जाने से अन्तिमदृष्टय पुर्यों को बटुन ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है अतः अनुभवकर्ता महदव को कारण और कार्य को पूर्वपरता का क्रम लक्षित नहीं होता, इसलिये यह (रमभावादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है । परन्तु जहाँ प्रकरण विचार करने के बाद समझने योग्य हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि का वर्णन न होने के कारण कह कहना पड़े, वहाँ सामग्रीमपन्धान के विलम्ब प्रयुक्त चमत्कार में भी कुछ मन्यता आ जाती है—अतः वैसी जगह में रमभाव आदि तक व्यङ्ग्यों का समूह सलक्ष्यक्रम भी होता है ।

अन्ते—‘तल्पगताऽपि च सुतनु’...’ इत्यादि उदाहण पद्य में ‘सम्प्रति’ पद का अर्थ विलम्ब से प्राप्त होता है—अर्थात् ‘पहले नवोदा होने के जाने नाशिका में मकोच को भाषा अधिक भी,

ननु रसादीनामसलक्ष्यत्रमव्यङ्ग्यजाया सावंत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विरुध्यती-
त्यत आह—

न खतु धर्मिग्राहकमानसिद्ध रत्वादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

उक्त समयपनि —

अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

विवाहवार्ताश्रवणसलञ्जपावर्तीवृत्त वर्णयनि—

‘एववादिनि देवर्षी, पार्श्वे पितुरघामुखी ।

श्रीलाकमल्पश्राणि, गणयामास पावती ॥’ इति ।

येन प्रमाणेन धर्मिण सिद्धिर्भवति, तद्धर्मिग्राहक मानमुच्यते, तच्चात्र रसादी
सहृदपहृदयानुभव एव ।

रसादिध्वनेरसलक्ष्यत्रमव्यङ्ग्यपदान्तरत्वस्य ज्ञापक धर्मिग्राहक यदि निमपि मान-
मुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमनिच्छताऽप्यभ्युपेय स्यात्, तस्यानुपलभ्ये तु सलक्ष्यत्रमव्य-
ङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधकमित्याशय ।

कुमारसम्भवपद्यसंगपद्यक पद्यमिदम्, पार्वतीविवाहनिर्णयाय हिमवदलिक सितेन
प्रहितोऽङ्गिरा हिमवन्त यदा तद्वृत्तमतिश्रवत्नात्कालिकस्थितिवर्णनपरम् ।

देवर्षीर्वाङ्गिरसि, एववादिनि प्रादुर्निदिष्टसिधसन्देश वदति सति, पितुर्हिमाचलस्य
पार्श्वं पार्श्वमनीप स्थिता पावती, अधोमुखी कुमारीजनमुलमस्वविवाहसुत्तश्रवणजल-
जया नतानता, श्रीलाकमलस्य स्वहस्तस्थितपद्यस्य, पत्राणि दलानि,
गणयामासेत्यर्थ ।

परन्तु अब विषयमन का पूर्वार्थि में आकी विराह के ज्ञान के कारण वह मञ्जुव कुछ शिथिल पद गया,
दुःखादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद ही होती है। अत यहाँ श्राद्धरम
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

रसि आदि की प्रसि की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता धर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्यपदारूप धर्म का धर्म (आशय) जो रम आदि है, हमका ग्राहक (हमको भिन्न करनेवाला)
मान (प्रमाण) सहृदयो का अनुभव है, हमने उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता भिन्न नहीं होती, तात्पर्य
यह है कि सहृदयो का अनुभव यह नहीं कहना कि रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हों, वही वही
अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में जो रसादिकों का अनुभव सहृदयजन करने है ।

गिनलिये रसाधन आदि का प्रतिपा ना संलक्ष्यक्रम ही है, अत पर लक्षणों के प्रमाण से
‘एववादिनि देवर्षी ’ इत्यादि पद्य की आनन्दवर्णनाचार्य ने धन्यालोक में उदाहरण रूप में
उद्धृत किया है। यह पद्य कुमारसम्भव का है। इसका पूर्व प्रमाण तथा अर्थ यह है—पार्वती का
कठोर मन्त्र से प्रमत्त होकर शिरसा से रस पाने के रूप में स्वीकार करने का कल्प दिष्ट ।
मदनलक्ष्मणरसि के निर्वादाय शिरसा से श्रिता अर्थ को पार्वती को मंगली के लिये हिमालय
के पाम भेजा । जब देवर्षि या हिमालय से पार्वती ने विराह मन्त्रों बाने कर रहे थे, तब का काव
कवि कह रहा है कि—इसपि जब इस तरह बाने करने लगे, तब रसा के रस बँटा हुई पार्वती गणना
मुग करके गोलने के लिये रसे हुये कदलों से पाने को गिनने लगी ।

उपपादयति—

‘अत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्यो-
पपत्या मनाविलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तर व्रीडायाश्चमत्कार-
णालक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः’ इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्या । रसभावादिरर्यो ध्वन्य-
मान एव, न वाच्य, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः ।’ इति चाभिनवगुप्त-
पादाचार्याः ।

रसादीना मलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतत्—

यद्यपि रसादिः सलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे
‘अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः’ इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, ‘तेनायं द्वादशात्मकः’
इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधे वाच्येन
स्वतस्मम्भवित्त्व—कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व—कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्ति—

देवर्षिरहाङ्गिरा न तु नारदः ‘अथाङ्गिरसमप्रगण्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोद-
यामासु, प्रत्युवाच स भूधरम् ।’ इत्यनेन तत्रत्येन ततः पूर्वेण पद्येन, देवर्षावङ्गिरसि
इति मल्लिनाथवृत्तद्विवरणेन च तथैवावधारणात्, विवाहवार्तायै शिवप्रहितेषुऽपि
नारदस्यानुल्लेखाच्च । अत्र हि पार्वत्या वदननमन लीलाकमलगणनं च कुमारीस्व-
भावादिपि सम्भवतीति न सतित्येव तद्व्यापारद्वयं लज्जाया भावगोपनरूपावहित्याय
वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु इदं व्यापारद्वयमस्या स्वाभाविकम्, उत भवान्तरप्रयुक्तम्
इति जिज्ञासाया विवाहवृत्तान्तवर्णनात्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेऽपि
लज्जाव्यवहित्या वा व्यभिचारिभावोऽत्र सलक्ष्यक्रमव्यञ्जय एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीय-
मानत्वादित्यानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीनां क्वचित् सलक्ष्यक्रमव्यञ्जनाया प्रमा-
णम् । तथा ‘रसभावादिरर्यो रसादिरूपं पदार्थं (यद्यपि) ध्वन्यमानो व्यज्यमान
एवास्ति, न तु वाच्य, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) स सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्यैव न
विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादो) क्वचित् सलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः’ इति लोचन-
अभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम् ।

उक्त पद्य को उद्धृत करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि—यहाँ जो पार्वती वा
अधोमुख होकर लीला—कमल—पत्र—गिनने की बात वर्णित है, वह तो बालिकाजन-सुख-स्वभाव-
कारण भी हो सकती है, जहाँ शुरू शुरू में लज्जा की प्रतीति नहीं होगी, किन्तु जब ‘अङ्गिराऽपि
की हिमालय स पार्वती के विवाह का बात हो रही थी’ इस प्रसंग का ज्ञान कुछ विलम्ब से होता है
तब लज्जा शलका है जहाँ लज्जारूप सञ्चारीभाव यहाँ सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है । यद्यपि मूल में ‘देवर्षिः’
पद का अर्थ नारद मान कर धारया की गई है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व आये हुये कुमारमभ्र के पद्य
और मल्लिनाथ की टीका के देखने से अङ्गिरा ही देवर्षिपद का अर्थ सगण प्रतीत होता है । अभिनव
गुप्ताचार्य (ध्वन्यलोक की टीका लोचन के निर्माता) का भी यह कथन है कि ‘रसभाव आदि पदार्थ
व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि अमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लक्ष्य नहीं होते
अर्थात् वे सलक्ष्यक्रम भी होते हैं ।’

भिरुपाधिभिर्नैविव्यभाषन्नेन पडात्मना वस्तुलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्ज-
नादष्टादशत्वप्रसङ्गात् ।

समावृत्ति—

अनोच्यते—

प्रवर्तविभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः
न्यायिभावा रसीभवति, न मलक्ष्यक्रमतया । रसीभावो हि नाम भगिति जाय-
मानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम् । मलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्या
देसु वन्मुमायनैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वणनन न तदुत्तीना
विगत ।

रसादीना मलयत्रमतव यदि स्वीक्रियत तर्हि सलक्ष्यक्रमस्य दन्तुरूपस्यालङ्कार-
रूपस्य च व्यङ्ग्यभाषस्य व्यञ्जरा यो वाच्यार्थो वस्तुरूपोऽलङ्काररूपत्वेति द्विविध,
नस्य स्यात्सम्भ्रमदिवन कविप्रोदोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवस्तुप्रोदोक्तिनिष्पन्नत्वेन
च प्रकारा प्रत्येक वैविध्यतः पदप्रकारा वस्तुध्वनय पदप्रकाराश्चात्तद्व्यञ्जनय-
ति भिन्ना द्वावप्रकारा मलक्ष्यक्रमा अर्थवस्तुध्वनययो यथा भवति तयैवेदानीं
रसादिव्यनशादि पडविप्रवाच्यव्यङ्ग्यतया पडविधाम्नतोऽधिका स्युः, तथाच
मद्वृत्तादप्यदाविषये मलक्ष्यक्रमध्वनयसंज्ञकत्वमुद्धृत्य अशितवगुताचार्यमम्मटमट्ट-
शान्कन द्वादशविधैव प्रकाराधिकयाद् विरुद्ध स्यात्, तस्माद्रसादीना सलक्ष्यक्रमता
नाङ्गीकारणीयमिति भाव ।

अवच्छेदापननेवकारण न मलयत्रमतयेति तस्यत । रसीभवरत्यरसो रस-
सम्पदन । तागिति जायमानस्यालौकिकचमत्कारस्य विषय कारणत्वेन गोचर स्यादी
न्यायिभावो यस्य च तादृशत्वस्य नावस्तत्त्वम् । तेषामभिनवगुनादीनामाशयस्य वर्ण-
नन चागम्यानन । प्रवर्त स्तुप्रतीपमानैविभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (नतु सल-
क्ष्यक्रमत्वेन) व्यज्यमाना रत्यादि न्यायिभावो रसीभवरत्योऽपि लोकोत्तरचमत्कार-
रजनत्वेन रस सम्पदन यता तागितिजायमाना लौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वमेव
रसीभावोऽस्ति, विभावादीनामस्तुत्वेन सलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्तु रत्यादिनं रस-

अथ वहाँ एक बहुत बड़ी गूँहा रह जाती है कि यदि रसभव अदि का भी मलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य
मन्त है, तो मलक्ष्यक्रमध्वनियों को गाना करने समय को 'अर्थवस्तुध्वनय के कारण भेद है'
यह अभिनवगुण को और 'इस तरह अर्थवस्तुध्वनय के कारण अन्तर के है' यह सम्पद की उक्ति
बैते सत्य होगी, क्योंकि, अर्थ व दो भेद है—एक वस्तु और दूसरा अन्तःकरण और
उन दोनों भेदों में से एक के सम्पन्नता (अर्थवस्तु में मिल गइने वली) कविप्रोदोक्ति-
मिद । अर्थवस्तु के अर्थवस्तु ध्वनय म मिद) और कविनिबद्धवस्तुप्रोदोक्तिमिद (अर्थवस्तु के
अर्थ वस्तु की प्रोदोक्ति मात्र में मिद) इन दोन गीत, उगधियों म तीन तीन भेद होते हैं,
इस तरह म व्यङ्ग्यभाव्य अर्थ व अन्तर क हो जाते हैं, इनमें व्यङ्ग्य भी वस्तु अन्तःकार दोनों का
है, अथ वस्तु कारण भेद हीन य, अथ लो वस्तु अन्तःकार के जैसे रस अदि भी छोी व्यङ्ग्यो से
व्यङ्ग्य हीन, फिर अर्थवस्तुमूळ ध्वनियों के भेद कारण की अर्थ अन्तर हो जायेंगे ।

सवनासलक्ष्यत्रमत्वन प्रमिद्धस्य रत्यादेरिहोक्तमलक्ष्यत्रमत्व कथमुपपद्यते न्या
सङ्ख्यायामाह—

उपपत्तिस्त्वर्थोऽस्मिन् विचारणीया ।

स्तादृशत्वमत्कारजनकत्वाभावात् किन्तु वस्तुमात्र केवल व्यङ्ग्यत्वस्तु भवनाभ्ययमवा
र्थोऽस्मिन्वगुणादीना तात्पर्यविषयो वर्ण्यते चेत् तर्हि सलक्ष्यत्रमस्य रत्याद् रसत्वाभावाद्
वस्तुवन्तर्भावाच्च वस्तुध्वनिप्रकारैरेवंतत्प्रकाराणामपि तादायतया न प्रकाराधिक्यप्र
यक्त पूर्वाचायमतविरोध इत्याशयः ।

रत्यादीना सलक्ष्यत्रमनाया रसादित्वस्यैवामावात् रसादिप्रकाराधिक्यप्रयत्न
प्राचीनोक्तिविरोध इति सारम् ।

अत्र रत्यादीना सलक्ष्यत्रमत्वस्य स्वीकारेऽर्थो उपपत्ति सङ्गतिस्तु विचारणाया
सहृदयैश्चिन्तनीयेत्यर्थः ।

तथा चाहुर्नागभट्टा — विभावादिप्रताते रसप्रनातश्च सूक्ष्मकान्तरम्बरूपस्य
त्रमस्य सहृदयनाकलनन, तस्य विगलितवद्यान्तरत्वानापत्या रसत्वमङ्गापत्ति । विग
लितवेद्यान्तरत्व च मकरमहृदयानुभवसाक्षिकमिति तथापि सम्मनमान नदुपपत्ति
बोधा । नव्यास्तु — वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितमैव व्यङ्ग्यत्वात् तत्प्रतिबिम्बा
वादिज्ञानोत्तर जायमानरसप्रतीतिविभावादिज्ञानापत्त्या विद्यमानत्रमालम्बन चाल्प्य
त्रमत्वम् । तच्च प्रकरणादिज्ञानविलम्बन विभावादिज्ञानविलम्बजपि पूर्वोदाहरणान्
मेव नहि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च त्रमभावाद्यालक्ष्यत्रमत्वम् अपितु तज्ज
न्यस्य, एतदेवामिप्रत्य अर्थात्किमूलस्य द्वादशभेदा इत्यस्मिन्वगुणात्किमतिक्रिद्धा
च्याथापेक्षया त्रमापि गह्वर इत्यभिप्रत्य लक्ष्यत्रमत्वोक्तियथाकथञ्चिन्नया नहि विभा
वादिप्रतीतिरहितयत्किञ्चिद्वाच्यायमात्रप्रतीतो विगलितवद्यान्तरना सहृदयान्तरवना
क्षिका । येन तत्रमग्रहणजपि रसत्वहानि म्यादित्याह ।

एक शब्दा वा उत्तर यह है कि 'रति आदि स्थायीभाव म्पत् प्रतान हानि वात् विभाव, अतु
भाव और अभिचारीभावों के द्वारा अनलक्ष्यत्रम के रूप में व्यक्त होता है, वही तत्त्व रूप होता है
और जो रत्यादि सलक्ष्यत्रम के रूप में अभिव्यक्त होता है वह रसरूप नहीं होता । क्योंकि रसरूप
होने का अर्थ ही यह है कि कायद्वय से हानि वात् अतीतिक चमत्कार का शीघ्र कारणरूप से म्यादा
भाव विषय बन जाय—अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वात् आह्लाद का शान्त होना या स्थिर
भाव का रस हाना कहलाता है । इस तरह से यह निश्चि दुष्क कि सलक्ष्यत्रम = रूप में ध्वनि होने
वाला स्थायीभाव (रति आदि) रस विग म्प नहीं होता किन्तु वस्तुमात्र रहता है' यदि इस तरह
में अभिनवगुप्त आदि व अभिप्राय का ध्यान कर दिया जाय, तब एक आशयत नहा होनी तात्पर्य यह
कि इस तरह से उनल अभिप्राय का ध्यान का देने पर अर्थसंकिमूल ध्वनियों के बारह भेद है
इत्यादि लक्षियों का विराध नहीं होता, क्योंकि सलक्ष्यत्रम के रूप में ध्वनि होनेवाले रति आदि
को वस्तुमात्र मान लन पर वस्तुव्यत्य के नौ ६ भेद होत है, उन्हीं में व भी आ लन है, फिर
लक्ष्ययुक्त ९ रसवा और व आने में एक ध्वनियों की सरवा अठारह तक पहुच जाने की कोई
सम्भावना ही नहीं रह जाती ।

अलक्ष्यत्रम रूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रत्यादि रस तथा भाव हैं, अन्वया वस्तुमात्र इस अर्थ में

ननु रत्यादीनां सत्सम्भवाया रसत्वाभावो यद्यभिनवगुतादीनामभिमत स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र सत्सम्भवात्स्यादिनात्पर्येण रसपर-
स्वोपादनं न स्यादित्यादाह्यायामभिधत्ते—

'रसभावादिरर्थः' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः ।

अभिनवगुतादिवाक्यघटको रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिवोधक एव तन्मतेऽस्त-
क्ष्यक्रमतायामेव रसत्वरत्याहोकारात् । उच्यते न कश्चिद विरोध इत्यभिहितम् ।

युक्ति क्या हो सकती है यह विचारने की बात है । नागेशमठ यहाँ अपनी टीका में यह युक्ति बतलाने
हैं कि रस आदि को (जिनको असंख्यक्रमव्यवस्था माना जाता है) सभी आधुनिक 'विमलिनवेष्-
त्वर'-अर्थात् 'स' (रसादि) ज्ञान के समय किसी भी अन्य अल्पव्य पदार्थों का सम्पर्क न रहने पर
मानने हैं, अतः पश्यात्पान को भी यह मान्य होगा । सदृशों का अनुभव भी उपरोक्त मानने में
माझी है । फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो साम्य काल वा अन्य
होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसकी प्रतीति नहीं सदृशों को हो जाती है, वही विभावआदिकों
के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीति होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय में भी
विभावआदिकों की प्रतीति पृथक् बनी रहेगी और जब वह बनी रहेगी तब विमलिनवेष्णान्ता नहीं
रहेगी यह बात स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि हम हालत में रसादि रसादि रूप नहीं ब-
सकता, अतः संख्यक्रमरूप से व्यवस्था होने पर रसादि वस्तुमान है, रसादि कहा यह कथन युक्ति-
मंगल सिद्ध हो जाता है ।

यहाँ आप यह कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुण' का यह अभिमत होना कि संख्य क्रमरूप
में व्यवस्था होने पर रति आदि वस्तुमान है, रसादि नहीं, तब यह कैसे बतलाने कि 'रसभाव' आदि
अर्थ यद्यपि व्यवस्था ही होने हैं, वाच्य नहीं, तबनि सभी असंख्यक्रमव्यवस्था का ही विषय नहीं है ।
अर्थात् हम कथन में जो यह सिद्ध हो जाता है कि संख्यक्रमरूप में व्यवस्था होने वाले रसादि का
अर्थ वे रसादिरूप मानते हैं । दूसरा उदाहरण यह है कि अभिनवगुण को हम उक्ति में रस और मात्रपर
रति और स्वभावशील भावरूप के अर्थों रस आदि पर का अर्थ यहाँ गति आदि ही समझना चाहिये ।
नागेश मठ अपनी टीका में हम मात्र पर एक और नतीज प्राप्त करत हैं, जो बहुत मार्मिक तथा संगत
प्रतीत होती है । उनके कथन का अर्थ यह है कि कोई पर अथवा वार्थ क्या अर्थ को विमलिन
और प्रकाश आदि का साथ होने पर ही व्यवस्था होना है, अतः यह सिद्ध होता है कि रसादि
विभावआदिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस आदि की प्रतीति होना है, अतः विभाव आदि के ज्ञान
पूजा रस आदि का प्रतीति के समय में होनेवाला क्रम (पूर्ववर्तमान) के अन्तर्गत न होने के कारण
रसादिप्रति का असंख्यक्रम कहा जाता है । अतः प्रकाश आदि के ज्ञान में विमलिन होने से विभाव
आदि के ज्ञान में विमलिन हा मा ज्ञान, तथापि 'रसादिपरिषद्' में 'सुवस्तु' रूपरति उदाहरण में
संख्यक्रमरूप में कोई बाधा नहीं होती । क्योंकि विभावआदिकों के ज्ञान और रस न व्यवस्था करने का
प्रकाररूपि के ज्ञान के क्रम का स्पष्ट व्यवस्था नहीं मानी जाती, अतः विमलिन विभावआदिकों के ज्ञान
का समय व्यवस्था होने का रस आदि के ज्ञान के क्रम का स्पष्ट मानी जाती है । अब हम विचार
में अनुमान—अ संख्यक्रमरूपि के बाहर भेद होने हैं । हम मानते हैं कि रसादि में मनी व्यव-
स्था नहीं है, तब ही अभिनवगुण की यह उक्ति, जिनमें कहा गया है कि रसादि में मनी व्यव-
स्थाक्रम का ही विषय नहीं है—अ. २. कोई कोई संख्यक्रम का भी विषय होता है । उदाहरण
यह समझना चाहिये कि किसी विभाव—अ. २. विभावप्रति से जिन-रसादि-रसादि के ज्ञान और
रसादि के ज्ञान का क्रम रति न ही मानी है । यदि बदे कि किसी भी क्रम का ज्ञान का स्वीकार

कर लेने पर विगलितवेदान्तरता का अभाव उक्त रीति से क्यों नहीं हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेदान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेदान्तरता का मूल तन्मयता है और वह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने बाल विभावादिज्ञान से हा होता है यह बात अनुभवसिद्ध है, अब विभावादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित-वेदान्तरता का न होना ही स्वाभाविक है. फिर उल्लेख रस आदि के रसत्वादि की हानि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यही है नागेशभट्ट की सतीन बात, इसकी प्रामाणिकता पाठक स्वयं समझेंगे। उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न भिन्न आचार्यों के मतों का विचित्र तरह से समिश्रण हो गया है, अब मैं जिज्ञासुजनों की आकांक्षा का अनुभव करता हुआ उन मतों का मक्षेप में कुछ विस्लेषण कर रहा हूँ। पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) अमलक्ष्यक्रम रहने पर ई, रत्यादि रसादि हैं और सलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र इस सिद्धान्त को पुच्छि-विहीन मानकर रसादिध्वनिर्णयों को असलक्ष्यक्रम तथा सलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थात् अक्षयुद्ध ध्वनि के उदाहरण में 'एव वादिनि ' इत्यादि कुमारसम्भव के पद्य को उद्धृत करने वाले आनन्दवर्धनानाथों की और जमी उदाहरण पर होनन नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'ममी ध्वनितमात्र होने वाले रसभावादि अर्थ असलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, एतदर्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्तआचार्य को भी साक्षी बनाने हैं और युक्ति यह बनाने हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किम। भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वेते स्थलों पर रस-प्रतीति का क्रम लक्षित हो जायगा। इसके बाद अपने पद्य में—प्रमाणरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोक्तलिखित वाक्य के अर्थ में उनकी 'अर्थात् अक्षयुद्ध ध्वनि के बारह भेद हैं' इस उक्ति से विरोध दिग्गता कर समझी हयाने के लिये उनके आशय का बर्णन करने हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम के लक्षित हो जाने पर रत्यादि को वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम आप सब सोचें कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के 'रसादि सलक्ष्यक्रम भी हैं' इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई? क्योंकि वे तो सलक्ष्यक्रम म्यत्र में रत्यादि को रस मानते ही नहीं, रसा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एव वादिनि ' यह उदाहरण, परन्तु विचार करने पर वह भी पण्डितराज के पद्य में साक्षी होने योग्य नहीं जचना, क्योंकि उनके नाम से जिन पद्यलिखियों (कुमारसम्भावनाभावात् ' ' इत्यादि) को पण्डितराज उद्धृत करने हैं, वे पद्यलिखियों ध्वन्यालोक में नहीं मिलती हैं, उनके अभिप्राय का बर्णन करते हैं यह भी कहा जा सकता, कारण यह कि भेदे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं, हा, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसभावदाभाम-भावशक्त्यादिरसम्'—अर्थात् 'रसभाव आदि अक्षयुद्ध है' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय में सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—मलक्ष्यक्रम-अर्थात् अक्षयुद्ध ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एव वादिनि ' यह उदाहरण देकर इतना तो उन्होंने अवश्य लिखा है कि 'अत्र हि लोलाकनलप्रगणनसुरमनीकृत—स्वरूप शब्दव्यापार विनैवायान्तर व्य भचारिभावलक्षण प्रकाशयति'—अर्थात् यहा लोलाकनलप्रगणनसुरमनीकृत अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिप्राय की सहायता के बिना ही वाच्य में भिन्न अर्थान्वाराभ्र (लक्ष्य) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को मलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमान हो स्थिति विशेष में मलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता? मैं कहूँगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहा भावध्वनि है। मैं समझता हूँ कि लक्षण में होने से लक्ष्य को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उक्त ध्वनि कही है, जिसका समर्थन उनके आप पीछे के ग्रन्थों में भी होता है। दरिये—जिन कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उनमें आप उन्होंने न वे लिखते हैं कि 'ध्वन्यालयेन वस्तुवन्द्य व्यनक्तयुक्ति विना स्वतः'—अर्थात् 'न' अर्थ तात्पर्यद्वारा

अथ रसादिध्वनेव्यञ्जवानुपदिशन्नादौ प्राचीनमतमुपपत्स्यति—

तद्विधं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-
प्रबन्धं पदेकदेशरवर्णात्मिके रागादिभिश्चाभिव्यक्तमामनन्ति ।

शब्द की ध्वनि के बिना भा स्वयं दूसरी (वाच्य से भिन्न) वस्तु—न कि रसादि को व्यक्त करता है । अत एव अलङ्कार ध्वनि का निरूपण 'अर्थशुकरलङ्कारो यथाप्यन्य प्रतीयते' इत्यादि से भाग अलग किया गया है यदि कहें कि एवं वादिनि ' इत्यादि उदाहरण देने के अन्वयहित बाद में जो 'नचायमलक्षकमव्यञ्जयैव ध्वनि विषय ' इत्यादि ग्रन्थ आया है, निम्नका आशय यह है कि एवं वादिनि ' इत्यादि पद अलक्षकमव्यञ्जय ध्वनि का ही लक्षण है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्षकमव्यञ्जय ध्वनि का लक्षण यहाँ होता है, यहाँ शब्द के द्वारा बोधिता विभावरादिकों से साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से तो साफ झलकता है कि एवं वादिनि ' इत्यादि पद की व सलक्षकमव्यञ्जय अथवा ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं कहूँगा कि ऐसी बात नहीं है इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि एवं वादिनि ' इस पद में अन्त में महात्वे के प्रति पार्वता की रति भा तो प्रकृत होता है, फिर इस पद को रम ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं मानते इस शब्द का उच्चारण उक्त ग्रन्थ में किया गया है, अत एव आगे आनन्दवर्षेण लिखते हैं कि इह तु सामर्थ्याधिश्लेष्यभिचारिणुत्तरमप्रतीति अथात् यहाँ मध्य में व्यभिचारीभाव (लज्जामक वस्तु) का व्यञ्जय हा जाने से उत्तरे द्वारा श्लेष न अभिव्यक्त होने वाले रम की प्रतीति (सलक्षकम) है । यदि लज्जामक भावध्वनि के विषय में उक्त रङ्गा समाधान किये गये होते, तब यह (इह तु इत्यादि) अधिक अनगत हो जाता है अतः निश्चय यह निकलता है कि पण्डितराज का यहाँ ठीक नहीं है वस्तु ठीक न होने से और भा वरण है । जैसे—पण्डितराज के हिमाव से जब रसादिध्वनि सलक्षकम तथा अलक्षकम दोनों हैं, तब अर्थशुक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर्ह भेद हो जायेंगे, फिर बारह ही बौधे कहे गए ना आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत् में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लगेगी ? वे भी तो अर्थशुक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद माने हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार सलक्षकम व्यञ्जय-रसादि को लक्ष्य वार भेद और मानना चाहिये, यह बात दूसरी है कि क्वचिन्निरुद्धरत्नश्रीशैलिकीर्तिभिन्न नामक भेद का नही मानने का कारण तत्समक वार भेदों की वे नहीं मानते । रसादि का सलक्षकम व्यञ्जय होने में उन्होंने जो युक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को दीयत बोध्य स्पष्टतः नागस ने कर दिया है, जिसको मैं पूर्व में दिखला चुका हूँ । अब यह सम्मत, व अपनी जगह पर टोचें हैं, क्योंकि य फिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनियों का सलक्षकम व्यञ्जय मात्र मानते हैं, और ऐसा बात नहीं भा उन्होंने नहीं लिखी, जिससे हम मान्यता में विरोध करना है । पण्डितराज का अपने मत से अनुसार अभिनवशुक्त का सामंजस्य लक्षि में भी शिरोप दिखला कर हमने आशय का बान अतः उक्त से हम प्रसन्न पर किये हैं, यह तो निरर्थक ही मादुम वृत्ता है । नागस शब्द ने इस प्रसन्न पर का कुछ कहा है वह उनकी भाषा की धीब है, जिसमें पण्डितराज ने मत का ताँ गूँथना हा ही जाता है साम-साम ध्वन्यालोचक के मत में भी यह प्रसन्न लक्ष्य होना है कि यदि व 'एवं वादिनि ' इत्यादि पद में लज्जामक व्यभिचारी को अलक्षकम हा जाने से उत्तर वस्तु मात्र मानते हैं अथवा पण्डितराज के कल्पानुसार लक्षकम मात्र हा मानते हैं हा बनें ? क्योंकि नागसक रीति से यहाँ भी सलक्षकमय नहीं जाती । अभिनवशुक्त का मत भी नागस की रीति से अर्थात् ही हो गया है । यदि नागस ने उनके मत को संगत बनाने का प्रयास किया है, परन्तु वह प्रयास अभिनवशुक्त की ध्वनि के सामाजिक स्वारस्य से अनुपूल नहीं मादुम वृत्ता । सम्मत नागस की बनी ही पर भी चले चलते हैं, हो सकता है कि नागस ने भी अपने उद्योग में सम्मत के द्वय पर ही स्पष्ट किया हो ।

ननु सर्वत्र वाक्यादेव रसाद्यभिव्यक्तिदर्शनात् कयमेकस्य तद्धटकपदस्य व्यञ्जक-
तोच्यत—इत्याशङ्का मनसि निघायामिदधाति—

तत्र वाक्यगताना पदाना सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानो-
पायत्वे समानेऽपि कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वम् ।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्य व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

‘मन्दमाक्षिपति’ इत्यत्र ‘मन्द’मित्यस्य ।

इत्यनेन निरूपितस्य लक्षणोदाहरणादिभिर्विबचितस्य, अस्य, रसादिध्वने प्रप-
ञ्चस्य समूहस्य, पदं सुप्तिङन्तैरनन्विनैकार्यबोधकप्रयोगार्हवर्णत्वं, वर्णरकाराद्यक्षरै-
रचनाभिवर्णपदगुणफलक्षणानि, वाक्यार्थोपगताऽऽकाऽऽसाऽऽमत्तिमत्पदकदम्बै, प्रबर्धम-
हावाक्यस्वरूपै, पदैकदशै प्रवृत्तिप्रत्ययादिरूपपदावयवै, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गौत
वाद्यादिमन्वन्विमी रागै आदिपदग्राह्यामिषेष्टामिध्व, अभिव्यक्ति चर्वणाम, आग्नन्ति
प्रतिपाद्यन्ति प्राञ्च इति शेष ।

उपायत्व कारणत्व प्रयोजकत्व वा । कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता । चमत्कारा
योगव्यवच्छिन्नत्व नियतचमत्कारसाहित्यम् ।

यद्यपि वाक्याथबोधो पदार्थोपस्थिते कारणतया । वाक्यघटकाना सर्वेषामेव
पदाना स्वस्वार्थोपस्थापनन तुल्यं वाक्यार्थबोधोपयोगिता मवतीत्येकस्य कस्यचिन्
तद्धटकपदस्य रसादिव्यञ्जकत्वासम्भवं, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणतः क्वचिदेकस्यापि
पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दशानान
पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तात्पर्यम् ।

उत्तमात्मकावन्त्वेन पूर्वमुदाहृते ‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादिपद्यै सर्वेषामेव
पदाना व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि शनै स्वस्थानप्रापणार्थोपस्थापनद्वारा मन्दमित्यस्य पद-
स्येतरर्विलक्षण्येन रसव्यञ्जकतेति सारम् ।

अत्र उक्तं रस आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इन विचार के प्रसङ्ग में पहले
प्राचीनों का मत दिखलाना है—‘तदित्यम्’ इत्यादि । पूर्वोक्त गीति से निम्न रसादि-ध्वनि-मन्दूह
रा निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, वाक्यों, प्रबन्धों (ग्रन्थों) और
पद के अर्थों एवं जो अक्षर रूप नहीं है, उन रागादिकों से मानने है—अर्थात् स्पष्टमेव से ये सभी
रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक हो सकते हैं ।

यद्यपि वाक्य के अन्दर मिलने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को व्यक्त करके, ममान
रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अब वाक्यार्थ शानोच्चर होने वाली ध्वनिशै का
निमित्त (व्यञ्जक) पद समूहमन्त्रक वाक्य ही सिद्ध होता है, कोई एक पद नहीं, फिर ‘परध्वनि
इस व्यवहार में क्या युक्ति है ? यह है यहाँ शब्दा, और उतर यह है कि शब्दा के उगगदन में बड़ी
गई बातें सही है, तथापि वाक्यव्यक्त पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाक्य
(विच्छिन्न शक्तेशान्ता) बहा रहता है, वरा बड़ी पद चमत्कारायोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कार
विशिष्ट होता है, तात्पर्य यह कि और पद ऐसे रहते हैं, जिनमें चमत्कार का योग नियत नहीं
रहता, अत्र वैसी जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिकाम्य कदमने का कारण होता है ।

रचनाना वर्णाना च स्वातन्त्र्यणार्थंबोधकत्वविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्व
प्राचीनमतेनाह—

रचनामर्पाना पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जयताञ्जच्छेदमकोटिप्रविष्टत्वमेव,
न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन
रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्ड
घटादे कारणात्पर्ययैव प्रत्येकमेव व्यञ्जकताया सिद्धिरिति प्राञ्च ।

तत्र नवीनमतमभिपत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणा माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जक
त्वम् गौरवान्मानाभावाच्च ।

अभ्यहितत्वाद्वचनाशब्दस्य पूर्वप्रयोग ।

रचनाना वर्णाना च स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकत्व नास्ति किन्तु पदाना वाक्याना वा
पदवत्त्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा या रसादिव्यञ्जकता तदाश्रयपदवत्त्वेन विशेषणीभावान्
तदवच्छेदकोटी प्रविष्टत्व नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुखेन वक्तुं शक्यम् तथापि यथा
पदप्रति दण्डविशिष्टघटादे कारणात्परम आहोस्विकचक्रादिविशिष्टदण्डादयेत्येवमेवतरपण
पानियुक्तेरनावाद् दण्ड चक्रादौ च प्रत्येक पयापर्ययैव घटनिरूपितकारणता स्वीक्रियत
नपैव प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रसव्यञ्जकता उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति
मयापि विनिगमनाविरहान् प्रत्येकमेव पदत्वेन वर्णत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्ज
कताऽऽभ्युपगम्यन् इत्येव वर्णानां रचनानां च रसादिव्यञ्जकत्व सिद्धमिति प्राचीना
पदन्तीत्वम् ।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्यैव व्यञ्जका, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणा,
रसादीनाम् यत्र क्लृप्ताधिकरसादिव्यञ्जकाङ्गीकारे व्यञ्जनमत्तुः प्राऽऽपिक्यतिव घन

जैने पूर्वोदाहर (४१ पृष्ठ में) 'तथागादि 'इत्यादि पद में 'मन्द' पद अर्थात् यद्यपि एक
पद के समीप पद शब्दार्थ सम यत्नि में सामान रूप से महाशब्द है, तथापि 'मन्दम्' उस पद में अन्य
पदों की वदना कुछ विव्यक्तता है और यह यह है कि 'धी' धीरे श्रिय कर का इत्यादि' इस मार्मिक
शब्द का अर्थस्ति इति से होती है, अतः वहाँ पद-यत्नि का व्यवहार होता है ।

रचना और वर्ण, पदों और वाक्यों के अन्तर्गत होकर ही व्यञ्जक हो सकते हैं अतः यद्यपि यह
कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद और वाक्य ही व्यञ्जक हैं, स्वतन्त्रता वर्ण और
रचना नहीं, वे व्यञ्जकता के लक्ष्य-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के विद्योतों की श्रेणी में रहने का
मात्र है, तथापि रचना और वर्ण से युक्त पद-वाक्य व्यञ्जक हैं अथवा पद और वाक्य से युक्त रचना
और वाक्यव्यञ्जक हैं इन दोनों पक्षों में से विनी एक पक्ष को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति जब
नहीं है, तब रचना वर्ण और वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है । जैने कि पद का
घटन चक्रमभित दण्ड माना जाय अथवा दण्डमभित चक्र, इनमें पद पक्ष का प्रमाणित करने की
जब कोई युक्ति नहीं है, तब-चक्र और दण्ड दोनों पक्ष-वृत्त-प्रमाण मान लिये जाये हैं । तात्पर्य
यह कि वर्ण और रचना का भी पक्ष-वृत्त-प्रमाण व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है, ऐसा प्राचीन
विद्वानों का मत है ।

नवीन विद्वानों का मत समस्त भिन्न है । वे कहते हैं कि वर्णविद्योत और रचनाविद्योत (विद्वानों
कादि) माधुर्य अदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के क्लृप्ताभूत रसों के नहीं, क्योंकि

ननु यदि वर्णादिय माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽप्यस्त्येव, यतो गुणिनो व्यञ्जकता विना गुणाना व्यञ्जकत्वं न सम्भवतीत्यासाद्धा निराकरोति—

न हि गुणप्रभिव्यञ्जन विना गुणाभिव्यञ्जकत्व नास्तीत्यस्ति नियम, इन्द्रियत्रये व्यभिचारान् ।

गुणादिव्यक्तिव्यवस्थादंगेन स्वपक्षे दोष परिहरन नवीनमनुपसहरति—

इत्थ च स्वस्वव्यञ्जकोपनीताना गुणिना गुणानामुदासीनाना च यथा परस्परौपश्लेषेणोदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसाना तद्गुणाना चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नञ्या ।

गौरवम्, वणरचनाना रसादिव्यञ्जकत्वे प्रमाणवैधुय च, तस्मान् वर्णाना रचनाना च रसादिव्यञ्जकत्व नास्तीत्यभिप्राय ।

गुणामिव्यञ्जकास्तदाश्रयव्यञ्जका भवेयुरेवेति नास्ति नियम यतो घ्राण-रसन-श्रोत्ररूपेन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो दृश्यत तथाहि—घ्राणन्द्रिय गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जक न तु तदाश्रयस्य पृथिव्या, रसनेन्द्रिय रसस्य व्यञ्जक, ननु रसवतो जलस्य, श्रोत्रद्वय च वायुस्य व्यञ्जक, न तु शब्दाधारस्य गगनस्य । इत्थ च माधुर्यव्यञ्जकताऽप्यथाऽनुपपत्त्या वर्णादीना रसामिव्यञ्जकताकल्पन नैव सम्भवतीति विभावनीयम् ।

स्वस्वव्यञ्जकैवंपादिभि, उपनीताना बोधिताना, गुणिना पृथिव्यादीना, गुणाना गन्धादीनाम, उदासीनाना गुणगुणिभावेन मिथोऽसम्बद्धाना पदार्थाना च प्रमिति गोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता कदाचिद् उपश्लेषेण गुणाना गुणिना मिथस्तम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरोदासीन्येन मिथोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिना रसाना, गुणाना माधुर्यादीना चाभिव्यक्तिविषयताऽऽस्वादागोचरता, कदाचिन्मिथितत्वेन, कदाचिच्च पार्यङ्ग्येन भवतीति व्यवस्यया, रसाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीना नासम्भवतीति तु नञ्या वदन्तीत्यय ।

ऐसा मानने में एक तो वर्ण रसादिकों के व्यञ्जकों का मन्त्रा बदली है, दूसरे हममें कोई प्रमाण भी नहीं है ।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के आश्रय रस आदि को भी व्यञ्जक मानना ही पत्तेगा क्योंकि जो गुणी (गुण के आश्रय) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता—अर्थात् गुणों के आश्रयों का अभिव्यक्ति के विना गुणों को अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा—वह कथन सगल नहीं है क्योंकि 'गुणों को अभिव्यक्ति के विना गुणों को अभिव्यक्ति नहीं होनी' यह निदम नाक, जीभ, कान इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचारित होते देखा गया है—अर्थात् इन तीनों इन्द्रियों से गुणों को अभिव्यक्ति के विना भी गुणों को अभिव्यक्ति होती है । जैसे—नाक से रस (गुण) को अभिव्यक्ति होती है और उनके अन्त-पृष्ठी को नहीं, जीभ से रस को अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय मूठ आदि को नहीं वरन् कान से शब्द को प्रतीति होती है और शब्दाश्रय आकाश को नहीं ।

इन तरह जैसे अपने-अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पाचों ज्ञानेन्द्रियों में अभिव्यक्त कराये गये गुण, गुण और उदरित तन्मय पदार्थ कभी परस्पर समिष्टिण रूप से, कभी वदानीन रूप से उन उन पदार्थ दानों के विषय होते हैं, वैसे ही रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—
उदाहरणन्तु—

'तान्तमाल'- इत्यादि प्रागुक्तमेव ।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि 'आविर्भूता यदवधि-' इत्यादि च ।

प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु 'योगवाशिष्ठ रामायणे' शान्त-करणयो', रत्नावल्यादीनि च
शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि ।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्षो भावस्य ।

असलक्ष्यकमप्यन प्रबन्ध-वाक्य-पद-तदश-वर्ण-रचनाव्यङ्ग्यत्वेन पङ्क्तिप्रत्य
स्वीकुर्वन्नि प्राचीनैर्वर्णविशिष्टानां रचनाविशिष्टानामेव च पदवाक्यादीनां रसादि-
व्यञ्जकताया, सत्त्वोद्देशादव्यञ्जकताऽवच्छेदकतया तद्व्यञ्जकत्वामात्रापि विशिष्टव्यङ्ग्य-
व्यञ्जकभावकल्पने विनिगमनाविरहेण गौरवाद् दण्डादिषु घटादिकारणतैव प्रत्येक
रसादिव्यञ्जकता कल्प्यत ।

नवीनैस्तु दृष्टिविरोधिभिः पृथगपि गुणगुणिता प्रतीति मन्वमानैर्वर्णादिषु
माधुर्यादिगुणमात्र-व्यञ्जकताऽङ्गीक्रियत, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावादि-
प्रदर्शनेन निराक्रियत इति सारम् ।

अत्र मतवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तद्विष्टमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका
रचनेति इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुमन्धेयम् ।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्य विप्रत्यग्शृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम् ।

योगवाशिष्ठ प्रबन्ध शान्तरसस्य, रामायण प्रबन्ध करणरसस्य, रत्नावलीप्रभृत-
यश्च प्रबन्धा शृङ्गाररसस्य व्यञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतौदाहरणानि बोध्यानि ।

गङ्गाहरीप्रभृतय पञ्च तस्य प्रबन्धा मङ्गादिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका
इत्यर्थं ।

इति—अत्रैव पृष्ठे पृष्ठे व्यञ्जकौ (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित विषय
ज्ञान है, और फिर कभी अभिव्यक्ति रूप में तथा कभी उपायान रूप में सूचीन (शास्त्र) होते हैं ।
हालमें यह निरूपे और रचनाओं का रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं उन्हें केवल माधुर्यादि
गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये ।

कौ. तथा रचनाओं के द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति का उदाहरण 'तो तन्मात्तत्त्वान्निर्दोषेणाम्
— 'दण्डादि पद्य (पृ. २३६ में) कह ही चके हैं ।

वाक्य जहाँ व्यञ्जक हुआ हो, वैसे उदाहरण भा 'आविर्भूता यदवधि मधुरस्यनिदनी तद्द-
शुनी " " इत्यादि (पृ. २४२ में) कहे ही जा चुके हैं ।

अब पद य (शब्द) जहाँ व्यञ्जक होत है, वैसे उदाहरण देसिये—मार्तूरी वंगराशिष्ठ प्रबन्ध से
दण्डादि और मन्त्र रासना द्रव्य से करणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तरह रत्नावली आदि
प्रबन्ध रस के व्यञ्जक होने के लिये प्रसिद्ध ही हैं ।

पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

पदैकदेशस्य च 'निखिलमिदं जगदण्डकं ब्रह्मामि' इति करुणतद्धितो वीर-
रसस्य प्रागेवोदाहृतः ।

अवर्णात्मकरागादीनां व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धेवेति प्रतिपादयति—

एव रागादिभिरपि व्यञ्जघत्वे सहृदयमेव प्रमाणम् ।

उपसहरति—

एवमेवा रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्मुदाहरणानि ।

गुणीभूतव्यञ्जघत्वे रसादीनामुदाहरणापेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च ।

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवंपा रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

बलवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये 'जगदण्डक'मिति पदावयव-
करुणतद्धितप्रत्ययो ब्रह्माण्डस्य क्षोदिष्ठता द्वारीकृत्योत्साहस्यापि बलवीररसस्य
व्यञ्जकइत्यर्थः ।

व्यञ्जघत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवसाधिकैवेति-
तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

एवमुक्तरीत्या, एषा रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राङ् निरूपितानामुदाहर-
णानि निरूपितानि ज्ञेयानीत्यर्थः ।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यञ्जघतायामुदाहरणानि रसवत्प्रयोज्यत्वा-
दीनि नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

एषा रसादीनां प्राधान्य एव विगलितवेद्यान्तरसञ्चिदानन्दस्वरूपतासम्पत्ते-
रसादित्वं भवति अन्यथाऽप्राधान्ये तु ताद्रूपताविरहात् स्यापिमात्रात्मकत्वाद् रत्या-
दित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

पण्डितराज रचितं एतौ सहरिणौ (कल्याणहरी, गंगलहरी आदि) भाव-व्यञ्जकता के
उदाहरणं होती है ।

'निखिलमिदं' जगदण्डकं ब्रह्मामि यहाँ करुण तद्धित (पदैकदेश) वीररसव्यञ्जक है यह भी
पहले (पृ० १६३ में) कहा जा चुका है ।

इसी तरह अवर्णात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इसमें सहरिणों के हरण
ही ममाण है ।

इस तरह से प्रधान रहने के कारण ध्वनिरूप रसादिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके यह
समयना चाहिये ।

अब ये रस आदि गीग-अप्रधान-ही जाने हैं, अब उनके क्या क्या नाम पड़ते हैं और उनके
उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें आगे कही जायगी—अर्थात् रस आदि के गीग हो जाने
पर 'रसवत्' श्रेय और अर्जुन इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण
अलंकार प्रकरण (द्वितीय आनन) में कही जायेंगे । (खेद यह है कि पण्डितराज की यह प्रतिष्ठा
पूर्ण नहीं हो सकी । यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है और जिनका भाग उपलब्ध है, उसमें यह
विचार नहीं आ सकता है)

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत्, तर्हि गुणीभूतरसस्य रसवदलङ्कारेति नाम्नि रसपद कथमुपात्तमित्याशङ्क्यामाह—

नामनि रसपद तु रत्वादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैलङ्गपण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथमभाषने सम्पूर्णम् ।



रसवदलङ्कारेति नामघटक रसपदस्य रसत्वयोग्यरत्यादिस्वाविभावेषु लक्षणंति प्रागुक्तनियमाङ्गीकर्तृणा केषाञ्चिन्मतम् । अन्येषां तु—रसादीनामप्राधान्ये न रसादित्वस्य विलोप, किन्तु प्राधान्यविरहात् ध्वनिव्यवहारस्य कारणत्वमिति मतम् । तत्र पूर्वमत एव लक्षणापेक्षा, नतूत्तरमन इति बोध्यम् ।

विद्यानामिकेतन—मिथिलाऽन्त—पातिसरिसवग्रामे ।
विद्यानाथमुतश्रीवदरीनाथेन निर्मिता कुतुकात् ॥ १ ॥
राषाऽभ्युत्पन्नघविषु—सम्पिता चन्द्रिका सेयम् ।
सम्रता रसगङ्गाधर—ससक्ता शाश्वती सुयमा ॥ २ ॥
आशानस्रमित (२०१०) विक्रम—समासह—पूर्णमासुर्ये ।
रसगङ्गाधर—विवृतिर्वाणीकृपयाऽजगत् पूतिम् ॥ ३ ॥
चिन्ताजरादि—पण्डीकृतपण्डास्यापि मे नृतम् ।
साहस्रमेव विवरण, पण्डितराजातिगूढमणितीनाम् ॥ ४ ॥
उपकृतिरितोऽपि तावन्, किन्तु मवदेव केषाञ्चिन् ।
मदपि न्यूनमतीनामिति प्रतीते समाश्रयिमि ॥ ५ ॥
इति मैथिलश्रीपण्डितश्रीवदरीनाथसमंनिर्मिताया रसगङ्गाधर-
चन्द्रिकाया प्रथमभाषने सम्पूर्णम् ।



यहां भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गौण हो जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् वस्तुमात्र होते हैं ।

यदि कहें कि जब गौण हो जाने पर ये रसक्य नहीं होते, तब उग्र अरथा के 'रसरत्' इत्यादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कठे होता है ? इसका उत्तर यह है कि उन नामों में रसादि पर रत्यादि का ही बोधक है । यहाँ दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है, वे कहते हैं कि गौण हो जाने पर भी उनमें रसरत् अथवा भास्वर रहने ही हैं, केवल गौण हो जाने के कारण वे कथ्य में ध्वनि व्यवहार के हेतु नहीं होते ।

इति दरमङ्गामण्डल्यन्तर्गतं महानीं धामनिवासी, मैथिलज्जाटनगणेश्वरमथ्याकरण-
न्याय—शास्त्रिणाचार्य, मुद्ररत्नपुरम्भ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रधान-
साहित्याध्यक्ष '५० श्रीमदनमोहन झा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर
(प्रथम भाषन) की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

